

इकाई-1 : राजनीतिशास्त्र : अर्थ, क्षेत्र, राजनीतिशास्त्र की अध्ययन पद्धतियाँ

संरचना

- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 प्रस्तावना
- 1.3 राजनीतिशास्त्र : परिभाषाएँ
- 1.4 राजनीतिशास्त्र अर्थ
 - 1.4.1 राजनीति विज्ञान केवल राज्य का अध्ययन है
 - 1.4.2 राजनीति विज्ञान केवल सरकार का अध्ययन है
 - 1.4.3 राजनीति विज्ञान 'राज्य' एवं 'सरकार' दोनों का अध्ययन है
 - 1.4.4 राजनीतिशास्त्र मानव तत्त्वों के सम्बन्ध में अध्ययन है
- 1.5 परम्परागत राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र
 - 1.5.1 राजनीति सिद्धान्तों का अध्ययन
 - 1.5.2 राजनीतिक दल, समूह एवं लोकमत
 - 1.5.3 राजनीतिक संस्थाएँ
- 1.6 परम्परागत राजनीतिशास्त्र का विकास एवं विशेषताएँ
- 1.7 परम्परागत राजनीतिशास्त्र की विशेषताएँ
 - 1.7.1 दर्शनशास्त्र से प्रभावित अध्ययन
 - 1.7.2 प्रमुख अध्ययन पद्धतियाँ
 - 1.7.3 मूल्य प्रधान अध्ययन
 - 1.7.4 व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन
 - 1.7.5 अध्ययन विषय में निरन्तरता
 - 1.7.6 संकुचित या संकीर्ण अध्ययन
- 1.8 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
 - 1.8.1 मानव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन
 - 1.8.2 राज्य का अध्ययन
- 1.9 सारांश
- 1.10 अभ्यास प्रश्नावली
- 1.11 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य राजनीतिशास्त्र के अर्थ, क्षेत्र तथा अध्ययन पद्धतियों जानना है। यह एक ऐसा विषय है, जिसका प्रत्यक्ष सरोकार मानव तथा समाज के सर्वांगीण विकास के साथ जुड़ा हुआ है। इस अध्याय के पश्चात् आप जान सकेंगे—

- राजनीतिशास्त्र मनुष्य को सामाजिक प्राणी के साथ-साथ राजनीतिक प्राणी सिद्ध करती है। ऐसा करने में राजनीतिशास्त्र की सक्रिय भूमिका रहती है।
- राजनीतिशास्त्र के अर्थ एवं कार्यक्षेत्र को समझने के लिए विभिन्न राजनीतिक विद्वानों द्वारा जो परिभाषाएँ दी गईं,
- परम्परागत अध्ययन क्षेत्र को जान सकेंगे,
- मानव से जुड़े विभिन्न पहलू, जैसे राज्य, सरकार, समाज इत्यादि के संबंध में व्यापक जानकारी हासिल कर सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान का एक लम्बा इतिहास रहा है, एक परम्परा रही है। यूनानियों को इसका जनक माना जाता है। क्योंकि उनका इस विषय में विशेष योगदान रहा है। अतीत में इसको स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता नहीं मिली हुई थी। अर्थात् इस विषय को दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, इतिहास, विधिशास्त्र के आधार पर अध्ययन करने की परम्परा थी। आधुनिक युग में इसकी स्वतंत्र अवधारणा को स्वीकार कर लिया गया है तथा राजनीतिशास्त्र विषय का पर्याप्त विकास भी हुआ है। प्लेटो का आदर्शवाद व अरस्तू की वैज्ञानिक क्रमबद्धता राजनीतिशास्त्र के अध्ययताओं को प्रेरित करती रही है। राजनीतिविज्ञान विषय के विकास का परिणाम यह हुआ है कि इसका अध्ययन परम्परागत और आधुनिक दृष्टिकोण के रूप में किया जाता है। परम्परागत रूप से अध्ययन करने राजनीतिशास्त्री राजनीतिक दार्शनिक लगता है, जबकि आधुनिक राजनीतिविज्ञान मुख्य रूप से व्यवहारवादी व अनुभववादी (Empirical) है। इसलिये इसको माननेवाला अध्ययनकर्ता राजनीतिक वैज्ञानिक लगता है लेकिन इनको बिल्कुल अलग करके अध्ययन करना मुश्किल है। क्योंकि दोनों के लक्षण एक दूसरे में व्याप्त रहते हैं। परम्परागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत इसकी विशेषतायें परिभाषा, क्षेत्र, नामविभेद एवं प्रकृति के बारे में अध्ययन किया जाता है।

1.3 राजनीतिशास्त्र : परिभाषाएँ

राजनीतिशास्त्र एक प्रमुख सामाजिक विज्ञान है, तथा इसका सम्बन्ध राज्य से है। अरस्तू मानव को एक सामाजिक प्राणी मानता है, अतः वह राज्य में निवास कर के ही अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है। राजनीतिशास्त्र अनवरत विकास हो रहा है।

राजनीतिशास्त्र की परिभाषा करने के पूर्व इसका अर्थ समझना आवश्यक है। राजनीति का अंग्रेजी अर्थ 'पोलिस' शब्द से बना है, जिसका आशय उसमें नगर राज्य (city state) से लगाया जाता था। प्राचीन यूनान में नगर राज्यों का अस्तित्व था जो स्वतन्त्र राज्य का बोध कराते थे। पालिटिक्स शब्द उन नगर राज्यों का आकार बहुत छोटा था। बाद में जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण इन नगर राज्यों के स्वरूप में परिवर्तन आ गया तथा इनका स्थान राष्ट्रीय राज्यों में ले लिया। इसके कारण 'पालिटिक्स' अथवा 'राजनीति' का विषय नगर राज्यों के स्थापन पर राष्ट्रीय राज्य हो गये। अतः राष्ट्रीय राज्यों से संबंधित विभिन्न पहलुओं के अध्ययन करने वाले विषय को राजनीतिशास्त्र या राजनीतिविज्ञान कहा जाने लगा।

राजनीतिशास्त्र की भिन्न-भिन्न विद्वानों ने परिभाषायें की हैं। इसके परम्परावादी लेखकों ने जो परिभाषाएं की हैं, वे निम्नलिखित हैं—

पॉल जेनेट "राजनीतिशास्त्र समाज विज्ञान का वह अंग है, जो राज्य के मूल आधार और शासन सिद्धान्तों की विवेचना करता है।" (Political science is that part of social science which treats the fundamentals of the state and the principles of government. - Paul Jenet)

ब्लुंशली "राजनीतिशास्त्र उस विज्ञान को कहा जाता है, जिसका संबंध राज्य से है और जिसमें राज्य की मूल प्रकृति, विभिन्न रूप, विकार तथा आधारभूत स्थितियों को समझने और जानने का प्रयत्न किया जाता है।" ("Political science is a science which is concerned with and comprehended the state in essential nature, various forms, manifestations and development. Bluntchli)

गैरिस "राजनीतिशास्त्र राज्य के उद्भव, विकास, उद्देश्य तथा समस्त राजकीय समस्याओं का उल्लेख करता है।" (Gareis)

गेटेल "राजनीतिशास्त्र, राज्य के भूत, वर्तमान तथा भविष्य का, राजनीतिक संगठन तथा राजनीतिक कार्यों का, राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक सिद्धान्तों का अध्ययन है।" ("It is the study of the state in the past, present and future of political organizations and political theories. Gettel.)

एक्टर "राजनीतिशास्त्र राज्य तथा उसके विकास के लिये अनिवार्य दशाओं से संबंधित है।" ("Political science is concerned with the state and with the conditions essential for its development. Lord Actor.)

लीकाक के अनुसार "राजनीतिशास्त्र सरकार से संबंधित है।" (Political science deals with government. Leacock) गार्नर का कथन है कि "राजनीतिशास्त्र का प्रारम्भ तथा अन्त राज्य के साथ होता है।" (Political science begins and ends with the state. Garner)

अंग्रेज लेखक सीले के अनुसार "राजनीतिशास्त्र उसी प्रकार शासन के तत्वों की खोज करता है, जैसे राजनीतिक अर्थशास्त्र संपत्ति का, जीवशास्त्र जीव का, बीजगणित अंकों का तथा ज्यामितिशास्त्र स्थान तथा ऊँचाई का करता है।" (Political science investigates the phenomena of government, as political economy deals with wealth, Biology with life, Algebra with numbers and geometry with space and magnitude." Seeley)

गार्नर के अनुसार, "राजनीतिशास्त्र का प्रारम्भ तथा अन्त राज्य से होता है।"

आशीर्वादम के मतानुसार, "राजनीतिशास्त्र राज्य-विषयक ज्ञान की समग्रता एवं राज्य सिद्धान्त का अध्ययन है।"

आधुनिक विचारक राज्य के स्थान पर सरकार के अध्ययन पर बल देते हैं। जैसे लीकाक का कहना है कि "यह सरकार से संबंधित विद्या है।" यह एकपक्षीय विचार है, क्योंकि इसकी अध्ययनवस्तु राज्य और सरकार दोनों हैं। इसमें एक तत्व मानवीय पक्ष भी है, जिसका अध्ययन किये बिना, इसकी अपूर्ण परिभाषा देना है।

डॉ. रफीक जकरिया के अनुसार 'राजनीतिशास्त्र व्यवस्थित रूप में उन आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण करता है, जिनके अनुसार समष्टि रूप में राज्य का संगठन होता है, और प्रभुसत्ता का प्रयोग किया जाता है। केन्द्रीभूत राज्य, मनुष्यों का संगठन है, उसकी अभिव्यक्ति सरकार द्वारा होती है, जोकि प्रभुसत्ता का प्रयोग करती है।' ("Political science sets forth in systematic order the fundamental principles, according to which the state as a whole is to be organised and the Sovereign power exercised." Zacharia.) प्रोफेसर लास्की के अनुसार "राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का सम्बन्ध संगठित राज्यों से संबंधित मनुष्य के जीवन से है।" ("The study of politics concerns itself with the life of men in relation to organised states." (Prof. Laski)

Encyclopedia of Social Sciences - Herman Heller के अनुसार "राजनीतिशास्त्र के सर्वांगीण स्वरूप का निर्धारण उसकी मनुष्य विषयक मौलिक मान्यताओं से होता है। मनुष्य के उन कार्यकलापों का अध्ययन करता है, जिसका सम्बन्ध उसके राज्य नामक संगठन से होता है, और जिसके अन्तर्गत स्वभावतः सरकार का भी विस्तृत अध्ययन सम्मिलित होता है।" (It may be said that character of Political Science in all of its parts is determined by its basic presuppositions regarding man." (Encyclopedia of Social Sciences, Vol. XII, P. 212)

अतः राजनीतिविज्ञान राज्य, राज्य सरकार, मनुष्य, तीनों का अध्ययन है। संप्रभुता राज्य के पास होती है, सरकार उसके प्रयोग का अधिकरण है, क्योंकि सरकार के बिना राज्य का अमूर्त रूप है तथा सरकार के अध्ययन में राज्य के मानवीय पक्ष का अध्ययन भी शामिल है। अतः परम्परागत राजनीतिशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर इसका अध्ययन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

1.4 राजनीतिशास्त्र का अर्थ

1.4.1 राजनीतिविज्ञान केवल राज्य का अध्ययन — परम्परागत राजनीति विज्ञान के अनेक विद्वानों के अनुसार राजनीतिविज्ञान का स्थायी एवं केन्द्रीय तत्व राज्य है। अतः इसके अन्तर्गत राज्य का ही अध्ययन किया जाना चाहिये। इस संदर्भ में गार्नर की परिभाषा संक्षिप्त, सम्पूर्ण एवं सर्वोत्तम है, 'राजनीतिविज्ञान के अध्ययन का प्रारम्भ और अध्ययन का अन्त राज्य के साथ होता है, (Political Science begins and ends with the state.) GARNER है, इनके अतिरिक्त ब्लुशली, पॉच जेनेट, बौरिस, गेटेल, लार्ड एफ़न का भी यही अभिमत है।

1.4.2 राजनीतिविज्ञान केवल 'सरकार' का अध्ययन है — परम्परागत राजनीतिशास्त्रियों का मत है कि राज्य के स्थान पर सरकार का अध्ययन किया जाना चाहिये। उनका तर्क है कि राज्य एक 'अमूर्त' संस्था है, सरकार एक मूर्त और प्रत्यक्ष संस्था है। सरकार ही प्रभुसत्ता का प्रयोग करती है। अतः इस शास्त्र के अन्तर्गत राजनीतिविज्ञान का ही अध्ययन किया जाना चाहिये। इस संदर्भ में लीकाक की संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार है, 'राजनीतिविज्ञान सरकार से संबंधित शास्त्र है' - **Political Science deals with the Government.** (Leacock). सीले का भी यही कहना है।

1.4.3 राजनीतिविज्ञान 'राज्य' एवं 'सरकार' दोनों का अध्ययन है — परम्परागत राजनीति शास्त्र के कुछ विद्वानों के अनुसार राज्य एवं सरकार की अलग-अलग अध्ययन की बात करने वाली परिभाषायें अपूर्ण हैं क्योंकि राज्य एवं सरकार का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, और इसमें से किसी एक के अभाव में दूसरे का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। यदि राज्य प्रभुसत्ता को धारण करता है, तो सरकार उसका प्रयोग करती है। इस संदर्भ में गिल क्राइस्ट की परिभाषा सर्वाधिक स्पष्ट है, 'राजनीतिविज्ञान राज्य और सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है। (Political Science deals with the general problems of the state and government.) GILCHRIST

1.4.4 राजनीतिशास्त्र मानव तत्वों के सम्बन्ध में अध्ययन है — परम्परागत राजनीतिशास्त्र के कुछ अध्येयता उपर्युक्त परिभाषाओं को अपूर्ण मानते हैं, क्योंकि इसमें मानव तत्व की उपेक्षा की गयी है, जबकि राज्य एवं सरकार का निर्माण मनुष्यों के हितों के लिए हुआ है। अतः मानव के संदर्भ में ही इसका अध्ययन किया जाना चाहिये। अतः राजनीतिशास्त्र एक ऐसा सामाजिक विज्ञान है जो राज्य और सरकार का केवल औपचारिक, संस्थागत, विधिक अध्ययन ही नहीं प्रस्तुत करता है, बल्कि यह भी अध्ययन करता है कि एक संगठित राज्य में मनुष्य की क्या स्थिति है? अतः राजनीतिशास्त्र इस तथ्य का पता लगाता है कि व्यक्ति को कौन-कौन से अधिकार, स्वतन्त्रतायें तथा कर्तव्य प्राप्त हैं, तथा सरकार की विभिन्न समुदायों और विभिन्न वर्गों के प्रति उसकी नीति क्या है?

अतः यह कहा जा सकता है कि प्रथम तीन दृष्टिकोणों की तुलना में चौथा दृष्टिकोण अधिक तर्कसंगत तथा न्यायसंगत है। अतः संक्षेप में परम्परागत आधार पर उचित परिभाषा यह दी जा सकती है, कि 'राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत राज्य, सरकार तथा अन्य सम्बन्धित संगठनों एवं संस्थाओं का मानव के राजनीतिक जीवन के संदर्भ में, अध्ययन किया जाता है।'

1.5 परम्परागत राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र

इस शास्त्र की परिभाषा की तरह, इसके क्षेत्र के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत हैं। इसके क्षेत्र में राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन शामिल है। ब्लुशली, गैरिज तथा अन्य लेखक राज्य तक ही सीमित रखते हैं। लीकाक ने सरकार को ही महत्व दिया है। लेकिन गिल क्राइस्ट का मत है कि इसके अध्ययन क्षेत्र में राज्य और सरकार दोनों के अध्ययन को शामिल किया जाना चाहिये। विलोबी का मत है कि इसके क्षेत्र में कानून को भी शामिल किया जाना चाहिये। सर फ्रेडरिक पोलक ने राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र को 'सैद्धान्तिक' व 'व्यवहारिक राजनीतिशास्त्र' के रूप में विभक्त माना है।

यूनेस्को ने 1948 ई. में विश्व के प्रमुख राजनीति शास्त्रियों का सम्मेलन आयोजित कर और परम्परागत राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के बारे में निर्णय लिया, जिसके आधार पर इसके क्षेत्र में निम्नलिखित बिन्दुओं को शामिल किया जा सकता है—

1.5.1 राजनीति के सिद्धान्तों का अध्ययन— अतीत एवं वर्तमान के राजनीतिक विचारों एवं सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाना चाहिये।

1.5.2 राजनीतिक दल, दबाव समूह एवं लोकमत— राजनीतिक दल एवं दबाव समूह आदि का राजनीतिक व्यवहार, लोकमत तथा शासन में नागरिकों के भाग लेने की प्रक्रिया का अध्ययन शामिल किया जाना चाहिये।

1.5.3 राजनीतिक संस्थाएँ— संविधान, स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय सरकार का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिये।

1.5.4 अन्तर्राष्ट्रीय संबंध— इस बारे में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सम्मिलित किया जाता है।

1.6 परम्परागत राजनीतिशास्त्र का विकास

पश्चात्य विद्वान ईसा पूर्व छठी सदी से बीसवीं सदी में द्वितीय विश्व युद्ध के पहले तक के राजनीतिशास्त्र के अध्ययन को परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण के रूप में मानते हैं अथवा इसे आदर्शात्मक राजनीतिक सिद्धान्त (Normative Political Theory) की संज्ञा देते हैं।

परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त के विकास में अनेक विचारकों का योगदान रहा है, जैसे— सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, सिसरो, सेंट आगुस्टाइन, सेन्ट एक्विनास इत्यादि कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी परम्परागत राजनीतिक विचारों का समर्थन किया है तथा उसके विकास में योगदान किया है, जैसे लियो स्ट्रास, अल्फ्रेड कोवन, ईरिक वोगोलिन, माइकेल ओकशॉट, हन्ना आरेन्ट आदि।

प्राचीन राजनीतिक विचारकों ने राजनीतिक सिद्धान्तों का आचारशास्त्र अथवा दर्शनशास्त्र के एक अंश के रूप में प्रतिपादित किया। उनके विचार व्यक्तिगत दृष्टिकोण, चिन्तन, कल्पना, अध्यात्मवादी सिद्धान्तों पर आधारित थे। प्राचीन यूनानी एवं रोमन विचारकों ने राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण के लिये दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, इतिहास एवं विधि की अवधारणाओं को आधार बनाया, लेकिन मध्यकाल में ईसाई विद्वानों ने धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण को आधार बनाया। यह भी कहा जाता है कि मध्ययुग अन्तर्गत युग था तथा धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण ने राजनीति को नैतिक, न्यायशास्त्रीय तथा कानूनी पहलुओं से देखा। उनके शोध तथा प्रमुख विश्लेषण की विधियाँ ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक थीं। 16वीं सदी में पुनर्जागरण आंदोलन ने नवीन बौद्धिक राजनीतिक चेतना को जन्म दिया तथा धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण से मुक्ति दिलायी। इसके साथ ही पुनर्जागरण आंदोलन ने राष्ट्रराज्य की अवधारणा को जन्म दिया। 18वीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति ने परम्परागत राजनीतिक विकास को नयी गति प्रदान की। इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति व फ्रांस तथा अमेरिका की जनतांत्रिक क्रान्तियों ने उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धान्तों को जन्म दिया। यद्यपि परम्परागत राजनीतिक दक्षिणपंथी एवं वामपंथी विचारधारा के रूप में भी इसका विकास हुआ लेकिन इन विचारधाराओं के पक्ष में यह प्रमाणित कर दिया है कि परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त की मूल धारा उदारवादी लोकतांत्रिक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में हुई है।

परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण ने राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण के लिये दार्शनिक, तार्किक, ऐतिहासिक एवं विधिक अध्ययन पद्धतियों को अपनाया। 19वीं सदी में विधिक, संवैधानिक, संस्थागत, विवरणात्मक एवं तुलनात्मक पद्धतियों का विकास हुआ। इसने सरकार और उसके वैधानिक अंगों के बाहर भी सामाजिक, राजनीतिक तथ्यों के अध्ययन पर बल दिया। सामाजिक आर्थिक आन्दोलनों एवं आर्थिक परिस्थितियों पर भी बल दिया गया जो सरकार के औपचारिक संगठन से बाहर होते हैं, लेकिन उसकी नीतियों एवं कार्यक्रम को प्रभावित करते हैं।

1.7 परम्परागत राजनीतिशास्त्र की विशेषताएँ

परम्परागत राजनीतिशास्त्र की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

1.7.1 दर्शनशास्त्र से प्रभावित अध्ययन— अधिकतर विचारकों ने राजनीति शास्त्र को दर्शनशास्त्र की शाखा के रूप में माना है तथा इसको राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy) या राजनीतिक सिद्धान्त (Political Theory) का नाम दिया है। रूसो की 'सामान्य इच्छा' राजनीतिक दर्शन से ही ली गयी है। ग्रीन का विचार है कि 'राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है, राजनीतिक दर्शन का ही विकास है।' अनेक विचारकों ने ईश्वरीय विधि, प्राकृतिक विधि तथा प्राकृतिक अधिकारों की परा बौद्धिक मान्यताओं को अपने चिन्तन का आधार बनाया है।

1.7.2 प्रमुख अध्ययन पद्धतियाँ— दार्शनिक अध्ययन पद्धति, तर्कशास्त्रीय पद्धति अथवा जिसको निगमनात्मक पद्धति कहा जाता है। इस क्षेत्र में विधिक, ऐतिहासिक, वर्णनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन पद्धति भी आती है। यह चारों अध्ययन पद्धतियाँ राजनीतिशास्त्र के विकास की चार अवस्थाएँ हैं, तथा परस्पर अनुपूरक भी रही हैं।

1.7.3 मूल्य—प्रधान अध्ययन— यह मूल रूप से मूल्य—प्रधान प्रणाली है। यह आदर्श राज्य व्यवस्था की स्थापना की समर्थक है। प्लेटो की 'रिपब्लिक' तथा थॉमस मूर की 'यूटोपिया' में आदर्शात्मक, राज्य व्यवस्थाओं का चित्रण है। रूसो की 'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त, बैन्थम का अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का सिद्धान्त, मिल की स्वतंत्रता की अवधारणा भी मूल्य प्रधान है।

1.7.4 व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन – परम्परागत राजनीतिशास्त्र के निष्कर्ष इसके प्रतिपादकों के दृष्टिकोण से प्रभावित रहे हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि परम्परागत राजनीति विज्ञान व्यक्ति सापेक्ष अध्ययन प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ हॉब्स, लॉक और रूसो ने मानव स्वभाव की व्याख्या व्यक्तिगत दृष्टिकोण से की है। अतः उनके द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक समझौते का अध्ययन व्यक्तिनिष्ठ हो गया है और उन्होंने तथ्यों या वास्तविकताओं की घोर उपेक्षा की है। कुछ परम्परागत राजनीतिशास्त्रियों ने ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक पद्धतियों का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ मैकियावेली ने ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया है।

1.7.5 अध्ययन विषय में निरन्तरता – इसके अध्ययन क्षेत्र में निरन्तरता एवं सहमति का लक्षण प्रमुख रूप से दिखाई पड़ता है। लम्बे समय से राजनीतिशास्त्र में प्रमुख रूप से इन बातों का अध्ययन होता रहा है, यथा— राज्य और सरकार के औचित्य को सिद्ध करना, आदर्शराज— व्यवस्था का चित्रण करना तथा न्याय, स्वतंत्रता, समानता, अधिकार, कानून, संप्रभुता, राष्ट्रवाद आदि की मूल्यात्मक व्याख्या करना। वर्तमान युग में राजनीति विज्ञान व्यक्ति की स्वतंत्रता व अधिकारों विशेषकर पर मानव अधिकारों पर बल देता है।

1.7.6 संकुचित या संकीर्ण अध्ययन – परम्परागत राजनीति विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र मुख्यतः संकुचित, संकीर्ण व सीमित है। इसमें मुख्यतः प्राश्नात्य उदारवादी संविधानों व शासन व्यवस्था का अध्ययन किया है। इस पद्धति में मार्क्सवादी शासन व्यवस्थाओं की अध्ययन व्यवस्थाओं पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। इस पद्धति में उदारवादी संविधानों एवं शासन प्रणालियों का अध्ययन औपचारिक, कानूनी एवं संस्थागत दृष्टिकोण से किया है। उदारणार्थ डायसी, मुनरो, ऑग एवं जॉर्ज बुओ बिल्सन तथा विलोबी के अध्ययन इसी श्रेणी में आते हैं।

परम्परागत राजनीतिविज्ञान के अध्ययन पर दर्शन, इतिहास तथा विधिशास्त्र का आधिपत्य है। यह राजनीतिक संस्थाओं के संस्थागत ढांचे के अध्ययन पर जोर देता है। ऐसे सिद्धान्तों तथा तथ्यों का निष्कर्ष बिना परीक्षण के निकाला गया। अतः केवल राज्य और सरकार के संकीर्ण परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया गया है।

1.8 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन का अध्ययन शामिल किया जाता है।

लास्की, गिल्क्राइस्ट, गेटेल राज्य और सरकार दोनों को अध्ययन क्षेत्र में शामिल करते हैं। बर्गेस के अनुसार प्रतिनिधि शासन, राष्ट्रीय एकता, नागरिक स्वाधीनता के साथ यह राज्य सम्प्रभुता का भी विज्ञान है।

यह शास्त्र राज्य की प्रकृति तथा उत्पत्ति की खोज करता है। राजनीतिक संस्थाओं का स्वरूप, इतिहास, उसके विभिन्न रूपों की खोज के साथ राजनीतिक विकास के निश्चित नियमों की खोज करता है। राज्य सब संस्थाओं के उपर नियन्त्रण करता है।

मनुष्य के राजनीतिक गण का अध्ययन राजनीति करती है, जो व्यावहारिक राजनीति है, जबकि राज्य का अध्ययन राजनीतिविज्ञान (Political Science) करता है। हर्मन हेलर ने (सामाजिक विज्ञानों के विश्व-कोश में) राजनीतिविज्ञान द्वारा मनुष्य के राजनीतिक पहलू के अध्ययन पर ही जोर दिया है।

विभिन्न परम्परागत राजनीति शास्त्रियों व यूनेस्को के दृष्टिकोण के अनुसार परम्परागत राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में निम्नलिखित विषयवस्तु को शामिल किया जाना चाहिये –

1.8.1 मानव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन – प्रो. लास्की के अनुसार राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध (संगठित राज्यों से सम्बन्धित मनुष्यों के जीवन से है।) संक्षेप में यह व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करता है। यह शास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि राज्य ने अपने नागरिकों को कौन से अधिकार दिये हैं तथा व्यक्तियों द्वारा राज्य के प्रति कौनसे कर्तव्यों का निर्वहन किया जाता है। यह शास्त्र राज्य द्वारा व्यक्ति के नियन्त्रण तथा व्यक्तियों द्वारा राज्य की नीतियों को प्रभावित करने वाले तथ्यों का अध्ययन करता है।

1.8.2 राज्य का अध्ययन – प्रो. विलोबी के अनुसार "राजनीतिविज्ञान राज्य, सरकार तथा कानून का अध्ययन करता है।" ("Generally Speaking, There are three great topics with which political science has to deal: state, government, law") (willoughby) गेटेल के मतानुसार राजनीतिविज्ञान राज्य के भूत, वर्तमान व भविष्य का अध्ययन करता है। ऐतिहासिक क्षेत्र से राजनीतिशास्त्र राज्य की उत्पत्ति, संस्थाओं के विकास, अतीत के सिद्धान्तों का अध्ययन करता है। वर्तमान में यह राजनीतिक संस्थाओं व विचारधाराओं का वर्णन करता है, व उनकी तुलना तथा वर्गीकरण का प्रयत्न करता है तथा साथ ही भविष्य के राज्य की भी कल्पना करता है। ("In its historical aspects political science deals with the origin of the state and with the development of political theories in the past in dealing with the present it attempts to describe and classify existing political institutions and ideas." (GETTEL) अतः हम गेटेल के अनुसार कह सकते हैं कि राजनीतिशास्त्र 'राज्य कैसा है' की ऐतिहासिक गवेषणा, 'राज्य कैसा है' का विश्लेषणात्मक अध्ययन और 'राज्य कैसा होना चाहिये' की राजनीतिक व नैतिक कल्पना है।

अतः राजनीतिशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, वर्तमान काल तक राज्य का विकास किस प्रकार हुआ, वह नगर राज्य (City states) से लेकर राष्ट्रीय राज्यों (Nation States) के विकास क्रम तक का अध्ययन करता है। वह इस बात का भी अध्ययन करता है कि अतीत में राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित

था, तथा वर्तमान में उसके कार्यक्षेत्र में किस प्रकार वृद्धि हुयी है। इस संदर्भ में इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि राज्य कैसा है? आधुनिक राज्य 'राष्ट्र राज्य' है, जो अतीत के राज्यों से पर्याप्त भिन्न है। आधुनिक राष्ट्रीय राज्य मूलतः संविधान वादी राज्य है और अपने लोककल्याणकारी दायित्व को स्वीकार करते हैं। इन राज्यों का कार्यक्षेत्र आन्तरिक और बाह्य दो भागों में विभाजित है। आन्तरिक कार्यक्षेत्र में निश्चित संविधान के अनुसार शासन चलाना शामिल है, शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखना, न्याय करना, जनता के कल्याण के लिये सामाजिक व आर्थिक कार्यों का संचालन इन कार्यों को शामिल किया जा सकता है। उसके बाह्य कार्यक्षेत्र में, विदेशनीति का संचालन, अन्य राज्यों से सम्बन्ध कायम करना, तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का पालन करना आता है। राजनीतिशास्त्र आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों से सम्बन्धित विभिन्न विचारधाराओं का भी अध्ययन करता है। इस संदर्भ में 'राज्य कैसा होना चाहिये' का अध्ययन करता है। इतिहास इस बात का गवाह है कि राज्य प्रारम्भ से ही एक विकासशील संस्था है, तथा यह भी माना जाता है कि भविष्य में भी यह अपने नये रूप में विकसित होगा। अतः राजनीतिशास्त्र उन विचारधाराओं का भी अध्ययन करता है जो राज्य के वर्तमान स्वरूप, संगठन, तथा कार्यों में परिवर्तन चाहती हैं। अतः राजनीतिशास्त्र उदारवाद, बहुलवाद, समाजवाद, श्रमसाम्यवाद, श्रेणी समाजवाद, अराजकतावाद आदि विचारधाराओं का अध्ययन करता है।

भविष्य में राज्य कैसा होगा? इस प्रश्न पर इन विचारधाराओं में भारी मतभेद है, अतः यह कहा जा सकता है भविष्य के राज्य के बारे में तथ्यों की अपेक्षा अनुमान पर आधारित है। साधारणतया यह अनुमान लगाया जाता है कि भविष्य का राज्य अधिक लोकतान्त्रिक होगा, राज्य की नीतियाँ अधिक लोककल्याणकारी होंगी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अधिक मान्यता देंगे।

राजनीति शास्त्र वर्तमानकाल में विभिन्न देशों में मौजूद शासन प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन करता है। शासन के तीनों अंगों का अध्ययन कर इनके पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करता है।

राजनीतिशास्त्र स्थानीय एवं राष्ट्रीय समस्याओं का भी अध्ययन करता है। इन समस्याओं के समाधान के उपाय सुझाता है। यह स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के संगठन, कार्यप्रणाली तथा कार्यक्षेत्र का अध्ययन करता है। भारत में स्थानीय समस्याओं के समाधान हेतु प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण 1958 ई. में लागू किया गया। इन संस्थाओं को प्रभावी बनाने के लिए 73वां व 74वां संविधान संशोधन कर वैधानिक दर्जा दिया है। इससे सुदृढ़ता आ सकी है।

राजनीतिशास्त्र राष्ट्रीय एकता, अखंडता तथा विकास के मार्ग की बाधक समस्याओं का भी अध्ययन करता है। भारत में इन समस्याओं के समाधान हेतु राजनीतिशास्त्र में भावनात्मक एकता, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय, योजनाबद्ध विकास, भाषानीति आदि का भी अध्ययन किया जाता है। विभिन्न राष्ट्रीय राज्य वैज्ञानिक व औद्योगिक विकास के कारण एक विशाल समुदाय के रूप में विकसित होते जा रहे हैं, तथा राज्य उसकी एक इकाई के रूप में परिवर्तित होते जा रहे हैं। आज अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ राष्ट्रीय राज्यों को प्रभावित कर रही हैं। आज अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद व नशीले पदार्थों की तस्करी ने विकराल रूप धारण कर लिया है। अतः राजनीतिशास्त्र इन समस्याओं का अध्ययन कर इनका हल सुझाता है, तथा इस बात पर भी बल देता है कि विभिन्न राज्यों के बीच सहयोग होना आवश्यक है। अतः आज 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' विषय में इन विषयों को शामिल किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (International Relations), अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (International Organisations), अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) भी इस विषय में समाहित हो गये हैं।

प्राचीनकाल से आधुनिक युग तक अनेक राजनीतिक विचारधाराओं की उत्पत्ति एवं उनका विकास हुआ है। इन्होंने ने राजनीति के यथार्थवादी व आदर्शवादी मूल्यों पर विचार किया है। राजनीतिक विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति, उसकी प्रकृति, उद्देश्य, साधन, कार्यों तथा भूमिका पर विचार किया है। इन विचारकों ने इस बात पर भी विचार किया है कि राज्य और व्यक्ति के बीच आपस में क्या संबंध होने चाहिये? इसके अलावा उन्होंने मत प्रकट किया है कि कानून, स्वतंत्रता, समानता का क्या स्वरूप होना चाहिये? आज राजनीतिशास्त्र के इतिहास में अनेक विचारधाराओं का अस्तित्व है जैसे, आदर्शवाद, व्यक्तिवाद, अराजकतावाद, फासीवाद, समाजवाद, श्रमिक संघवाद, श्रेणी समाजवाद साम्यवाद, बहुलवाद आदि तथा यह इस बात पर भी विचार करता है कि अतीत में इन विचारधाराओं ने मानवीय जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया है। राजनीतिशास्त्र इस बात पर भी विचार करता है कि किन परिस्थितियों में कौनसी विचारधारा का जन्म हुआ? साथ ही यह विचारधाराओं में होने वाली नवीन प्रवृत्तियों का भी अध्ययन करता है। वर्तमान में शासन संचालन में राजनीतिक दलों व दबाव समूहों का बड़ा महत्व है। राजनीतिक दल शासन पद्धति की रीढ़ कहे जा सकते हैं, जो चुनाव लड़कर सरकार का निर्माण करते हैं, तथा शासन का संचालन करते हैं। राजनीतिक दल खुले रूप में काम करते हैं, लेकिन दबाव समूह गुप्त रूप से व परोक्ष रूप से काम करते हैं, लेकिन सरकार के नीति निर्माण में प्रभावी भूमिका निभाते हैं। राजनीतिक दल व दबाव समूह की लोकमत के निर्माण में प्रभावी भूमिका हैं। अतः राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में इन दोनों को भी शामिल कर लिया गया है।

1.9 सारांश

अतः इस विवेचना के बाद यह स्पष्ट हो गया है कि राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र काफी विस्तृत है। आधुनिक सम्यता के विकास के साथ इसके क्षेत्र का भी निरन्तर विकास होता जा रहा है। आज राजनीतिशास्त्र उन समस्त समुदायों का भी अध्ययन करने लगा है जो मौलिक रूप से अराजनीतिक प्रवृत्ति के हैं, लेकिन राज्य की नीतियों व निर्णयों को प्रभावित करते हैं। आधुनिक युग में विज्ञान और औद्योगिक विकास की प्रगति ने राजनीति का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया है, अतः राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र का भी विकास होता जा रहा है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राजनीतिशास्त्र एक गतिशील विज्ञान है तथा यह आशा की जा सकती है कि समय और परिस्थितियों के अनुसार राजनीतिशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र का भी निरन्तर विकास होता जायेगा। इसकी प्रवृत्ति विकासोन्मुख है। वर्तमान में यह स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है।

1.10 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न-

1. परम्परागत राजनीतिशास्त्र की परिभाषा कीजिए?
2. गार्नर का कथन है कि "राजनीतिशास्त्र का प्रारम्भ और अन्त राज्य से होता है।" इस कथन की समीक्षा कीजिये?
3. परम्परागत राजनीतिशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र की विवेचना कीजिये?
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये -
 1. परम्परागत राजनीति विज्ञान की विशेषतायें।
 2. गैटिल के इस कथन का विश्लेषणात्मक विवेचन कीजिये कि "राजनीतिशास्त्र 'राज्य कैसा है' का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है, 'राज्य कैसा होना चाहिये' की राजनीतिक व नैतिक परिकल्पना है।"
 3. डिमॉक का कथन है कि "राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध तथा उसके साधन सरकार से है।" इसका विवेचन कीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

1. परम्परागत राजनीतिशास्त्र को विकासकाल माना जाता है-
 1. ईसा से प्रथम विश्वयुद्ध तक।
 2. ईसा से पूर्व 6 सदी से द्वितीय विश्वयुद्ध तक।
 3. 16वीं सदी से आधुनिक काल तक।
 4. ईसा पूर्व तीसरी सदी से 1929 की आर्थिक मन्दी तक।
2. निम्न विचारकों में से कौन परम्परागत राजनीतिक विचारक है -
 1. ईरिक बोगोलिन
 2. हन्ना आरेन्ट
 3. अल्फ्रेड कोवन
 4. उपरोक्त सभी
3. यह कथन निम्न विद्वानों में से किसका है - "राजनीतिकशास्त्र अध्ययन का प्रारम्भ और अन्त राज्य के साथ होता है।"
 1. गैटिल
 2. अरस्तू
 3. गार्नर
 4. रूसो
4. यह कथन निम्नलिखित विद्वानों में से किसका है, "राजनीतिशास्त्र राज्य व सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है"-
 1. सीले
 2. गिलक्राइस्ट
 3. लास्की
 4. लौकाक
5. यह कथन निम्नलिखित विद्वानों में से किसका है? "राजनीतिशास्त्र राज्य व सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है।"
 1. गिलक्राइस्ट
 2. पाजजेनेट
 3. गैरिस
 4. हरमन हैलर
6. यह कथन निम्नलिखित विद्वानों में से किसका है? "राजनीतिशास्त्र संगठित राज्यों के सन्दर्भ में मानव जीवन के अध्ययन से सम्बन्धित है।"
 1. लास्की
 2. सर फ्रेडरिक पोलक
 3. प्लेटो
 4. सिजविक
7. राजनीति के अध्ययन क्षेत्र को सर फ्रेडरिक पोलक ने किन दो भागों में बांटा है?
8. सम्पूर्ण राजनीतिशास्त्र का सर्वाधिक तर्कसंगत एवं मान्य विभाजन है।
 1. ऐतिहासिक और आधुनिक राजनीतिविज्ञान।
 2. अनुभववादी और वैज्ञानिक राजनीति विज्ञान।
 3. व्यवहारवादी और उत्तरव्यवहारवादी राजनीति विज्ञान।
 4. परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान।
9. परम्परागत राजनीतिशास्त्र का प्रमुख लक्षण है -
 1. वैज्ञानिकता।
 2. मूल्य निरपेक्षता।
 3. दार्शनिक प्रकृति।
 4. वस्तुनिष्ठता।
10. परम्परागत राजनीतिशास्त्र का प्रमुख लक्षण है -
 1. ऐतिहासिक व वर्णनात्मक अध्ययन पद्धति।
 2. गणितीय प्रतिमानों का निर्माण द्वारा अध्ययन।
 3. समाज शास्त्रीय अध्ययन पद्धति
 4. तथ्यात्मक अध्ययन।

11. परम्परागत राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख प्रतिमान नहीं है –
 1. कानून । 2. राजनीतिक व्यवस्था ।
 3. राष्ट्रवाद । 4. स्वतन्त्रता । ()
12. परम्परागत राजनीतिशास्त्र का प्रमुख लक्षण नहीं है –
 1. व्यक्ति एवं समूह के व्यवहार के अध्ययन पर बल । 2. व्यक्ति के अधिकारों के अध्ययन पर बल ।
 3. संस्थाओं के ऐतिहासिक व औपचारिक अध्ययन पर बल । 4. राज्य, कानून, संप्रभुता, अधिकार आदि अवधारणाओं के अध्ययन पर बल । ()
13. परम्परागत राजनीतिशास्त्र का लक्षण नहीं है –
 1. तथ्य एवं मूल्यों की पृथक्ता (मूल्य निरपेक्षता) 3. मूल्य प्रधान एवं मानकात्मक अध्ययन ।
 2. तथ्य एवं मूल्यों की घनिष्टता (मूल्य सापेक्षता) 4. अमूर्त एवं व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन । ()
14. आधुनिक युग में परम्परागत राजनीतिशास्त्र की धारा को जीवित रखने वाले प्रमुख विचारक हैं
 1. बैन्थम एवं मिल । 2. कार्ल मार्क्स व लेनिन ।
 3. डेविड ईस्टन व लासवेल । 4. लियोस्ट्रास व माइकेल आकशॉट । ()
15. परम्परागत राजनीतिशास्त्र की अध्ययन पद्धति ही है –
 1. ऐतिहासिक पद्धति । 2. आनुभाविक पद्धति ।
 3. दार्शनिक पद्धति । 4. पर्यवेक्षणात्मक व विश्लेषणात्मक पद्धति । ()
16. लघूत्तरात्मक प्रश्न (केवल 100 शब्दों में उत्तर दीजिये)
 1. संपूर्ण राजनीतिशास्त्र का विभाजन किन दो प्रमुख दृष्टिकोणों में किया गया है ।
 2. परम्परागत राजनीतिशास्त्र की दो प्रमुख विशेषताये बताइये ।
 3. परम्परागत राजनीतिशास्त्र की दो अध्ययन पद्धतियां बताइये ।
 4. राजनीतिशास्त्र की परम्परागत परिभाषाओं ने राजनीति विज्ञान को किससे सम्बन्धित शास्त्र माना है?

1.11 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

ओमप्रकाश गाबा, "समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त" मयूर पैपरबैक्स, चौपड़ा
 आर.सी. अग्रवाल, "राजनीतिशास्त्र के मूल आधार", एस. चन्द कम्पनी, दिल्ली
 अनुपकपूर, "राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त", एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी, दिल्ली
 ज्ञानसिंह संघू "राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त", हिन्दी कायावन्यत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

इकाई-2 : राजनीति विज्ञान का क्षेत्र- आधुनिक दृष्टिकोण

संरचना

- 2.1 उद्देश्य
- 2.2 प्रस्तावना
- 2.3 आधुनिक दृष्टिकोण की आधारभूत अवधारणाएँ
- 2.4 अध्ययन क्षेत्र की विषयवस्तु
 - 2.4.1 मानव के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन
 - 2.4.2 विभिन्न अवधारणाओं का अध्ययन
 - 2.4.3 सार्वजनिक समस्याओं के सम्पर्क में संघर्ष और सहमत का अध्ययन
- 2.5 परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण में अन्तर
 - 2.5.1 समयावधि का अन्तर
 - 2.5.2 स्वरूप में अन्तर
 - 2.5.3 व्यवहारपरक अध्ययन में अन्तर
 - 2.5.4 अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन
 - 2.5.5 अध्ययन पद्धति का अन्तर
- 2.6 सारांश
- 2.7 आधुनिक राजनीतिक विज्ञान के लक्षण एवं विशेषताएँ
 - 2.7.1 गुणात्मक परिवर्तन
 - 2.7.2 वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति पर जोर
 - 2.7.3 यथार्थवादी एवं मूल्यनिरपेक्ष अध्ययन
 - 2.7.4 सिद्धान्त निर्माण संबंधी विशेषता
 - 2.7.5 अन्तर अनुशासन पर आधारित
 - 2.7.6 व्यवहारवाद संबंधी विशेषताएँ
 - 2.7.7 विकासशीलता का लक्षण
 - 2.7.8 स्वायत्तता एवं मौलिकता में विश्वास
 - 2.7.9 मानवीय समस्याओं के उचित हल पर जोर देता है
- 2.8 सारांश
- 2.9 अभ्यास प्रश्नावली
- 2.10 सन्दर्भ ग्रंथ- सूची

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य राजनीति विज्ञान के क्षेत्र आधुनिक दृष्टिकोण की जानकारी प्रदान करना। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् जो परिवर्तन आये उससे राजनीतिक व्यवस्था भी अछूती नहीं रही है अतः इसका प्रत्यक्ष प्रभाव राजनीति विज्ञान पर पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक दृष्टिकोण उभरकर हमारे सामने आया। इस अध्ययन से आप जान सकेंगे-

- आधुनिक दृष्टिकोण की मूल अवधारणाएँ,
- आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार अध्ययन की विषयवस्तु,
- परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण में अन्तर,
- आधुनिक राजनीति विज्ञान के लक्षण इत्यादि के बारे में जानकारी प्राप्त कर यह समझने में सक्षम होंगे कि इस दृष्टिकोण के आने से राजनीति विज्ञान का महत्व एवं कार्यक्षेत्र कितना बढ़ा है।

2.2 प्रस्तावना

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध में एक नवीन अवधारणा का जन्म हुआ है जो अधिक व्यापक, यथार्थवादी तथा विकासवादी प्रक्रिया है। “राजनीतिविज्ञान का क्षेत्र अब इतना व्यापक हो गया है कि उसमें संस्थात्मक संगठन, निर्णय-निर्माण और क्रियाशीलता की प्रक्रियाओं, नियंत्रण की राजनीति, नीतियों और कार्यों और विधिबद्ध प्रशासन के मानवीय वातावरण को भी शामिल किया जाने लगा है” चार्ल्स हाइनेमन

आधुनिक राजनीतिविज्ञान का प्रारम्भ और अन्त अब राज्य में नहीं होता न ही वह राज्य की सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। वह राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन भी वर्णनात्मक, ऐतिहासिक, आदर्शात्मक और कानूनी पद्धतियों से करना चाहता है। आधुनिक राजनीति विज्ञान की अध्ययन की विषयवस्तु है, राजनीति मनुष्य और उसका व्यवहार, मनुष्य की समूह के रूप में भूमिका और उसका आचरण, प्रशासन, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राजनीतिक विचारधाराओं, राजनीतिक मूल्य, राजनीतिक अर्थशास्त्र, राजनीतिक समाजशास्त्र, आधुनिक सैन्य विज्ञान इत्यादि।

वाल्टर वेजहॉट, वुड्रो विल्सन, लार्ड ब्राइस आदि ने राजनीति के यथार्थवादी अध्ययन पर बल दिया। विचारक राजनीति विज्ञान के अध्ययन को वैज्ञानिक और निश्चयात्मक बनाना चाहते थे। 1925 ई. के अमेरिकी राजनीतिविज्ञान संघ के अधिवेशन में चार्ल्स ई मेरियम ने इस विषय के अध्ययन के लिये तकनीकी एवं प्रविधियों के विकास एवं प्रयोग पर बल दिया। 1930 ई. में हेरल्ड लासवेल ने अपनी पुस्तक ‘साइकोपैथालाजी एण्ड पॉलिटिक्स’ (**Psychopathology and Politics**) में राजनीतिक घटनाओं एवं क्रियाओं की व्याख्या के लिये फ्रायड के मनोविज्ञान को आधार बनाया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का विश्व इसके पूर्व के विश्व से राजनीतिक संरचना, औद्योगिक विकास, वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों तथा सैन्य क्षमता की दृष्टि से भिन्नता लिये हुए था। अतः इसका परिणाम यह हुआ कि मानव समाज एवं प्रकृति की परम्परागत अवधारणाओं के स्थान पर नयी अवधारणाओं ने जन्म लिया। इसका संपूर्ण समाज विज्ञानों के अध्ययन दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। अतः इस वास्तविकरण में कई विचारकों ने राजनीतिविज्ञान के अध्ययन हेतु नवीन एवं वैज्ञानिक तकनीकों के प्रयोग का समर्थन किया।

अतः 1960 के दशक में संयुक्त राज्य अमरीका के शिकागो विश्वविद्यालय में कार्यरत राजनीति वैज्ञानिकों ने इसके अध्ययन को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने की दिशा में प्रयत्न किये। उन्होंने यह स्वीकार किया कि राजनीति विज्ञान एक सामाजिक विज्ञान है और इसके अध्ययन को शुद्ध एवं पूर्ण बनाने के लिये हमें समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र जैसी समाज विज्ञानों की वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाना चाहिये। इन प्रमुख राजनीतिविज्ञानियों में शामिल थे—डेविड ईस्टन, कैटलिन, लासवेल तथा अलेक्जेंडर आदि। उन्होंने समाज—एक दृष्टिकोण का विकास किया, जिसकी मान्यता है कि व्यक्तियों के राजनीतिक जीवन को सामाजिक जीवन के संदर्भ में ही उचित रूप से समझा जा सकता है, अतः राजनीति विज्ञान के अध्ययन में ‘अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण’ (**Inter Disciplinary approach**) को अपनाया जाना चाहिये। इसके पूर्व औपचारिक और न्यायिक संरचनाओं पर जोर दिया जा रहा था। अब उसका स्थान प्रक्रियाओं को समझने की प्रवृत्ति ने ले लिया। गैर सरकारी संगठनों की कार्यवाहियों और सरकारी कार्यवाहियों पर उनकी प्रतिक्रिया के अध्ययन में रुचि ली जाने लगी। राजनीतिविज्ञान का क्षेत्र अब राजनीतिक दर्शन और संस्थाओं के विवरण तक ही सीमित नहीं रह गया था। संस्थाओं और संगठनों के अध्ययन में भी आनुभविक अध्ययन (**Empirical Study**) की प्रकृति बढ़ रही थी। शासन के सक्रियात्मक (**Operational**) और औपचारिक स्रोतों पर शोध करने के साथ साथ, संस्थाओं के कार्यों पर भी शोध की जाने लगी थी। समकालीन राजनीति विचारकों ने इस बात पर शोध करना प्रारम्भ कर दिया था समाज में शक्ति का स्रोत कहा है, तथा उस शक्ति का प्रशासन द्वारा पर किस प्रकार प्रयोग किया जाता है? कुछ विचारकों ने उन सांस्कृतिक तत्वों की जानकारी पर बल दिया जो शासन को प्रभावित करते हैं। कतिपय विचारकों ने प्रशासन के संगठनात्मक पक्ष का गहराई से अध्ययन करते हुए नीति निर्माण के तत्वों का विश्लेषण प्रारम्भ किया। राजनीतिक नेतृत्व की प्रकृति और उसके कार्यों का अध्ययन प्रारम्भ किया। नेतृत्व की विचारधारा और उसके बदलते पारम्परिक रागबन्धों के बदलते स्वरूपों पर विचार करना प्रारम्भ किया।

राज-वैज्ञानिकों में सांख्यिकी व सांख्यिकीय प्रविधियों को शोध में लागू करने की तत्परता दिखाई देने लगी। उनके द्वारा की मूल्यों के प्रति आग्रह की अपेक्षा उनके पीछे काम करने वाली प्रवृत्तियों को समझने पर जोर दिया जाने लगा। तथ्यों के वस्तुनिष्ठ (**Objective**) अध्ययन के आधार पर सामान्यीकरण (**Generalisation**) पर पहुंचने की प्रवृत्ति पाई जाने लगी। राजनीतिशास्त्र की अध्ययन पद्धति में वास्तविक परिवर्तन, व्यवहारवाद के उद्भव के बाद हुआ। लार्ड ब्राइस वगैरह ने जो तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले थे वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि पर आधारित थे। व्यवहारवादियों ने जिन नवीन प्रविधियों का उपयोग किया वह आधारसामग्री (**Data**) के संकलन (**Collection**) उनका प्रोसेसिंग (**Processing**) और विश्लेषण (**Analysis**) पर आधारित थी। राजनीतिविज्ञान की वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष पैदा हुआ। अतः किर्कपैट्रिक ने लिखा है कि “असन्तोष नेक्षोभ को जन्म दिया और क्षोभ के परिणाम स्वरूप क्षेत्र में परिवर्तन आया।” अतः व्यवहारवादी पद्धति को अभिव्यक्ति मिली।

आज राजनीतिविज्ञान का स्वरूप और क्षेत्र तेजी से बदल रहा है। इस विषय के अध्ययन के लिए नयी अवधारणाएँ (**Conecepts**), पद्धतियाँ (**Methodology**) व तकनीक विकसित की जा रही हैं। राजनीतिक संस्थाएँ ही अब शोध और विश्लेषण की मूल इकाई नहीं रह गयी हैं। अब राजनीतिविज्ञान के अध्ययन का आधार राजनीतिक परिवेश में व्यक्तियों के व्यवहार को माना जाने लगा है। कैटलिन जैसे विद्वान यह मानने लगे हैं कि राजनीतिविज्ञान एक व्यवहारवादी विज्ञान है। आज राजनीतिशास्त्र जो पहिले दर्शनशास्त्र (**Philosophy**) व नीतिशास्त्र (**Ethics**) का अंग माना जाता था, अब उससे निकलकर सामाजिक विज्ञानों का अंग माना जाने लगा है। अतः अध्ययन की आधुनिक पद्धतियों ने इस विषय के अध्ययन के अराजनीतिक जीवन को तथा उसके समूह के आचरण को अध्ययन क्षेत्र में शामिल कर लिया गया है।

2.3 आधुनिक दृष्टिकोण की आधारभूत अवधारणाएँ

राजनीति के आधुनिक दृष्टिकोण की आधारभूत अवधारणाएँ निम्नलिखित हैं—

1. अध्ययन क्षेत्र में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये।
2. राजनीति विज्ञान की विषयवस्तु में अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये।
3. राजनीति विज्ञान की विषयवस्तु के अध्ययन के लिये वैज्ञानिक उपागमों का प्रयोग किया जाना चाहिये।
4. आधुनिक दृष्टिकोण का मत है कि परम्परागत राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन के बारे में औपचारिक पद्धति को अपनाया गया है, जबकि इसकी अध्ययन पद्धति में अनौपचारिक मत को अपनाया जाना चाहिये।

2.4 अध्ययन क्षेत्र की विषय वस्तु

आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीतिविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में निम्नलिखित विषयवस्तु को शामिल किया जाना चाहिये—

2.4.1 मानव के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन— आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार मुख्यतः मानव का राजनीतिक व्यवहार आता है, लेकिन मानव व्यवहार को राजनीतिक कारकों के साथ गैर राजनीतिक कारक भी प्रभावित करते हैं। अतः इसके अध्ययन क्षेत्र में राजनीतिक मान्यताओं के साथ-साथ राजनीतिक मान्यताये, शक्तियों का अध्ययन शामिल किया जाना चाहिये। क्योंकि यह सब कारक राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

2.4.2 विभिन्न अवधारणाओं का अध्ययन— आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार यह शास्त्र मुख्य रूप से शक्ति, सत्ता, प्रभाव, नियंत्रण, निर्णय प्रक्रिया (Decision making Process) से सम्बन्धित विज्ञान है। अतः इसके अध्ययन क्षेत्र में इन सब अवधारणाओं का वैज्ञानिक अध्ययन शामिल किया जाना चाहिये।

2.4.3 सार्वजनिक समस्याएँ के संदर्भ में संघर्ष और सहमति का अध्ययन किया जाना चाहिये— सार्वजनिक समस्याएँ वे हैं जो संपूर्ण समाज के बड़े भाग को प्रभावित करती हैं। अतः यह समस्याएँ राजनीति विज्ञान का अंग बन जाती हैं। इन समस्याओं के प्रति व्यक्ति, दल व समूह परस्पर विरोधी विचार रखते हैं। अतः यह संघर्ष की अध्ययन वस्तु राजनीतिविज्ञान की विषयवस्तु है। इस संघर्ष का उद्देश्य राजनीतिक सहमति प्राप्त करना होता है। अतः संघर्ष के साथ सहमति (Consensus) की राजनीति का भी अध्ययन किया जाना चाहिए क्योंकि किसी समस्या को संघर्षपूर्ण बनाने अथवा उसका समाधान खोजने वाली गतिविधियाँ राजनीति हैं (Politics is the activity Negotiations, Argument, Discussions application of force, persuasions etc) by which an issue is agitated or मार्टिन मेरन एण्ड एडवर्ड बेनफील्ड (Martin Myerron and Edward Benfield).

उपरोक्त विवरण से यह तथ्य उभरकर आता है कि आधुनिक राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन के बारे में विद्वानों में मतभेद है। फिर भी आधारभूत बातों में उनमें सहमति है। जैसे वह सभी मानते हैं कि—

1. राजनीतिविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र यथार्थवादी होना चाहिये।
2. इसके अध्ययन में अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये।
3. इस बात की आलोचना की जाती है कि नवीन अध्ययन पद्धति के आधार पर भी वैज्ञानिक प्रामाणिकता एवं सुनिश्चितता प्राप्त नहीं हो सकती है।
4. यथार्थवादी अध्ययन के नाम पर राजनीतिविज्ञान का मानवीय मूल्यों (Human Values) से सम्बन्ध तोड़ लिया गया है। तथा इस शास्त्र को मूल्यहीनता का समर्थक बना दिया गया है।
5. पेनाक एण्ड स्विथ (Pennock and swith) जैसे राज-वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है कि राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन के साथ व्यावहारिक राजनीतिक अध्ययन के साथ, राजनीतिक संस्थाओं के संगठनात्मक एवं मूल्यात्मक अध्ययन को भी स्थान दिया जाना चाहिये।

2.5 परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण में अन्तर

राजनीतिविज्ञान के क्षेत्र के बारे में इसके परम्परागत व आधुनिक दृष्टिकोण में निम्नलिखित अन्तर हैं—

2.5.1 समयावधि का अन्तर — द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले राजनीतिविज्ञान का परम्परागत रूप सर्वमान्य था, लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आधुनिक दृष्टिकोण लोकप्रिय हुआ।

2.5.2 स्वरूप में अन्तर — परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान में राज्य सरकार एवं राजनीतिक संस्थाओं के संगठन व कार्य का, व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन कानूनी दृष्टिकोण से किया जाना चाहिये। जबकि आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन किया जाना चाहिये। व्यवहारवादियों के अनुसार समस्त राजनीतिक संस्थाओं का भी अध्ययन किया जाना चाहिये।

2.5.3 व्यवहारपरक अध्ययन में अन्तर – प्राचीन और नवीन दृष्टिकोण में यह अन्तर है कि आधुनिक दृष्टिकोण औपचारिक अध्ययन की अपेक्षा व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार (Political behaviour) पर बल देता है।

2.5.4 अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन– आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार अन्तर अनुशासनात्मक (Inter-disciplinary approach) अध्ययन व समग्रता (Totality) पर जोर देता है। परम्परागत दृष्टिकोण यह मानता है कि विषय लगभग संपूर्ण विषय है, तथा राज्य का अध्ययन राजनीतिक दृष्टि से करता है। परम्परागत दृष्टिकोण अध्ययन के लिये अन्य सामाजिक विज्ञानों की मदद लेना आवश्यक नहीं समझता। अतः परम्परागत दृष्टिकोण एक अनुशासनात्मक दृष्टिकोण है।

आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार मानव के राजनीतिक व्यवहार को शामिल किया जाना चाहिये। इस दृष्टिकोण के अनुसार मानवीय व्यवहार को गैर राजनीतिक भावनाएँ एवं शक्तियाँ प्रभावित करती हैं। जिनका संबंध मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि सामाजिक विज्ञानों (Social Sciences) से हैं, अतः आधुनिक दृष्टिकोण को अन्तर अनुशासनात्मक (Inter disciplinary approach) कहा जाता है।

2.5.5 अध्ययन पद्धति का अन्तर

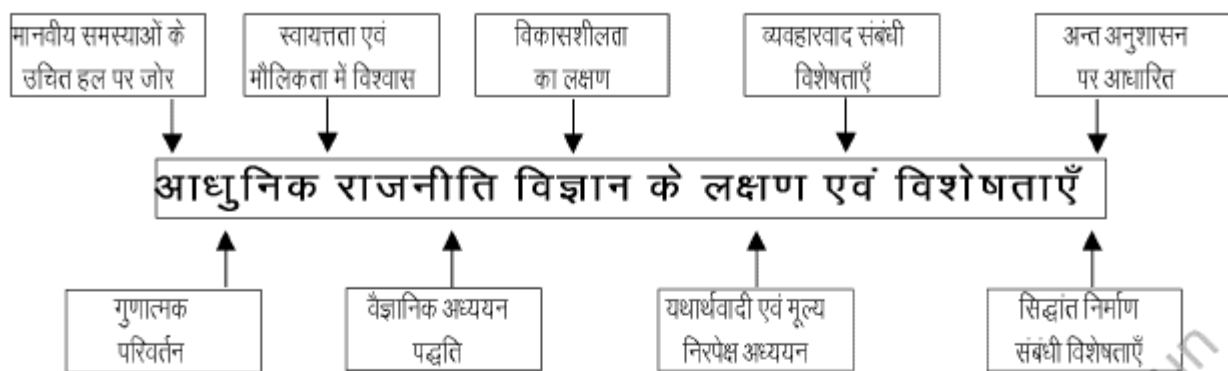
- आधुनिक दृष्टिकोण राजनीतिक व्यवहार के क्रमबद्ध और तारतम्य अध्ययन पर जोर देता है, जबकि परम्परागत दृष्टिकोण में इसका अभाव पाया जाता है।
- आधुनिक दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान के अध्ययन और अनुसंधानों में सांख्यिकीय प्रयोग पर बल देता है ताकि किसी ठोस, वर्गीकृत (Classified) परिणाम पर पहुँचा जा सके। परम्परागत दृष्टिकोण में इसके लिए कोई स्थान नहीं है।
- परम्परागत दृष्टिकोण में दार्शनिक अथवा सैद्धान्तिक या काल्पनिक भावनाओं पर बल देता है, जबकि आधुनिक दृष्टिकोण यथार्थवादी है।
- आधुनिक दृष्टिकोण व्यवस्थित सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयास करता है, जबकि परम्परागत दृष्टिकोण में ऐसा नहीं होता है।
- आधुनिक दृष्टिकोण विकासशील दृष्टिकोण है, जो परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुये सिद्धान्तों को उनके अनुकूल बनाने का प्रयास करता है, जबकि परम्परागत दृष्टिकोण में ऐसा नहीं होता है।
- आधुनिक दृष्टिकोण मूल्य निरपेक्ष अध्ययन है तथा व्यक्तिनिष्ठ प्रभावों से मुक्त दृष्टिकोण है। इसके विपरीत परम्परागत दृष्टिकोण आदर्शों तथा मूल्यों पर बल देता है।
- अध्ययन पद्धति की दृष्टि से यह अन्तर है कि परम्परागत राजनीति विज्ञान ऐतिहासिक, दार्शनिक और तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग करता है। यह आदर्शों और मूल्यों पर जोर देता है। जो व्यक्तिनिष्ठ होते हैं। अतः इसकी अध्ययन पद्धति को अवैज्ञानिक (Unscientific) बना देते हैं। इसके विपरीत आधुनिक दृष्टिकोण में वैज्ञानिक पद्धति, प्रविधियाँ तथा तकनीकों पर बल दिया जाता है।
- आधुनिक दृष्टिकोण सांख्यिकीय तथा सपेक्षणात्मक पद्धति अपनाता है, जो पूर्वाग्रहों से मुक्त होती है, जो यथार्थवादी, मूल्य निरपेक्ष, वस्तुनिष्ठ (Objective) पद्धति होती है। परम्परागत दृष्टिकोण में इसको नहीं अपनाया जाता है।
- प्रामाणिकता की दृष्टिकोण से देखें तो परम्परागत व आधुनिक दृष्टिकोण दोनों ही अपूर्ण हैं, फिर भी आधुनिक दृष्टिकोण की अध्ययन पद्धति अधिक वैज्ञानिक मान्य तथा सर्वग्राही है।

2.6 सारांश

राजनीति विज्ञान में आधुनिक दृष्टिकोण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रचलन में आया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले भी ग्राहमवैलेस, बेन्टले, कैंटलिन, लासवेल आदि अमेरिकी विद्वानों ने इस विचार को जन्म दिया कि राजनीति शास्त्र में राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन की अपेक्षा इन संस्थाओं के संचालकों के मानवीय व्यवहार (Human Behaviour) का अध्ययन किया जाना चाहिये। इस दृष्टिकोण के प्रमुख अध्ययता डेविड ईस्टन ने इसको व्यवहारवादी-आन्दोलन (Behaviouralism) का नाम दिया। इस दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति समाज में रहता हुआ ही अपना जीवन व्यतीत करता है, अतः इन संस्थाओं की सीमाओं से बाहर जाकर मानव व्यवहार और गैर राजनीतिक समुदायों का भी राजनीतिविज्ञान में अध्ययन किया जाना चाहिये। यद्यपि इन दोनों अध्ययन पद्धतियों में पर्याप्त अन्तर होते हुये भी कोई भी दृष्टिकोण पूर्ण नहीं है। क्योंकि आधुनिक दृष्टिकोण भी सुनिश्चिता प्राप्त करने में असफल रही है तथा इसमें भी आधारभूत कमियाँ हैं। इसमें मूल्य निरपेक्षता पर जोर देने के कारण मूल्यहीनता को बढ़ावा दिया गया है। अतः यह कहा जा सकेगा कि दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे के पूरक हैं। निष्कर्ष के रूप में यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन में यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ मानवीय मूल्यों व लोकतान्त्रिक मूल्यों को उचित महत्व दिया जाना चाहिये।

2.7 आधुनिक राजनीति विज्ञान के लक्षण एवं विशेषताएँ

वर्तमान सदी में प्राकृतिक विज्ञानों ने आश्चर्यजनक प्रगति की जिसका प्रभाव सामाजिक विज्ञानों पर पड़ना स्वाभाविक ही था। मनोविज्ञान, मानव विज्ञान (anthropology), समाजशास्त्र (Sociology) जैसे सामाजिक विज्ञानों ने प्राकृतिक विज्ञानों की अध्ययन पद्धतियों को अपनाकर अधिक प्रमाणिक बनने का प्रयास किया। इस विकास प्रक्रिया का प्रभाव राजनीति विज्ञान पर भी पड़ा। कतिपय राजवैज्ञानिकों ने परम्परागत अध्ययन पद्धतियों को अस्वीकार करते हुये इसकी अध्ययन पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन किया, तथा राजनीतिविज्ञान एक ऐसे नये रूप में प्रकट हुआ जिसे आधुनिक राजनीति विज्ञान कहा जाता है। इसके प्रमुख लक्षण एवं विशेषताएँ निम्नलिखित प्रकार से हैं—



2.7.1 गुणात्मक परिवर्तन— आधुनिक राजनीति विज्ञान की विषय वस्तु राजनीति है। इससे तात्पर्य मनुष्य के वे समस्त क्रियाकलाप आते हैं, जो सार्वजनिक जीवन को प्रभावित करते हैं तथा जो शिक्षा, आर्थिक या धार्मिक क्षेत्र में घटित हो रहे हैं। अतः आधुनिक राजनीति विज्ञान का विस्तार छात्र राजनीति, श्रमिक राजनीति, धार्मिक राजनीति, क्षेत्रीय राजनीति तथा, भाषा संबंधी राजनीति तक विस्तृत हो गया है। आज इस विषय के अध्ययन क्षेत्र में व्यक्ति, परिवार, समूह, समाज, राष्ट्र, विश्व से संबंधित उन सभी तथ्यों, क्रियाओं, कार्यों, घटनाओं आदि को सम्मिलित कर लिया गया है, जो हमारे सार्वजनिक व राजनीतिक जीवन को किसी भी रूप में प्रभावित करते हैं।

2.7.2 वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति पर जोर— इस शताब्दी के प्रारम्भ में प्राकृतिक विज्ञानों के साथ सामाजिक विज्ञानों का भी विकास हुआ है। राजनीति विज्ञान ने भी अपने अध्ययन को वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया है, तथा अपनी अवधारणाओं को प्रमाणित और निश्चयात्मक बनाने का प्रयास किया है। राजनीति विज्ञान यह विज्ञान बनने की ओर निरन्तर प्रयत्नशील है। आज इसके अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग हो रहा है।

2.7.3 यथार्थवादी एवं मूल्य निरपेक्ष अध्ययन— वैज्ञानिकता प्राप्त करना प्रधान लक्षण है, तथा इसके दो उप लक्षण हैं, यथार्थवादी व मूल्य निरपेक्ष अध्ययन पर बल। परम्परागत राजनीति विज्ञान में आदर्शवादी व मूल्यात्मक अध्ययन को महत्व दिया गया था। अतः इसमें क्या होना चाहिये पर जोर दिया, क्या है? की उपेक्षा करता रहा है। इसका सीधा सा अर्थ यह है कि यह तथ्यात्मक अध्ययन को मान्यता देता है। इस प्रकार के यथार्थवादी अध्ययन में अध्ययनकर्ता स्वयं की भावनाओं, पूर्वाग्रहों, मूल्यों को कोई स्थान नहीं देता। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विषय को वैज्ञानिक बनाने के लिये अपने अध्ययन को यथार्थवादी अध्ययन की ओर मोड़ता है, अध्ययन के लिये मूल्य निरपेक्षता को स्वीकार करता है। इस तरह वास्तविक वैज्ञानिक अवधारणाओं का विकास किया जा सकता है।

2.7.4 सिद्धान्त निर्माण पर बल— आधुनिक दृष्टिकोण के समर्थकों का मत है कि सिद्धान्तों का निर्माण शोध के आधार पर किया जाना चाहिये। राजनीतिक तथ्यों का अध्ययन कठोर जांच प्रक्रिया द्वारा अर्थात् वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा किया जाना चाहिये। इस प्रकार विश्वसनीय एवं सत्य निष्कर्ष निकलते हैं, यही शोध है तथा यह सिद्धान्त वास्तविकता के निकट है। उस पर प्रायः सर्वसम्मति पायी जाती है। वर्तमान तथा अतीत की घटनाओं की सत्य व्याख्या की जा सकती है, तथा उससे सामान्यीकरण (Generalisation) की स्थापना की जा सकती है तथा भविष्य की संभावनाओं को भी प्रकट किया जा सकता है, जो कि विश्वसनीय होती है।

2.7.5 अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण पर आधारित— अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण आधुनिक दृष्टिकोण को अन्तर अनुशासनात्मक आधारित अध्ययन माना जाता है। इसका क्षेत्र मुख्यतः व्यक्ति का राजनीतिक व्यवहार है, जो गैर राजनीतिक मान्यताओं से प्रभावित होता है, जिसका संबंध विभिन्न विज्ञानों से होता है। अतः सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक विज्ञान अन्य विषयों से सहयोग प्राप्त करे तथा उनके साथ घनिष्ठ संबंध आवश्यक मानते हैं, तथा इस मत को अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण (Inter disciplinary approach) कहा जाता है। अतः राजनीति विज्ञान मनोविज्ञान समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानवविज्ञान आदि सामाजिक विज्ञानों के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करता है। इन सामाजिक विज्ञानों ने वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति को स्वीकार किया है, तथा इन विषयों से प्राप्त तथ्यों को स्वीकार किया है, तथा इन विषयों से प्राप्त तथ्यों अवधारणाओं व सिद्धान्तों को अपनाया गया है। आधुनिक राजनीति विज्ञान ने इस आधार पर राजनीति विज्ञान की विशिष्ट शाखाओं की स्थापना की है, जैसे— राजनीतिक समाज शास्त्र (Political Sociology) तथा राजनीतिक मनोविज्ञान (Political Psychology)

2.7.6 व्यवहारवादी अध्ययन— आधुनिक राजनीति विज्ञान मूलतः अनुभवात्मक उपागम (Empirical approach) में विश्वास करता है, और उसी का विशिष्ट रूप है, व्यवहारवाद। इसकी प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं।

1. यह व्यक्ति और व्यक्ति समूह के अध्ययन का उपागम है।
2. इस विषय के अध्ययन के लिये अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण को स्वीकार करता है।
3. व्यवहारवाद तथ्यों के अध्ययन के लिये वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियों को अपनाने पर जोर देता है। यह तालिकाओं, ग्राफों, अनुभव प्रविधियों, गणितीय मॉडलों, सांख्यिकी सूत्रीकरण के साधनों पर जोर देता है।
4. व्यवहारवाद का उद्देश्य है कि राजनीति विज्ञान को एक व्यवस्थित, प्रमाणिक व आनुभविक विज्ञान के रूप में विकसित किया जावे।

2.7.7 विकासशीलता का लक्षण—आधुनिक राजनीति विज्ञान स्वयं में कोई स्थिर एवं सर्वकालिक धारणा नहीं है, अपितु यह राजनीतिक सामाजिक सत्य की खोज के लिये समय की आवश्यकतानुसार स्वयं की मान्यताओं में बदलाव के लिये तैयार रहता है। जब इसने व्यवहारवाद में कमियों का अनुभव किया तो उत्तर-व्यवहारवाद (Past Behaviourism) को अपना उचित समझा गया। क्योंकि व्यवहारवाद ने तथ्यों के साथ मूल्यों को भी स्वीकार किया। व्यवहारवाद ने वैज्ञानिक अध्ययन के नाम पर सामाजिक संदर्भ एवं जिम्मेवारी की उपेक्षा की। लेकिन उत्तर व्यवहारवाद ने उसको सामाजिक प्रासंगिकता (Social relevance) से जोड़ा है। यह स्थिति इस विषय की निरन्तर क्षमता को प्रकट करता है।

2.7.8 स्वायत्तता एवं मौलिकता में विश्वास—इस विषय ने सामाजिक विज्ञानों की अध्ययन पद्धतियों को अपनाया है। अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण को भी स्वीकार किया है, लेकिन राजनीति विज्ञान की स्वायत्तता में इसका पूर्ण विश्वास है। क्योंकि दूसरे विषयों के तथ्यों, अवधारणाओं, एवं प्रवृत्तियों को अपनाया है। लेकिन इस विषय पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा है, क्योंकि अन्य सामाजिक विज्ञानों ने भी राजनीति विज्ञान के इन पक्षों को अपनाया है। व्यवहारवादी विद्वानों का मत है कि राजनीति विज्ञान ने तथ्यों, निष्कर्षों, सिद्धान्तों की ऐसी विश्वसनीयता को अपनाया है, जो इस विषय की स्वायत्तता और मौलिकता के अनुरूप है। यह अन्य सामाजिक विज्ञानों से भिन्न है, यह भी इस विषय की मौलिकता को प्रमाणित करता है। अतः हम कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान मुख्यतः सामाजिक जीवन के नियंत्रण एवं नियमन से संबंधित अध्ययन है।

2.7.9 मानवीय समस्याओं के उचित समाधान पर बल—आधुनिक दृष्टिकोण से अपेक्षा की जाती है कि वह मानवीय समस्याओं को उचित समाधान पर जोर देगा। राजनीति विज्ञान के अपने प्रारम्भिक विकासकाल में इस तत्व की उपेक्षा की, गई, लेकिन बाद में इसने इस दायित्व को स्वीकार कर लिया। लेकिन व्यवहारवादी काल में तथ्यों पर जोर देकर नैतिक मूल्यों की उपेक्षा की गई। अतः उसने एक विशुद्ध विज्ञान बनने की चेष्टा की, लेकिन मानवीय समस्याओं के उचित समाधान करने में असफल रहा। इस प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिये नीति निर्माण की आवश्यकता है, लेकिन व्यवहारवाद के पास मूल्यों का अभाव था। मूल्यों की उपेक्षा करके, तथ्यों के आधार पर बनायी गयी नीति में वैज्ञानिकता का लक्षण तो पाया जा सकता है, लेकिन उसके अमानवीय व अनैतिक होने का खतरा रहता है। आधुनिक राजनीति विज्ञान ने अपनी इस कमी को उत्तर व्यवहारवाद के द्वारा समाप्त किया। उत्तर व्यवहारवाद इस बात को स्वीकार करता है कि शोध का महत्व मानवीय समस्याओं के समाधान ढूँढने में किया जा सकता है। इसीलिये डेविड ईस्टन ने उत्तर व्यवहारवाद को प्रासंगिकता का सिद्धान्त (Credo of relevance) कहा है। उत्तर व्यवहारवाद यह मानता है कि राजनीति विज्ञान की सार्थकता इस बात में निहित है कि वह विश्वव्यापी मानवीय समस्याओं के उचित समाधान में कितना सहयोग देता है? विश्व के सामने अनेक समस्याएँ उपस्थित हैं, जैसे— परमाणु युद्ध का खतरा, शस्त्रों की दौड़, बढ़ती जनसंख्या, बढ़ता प्रदूषण, मानव अधिकारों की दयनीय स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद, पिछड़े देशों का आर्थिक शोषण, वैश्वीकरण व उससे पैदा होने वाली पूंजीवादी व्यवस्था के खतरे। उत्तर व्यवहारवाद इस बात को स्वीकार करता है कि वह इन मानवीय समस्याओं के समाधान में सक्रिय सहयोग दे। इन समस्याओं के समाधान करने में योगदान देने में भी ही राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता तथा प्रासंगिकता बनी रह सकती है।

2.8 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक राजनीति विज्ञान परम्परागत राजनीति विज्ञान से अलग करती है आधुनिक राजनीति विज्ञान अपनी आधारभूत इकाई व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार को मानते हैं, अपने अध्ययन को अधिक शुद्ध और प्रमाणिक बनाने के लिये वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियों एवं अनुशासनात्मक दृष्टिकोण को अपनाया है। यह यथार्थवादी एवं मूल्य निरपेक्ष अध्ययन पर बल देता है, तथा केवल वैज्ञानिक शोध के आधार पर सिद्धान्त निर्माण को स्वीकार किया है। आधुनिक राजनीति विज्ञान विकास की दृष्टि से दो अवस्थाओं से गुजरा है, जिन्हें हम व्यवहारवादी व उत्तर व्यवहारवादी कह सकते हैं। इसका अपने अनुशासन की स्वायत्तता एवं मौलिकताओं में पूर्ण विश्वास है और यह मानवीय समस्याओं के समाधान में योगदान देकर अपनी सामाजिक प्रासंगिकता को बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील है।

2.9 अभ्यास प्रश्नावली

1. आधुनिक राजनीति विज्ञान की परिभाषा दीजिये एवं इसके क्षेत्र को स्पष्ट कीजिये?
2. परम्परागत राजनीति विज्ञान एवं आधुनिक राजनीति विज्ञान की परिभाषा एवं क्षेत्र को स्पष्ट कीजिये?
3. आधुनिक राजनीति विज्ञान के लक्षण एवं विशेषताये बताइये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1. आधुनिक राजनीति विज्ञान के अनुसार राजनीति के अध्ययन क्षेत्र में किसका अध्ययन शामिल किया गया है।
(अ) राज्य व सरकार (ब) स्वतन्त्रता (स) शक्ति (द) कानून ()
2. आधुनिक राजनीति विज्ञान निम्नलिखित में किसका अध्ययन करता है—
(अ) मानव का राजनीतिक व्यवहार (स) निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन
(ब) संस्थाओं का अनौपचारिक अध्ययन (द) उपरोक्त सभी ()
3. "राजनीति विज्ञान शक्ति के निर्माण एवं साझेदारी से सम्बन्धित विषय है।" यह कथन किस विद्वान का है?

- (अ) कैपलान (ब) कैटलिन (स) मैक्सवेबर (द) आमण्ड ()
4. राजनीति विज्ञान के अध्ययन का आधुनिक उपागम है –
 (अ) ऐतिहासिक (ब) दार्शनिक (स) अन्तः अनुशासनात्मक (द) आदर्शवादी ()
5. गार्नर, ब्लुंशली, गैरिस ऐक्टन आदि विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को जिससे सम्बन्धित अध्ययन को माना है, वह है –
 (अ) राज्य एवं सरकार (ब) राज्य (स) संप्रभुता (द) सरकार ()
6. “राजनीति विज्ञान सरकार से सम्बन्धित अध्ययन है।” यह परिभाषा देने वाले विद्वान हैं –
 (अ) लीकाक (ब) सीले (स) गार्नर (द) गिलक्राइस्ट ()
7. राजनीति विज्ञान के परम्परागत उपागम की मुख्य विशेषता क्या है?
 (अ) ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक अध्ययन। (स) मूल्यविहीन अध्ययन।
 (ब) वैज्ञानिक पद्धति पर बल (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं ()
8. आधुनिक राजनीति शास्त्र से सम्बन्धित विद्वान हैं –
 (अ) डेविड ईस्टन। (ब) राबर्ट ए डहल। (स) लुसियन पाई। (द) उपरोक्त सभी ()
9. आधुनिक राजनीति विज्ञान का लक्षण नहीं है –
 (अ) शक्ति का अध्ययन। (ब) मूल्य- प्रधान अध्ययन। (स) अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन। (द) मानव क्रियाओं का अध्ययन। ()
10. आधुनिक राजनीति विज्ञान का लक्षण है –
 (अ) दर्शन एवं कानून का अध्ययन। (ब) राज्य, राष्ट्र, स्वतन्त्रता आदि अवधारणाओं का अध्ययन
 (स) निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन। (द) ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति पर बल ()
11. आधुनिक राजनीति विज्ञान का लक्षण नहीं है?
 (अ) वैज्ञानिकता पर बल। (ब) तथ्यों के संग्रह पर बल।
 (स) आदर्शवादी व मूल्य- सापेक्ष अध्ययन। (द) राजनीति विज्ञान की स्वायत्तता मौलिकता पर बल ()
12. आधुनिक राजनीति विज्ञान में ‘प्रासंगिकता का सिद्धान्त’ किस विद्वान ने प्रस्तुत किया है –
 (अ) लासवेल। (ब) डेविड ईस्टन। (स) लिथो स्ट्रास (द) गार्नर ()

सीमित शब्द वाले प्रश्न-

निम्नलिखित प्रश्न में उत्तर सीमित शब्द सीमा में दीजिये?

1. आधुनिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित राजनीति विज्ञान की परिभाषाओं ने इस विषय के अन्तर्गत किसके अध्ययन को उचित माना?
2. आधुनिक राजनीति विज्ञान ने अपने विकास के प्रथम चरण (व्यवहारवादी काल) में तथा अपने विकास के द्वितीय चरण (उत्तर व्यवहारवादी काल) में अपनी परिभाषाओं में किस विपरीत तथ्य या लक्षण पर बल दिया है?
3. आधुनिक राज वैज्ञानिकों में से किन्हीं चार के नाम लिखिये?
4. परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित राजनीति विज्ञान की परिभाषाओं में अन्तर बताइये।
5. आधुनिक राजनीति विज्ञान की प्रमुख चार अध्ययन पद्धतियों (उपागमों) के नाम लिखिये।
6. आधुनिक राजनीति विज्ञान ने अपने अध्ययन क्षेत्र में क्या संशोधन किया है?
7. परम्परागत एवं आधुनिक राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में किन्हीं तीन अन्तरों को बताइये?
8. आधुनिक राजनीति विज्ञान की किन्हीं चार प्रमुख विशेषताओं (लक्षणों या प्रवृत्तियों) का उल्लेख कीजिये।
9. परम्परागत एवं आधुनिक राजनीति विज्ञान के किन्हीं चार अन्तरों को लिखिये?
10. आधुनिक राजनीति विज्ञान के नवीनतम विकास को क्या कहा जाता है, और इसने आधुनिक राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में क्या प्रमुख संशोधन किया है?

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ज्ञानसिंह संधु, “राजनीतिक सिद्धान्त”, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
 ओमप्रकाश गाबा “राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा”, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर

इकाई-3 : राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध

संरचना

राजनीतिविज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ गहरा सम्बन्ध है। निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर हम राजनीतिविज्ञान के अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध को भलीभांति समझ सकेंगे—

- 3.1 उद्देश्य
- 3.2 प्रस्तावना
- 3.3 राजनीति में अन्तःअनुशासन का विकास
- 3.4 राजनीति में अन्तःअनुशासनात्मक उपागम के विभिन्न दृष्टिकोण
 - 3.4.1 परम्परावादी अथवा क्लासिकी दृष्टिकोण
 - 3.4.2 आनुभविक दृष्टिकोण
 - 3.4.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण
- 3.5 मार्क्सवादी अन्तर्विषयक दृष्टिकोण की प्रमुख विशेषताएं
- 3.6 राजनीतिविज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध
- 3.7 राजनीतिशास्त्र व समाजशास्त्र
 - 3.7.1 समाजशास्त्र की राजनीतिक विज्ञान को देन
 - 3.7.2 राजनीतिविज्ञान की समाजशास्त्र को देन
 - 3.7.3 अध्ययन क्षेत्र में अन्तर
 - 3.7.4 अध्ययन सामग्री में अन्तर
 - 3.7.5 उद्देश्य में अन्तर
 - 3.7.6 उपसंहार
- 3.8 राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान
 - 3.8.1 वाटसन के अनुसार
 - 3.8.2 मनोविज्ञान की राजनीति विज्ञान को देन
 - 3.8.3 राजनीतिविज्ञान की मनोविज्ञान को देन
 - 3.8.4 राजनीतिविज्ञान व मनोविज्ञान में अन्तर
- 3.9 राजनीतिविज्ञान और इतिहास
 - 3.9.1 इतिहास की राजनीति विज्ञान को देन
 - 3.9.2 इतिहास, राजनीति विज्ञान की प्रयोगशाला तथा मार्गदर्शक
 - 3.9.3 राजनीति विज्ञान के आदर्श तथा सिद्धान्तों के निर्धारण में सहायता
 - 3.9.4 राजनीतिविज्ञान की इतिहास को देन
 - 3.9.4.1 इतिहास के अध्ययन को सारयुक्त बनाना
 - 3.9.4.2 राजनीतिक विचारधाराओं द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं को जन्म देना
 - 3.9.5 राजनीतिविज्ञान और इतिहास में अन्तर
 - 3.9.5.1 क्षेत्र में अन्तर
 - 3.9.5.2 अध्ययन पद्धति में अन्तर
 - 3.9.5.3 उद्देश्य में अन्तर
 - 3.9.5.4 उपसंहार

- 3.10 राजनीतिक विज्ञान और भूगोल
 - 3.10.1 अरस्तू के अनुसार
 - 3.10.2 राजनीतिक विज्ञान पर भूगोल पर प्रभाव
 - 3.10.2.1 जनसंख्या पर प्रभाव
 - 3.10.2.2 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव
 - 3.10.2.3 प्रभाव में कमी
 - 3.10.2.4 राजनीतिविज्ञान एवं भूगोल में अन्तर
- 3.11 राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र
 - 3.11.1 राजनीतिशास्त्र की अर्थशास्त्र को देन
 - 3.11.2 दोनों के बीच में अन्तर
- 3.12 राजनीतिशास्त्र एवं नीतिशास्त्र
 - 3.12.1 दोनों शास्त्रों के बीच साम्यता
 - 3.12.2 दोनों शास्त्रों के बीच में अन्तर
- 3.13 सारांश
- 3.14 अभ्यास प्रश्नावली
- 3.15 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य व्यवहारवादी दृष्टिकोण को जानने के पश्चात् उसके द्वारा जो अन्तः-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया, उससे राजनीतिविज्ञान के अन्य समाज विज्ञानों के साथ संबंध स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया जाने लगा। इसके अध्ययन से आप जान सकेंगे—

- अन्तःअनुशासनात्मक दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान पर क्या प्रभाव पड़ा?
- अन्तःअनुशासन का विकास तथा विभिन्न दृष्टिकोण
- राजनीति विज्ञान के अन्य समाज विज्ञानों से संबंध
- अन्य समाज विज्ञानों तथा राजनीति विज्ञान ने एक-दूसरे की क्या देन दी है? इस संबंध में व्यापक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

3.2 प्रस्तावना

आगस्त काम्टे (August Camte) के अनुसार सभी समाज विज्ञान 'समाज में मानव' की स्थिति का अध्ययन करते हैं, और उसे सेवाये प्रदान करते हैं। अतः ये विषय एक दूसरे के पूरक हैं। इसका अध्ययन करने वाले अध्ययेता अन्य विषयों का अध्ययन करने वालों से तालमेल बनाये रखते हैं।

20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में समायोजन एवं पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन की आवश्यकता के कारण अन्तःअनुशासनात्मक उपागम पर विशेष जोर दिया जाने लगा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में भी संगठित सामाजिक जीवन में व्यक्ति के व्यवहार के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा। अतः अन्तःअनुशासनात्मक उपागम का अर्थ है कि "राजनीति विज्ञान उन समस्त सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित है, जो संगठित समाज में मानव का विवेचन करते हैं।"

इस उपागम के अनुसार विभिन्न समाज विज्ञानों का पृथक-पृथक अध्ययन सार्थक नहीं हो सकता, क्योंकि समाज एक इकाई है, और उसके विभिन्न पक्ष एक दूसरे से जुड़े हुये हैं। समाज विज्ञानों में व्यवहारवादियों ने इस बात पर बल दिया कि समाज विज्ञानों का अलग अलग अध्ययन न करके अन्तःअनुशासनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिये। अतः इस पद्धति के अनुसार अध्ययन की इकाई, संस्थाओं को न मानकर मानवीय व्यवहार को माना गया। अतः यह मान लिया गया है कि मानव का व्यवहार केवल राजनीति उद्देश्यों से ही प्रेरित नहीं होता, बल्कि उसके आर्थिक, मनोवैज्ञानिक सांस्कृतिक तथा सामाजिक कारण भी होते हैं। प्राचीन यूनानी विचारक प्लेटो व अरस्तू के राजनीतिक चिन्तन में अन्य विज्ञानों के तथ्यों, पद्धतियों, अवधारणाओं, उपलब्धियों तथा निष्कर्षों को अपनाया गया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अन्तःअनुशासनात्मक उपागम का अति प्राचीनकाल में भी अस्तित्व था लेकिन इसकी सर्वमान्य स्थापना का श्रेय आधुनिक राजनीतिक विज्ञान को ही प्राप्त है। अतः इसके विकास एवं विकास में निहित अवधारणाओं को समझना आवश्यक है।

3.3 राजनीतिविज्ञान में अन्तः अनुशासनात्मक का विकास

राजनीतिविज्ञान में के पिता प्लेटों व उसके शिष्य अरस्तू के समय से ही राजनीतिक तथ्यों के अध्ययनों में अन्य सामाजिक विज्ञानों का सहयोग लिया जाता रहा है। अतः इस विषय की प्रारम्भिक अवस्था से ही, इसका दूसरे सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध रहा है। राजनीति विज्ञान के अध्येता प्लेटो, अरस्तू और मार्क्स के अध्ययनों में यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। 19वीं शताब्दी तक जब तक ज्ञान को अलग-अलग खण्डों में विभाजित नहीं कर दिया गया तब तक समाज के प्रश्नों के समाधान हेतु प्रयुक्त अध्ययनों में परस्पर काफी समायोजन था, क्योंकि अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, मानवशास्त्री भी राजनीतिशास्त्रियों के समान ही समस्याओं के अध्ययन में रुचि ले रहे थे, यद्यपि उनके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न थे। 1920 ई. के दशक में राजनीतिविज्ञान अन्तर शास्त्रीय सामाजिक विज्ञानों के सन्दर्भ में अध्ययन करने में समर्थ हो सका। यद्यपि 1920 व 1930 ई. के दशक में राजनीति विज्ञान व समाज शास्त्र के रास्ते अलग-अलग थे, लेकिन 1930 के दशक के बाद शीघ्र ही दोनों में पुनः निकट का सम्बन्ध स्थापित हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक राज-वैज्ञानिकों ने राजनीतिक विश्लेषण (Political Analysis) की पद्धति को अपनाया। इस पद्धति में जो उपप्राप्त विकसित किये गये थे, उसमें समाजशास्त्र और मनोविज्ञान में विकसित किये गये सैद्धान्तिक और प्राविधिक उपागमों को अपना लिया था, और राजनीतिविज्ञान में राजनीतिक व्यवहार (Political Behaviour) और राजनीतिक अभिवृत्तियों (Political Attitudes) के अध्ययन आदि राजनीतिविज्ञान में शोध के सामान्य विषय हो गये थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका में औपनिवेशिक दासता (Empirical Bondage) से मुक्ति दिलाने में मुक्ति संग्राम के आन्दोलन को बड़ी सफलता प्राप्त हुई। अनेक नये राज्यों का उदय हुआ। इन नये राज्यों के राजनीतिक विकास (Political Development) के अध्ययन के लिये समाजशास्त्रियों (Social Scientists) से सहायता ली गई। इससे पहली बार सामाजिक विज्ञान की दिशा में एक वास्तविक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। राजनीतिक 'व्यवस्था सिद्धान्त (Principle of political System) संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण' को इन नये देशों की राजनीति प्रक्रियाओं को ठीक से समझने के लिये अब राजवैज्ञानिकों के कारण स्वीकृत किया गया। बाद में मिचेल्स को राजनीति को और अच्छी तरह से समझने के लिए आर्थिक सिद्धान्तों से प्रेरणा प्राप्त हुई। राजनीतिक शोध की पद्धति में गणितीय (Structural-Functional Analysis) और सांख्यिकी प्रारूपों (Statistical Models) पर अधिक जोर दिया जाने लगा। वर्तमान में इस उपागम का प्रयोग बढ़ रहा है।

3.4. राजनीतिविज्ञान में अन्तः अनुशासनात्मक उपागम के विभिन्न दृष्टिकोण (Various views of inter disciplinary approaches in politics)

जैकबसन व लिपमैन का इस सम्बन्ध में कथन है कि सामाजिक विज्ञानों के बीच कोई दीवार नहीं है, तथा किसी भी विषय में की गई लघुशोध भी महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकती है। एक अन्य विद्वान गुनार हैक्सर का मत है कि विज्ञान को हमें एक विस्तृत अध्ययन क्षेत्र के रूप में मानना चाहिये, जिसका विभाजन व्यवहारिक उद्देश्यों के लिये किया जाता है, किन्तु सिद्धान्त में सम्पूर्ण ज्ञान एक पूर्ण इकाई होता है, विभिन्न खण्डों का समूह मात्र नहीं है।

आधुनिक राजनीतिविज्ञान में अन्तः-अनुशासनात्मक उपागम का सर्वाधिक समर्थन व्यवहारवाद ने किया है। श्री ज्ञानसिंह सन्धु ने अपनी पुस्तक 'राजनीतिक सिद्धान्त, सम्पादक ज्ञानसिंह सन्धु पृष्ठ 51-77' में लिखा है कि 'राजनीति शास्त्र के इतिहास में अन्तः अनुशासनात्मक उपागम से सम्बन्धित तीन विभिन्न धाराएँ स्पष्ट पहचानी जा सकती हैं, जिन्हें हम परम्परावादी (Classics), व्यवहारवादी (Behaviouralist), मार्क्सवादी (Marxist) का नाम दे सकते हैं।

अतः हम अब इनमें से प्रत्येक धारा पर अलग से विचार करेंगे।

3.4.1 परम्परावादी अथवा क्लासिकी (शास्त्रीय) दृष्टिकोण- इस उपागम का अर्थ है कि किसी विषय विशेष को अन्य विषयों के तथ्यों, तकनीकों, उपलब्धियों और परिणामों की सहायता से गृह्य और विकसित करने का व्यवस्थित प्रयत्न करना। इसके लिये जो प्रमुख तरीके अपनाये गये हैं वे न तकनीक का रथानान्तरण (Adoption of main concepts) प्रकल्पनाओं को स्वीकार करना (Acceptance of hypothesis) तथा परिणामों को उद्धृत करना (To quote the results)। उदाहरण के लिये राजनीतिविज्ञान में प्रयुक्त होने वाली यह अवधारणा समाजशास्त्र से ली गयी है। इसी तरह आस्टिन का 'प्रभुसत्ता सिद्धान्त' (Law of sovereignty) विधि शास्त्र से लिया गया है। राजनीतिविज्ञान में सौदेबाजी (Bargaining) की अवधारणा अर्थशास्त्र (Economics) से ली गयी है। इस प्रकार हम पाते हैं कि अन्तः अनुशासनात्मक उपागम के अन्तर्गत विभिन्न विषय विभिन्न तरीके से एक-दूसरे को समृद्ध करते हैं।

अतः अन्तः अनुशासनात्मक दृष्टिकोण का सार है कि अपने ज्ञान की सीमाओं (Horizons) को खुला रखा जावे, तथा दूसरे विषयों की उपलब्धियों से लगातार व्यवस्थित लाभ उठाने का प्रयत्न किया जावे। अन्य विषयों की सहायता से किस एक विषय को समृद्ध करने का काम किसी एक लेखक अथवा विभिन्न लेखकों द्वारा किया जा सकता है। यद्यपि इनके परिणाम एक जैसे नहीं हो सकते हैं। ऐसे बौद्धिक प्रयत्नों में विधिवता का आ जाना स्वाभाविक होता है। सन् 1880 ई. तक राजनीति शास्त्र का एक विषय के रूप में अलग अस्तित्व नहीं था, तथा यह दर्शनशास्त्र, इतिहास, कानून, धर्मशास्त्र जैसे विषयों की परिधि में आता था। इस दृष्टि से अगर विचार किया जाये तो प्लेटो से अरस्तू अर्थात् सन् 1880 ई. तक राजनीतिशास्त्र का समस्त अध्ययन अन्तः अनुशासनात्मक (Inter disciplinary approach) रहा।

आधुनिक युग में विभिन्न विषयों ने स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में मान्यता प्राप्त कर ली है, और प्रत्येक विषय ने अपनी विषयवस्तु (subject matter) का गहराई से अध्ययन करने का प्रयास किया है। उनके स्वायत्त अस्तित्व ने अन्तर्विषयक दृष्टिकोण की मांग को सार्थक बनाया है। अन्तर्विषयक अध्ययन पद्धति अपेक्षाकृत नवीन शब्द है, लेकिन इसका अध्ययन परम्परागत अध्ययनों में स्वाभाविक रूप से होता रहा है। 1880 तक तब विषयों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था, तब तक इस अध्ययन की मांग नहीं हुई, लेकिन

आधुनिक काल में जैसे ही विभिन्न विषयों ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाया, इस उपागम की स्थापना की गयी और इसका महत्व बढ़ा। व्यवहारवाद के विकास के बाद यह मांग अत्यधिक महत्व प्राप्त कर गयी।

शास्त्रीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन में विभिन्न शास्त्रों से सहायता ली गई, लेकिन सर्वाधिक सहायता दर्शनशास्त्र एवं इतिहास से प्राप्त की गयी। दर्शन शास्त्र और इसके सहायक के रूप में धर्मशास्त्र ने राजनीति विज्ञान की मूल्य सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति की और इतिहास ने इसके वर्णात्मक पक्ष को सुदृढ़ किया। मध्ययुग के अन्त में साथ ही राजनीति विज्ञान के अध्ययन में अर्थशास्त्र एवं विधिशास्त्र से पर्याप्त सहयोग प्राप्त करने का प्रचलन बढ़ा। परम्परागत दृष्टिकोण मूलतः उस युग से सम्बन्धित है, जबकि विभिन्न समाज विज्ञानों का अलग अलग विकास नहीं हुआ था, अपितु संपूर्ण ज्ञान को एक संगठित इकाई के रूप में स्वीकारा जाता था। अतः आधुनिक तकनीकी अर्थ में हम परम्परावादी दृष्टिकोण को अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण नहीं कह सकते हैं।

3.4.2 आनुभविक दृष्टिकोण (Empirical view point)- यह धारणा अमरीकी राजनीतिविज्ञान की विभिन्न शाखाओं में परिलक्षित होती है, जैसे व्यवहारवादी, राजनैतिक व्यवस्था सिद्धान्त आदि। आनुभविक दृष्टिकोण बीसवीं सदी का दृष्टिकोण है और इसे द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनीति विज्ञान में मान्यता मिली है। चार्ल्स मैरियम, लासवेल जैसे राज शास्त्रियों, आस्कोव जैसे अर्थशास्त्री, और ग्रीयर जैसे समाजशास्त्रियों की रचनाओं में अन्तर विषय दृष्टिकोण की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। अनुभववादी धारणा अन्य विषयों की सहायता से राजनीति विज्ञान को समृद्ध करने की परम्परागत धारणा से भी आगे जाती है। यह पद्धति विभिन्न विज्ञानों विशेषतः अर्थशास्त्र, राजनीतिविज्ञान, और समाज शास्त्र में विधि, तर्क, प्रतिमानों आदि की समानता पर बल देती है, तथा विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के स्थान पर एक सामाजिक विज्ञान के निर्माण करने के पक्ष में है। इसकी मान्यताओं के अनुसार केवल केन्द्रीय तत्व की दृष्टि से भिन्न हैं, जैसे अर्थशास्त्र का केन्द्र बिन्दु धन है, राजनीतिविज्ञान का केन्द्र बिन्दु शक्ति तथा राजनैतिक व्यवस्था है, तथा समाज शास्त्र का केन्द्र बिन्दु परिवार, चर्च समूह, तथा वर्ग जैसे सामाजिक ढांचे हैं।

इन सभी विषयों की अध्ययन विधि समान है, जिसे वैज्ञानिक विधि कहा जाता है। इन पर लागू किये जाने वाले तर्क समान हैं, जिन्हें परिमाणन (Value) आगमन (Inductive) निगमन (Inductive), सत्यापनीय तर्क (Verified reasons) कहा जाता है। इसके प्रतिष्ठान भी समान हैं, जिन्हें ज्ञान तथा मूल्यांकन के प्रतिमानों के विपरीत व्याख्या के प्रतिष्ठान कहा जा सकता है। आनुभविक दृष्टिकोण के दो रूप दिखाई पड़ते हैं— व्यवहारवादी और उत्तर व्यवहारवादी दृष्टिकोण। व्यवहारवादी दृष्टिकोण दो मान्यताओं पर आधारित है। राजनीति विज्ञान में प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों (Natural and Social Sciences) की वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियों एवं तकनीकों (Techniques) को अपनाया जाना चाहिये, तथा इसका संपूर्ण अध्ययन मूल्य निरपेक्ष होना चाहिये। उत्तर व्यवहारवादियों का तर्क है कि राजनीति विज्ञान अपनी प्रकृति से प्राकृतिक विज्ञान नहीं है, अपितु एक सामाजिक विज्ञान है, जिसमें की वैज्ञानिक पद्धतियों एवं तकनीकों का प्रयोग किया जाना समीचीन होगा। लेकिन उनका व्यवहारवादियों से इस बात पर मतभेद है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन मूल्य निरपेक्ष होना चाहिये। लेकिन उत्तरव्यवहारवादियों का मत है कि यह अध्ययन मूल्य सापेक्ष होना चाहिये।

यद्यपि अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन के परम्परावादी दृष्टिकोण तथा मार्क्सवादी दृष्टिकोण की तुलना में आनुभविक दृष्टिकोण पर्याप्त विकसित एवं मान्य है, तो भी इस अध्ययन प्रणाली में कुछ कमियाँ पाई जाती हैं। आनुभविक पद्धति के अध्ययन राजनीतिविज्ञान सहित सभी सामाजिक विज्ञानों के लिये वैज्ञानिक पद्धति, तकनीक, तर्क, प्रतिष्ठान की समानता पर जोर देकर वास्तव में विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के स्थान पर एक ही सामाजिक विज्ञान की स्थापना करना चाहते हैं, क्योंकि प्रत्येक सामाजिक विज्ञान अन्तर्गत के समान होकर भी अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। इसी प्रकार राजनीति विज्ञान सहित सभी सामाजिक विज्ञानों के लिये एक ही जैसी वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति पर जोर देना उचित नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः विभिन्न सामाजिक विज्ञानों को अपनी विशिष्टता व अनुभव के आधार पर विभिन्न अध्ययन पद्धतियों और तकनीकों को अपनाना चाहिये।

इस प्रकार अनुभववादी धारणा के प्रवर्तक विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के स्थान पर एक सामाजिक विज्ञान की स्थापना के इच्छुक हैं। उनका यह विश्वास है कि सामाजिक मानवीय अस्तित्व एक सतत प्रक्रिया है, विभिन्न विषय केवल सुविधा, श्रम-विभाजन, विशेषीकरण तथा निपुणता के लिये विभाजित किये गए हैं। अतः यदि विभिन्न विज्ञान समाज के अध्ययन के लिये समान विधियों तथा प्रतिष्ठानों का प्रयोग करें तथा उनका ज्ञान-भण्डार आसानी से हस्तान्तरित होने के साथ साथ अधिक लाभकारी हो सकता है।

पिछले दो दशकों में अन्तर्विषयिक दृष्टिकोण की व्यवहारवादी धारणा का स्थान राजनीतिक व्यवस्था के उपागम ने ले लिया है। यह उपागम एक ऐसे सिद्धान्त के विकास का प्रयत्न करता है, जिसमें व्यक्तित्व, राज्य व्यवस्था (Polity) और अर्थव्यवस्था तीनों का अन्तर्भाव हो। स्पष्ट है कि व्यवहारवादी दृष्टिकोण में जहां स्थिरता और यांत्रिकता है, वहां—व्यवस्थावादी दृष्टिकोण में गतिशीलता और विकासमत्कता विद्यमान है।

3.4.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण— मार्क्सवाद का केन्द्र बिन्दु इतिहास की दृष्टात्मक भौतिकतावादी व्याख्या है। इस विचार में आर्थिक उत्पादन प्रणाली को अत्यधिक महत्व दिया गया है। मार्क्स के अनुसार आर्थिक उत्पादन की प्रणाली किसी युग की राजनीति, अर्थ, दर्शन, कानून, समाज, नैतिकता, संस्कृति आदि को तय करती है। मार्क्स का मत है कि जब भी आर्थिक उत्पादन की प्रणाली में आधारभूत परिवर्तन होता है, तो उसके संपूर्ण ढांचे में परिवर्तन हो जाता है। उसके अनुसार आदिम साम्यवादी व्यवस्था, दास अवस्था, सामन्ती अवस्था, पूंजीवादी अवस्था व समाजवादी अवस्था। सामाजिक विकास की अन्तिम अवस्था, साम्यवादी समाज की अवस्था होगी। लेकिन मार्क्स का यह विश्लेषण सही साबित नहीं हुआ। इस प्रकार ही मानव समाज के इतिहास की विशिष्ट अवस्थाओं का पतन एवं निर्माण होता है। मार्क्स मानवसमाज के प्रसंग में इतिहास की भूमिका को प्रगतिशील मानता है। इतिहास बिखरी हुई घटनाओं का ढेर नहीं है, आर्थिक उत्पादन की प्रणालियाँ इसमें क्रमबद्धता, प्रगतिशीलता एवं एकता प्रदान करती हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण, भौतिकवादी अर्थशास्त्र को नीव के रूप में स्वीकार करता है और यह भी मानता है कि राजनीति विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र कानून नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र में घनिष्ठ एकता स्थापित करता है। इस घनिष्ठता को एकता के आधार पर अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन का समर्थक माना जाता है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण परम्परावादी दृष्टिकोण से अधिक विकसित है किन्तु आनुमतिकवादी इसमें कुछ कमियाँ दर्शाते हैं—

1. मार्क्सवादी विचार के अनुसार भौतिकवादी अर्थशास्त्र की ही प्रमुख भूमिका है और राजनीति विज्ञान सहित सभी सामाजिक विज्ञानों को इसके अधीन मानता है, क्योंकि मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार सभी प्रकार के राजनीतिक सामाजिक अध्ययन में भौतिकवादी अर्थशास्त्र की ही मुख्य निर्णायक भूमिका मानता है जबकि राजनीति विज्ञान व अन्य सामाजिक विज्ञान इस प्रसंग में जो अध्ययन प्रस्तुत करते हैं उनके निष्कर्ष भी सारपूर्ण होते हैं।
2. मार्क्सवाद की भविष्य की साम्यवादी समाज की अवधारणा काल्पनिक है और मूल्य प्रधान भी है। अतः हम कह सकते हैं कि मार्क्सवादी अध्ययन सामाजिक विज्ञानों पर भौतिकवादी अर्थशास्त्र को अधिक महत्व देता है।
3. इसकी कमी यह है कि यह अपने अध्ययन मूल्य प्रधान आदर्शवादी तत्वों को स्वीकार करते हैं।

3.5 मार्क्सवादी दृष्टिकोण की विशेषताएँ

मार्क्सवादी अन्तर्विषयक दृष्टिकोण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. सभी सामाजिक विज्ञान भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं लेकिन इनका गहराई से अध्ययन किया जाये तो इनका आधार एक ही केन्द्र बिन्दु है जैसे उत्पादन प्रणाली। जब हम अपना ध्यान इस केन्द्र बिन्दु पर लगाते हैं तो विभिन्न समाज विज्ञानों का अन्तर लुप्त होता लगता है और हम यह मानने लगते हैं कि सभी विज्ञान एक ही घर के भिन्न भिन्न प्रवेश द्वार लगते हैं, वह घर है, संक्रमणशील समाज, (Transitional society) जो परिवर्तन के दौर से गुजरता हुआ दिखाई देता है।
2. सभी प्रकार की जिज्ञासायें तभी लाभदायी हो सकती हैं जबकि उनका विश्लेषण ऐतिहासिक, तथा द्वन्द्वात्मक विश्लेषणात्मक पद्धति से किया जाये।
3. मार्क्सवादी मानते हैं कि सामाजिक विज्ञान आपस से जुड़े हैं, और उनकी व्यापक जानकारी के लिये उनके बीच की भिन्नता की दीवार को तोड़ना जरूरी है।
4. अर्थव्यवस्था जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की अन्तिम रूप से निर्णायक हैं, तत्कालिक रूप से ही निर्णायक नहीं हैं।
5. मार्क्स के अनुशासनात्मक उपागम की एक विशेषता यह भी है कि वह सम्पूर्णता को महत्व देता है किसी एक तत्व को नहीं। वह उसकी दीवारों को गिरा देना चाहता है जो सामाजिक विज्ञानों को एक दूसरे से अलग करती हैं। अतः हम निष्कर्ष के रूप में यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन में प्राचीन काल से वर्तमान एक अन्तर विषयक सम्बन्धों के आधार पर अध्ययन किया जाता रहा है और विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के परिवेश, प्रवृत्तियों और हितों के अनुरूप अन्तर विषयक सम्बन्धों में परिवर्तन आता रहता है।

राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से संबंध—

सामाजिक विज्ञान मानव जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते हैं। अतः इन विभिन्न पक्षों में एक आधारभूत घनिष्ठता और एकता पायी जाती है। अतः विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में एक मौलिक एकता पायी जाती है। राजनीति विज्ञान पर भी यह बात लागू होती है। प्राचीन समय से ही यह विचार रहा है कि राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से अन्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। यूनानी विचारक प्लेटो की रचनाओं में राजनीति विज्ञान दर्शन और आचार शास्त्र से प्रभावित लगता है और उसके शिष्य अरस्तू ने इस विचार से एक कदम आगे जाकर दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र के साथ में इतिहास और जीवन विज्ञान के तथ्यों का भी समावेश किया है। मध्य युग के विचारक सेन्ट ऑगस्टाइन व थॉमस एक्विनास ने धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र को राजनीति शास्त्र से जोड़ने का प्रयास किया है। आधुनिक युग के प्रारम्भ में इटली के विचारक मैकियावेली ने अपने राजनीतिक विचारों के प्रतिपादन में इतिहास का पर्याप्त महत्व है।

इससे भी आगे जाकर थॉमस हॉब्स ने अपने राजनीतिक चिन्तन में गणित और चिकित्सा शास्त्र का समावेश किया है। प्रसिद्ध विचारक रूसों और मान्टेस्क्यू ने राजनीति और भूगोल की निकटता को स्वीकार किया है उनका कहना है कि भौगोलिक परिस्थितियों शासन प्रणालियों का निर्माण करती हैं।

लेकिन इन विचारकों के विपरीत 18वीं सदी के अन्त में और 19वीं सदी के प्रारम्भ में कुछ बाधाएँ उत्पन्न हुई, क्योंकि राजनीति विज्ञान व अन्य सामाजिक विज्ञानों को एक स्वतंत्र विषय मानने पर जोर दिया गया और राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न कालों की सामाजिक अवस्थाओं समाजिक परिवर्तन, वर्ग तथा वर्ग संघर्ष जैसी समाज शास्त्रीय अवधारणाओं को स्वीकार किया। प्रसिद्ध विचारक ऑगस्ट कौन्टे का भी विचार था कि राजनीति विज्ञान का सभी सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

वर्तमान सदी में यह निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया कि राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, फिर भी यह मतभेद बना रहा कि राजनीति विज्ञान का सबसे निकट सम्बन्ध किससे है? जॉन सीले ने इस बात को स्वीकार किया कि राजनीति विज्ञान और इतिहास एक-दूसरे पर निर्भर हैं। और एक दूसरे के अभाव में इनका अध्ययन अपूर्ण रहेगा। एक अन्य विचारक सैलिगमैन ने (Saligman) अर्थशास्त्र और राजनीति की निकटता को स्वीकार किया और राजनीतिक घटनाओं को आर्थिक कारकों की चरम परिणति बताया। लेकिन 20वीं सदी के आते-आते राजनीति और मनोविज्ञान की निकटता पर जोर दिया जाने लगा और राजनीति और समाज शास्त्र की निकटता को स्वीकार किया गया।

गार्नर ने भी इस सम्बन्ध में यह विचार प्रकट किया है कि हम दूसरे सहायक विज्ञानों के ज्ञान के बिना राज्य की तथ्यात्मक घटनाओं की पूर्णता को राजनीति विज्ञान पर्याप्त मात्रा में नहीं समझ सकता, जैसे रसायन विज्ञान के बिना जीव विज्ञान को गणित शास्त्र के बिना यन्त्र शास्त्र को एक समग्र शास्त्र के रूप में ही समझा जा सकता।

इस विचार से एक कदम आगे जाकर व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान के अध्ययन की एक अनिवार्य शर्त लागू कर दी कि राजनीति शास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र से निश्चित रूप से प्रभावित है राजनीति व्यवहारवादियों के इस विचार को उत्तर व्यवहारवादियों ने भी स्वीकार किया है। व्यवहारवादी विचारक कैटलीन का मत है कि विज्ञान और समाज शास्त्र एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः हम कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन में प्राचीनकाल से ही अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन की परम्परा रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो इस अध्ययन की तीन अवधारणायें सामने आती हैं।

1. परम्परावादी दृष्टिकोण 2. मार्क्सवादी दृष्टिकोण 3. अनुभविक दृष्टिकोण

आनुभविक दृष्टिकोण का विकसित रूप व्यवहारवाद और उत्तर व्यवहारवाद है। इस विचार ने आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तः अनुशासनात्मक उपागम का विकास किया है।

3.6 राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध

सभी सामाजिक विज्ञान परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं, उनका पृथक् रूप से अध्ययन नहीं किया जा सकता। अतः राजनीति विज्ञान अपने स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा करते हुए भी अन्य समाज विज्ञानों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है अतः गुन्नार हेक्स (Gunnar heckscher) का कहना है कि राजनीति विज्ञान किसी भी दृष्टि से आत्मनिर्भर नहीं है।

राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास, नीतिशास्त्र एवं मनोविज्ञान मूलतः सामाजिक विज्ञान की श्रेणी में आते हैं। सामाजिक जीवन के विशिष्ट पक्षों का अध्ययन करते हैं। इन सभी शास्त्रों का सम्बन्ध समाज से है। अतः इन विज्ञानों में आन्तरिक एकता दिखाई पड़ती है। इस प्रकार की एकता होते हुये भी इन विज्ञानों में महत्वपूर्ण अन्तर है। अतः यह अपना पृथक् अस्तित्व बनाये हुये हैं।

3.7 राजनीति विज्ञान व समाजशास्त्र के संबंध

राजनीति विज्ञान व समाज शास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि समाज शास्त्र को सभी सामाजिक विज्ञानों का जनक माना जाता है। समाज शास्त्र की विषयवस्तु में सामाजिक व्यवस्थाओं की उत्पत्ति और स्वरूप आ जाते हैं। राज्य भी उनमें से एक संस्था है। राजनीति विज्ञान समाज शास्त्र का ही एक भाग है क्योंकि उसका सम्बन्ध राजनीतिक पहलू से है। अतः राजनीति विज्ञान के अध्ययन का विषय राज्य है जो समाज का ही एक अंग है। राजनीति विज्ञान राज्य का अध्ययन करता है। राज्य अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में राजनीतिक संस्था की अपेक्षा एक सामाजिक संस्था अधिक थी। अतः दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। गार्नर का कहना है “कि समाजशास्त्र को राजनीति विज्ञान के द्वारा राज्य के संगठन और कार्यों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है, जबकि राजनीति विज्ञान को समाज शास्त्र से पर्याप्त मात्रा में राज्य-सत्ता के प्रादुर्भाव और सामाजिक नियंत्रण के नियमों का ज्ञान प्राप्त होता है। इन दोनों विषयों के सम्बन्ध का अध्ययन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

3.7.1 समाजशास्त्र की राजनीति विज्ञान को देन- समाजशास्त्र राजनीति विज्ञान को राज्य की मूलभूत बातों का ज्ञान कराता है। समाजशास्त्र से हमें राज्य की प्रारम्भिक स्थितियों का ज्ञान मिलता है। राज्य तथा अन्य राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति एवं विकास का ज्ञान देता है। राजनीति विज्ञान शक्ति, सत्ता, राजनीतिक आदर्शों, विचारधाराओं एवं शासन प्रणालियों के मूल स्रोत का ज्ञान कराता है। अतः समाज शास्त्र के बिना राजनीति विज्ञान का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। समाजशास्त्र ने राजनीति विज्ञान के अध्ययन को काफी प्रभावित किया है।

प्रो. गिडिंग्स ने लिखा है “समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ व्यक्तियों को राज्य के सिद्धान्तों की शिक्षा देना ठीक वैसा ही जैसा कि न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त से अपरिचित व्यक्तियों को खगोल विद्या अथवा उष्णता तथा यंत्र विद्या से सम्बन्धित ज्ञान की शिक्षा देना।”

3.7.2 राजनीति विज्ञान की समाजशास्त्र को देन- राजनीति विज्ञान के द्वारा भी समाजशास्त्र को उसके अध्ययन में बहुत योगदान दिया जाता है। समाजशास्त्र में जीवन के विभिन्न पक्षों को अध्ययन किया जाता है। जिनमें राजनीतिक पक्ष भी एक है। राज्य किसे कहते हैं, कैसे उत्पन्न हुआ है, संगठन कैसा है, ध्येय और क्या-क्या कार्य हैं। इन सभी का परिचय समाजशास्त्र से मिलता है। समाजशास्त्र को यह भी ज्ञान राजनीति विज्ञान से प्राप्त होता है। गैटल के अनुसार “समाजशास्त्र राज्य के संगठन और कार्यों के सम्बन्ध राजनीति विज्ञान से ही तथ्य एवं विचार एकत्रित करता है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि दोनों समाज विज्ञान एक दूसरे के सहयोगी तथा पूरक हैं। इसीलिए कहा जा जाता है कि राजनीतिक वैज्ञानिक को समाजशास्त्री होना चाहिये तथा एक-एक समाजशास्त्री को राजनीतिक दोनों होना चाहिये। दोनों में अन्योन्यामय संबंध है।

3.7.3 अध्ययन क्षेत्र में अन्तर - समाजशास्त्र का क्षेत्र राजनीति विज्ञान की अपेक्षा अधिक व्यापक है। राजनीति विज्ञान केवल राज्य व उसकी शासन पद्धति का ही अध्ययन करता है, जबकि समाजशास्त्र समाज के सभी पक्षों व स्वरूपों को अध्ययन क्षेत्र में शामिल करता है। इस तरह से कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान राजनीतिक सम्बन्धों व समुदायों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र, मानवीय समुदायों व सभी सामाजिक सम्बन्धों का व्यापक अध्ययन करता है।

दोनों शास्त्रों के बीच विधि की दृष्टि से भी अन्तर पाया जाता है। समाजशास्त्र धार्मिक रीतियों, सामाजिक प्रथाओं का व्यापक अध्ययन करता है, जबकि राजनीति विज्ञान राज्य द्वारा निर्मित विधि, कानून राजनीतिक परम्पराओं का अध्ययन करता है।

गिलक्राइस्ट के अनुसार— समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है राजनीति विज्ञान राज्य अथवा राजनीति समाज का विज्ञान है। समाजशास्त्र मनुष्य का एक सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करता है और चूँकि राजनीतिक संगठन एक विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन है। इसलिए राजनीतिक विज्ञान समाजशास्त्र की अपेक्षा विशिष्ट शास्त्र है।

("Sociology is the science of society political science is the science of the state or political society sociology studies a man as a social being as political organisation political science is a more specialised science than sociology" – Gilchrist)

3.7.4 अध्ययन सामग्री में अन्तर – राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र में अध्ययन सामग्री की दृष्टि से भी अन्तर परिलक्षित होता है—

- (अ) समाजशास्त्र संगठित असंगठित सभी समुदायों का अध्ययन करता है राजनीति शास्त्र केवल संगठित समुदाय को अध्ययन में शामिल करता है।
- (ब) राजनीतिक विज्ञान की अध्ययन की इकाई राज्य है जबकि समाजशास्त्र की इकाई व्यक्ति तथा समाज है।
- (स) राजनीति विज्ञान मानता है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है लेकिन समाजशास्त्र इससे पूर्व की स्थिति पर भी प्रकाश डालते हुए बताता है कि व्यक्ति के सामाजिक प्राणी बनने की परिस्थितियाँ क्या थीं?
- (द) राजनीति विज्ञान मनुष्य के चेतन कार्यों के अध्ययन तक सीमित रहता है जबकि समाजशास्त्र मनुष्य के चेतन व अचेतन सभी प्रकार के कार्यों को अपने अध्ययन का विषय बताता है।

3.7.5 उद्देश्य में अन्तर – राजनीतिक विज्ञान एक आदर्शपरक विज्ञान है, जबकि समाजशास्त्र वर्णनात्मक विज्ञान है। समाज शास्त्र का अध्ययन क्षेत्र क्या घटित हो चुका है और क्या हो रहा है? तक है वह इस तथ्य को शामिल नहीं करता कि क्या होना चाहिये। राजनीति विज्ञान में क्या होना चाहिये? इसका उद्देश्य एक आदर्श स्वरूप की प्राप्ति करना रहता है। राजनीति में राजनीतिक वास्तविकताओं तथा यथार्थ का भी अध्ययन होता है।

3.7.6 उपसंहार – उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि दोनों शास्त्र घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं। वही दोनों ये अन्तर भी हैं। लेकिन इन दोनों का आपस में सहयोगी होना विकास के लिए अतिआवश्यक है। इसीलिए दोनों के बीच अन्तर होते हुये भी ज्ञान की एक नयी प्रशाखा विकसित हो रही है जिसे राजनीतिक समाज शास्त्र (**Political Sociology**) का नाम दिया गया है।

3.8 राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान (Political Science and Psychology)

मनोविज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जिसका सम्बन्ध मानव के मानसिक कार्यों तथा बाहरी व्यवहार से है। परिस्थितियाँ, मानव के मानसिक प्रक्रियाओं पर क्या प्रभाव डालती हैं? मानव के कार्यों के प्रेरक व प्रयोजन से क्या तात्पर्य है? इन्हें मनोविज्ञान अपने विषय क्षेत्र में स्थान देता है।

3.8.1 वाटसन के अनुसार – "मनोविज्ञान व्यवहार का सकारात्मक अध्ययन है। (**Psychology is the positive science of behavior – waston**) मनोविज्ञान को मानवीय आचरण व व्यवहार का विज्ञान कहा जाता है। इसमें व्यक्ति के आचरण को प्रभावित करने वाले तत्त्व विवेक, बुद्धि मनोवेगों (**Emotion**) भावनाओं (**Sentiments**) सहज प्रवृत्तियों (**Instincts**) को सम्मिलित किया जाता है।

ग्राहम वाल्स के अनुसार— "राजनीति बहुत कम अंश में सचेत बुद्धिमत्ता का परिणाम है। यह अधिकतर तो आदत और सहज प्रवृत्ति तथा सुझाव और अनुकरण जैसी कई चेतन प्रक्रियाओं की उपेक्षा है।"

(Political Science is only in slight degree the product of conscious reason, it is tragedy, a matter of sub conscious process of habit and instinct, suggestion and imitation).

3.8.2 मनोविज्ञान की राजनीति विज्ञान को देन— मनोविज्ञान का अध्ययन राजनीति विज्ञान के लिए अत्यन्त महत्त्व रखता है, जिसे निम्नलिखित शीर्षकों में विश्लेषित कर सकते हैं—

3.8.2.1 राजनीति शास्त्र को नये दृष्टिकोण की प्राप्ति कराना— मनोविज्ञान राजनीति विज्ञान को वास्तविक रूप में एक आधार प्रदान करता है। यह बताता है कि विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं की सफलता व्यक्तियों के स्वभाव पर निर्भर करती है। सरकार की लोकप्रियता या कानून की दृढ़ता या नीति की सफलता जनता की नैतिक मान्यताओं व मानसिक धारणाओं पर निर्भर करती है।

वर्तमान में भी देखें तो पता लगता है कि उसी शासन व नेतृत्व की सफलता निश्चित है। जिसने राजनीति में मनोविज्ञान को स्थान दिया है। श्रीमती इन्दिरा गांधी की राजनीतिक सफलता का राज भी यही था कि वे स्वयं के राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में जनता के मनोविज्ञान को अच्छी तरह से समझती थी। हटलर, मुसोलिनी, कमालपाशा, महात्मा गांधी की सफलता का प्रमुख कारण भी यही था।

बैजहॉट ने ब्रिटेन का उदाहरण देते हुए बताया है कि वहाँ की संवैधानिक व्यवस्था की सफलता का कारण उसका वहाँ के लोगों के स्वभाव के अनुकूल होता है। यही होता है कि लगभग 1100 वर्षों के बाद भी वहाँ राजपद का अस्तित्व बना हुआ है।

3.8.2.2 राजनीति विज्ञान को समझाने में सहायक मनोविज्ञान से महत्वपूर्ण तथ्य राजनीतिविज्ञान को मिलते हैं और यह अपने सिद्धान्तों से राजनीति विज्ञान को समझाने में पर्याप्त सहायक होता है। मनोविज्ञान यह बताता है कि राज्य व इसकी राजनीतिक संस्थाएं मानवीय मस्तिष्क की उपज हैं जिनको मानव मस्तिष्क के अध्ययन से ही सर्वोत्तम रीति से समझ सकते हैं। राजनीति विज्ञान का अध्ययन तब तक अपूर्ण माना जायेगा जब कि यह समझा जाये कि मनुष्य व्यक्तिगत रूप में व एक समूह के सदस्य के रूप में विभिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार का व्यवहार करता है। इसके अतिरिक्त मानवीय व्यवहार को समझने के लिए विवेक के साथ-साथ आदत, प्रवृत्ति, अनुकरण, संवर्ग, सुझाव आदि को समझना आवश्यक है।

3.8.2.3 राजनीतिक अनुसंधान में सहायता प्रदान करना— मनोविज्ञान की मदद से राजनीतिक अनुसंधानकर्ता के लिए अब यह सरल हो गया है कि मतदाताओं, लोकमत के आचरण के सम्बन्ध में अनुसंधान कर सके। इसका अनुमान लगाना सम्भव है कि आयोजित कानून की प्रतिक्रिया जनता पर क्या होगी? आगामी चुनाव के सम्बन्ध में पूर्वानुमान लगाये जा सकें। वर्तमान में जनता के मनोविज्ञान का आकलन करके ही चुनावी सर्वेक्षण किये जा रहे हैं।

3.8.2.4 क्रान्ति की सम्भावनाओं को सीमित करता है— लोकतन्त्रीय प्रक्रियाओं को खतरा नागरिकों के अज्ञानी, अविवेकी, तथा अशिक्षित होने के कारण उत्पन्न होता है। उनकी मानवीय भावनाओं को उकसाकर गलत प्रचार से पक्ष में कर लिया जाता है। उनके मनोविज्ञान की उपेक्षा ही क्रान्ति को जन्म देती है। वर्तमान में राजनीतिक जीवन की एक बहुत बड़ी शक्ति राष्ट्रीयता को माना जा सकता है जिसकी उत्पत्ति में भावनाएं और संवर्ग सहायक होते हैं। फ्रांस की राज्य क्रान्ति (1789) व बांग्लादेश का निर्माण जनता के मनोविज्ञान की उपेक्षा के परिणाम का उदाहरण है। यह किसी देश की क्रान्ति से सुरक्षा करने में सहायक बन सकता है।

3.8.3 राजनीति विज्ञान की मनोविज्ञान को देन— राजनीतिविज्ञान का अध्ययन मनोविज्ञान के लिए भी आवश्यक तथा अपरिहार्य है। इसकी मनोविज्ञान को भी अनेक देन रही है जो निम्नलिखित हैं—

1. मनोविज्ञान को अध्ययन सामग्री प्रदान करना— मनोविज्ञान व्यवहार का ज्ञान कराता है। मातृत्व के राजनीतिक व्यवहार से जुड़े तथ्यों को एकत्रित करने के लिए मनोविज्ञान को राजनीति विज्ञान से मदद लेनी होती है। इसलिए राजनीति विज्ञान के ज्ञान के बिना मनोविज्ञान का अध्ययन अपूर्ण रह जायेगा।
2. राजनीति विज्ञान मनोविज्ञान को प्रभावित करता है। शासन व्यवस्था जनता के मनोविज्ञान पर प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिए प्रजातंत्र में राज्य में उदारवादी तत्वों को देखा जा सकता है तो निरंकुश शासन तत्व मनोविज्ञान के निरंकुश पक्ष को देख सकते हैं।

3.8.4 राजनीति विज्ञान व मनोविज्ञान में अन्तर— राजनीतिविज्ञान तथा मनोविज्ञान में विद्यमान अन्तर के प्रमुख बिन्दुओं को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

1. **अध्ययन दृष्टि से अन्तर—** राजनीति विज्ञान व्यक्ति के बाह्य राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है जबकि मनोविज्ञान सभी मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है।
2. **प्रकृति में अन्तर—** राजनीति विज्ञान आदर्श से सम्बन्धित है। क्या था, क्या है, के साथ-साथ क्या होना चाहिये? का अध्ययन करता है, मनोविज्ञान मूल्यों व आदर्शों से अपने सम्बन्ध व व्यक्ति के स्वभाव का वास्तविक रूप में अध्ययन करता है।
3. **विकास की दृष्टि से अन्तर—** मनोविज्ञान एक नवीन शास्त्र है। वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर इसका सामान्यीकरण नहीं हुआ है। राजनीति विज्ञान प्राचीन शास्त्र है, जिसका पर्याप्त विकास हो चुका है।
4. **आधारभूत धारणा की दृष्टि से अन्तर—** राजनीति विज्ञान मानव को बुद्धि सम्पन्न, विवेकशील व सम्य प्राणी मानता है जबकि मनोविज्ञान मानव को आदिम मानव मानता है जो बुद्धि के स्थान पर भावनाओं के संवेग से संचालित हो रहा है।
5. **उपसंहार—** दोनों के बीच जहां घनिष्ठ सम्बन्ध हो वहां अन्तर भी है। महत्वाकांक्षी राजनेताओं से राजनीति में मनोवैज्ञानिक लक्ष्यों के गलत प्रयोग की भी संभावनाएं तथा आशंकाएं बनी रहती हैं। फिर भी राजनीतिक समस्याओं के समाधान व उनको समझने में मनोविज्ञान उपयोगी रहा है। दोनों के बीच अन्योन्याश्रय संबंध है।

3.9 राजनीति विज्ञान और इतिहास (Political Science and History)

इतिहास व्यक्ति के विकास की कहानी है। यह अनुभव, सम्यता, सफलता, असफलता, प्रयत्नों का विवरण है। राजनीतिविज्ञान तथा इतिहास में गहरा सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे का अध्ययन निरर्थक व सारहीन है। इतिहास का अध्ययन राजनीति को व्यापकता प्रदान करता है। कौटिल्य, अरस्तू, हीगल मार्क्स आदि लेखकों को विकास प्रणाली व संस्थाओं के अध्ययन में इसका सहयोग लिया है। इतिहास व्यक्ति के सुधार व संशोधन में सहायक है। राजनीति विज्ञान राज्य ताकि राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन इतिहास के सन्दर्भ में करता है।

बर्गस का मत है “यदि राजनीति विज्ञान और इतिहास को एक-दूसरे से पृथक् कर दिया जाये तो उनमें एक मृत नहीं तो पंगु अवश्य हो जाये। और दूसरा आकाश पुष्प अथवा मृगमरीचिका बनकर रह जायेगा।” अनेक विद्वान् मानते हैं कि राजनीति शास्त्र और इतिहास में चाहे जितनी घनिष्टता हो उनमें पर्याप्त भेद भी पाया जाता है उनके पूर्ण रूप से एक विषय के दो पक्ष नहीं कहा जा सकता है।

अर्नेस्ट बार्कर— “यद्यपि इतिहास व राजनीति शास्त्र की सीमा प्रारम्भ से अन्त तक परस्पर सम्बन्धित है किन्तु वास्तव में दोनों भिन्न व स्वतंत्र शास्त्र हैं।”

3.9.1 इतिहास की राजनीति विज्ञान को देन— राजनीति विज्ञान का अध्ययन इतिहास पर निर्भर है। इतिहास राजनीति विज्ञान को अध्ययन सामग्री प्रदान करता है। इतिहास के बिना राजनीति विज्ञान का अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि राजनीति विज्ञान को अपने भवन का निर्माण करने के लिए इतिहास ही सामग्री प्रदान करता है। प्लेटों और अरस्तू के राजनीतिक विचारों की समझने के लिए प्राचीन यूनान की ऐतिहासिक व्यवस्था को समझना अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन इतिहास के आधार पर ही किया जा सकता है।

3.9.2 इतिहास राजनीति विज्ञान की प्रयोगशाला तथा मार्गदर्शक — इतिहास मानव की सफलताओं तथा असफलताओं का संग्रह है। मानव ने क्या भूल की है, किस नीति को अपनाने का क्या परिणाम निकला व इसका पता इतिहास से लगता है। अतीत के किये गये काम प्रयोग हैं, जिनसे वर्तमान में गलती करने बचा जा सकता है। इतिहास की भूमिका इस दृष्टि से राजनीतिक मार्गदर्शक की है। उदाहरण के लिये हम पता लगा सकते हैं कि औरंगजेब को असफलता मिलने व अकबर को सफलता मिलने का क्या कारण था? भारत राजनीतिक अस्थिरता व परतंत्रता का क्या कारण था, इसका पता इतिहास ही हमें दे सकता है।

3.9.3 राजनीति विज्ञान के आदर्शों तथा सिद्धान्तों के निर्धारण में सहायता— यदि हम राजनीतिक व्यवस्था का चित्रण करना चाहते हैं तो इतिहास के बिना यह सम्भव नहीं है। राजनीतिक व्यवस्था के सिद्धान्त व आदर्शों को ऐतिहासिक आधार नहीं मिलने पर वे कल्पना मात्र रहेंगे। इतिहास हमें तुलना व अनुमान के लिए सामग्री देता है जिससे राजनीतिक व्यवस्था के ढांचे का निर्माण सरल हो जाता है। तभी नो सीनो नायक विद्वान कहता है कि “राजनीतिशास्त्र के बिना इतिहास का कोई फल नहीं इतिहास के बिना राजनीतिशास्त्र की कोई जड़ नहीं।

3.9.4 राजनीति विज्ञान की इतिहास को देन— राजनीतिशास्त्र की भी इतिहास को महत्वपूर्ण देने रहती है, जिससे निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

- 1. इतिहास के अध्ययन को सारयुक्त बनाना—** राजनीतिक क्षेत्र में जो कुछ घटित होता है वहीं इतिहास बन जाता है। राजनीतिक घटनाओं आन्दोलनों का सही अध्ययन नहीं किया जाये तो इतिहास का अध्ययन अर्थहीन हो जायेगा। किसी भी युग के इतिहास का अध्ययन उस युग के राजनीतिक विचारों व संस्थाओं के अध्ययन के अभाव में सम्भव नहीं हो सकता। भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास का अध्ययन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से स्वतंत्रता प्राप्ति के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं है। लीकॉक के अनुसार एक अन्तर्निहित राजनीति विज्ञान के अभाव के इतिहास का सारा महत्व कम हो जायेगा
- 2. राजनीतिक विचारधाराओं द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं को जन्म देना —** राजनीतिक विचारधाराएँ, ऐतिहासिक घटनाओं को जन्म देती हैं। उदाहरणतः मार्क्स के विचारों ने रूस की क्रान्ति को, रूसो ने फ्रांस की राज्य क्रान्ति को प्रभावित किया। गांधीजी ने भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व करके देश को स्वतंत्र कराया।

3.9.5 राजनीतिक विज्ञान और इतिहास में अन्तर — राजनीतिविज्ञान तथा इतिहास के अन्तर को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

3.9.5.1 क्षेत्र में अन्तर— राजनीतिविज्ञान की अपेक्षा इतिहास का क्षेत्र व्यापक है। राजनीति विज्ञान सामाजिक जीवन के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करता है। जबकि इतिहास, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक सैनिक सभी पक्षों का अध्ययन करता है, राजनीतिक विज्ञान का क्षेत्र तो सीमित है, लेकिन वह सीमित क्षेत्र में भी गहराई से अध्ययन करता है।

3.9.5.2 अध्ययन पद्धति में अन्तर— इतिहास की अध्ययन पद्धति वर्णनात्मक है। सभी घटनाओं का समय के अनुसार वर्णन किया जाता है। चयन नहीं किया जाता है। राजनीतिविज्ञान का पर्यवेक्षणोत्पत्तिक व विचारात्मक पद्धति आधार पर अध्ययन किया जाता है।

3.9.5.3 उद्देश्य में अन्तर— दोनों के उद्देश्य भिन्न हैं। इतिहास का अध्ययन वर्णनात्मक व यथार्थवादी होता है वो नैतिक निर्णय नहीं दे सकता। यह नहीं बता सकता कि भविष्य में राज्य कैसा होगा? यह राजनीति विज्ञान की तरह आदर्शात्मक नहीं होता। राजनीति विज्ञान में आदर्श के साथ-साथ दार्शनिकता होती है। यह इतिहास की तरह राज्य के अतीत में कैसा था व वर्तमान में क्या है, का अध्ययन नहीं करता बल्कि भविष्य में कैसा होगा यह बताता है। इस तरह राजनीति विज्ञान राज्य का मार्गदर्शन करता है।

3.9.5.4 उपसंहार— हम यह कह सकते हैं कि दोनों परस्पर आपस में घनिष्ट रूप से जुड़े हैं। पूरक व विषय अथवा आयोजित होते हुये भी पूरक व स्वतंत्र हैं।

3.10 राजनीतिक विज्ञान और भूगोल

राज्य के अनिवार्य तत्वों में निश्चित भू-भाग को महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। भू-भाग भूगोल के अन्तर्गत आता है। अतः राजनीति विज्ञान व भूगोल परस्पर सम्बन्धित हैं। राजनीति में संस्थाओं का विकास उत्पत्ति, भौगोलिक जलवायु से सम्बन्धित होती है। राज्य की गतिविधियां भी भौगोलिक परिवेश से प्रचलित होती है।

3.10.1 अरस्तू के अनुसार— भौगोलिक ज्ञान के अभाव में राजनीतिक ज्ञान में वृद्धि नहीं की जा सकती है। इसका प्रभाव मनुष्य के कार्यों, मनोवृत्तियों दृष्टिकोण, आर्थिक सम्पन्नता पर पड़ता है।

3.10.2 राजनीतिक विज्ञान पर भूगोल का प्रभाव—राजनीतिविज्ञान पर भूगोल के प्रभावों को निम्नलिखित रूप से देख जा सकता है—

3.10.2.1 जनसंख्या पर प्रभाव—भौगोलिक परिस्थितियों का किसी राष्ट्र के निवासियों के चरित्र तथा राष्ट्रीय जीवन पर प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही सरकार की नीति व कार्य भी प्रभावित होते हैं। अधिक उष्ण या शीत जलवायु नागरिक के जीवन तथा विचारों को प्रभावित करके राजनीति पर प्रभाव डालती है। मांटेस्क्यू ने पर्वतीय प्रदेशों तथा शीत जलवायु की उष्णता को निरकुंश शासन की उत्पत्ति के अनुकूल बताया है।

3.10.2.2 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव—शान्तिकाल और युद्ध के समय राष्ट्रों की विदेश नीतियाँ भौगोलिक परिस्थितियों को देखकर निश्चित की जाती हैं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी राष्ट्र की भौगोलिक दशाएँ बनावट, जलवायु प्राकृतिक साधन खनिज पदार्थ उसकी शक्ति और महत्व को निश्चित करते हैं। इसी कारण से अमेरिका सरकार को महान शक्ति में गिना जाता है। अफ्रीका के अनेक देश राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हैं। प्रो. सेलिंगमैन के अनुसार तथाकथित अंग्रेजी व्यक्तिवाद वहाँ की जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओं का ही परिणाम है।

3.10.2.3 प्रभाव में कमी—राजनीति विज्ञान के अध्ययन में भूगोल महत्वपूर्ण भूमेका निमाता है। लेकिन यह कहना अधिक उपर्युक्त नहीं है। विज्ञान के कारण मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करता रहा है। भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव कम होता जा रहा है। इनका शासन की प्रणाली से सम्बन्ध काफी कम हो गया है। सम्यता के विकास के साथ साथ राजनीति पर भूगोल का प्रभाव कम होता जा रहा है।

3.10.2.4 राजनीति विज्ञान एवं भूगोल में अन्तर—राजनीतिविज्ञान तथा भूगोल के अन्तर को मौटे तौर पर निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

1. भूगोल एक निश्चित विज्ञान है। राजनीति विज्ञान एक अनिश्चित विज्ञान है।
2. भूगोल तथ्यों का अध्ययन करने वाला वास्तविक विज्ञान है। राजनीति विज्ञान आदर्शवादी विज्ञान है।
3. भूगोल एक भौतिक शास्त्र है। जिसकी सामग्री में पृथ्वी, जलवायु आदि आते हैं। राजनीति विज्ञान एक मानवीय विज्ञान है। अध्ययन सामग्री में इस तरह से राजनीतिविज्ञान तथा भूगोल को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। राज्य नामक मानवीय संगठन सम्मिलित है।

3.11 राजनीतिविज्ञान और अर्थशास्त्र

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। प्रारम्भिक लेखकों द्वारा अर्थशास्त्र को राजनीति विज्ञान की ही एक शाखा माना जाता था। अर्थशास्त्र एक ऐसा समाज विज्ञान है जो व्यक्तिगत आर्थिक पक्षों और आर्थिक सम्बन्धों से सम्बन्धित सम्यति के उत्पादन, उपयोग, विनियम और वितरण, आय और रोजगार से सम्बन्धित होता है। अर्थशास्त्र सरकार की आर्थिक नीतियों, बजट, कर, मुद्रा, व्यापार, बैंकिंग आयात-निर्यात, उद्योग तथा उसके नियंत्रण और विकास से सम्बन्धित है। कौटिल्य का राजनीति पर लिखे ग्रन्थ का नाम भी (अर्थशास्त्र) था।

राजनीतिशास्त्र को प्राचीन यूनानी विचारक 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' (Political economy) कहते थे। उनके राजनीतिक विचारों में आर्थिक विचारों का समावेश है। अरस्तू की 'राजनीति' (Politics) नामक पुस्तक का इस संदर्भ में नाम लिया जाता है। प्राचीन भारतीय विचारकों की भी ऐसी ही मान्यता थी। मनु की 'मनुस्मृति' और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में राजनीतिक विचारों के साथ आर्थिक विचार भी मिलते हैं। अर्थशास्त्र का अब स्वतंत्र विषय के रूप में विकास हो चुका है। फिर भी उसका राजनीतिविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अध्ययन क्षेत्र में समानता है। गैटेल के अनुसार आर्थिक परिस्थितियाँ राज्य के संगठन, विकास, क्रियाकलापों पर प्रभाव डालती हैं। राज्य के कानून आर्थिक स्थितियों को बदलते हैं। गार्नर के अनुसार बहुत सी आर्थिक समस्याओं का समाधान राजनीति संस्थाओं द्वारा किया जाता है। शासन के कार्यों पर आर्थिक उत्पादन और वितरण का प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक घटनाएँ, आर्थिक कारणों से घटित होती हैं। फ्रांस और रूस की राज्य क्रान्ति के मूल में आर्थिक कारण प्रमुख थे।

राजनीतिक व आर्थिक क्रियाकलापों को पूर्णतः अलग करना कठिन होता है। उदाहरणतः साम्राज्यवाद एक राजनीतिक विचारधारा है, पूंजीवाद एक आर्थिक विचारधारा है, लेकिन दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिस्मार्क जर्मनी के बाहर व्यापारिक केन्द्र चाहता था, तथा चेम्बर लेन साम्राज्य की रक्षा व्यापारिक कारणों से करना चाहता था। लेकिन दोनों के विचारों में विभिन्नता है।

अर्थशास्त्र को राजनीतिविज्ञान की देन—

पहले हम दोनों शास्त्रों के बीच समानता का विवेचन करेंगे। तथा अर्थशास्त्र को राजनीतिविज्ञान पर चर्चा को देन पर चर्चा करेंगे जो निम्नलिखित रूप से है—

1. राज्य उत्पत्ति तथा विकास में आर्थिक गतिविधियों या क्रियाओं ने योगदान दिया है। आज भी आर्थिक क्रियाएँ में राजनीतिक संस्थाओं के विकास में सहायक हैं। मार्क्स मानता है कि विकास के हर सौपान में आर्थिक क्रिया— कलाओं ने राज्य के विकास को प्रभावित किया है।
2. आर्थिक शक्ति राज्य की नीतियों को प्रभावित करता है। लारकी के अनुसार आर्थिक शक्ति का वितरण राज्य को प्रभावित करता है। भारतीय राज्य के विकास में भी इसका प्रभाव दिखाई देता है।
3. आर्थिक असन्तोष क्रान्तियों को जन्म देता है—हमें राजनीतिशास्त्र के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्थिक असन्तोष ने क्रान्तियों और युद्धों को जन्म दिया है। 1789ई. की फ्रेंच क्रान्ति और 1917ई. की सोवियत संघ की समाजवादी क्रान्ति के मूल कारणों में आर्थिक दुरावस्था का ही योगदान था। इटली में मुसोलिनी

की तानाशाही, जर्मनी की हिटलर की पूर्वी नाजी तानाशाही तथा स्पेन के गृह युद्ध में मूलतः आर्थिक अव्यवस्था जिम्मेदार थी। पाकिस्तान के आर्थिक शोषण ने बांग्लादेश को जन्म दिया।

3.11.1 राजनीति शास्त्र की अर्थशास्त्र को देन— राजनीतिविज्ञान ने भी अर्थशास्त्र को प्रभावित किया है।

3.11.1.1 आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण राजनीतिक व्यवस्था करती है। व्यक्तिवादी राज्य पूंजीवादी समाज की स्थापना करता है। समाजवादी राज्य, समाजवादी समाज की स्थापना करता है। भारतीय राज्य ने क्रमशः मिश्रित अर्थव्यवस्था, लोकतांत्रिक समाजवादी अर्थव्यवस्था व उदारवादी अर्थव्यवस्था को अपनाया है।

3.11.1.2 प्रशासनिक स्तर पर प्रभाव— प्रशासनिक स्तर की दक्षता उच्च आर्थिक विकास में सहायक होती है। भ्रष्ट प्रशासनिक व्यवस्था में आर्थिक विकास की गति मन्द होती है। जापान के शीघ्र आर्थिक विकास का कारण कुशल प्रशासन है, जबकि भारत का धीमा आर्थिक विकास का कारण प्रशासनिक अकुशलता है।

3.11.1.3 युद्ध का प्रभाव— युद्ध के कारण राज्यों का सैनिक व्यय बढ़ जाता है। आर्थिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। द्वितीय विश्वयुद्ध ने बहुत सारे राष्ट्रों को तबाह कर दिया। भारत की अर्थ-व्यवस्था पर 1962 के चीन 1965 व 1971 के पाकिस्तान के साथ हुए युद्ध का गम्भीर प्रभाव पड़ा। फिर भी दोनों विषयों के बीच अध्ययन क्षेत्र की समानता है।

3.11.2 दोनों के बीच अन्तर— राजनीतिविज्ञान तथा अर्थशास्त्र में समानताओं के साथ-साथ अन्तर भी किया जाता है, जो निम्नानुसार हैं—

3.11.2.1 अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से— दोनों ही शास्त्र व्यक्ति और वस्तुओं का अध्ययन करते हैं लेकिन राजनीतिविज्ञान मुख्य रूप से व्यक्तियों का अध्ययन करता है, लेकिन गौण रूप से वस्तुओं का अध्ययन करती है। राजनीतिविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र व्यापक है। अर्थशास्त्र स्वयं भी राजनीति शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में आता है।

3.11.2.2 दोनों की प्रकृति में भी पर्याप्त अन्तर है। राजनीतिविज्ञान आदर्शात्मक विज्ञान है, यह किसी विषय पर सामाजिक व नैतिक दृष्टि से विचार करता है, जबकि अर्थशास्त्र केवल भौतिक दृष्टि से विचार करता है।

आधारभूत अन्तर— दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुये भी आधारभूत अन्तर है। गिल्क्राइस्ट के अनुसार राजनीतिविज्ञान राज्य का विज्ञान है, जबकि अर्थशास्त्र सम्पत्ति का विज्ञान है। लेकिन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र के बिना राजनीतिविज्ञान महत्वहीन हो जाता है। इन दोनों शास्त्रों के बीच तालमेल स्थापित किया जाना चाहिये। अतः कह सकते हैं कि दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है।

3.12 राजनीतिशास्त्र एवं नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र व्यक्ति के आचरण से सम्बन्ध रखता है, राजनीतिविज्ञान राज्य के आचरण से सम्बन्धित है। फिर भी दोनों में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीतिक कार्यों का औचित्य नीतिशास्त्र की मान्यताओं के अनुसार होता है। विचारक फ्रायड का कथन है कि यदि कोई बात नैतिक दृष्टि से गलत है तो राजनीति दृष्टि से सही नहीं हो सकती। गांधीजी का कथन है कि धर्महीन राजनीति, राजनीति नहीं हो सकती। किन्तु इसके विपरीत थामस हॉब्स और मैकियावेली का कथन है कि धर्म और राजनीति में कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।

3.12.1 दोनों शास्त्रों के बीच साम्यता— दोनों सामाजिक विज्ञानों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथा ये एक दूसरे के सहयोगी हैं। नीतिशास्त्र ने राजनीतिशास्त्र को निम्नलिखित प्रकार से प्रभावित किया है।

3.12.1.1 राजनीतिविज्ञान नीतिशास्त्र का अनुसरण करता है—प्लेटो का विचार था कि एक नागरिक को सद्गुणी होना चाहिये। उसके अनुसार राज्य का लक्ष्य नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति होना चाहिये। अरस्तू के अनुसार राज्य सद्जीवन की प्राप्ति के लिये अस्तित्व है। लार्ड एक्टन के अनुसार राजनीतिक सिद्धान्त, नैतिक सिद्धान्त के बिना व्यर्थ हैं। मांटेस्क्यू भी चाहता था कि राजनीतिविज्ञान को नीतिशास्त्र के अनुरूप आचरण करना चाहिये। महात्मा गांधी भी भारत की स्वतंत्रता को मानव जाति की सेवा के लिए आवश्यक मानते थे।

3.12.1.2 नीतिशास्त्र कानून को आधार प्रदान करता है—क्योंकि नैतिकताविहीन कानून विद्रोह को जन्म देते हैं। ग्रीन का कथन है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है। महात्मा गांधी की मान्यता थी कि नैतिकता विहीन कानून की सविनय अवज्ञा करने का अधिकार नागरिक को प्राप्त है। राष्ट्रीय कानूनों के पीछे नैतिक बल के साथ भौतिक बल भी होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के पीछे तो अभी भी नैतिक बल ही काम करता है।

3.12.1.3 राजनीतिविज्ञान की नीतिशास्त्र को देन—राजनीति विज्ञान नैतिक जीवन को सम्भव बनाता है। यह उन व्यावहारिक परिस्थितियों का निर्माण करता है, जिनमें कि समाज नैतिक जीवन व्यतीत करता है। राज्य शान्ति, व्यवस्था, सुरक्षा की स्थापना करता है। अनैतिक व्यक्तियों के अत्याचार से नैतिक व्यक्तियों की रक्षा करता है। यदि राज्य ऐसा न करेगा तो नैतिक जीवन सम्भव नहीं है।

3.12.1.4 राज्य वास्तविक नैतिक मूल्यों की स्थापना करता है—सामाजिक कुरीतियां समाज की प्रगति में बाधक होती हैं। राज्य उनके स्थान पर विवेकपूर्ण नैतिक मूल्यों की कानून के द्वारा स्थापना करता है।

3.12.1.5 राज्य नैतिकता का जनक है—आदर्शवादी विचारकों हीगल व बोसांके के अनुसार राज्य स्वयं नैतिकता की मूर्तरूप है। वह राज्य की नैतिकता का निर्धारण करता है। राज्य नैतिकता से ऊपर है, वह स्वयं नैतिक भावना व मूल्यों को जन्म देता है। लेकिन आधुनिक समन्वय में यह विचारमान्य नहीं है।

3.12.2 दोनों शास्त्रों में अन्तर—राजनीतिविज्ञान तथा नीतिशास्त्र के अन्तर को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

3.12.2.1 अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से— राजनीतिविज्ञान की तुलना में नीतिशास्त्र अधिक व्यापक है। राजनीतिविज्ञान का सम्बन्ध नैतिकता से परोक्ष रूप से है। नीतिशास्त्र संपूर्ण सामाजिक व वैयक्तिक जीवन से सम्बन्ध रखता है।

3.12.2.2 प्रकृति की दृष्टि से—नीतिशास्त्र, राजनीतिविज्ञान की तुलना में अधिक आदर्शात्मक है, जबकि राजनीतिविज्ञान का दृष्टिकोण व्यवहारिक है। राजनीतिविज्ञान का सम्बन्ध प्रत्यक्ष से है, जबकि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष से है।

3.12.2.3 भौतिक व नैतिक बल की दृष्टि से— राज्य की शक्ति के पीछे भौतिक व प्रभुत्वशक्ति होती है। नैतिक विषयों के पीछे केवल नैतिक बल होता है।

इन दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुये भी आधारभूत अन्तर है।

3.13 सारांश

उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्तःअनुशासनात्मक दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान के अन्य समाजविज्ञानों के साथ सहसंबंधों की जानकारी मिलती है। इससे राजनीति विज्ञान को अपने कार्यक्षेत्र को और प्रभावी बनाने में मदद मिल रही है। वर्तमान समाज एवं राजनीतिक व्यवस्था में आने वाले बदलावों ने सभी विषयों को प्रभावित किया है अतः यह हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि हम यह जानें कि विषय आपस में एक-दूसरे को किस प्रकार प्रभावित कर रहे हैं। राजनीतिक स्तर पर लिए जाने वाले निर्णय, चाहे वे किसी स्तर के हों, वे उस परिवेश के अनुसार ही लिए जाते हैं, जैसे उदाहरण के लिए सामाजिक कुरीतियों को मिटाने के लिए कोई राजनीतिक पहल करनी है या कानून बनाना है तो उससे पहले समाज को जानना होगा। इसी प्रकार विदेश नीति के निर्धारण में भूगोल का अपना विशेष महत्त्व है।

3.14 अभ्यास प्रश्नावली

1. राजनीति विज्ञान में अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन के विकास और इससे सम्बन्धित अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिये।
2. राजनीति विज्ञान सभी सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। इस कथन के आधार पर इतिहास और अर्थशास्त्र का राजनीति विज्ञान से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये।
3. आलोचनात्मक दृष्टि से राजनीतिक विज्ञान का सम्बन्ध निम्नलिखित विषयों से स्पष्ट कीजिये— 1. समाजशास्त्र 2. नीतिशास्त्र 3. मनोविज्ञान
4. राजनीतिविज्ञान और समाजशास्त्र एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। (कैंटलिन) क्या आप इस कथन से सहमत हैं। तर्कसहित उत्तर दीजिये
5. राजनीतिशास्त्र की जड़ें मनोविज्ञान में निहित हैं। (लाडेजम्स ब्राईस) इस कथन के आधार पर दोनों की घनिष्ठता व अन्तर स्पष्ट कीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राजनीतिविज्ञान ने अन्तर अनुशासनात्मक उपागम की अवधारणा किनसे प्राप्त की है।
 1. आदर्शवाद से
 2. आनुमतिक सिद्धान्त से
 3. अराजकतावादी सिद्धान्त से
 4. अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से
2. सामाजिक विज्ञानों में अनुशासन का अर्थ है—
 1. विद्या
 2. शासन करना
 3. दण्ड देना
 4. आदेश का पालन
3. आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर अनुशासनात्मक उपागम सबसे स्पष्ट व सर्वाधिक समर्थन किसने किया है—
 1. उत्तर व्यवहारवादी
 2. बहुलवाद
 3. व्यवहारवाद
 4. श्रमसंघवाद
4. "अर्थशास्त्र के बिना राजनीतिशास्त्र अवास्तविक व महत्वहीन रचना मात्र है।" यह कथन किसका है—
 1. चार्ल्स बिगर्ड
 2. प्लेटो
 3. नेम्बरलेन
 4. काम्टे
5. राजनीतिशास्त्र वह विज्ञान है जिसे इतिहास की धारा नदी की रेत में स्वर्णकणों की भांति संग्रह करती है। " यह कथन किसका है?
 1. स्पांकी
 2. बिस्मार्क
 3. लार्ड एक्टन
 4. डेविड ईस्टन

3.15 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

बी.आर. पुरोहित, "राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त", राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
 आर.सी. अग्रवाल, "राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त", एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

इकाई-4 : व्यवहारवाद

संरचना

- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 प्रस्तावना
- 4.3 व्यवहारवाद का विकास
- 4.4 व्यवहारवाद की परिभाषाएँ, अर्थ एवं प्रकृति
- 4.5 व्यवहारवादी आन्दोलन के लक्ष्य एवं उद्देश्य
- 4.6 व्यवहारवाद की मूल मान्यताएँ एवं विशेषताएँ
 - 4.6.1 नियमन
 - 4.6.2 सत्यापन
 - 4.6.3 तकनीकों का प्रयोग
 - 4.6.4 प्रमाणीकरण
 - 4.6.5 मूल्य निर्धारण
 - 4.6.6 व्यवस्थित अध्ययन
 - 4.6.7 आनुभविक सिद्धान्तों पर आधारित
 - 4.6.8 एकीकृत अध्ययन
- 4.7 व्यवहारवाद की आलोचनाएँ एवं सीमाएँ
 - 4.7.1 शब्दाढम्बर का मायाजाल
 - 4.7.2 मूल्य निरपेक्ष अध्ययन सम्भव नहीं
 - 4.7.3 अन्तर्विरोध का दोष
 - 4.7.4 अत्यधिक खर्चीली पद्धति
 - 4.7.5 राजनीति विज्ञान के स्वतन्त्र अस्तित्व को खतरा
 - 4.7.6 राजनीति विज्ञान व प्राकृतिक विज्ञान में मूल अन्तर
 - 4.7.7 सुनिश्चित विज्ञान एवं भविष्यवाणी सम्भव नहीं
 - 4.7.8 मानव के राजनीतिक व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन असम्भव
 - 4.7.9 लघु एवं वृहद् इकाई संबंधी समस्याएँ
 - 4.7.10 नीति निर्माण में सहायता करने में असमर्थ
- 4.8 व्यवहारवादी उपलब्धियों की उपयोगिता एवं महत्त्व
 - 4.8.1 नये विज्ञान की स्थापना
 - 4.8.2 राजनीति विज्ञान का वैज्ञानिककरण करने का प्रयास
 - 4.8.3 अध्ययन वस्तु में परिवर्तन
 - 4.8.4 अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण की स्थापना
 - 4.8.5 वैकल्पिक धारणाएँ प्रस्तुत की हैं
- 4.9 सारांश
- 4.10 अभ्यास प्रश्नावली
- 4.11 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

4.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

- व्यवहारवादी आन्दोलन को जानना, जिसकी बदौलत राजनीति विज्ञान को जीवन्त आधार मिला।
- इसके अध्ययन से आप व्यवहारवाद के लक्षणों, उपलब्धियों तथा सीमाओं को जान सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

प्राकृतिक विज्ञानों से प्रेरणा प्राप्त कर राजनीतिविज्ञान के अध्ययन में भी वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाया। इस कारण से सामाजिक विज्ञान में एक आधारभूत या गुणात्मक परिवर्तन आया है। व्यवहारवादी क्रान्ति के कारण ऐसा सम्भव हुआ। राजनीतिक विज्ञान में इसे अपनाने के लिए दो कारणों का योगदान रहा है। पहला परम्परागत अध्ययन पद्धतियों को अशुद्ध व अपूर्ण मानते हैं, तथा दूसरा सिद्धान्तवाद का विरोध किया है उनके अनुसार यह सब धारणाएँ आदर्शात्मक हैं। अव्यवहारिक तथा अर्थार्थवादी हैं। वह व्यवहारवादी राजनीतिक विज्ञान का अध्ययन यथार्थ आधार पर चाहते हैं।

4.3 व्यवहारवाद का विकास

व्यवहारवाद का जन्म द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुआ। इसके अन्त्युदय का पहला कारण था द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले का अनुभववाद। दूसरा कारण था द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान प्राप्त यथार्थवादी अनुभव। इस दृष्टि से दो पुस्तकों का बड़ा महत्व है। 1908 में ग्राहम वॉलस (Graham wallas) ए. एफ. बेन्टले ने इस बात का विरोध किया कि संस्थाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष निकाले जावें। उनकी मान्यता थी कि निष्कर्ष मानव-व्यवहार के आधार पर निकाले जाने चाहिये तथा राजनीति के अध्ययन में सामाजिक समूहों की शासन के प्रति प्रतिक्रियाओं को स्थान दिया जाना चाहिये।

व्यवहारवाद के विकास में 1925 ई. में प्रकाशित चार्ल्स मेरियम की पुस्तक 'न्यू अस्पेक्ट ऑफ पॉलिटिक्स' (New aspects of Politics) का महत्वपूर्ण स्थान है। मेरियम ने राजनीतिक घटनाओं तथा तथ्यों के विश्लेषण के लिये मनोविज्ञानिक एवं समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण एवं तकनीक के प्रयोग पर जोर दिया। व्यवहारवादियों ने शिकागो विश्वविद्यालय को अध्ययन का केन्द्र बनाया। व्यवहारवाद के विकास की दृष्टि से निम्नलिखित ग्रन्थों का एक महत्वपूर्ण स्थान है—

1. एडवर्ड साइमन की पुस्तक एडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर (Administrative Behaviour)
2. लासवेल व कैप्लान की 'पावर एण्ड सोसाइटी' (Power and Society)
3. कैटलिन की पुस्तक 'ए स्टोरी ऑफ प्रिन्सिपल्स ऑफ पालिटिक्स' (A Story of principles of Politics)
4. डेविड ईस्टन की पुस्तक - 'दि पालिटिकल सिस्टम' (The Political System) अमेरिका में इस विचार के विकास में अमरीकी राजनीतिक वैज्ञानिकों के अलावा पॉलिटिकल साइन्स एसोसियसन, सोशल साइन्स रिसर्च काउंसिल बोर्ड फाउन्डेशन, कारनेगी इंस्टीट्यूट तथा रॉकफेलर फाउन्डेशन (Political Science Associations Social Science Research Council, Ford Foundation, Karnegi Endowment, Rockefeller Foundation) का भी योगदान रहा। इस विचार के प्रमुख समर्थक विद्वान निम्नलिखित हैं— 1. राबर्ट ए. डहल, 2. डेविड ईस्टन, 3. हर्बर्ट साइमन, 4. लुसियन पाई, 5. लासवेल, 6. आमण्ड कोलमैन, 7. कार्ल डायश, 8. एडवर्ड शौल्स, 9. क्रीक पैट्रिक।

4.4 व्यवहारवाद की परिभाषा, अर्थ एवं प्रकृति

डहल के अनुसार व्यवहारवाद—परम्परागत राजनीति विज्ञान की असफलताओं के प्रति असन्तोष का परिणाम है। इसका उद्देश्य राजनीति विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक बनाना है। एक विचारक के अनुसार राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन का सम्बन्ध राजनीतिक संदर्भ में मानव के कार्यों, रुख, वरीयता एवं आकांक्षाओं से है। ब्लेयर कोलासा के अनुसार "व्यवहारवाद राजनीतिक सन्दर्भों में व्यक्ति समूहों के व्यवहार का अध्ययन है।"

डेविड ईस्टन के अनुसार "व्यवहारवाद मनुष्य के ऐसे राजनीतिक व्यवहार का पर्यवेक्षणमापन तथा सत्यापन किया जा सकता है और यह ऐसे अध्ययन के द्वारा राजनीति को संरचनाओं, प्रक्रियाओं आदि के बारे में वैज्ञानिक व्याख्याएँ विकसित करना चाहता है।"

व्यवहारवाद के दो पक्ष हैं। निषेधात्मक पक्ष और उसका भावनात्मक पक्ष।

1. **व्यवहारवाद का निषेधात्मक पक्ष**—यह परम्परागत राजनीतिशास्त्र का विरोध करता है। यह दार्शनिक अध्ययन पद्धति और कानूनी दृष्टिकोण का विरोध करता है। यह व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों तथा कल्पनाओं को भी स्वीकार नहीं करता। वास्तव में व्यवहारवादियों ने दो आधारों पर परम्परागत राजनीति शास्त्र का विरोध किया।

1. यह राजनीति के अध्ययन में मूल्य प्रधान, आदर्शवादी तथा व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन पर बल देता है। पद्धतियाँ अपने अध्ययन की मूल इकाई राजनीतिक संस्थाओं को मानती हैं।

व्यवहारवाद का भावनात्मक पक्ष निम्नलिखित प्रकार से है—

1. राजनीति शास्त्र को यथार्थवादी बनाना चाहिये।
2. राजनीतिशास्त्र वैज्ञानिक अध्ययन हो सकता है। व्यक्ति की भावनाओं मनोवृत्तियों का भी वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। वे भावना को वस्तुनिष्ठ भी मानते हैं।

व्यवहारवाद अपनी प्रकृति से एक अनुभववादी वैज्ञानिक उपागम है, जो राजनीति घटनाओं तथा तथ्यों की वैज्ञानिक व्याख्या करता है

किर्क पैट्रिक ने व्यवहारवाद की प्रकृति को इस प्रकार बताया है—

1. अध्ययन एवं शोधकार्य में विश्लेषण की मूल इकाई व्यक्ति है।
2. राजनीति विज्ञान एक व्यवहारवादी विज्ञान है और उसका अन्य सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।
3. व्यवहारवाद तथ्यों के पर्यवेक्षण, वर्गीकरण एवं मापन में शुद्ध प्रविधियों के विकास पर बल देता है। इस दृष्टि से सांख्यिकीय एवं परिणामात्मक सूत्रीकरणों पर बल देता है।
4. व्यवहारवाद का उद्देश्य राजनीतिविज्ञान को एक व्यवस्थित आनुभविक विज्ञान के रूप में विकसित करना है।

इस विचार की कुछ अन्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—

1. यह राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक नया और वैज्ञानिक दृष्टिकोण है।
2. यह उन सभी तत्वों का अध्ययन करता है जो व्यक्ति की राजनीतिक भूमिका को प्रभावित करते हैं।
3. यह मतदान व्यवहार, छोटे छोटे समूह या संगठन, राजनीतिक प्रणालियाँ, तथा नीति निर्धारण आदि के अध्ययन के लिये अधिक उपयुक्त दृष्टिकोण है।

4.5 व्यवहारवादी आन्दोलन के लक्ष्य और उद्देश्य

व्यवहारवाद का उद्देश्य परम्परागत राजनीति विज्ञान के स्थान पर एक नये राजनीतिक विज्ञान की स्थापना करना है। इसके उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को निम्नलिखित प्रकार से रखा जा सकता है—

1. एक नवीन राजनीति विज्ञान की स्थापना—
2. राजनीति विज्ञान विषय को विकसित करना। व्यवहारवादियों का मत है कि राजनीतिविज्ञान का संपूर्ण अध्ययन मूल्यनिरपेक्ष, यथार्थवादी व वस्तुनिष्ठ होना चाहिये। यह इस आधार पर बल देता है कि राजनीतिविज्ञान के राजनीति के विज्ञान (Science of Politics) रूप में भी विकसित किया जा सकता है। यह इसको आनुभविक विज्ञान (Empirical Science) का रूप देना चाहता है।
3. राजनीति संदर्भ में मानव व्यवहार का अध्ययन। इसके मतानुसार राजनीति का निष्पक्ष एवं यथार्थवादी अध्ययन किया जा सकता है।
4. अन्य सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ सम्बन्धों की स्थापना—इसका उद्देश्य एक अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण की स्थापना का विकास करना है। इसके अनुसार मानव व्यवहार को गौर राजनीतिक तत्व भी प्रभावित करते हैं। राजनीति को सम्बन्ध अन्य विषयों से भी जोड़ा जाना चाहिये।
5. अन्य उद्देश्य—
 1. इस विषय के मूल्य निरपेक्ष अध्ययन के लिये वैज्ञानिक तकनीक के विकास पर बल देता है।
 2. वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर सामान्यीकरण के आधार पर निश्चित राजनीतिक नियमों व सिद्धान्तों की स्थापना करना।
 3. वह राजनीतिक विज्ञान में भी सत्य भविष्यवाणी करने की क्षमता का विकास करना चाहते हैं।
 4. डेविड ईस्टन ने "व्यवहारवाद के आठ लक्षणों" को व्यवहारवाद की आधारशीला माना है।

4.6 व्यवहारवाद की मूलमान्यतायें एवं विशेषतायें

डेविड ईस्टन ने व्यवहारवाद की विशेषताओं को समग्रता से प्रस्तुत किया है—

ईस्टन व्यवहारवाद के आठ प्रमुख लक्षण बताता है, जो निम्न प्रकार हैं—

4.6.1 नियमन— इसके अध्ययन के लिये नियमों का निर्माण सम्भव है।

4.6.2 सत्यापन— जो नियम मानव व्यवहार के बारे में बनाये गये हैं, उनकी सत्यता की जांच की जानी चाहिये।

4.6.3 तकनीकों का प्रयोग— अध्ययन के ऐसे साधनों को विकसित करना जो तथ्यों के चयन, संकलन, वस्तुनिष्ठ विश्लेषण पर बल देते हैं लेकिन इन तकनीकों के प्रयोग के आधार पर भी इस विषय को पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। अतः शुद्ध वैज्ञानिक तकनीक के निर्माण का प्रयास किया जाना चाहिये। अध्ययनकर्ता का विश्लेषण शुद्ध व तटस्थ तथा वस्तुनिष्ठ होना चाहिये।

4.6.4 प्रामाणीकरण— इसका अर्थ है तथ्यों, आंकड़ों, विवरण आदि की शुद्धिकरण की प्रक्रिया। इनका सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया जाना चाहिये। ताकि इनको अधिक यथार्थ व शुद्ध बनाया जा सके। इस कार्य में सांख्यिकीय पद्धतियों की भी सहायता ली जाती है।

4.6.5 मूल्य निर्धारण— अपने निजी मूल्यों को अध्ययन से अलग रखना चाहिये। वैज्ञानिक अध्ययन से अलग रखना चाहिये वैज्ञानिक अध्ययन से जो यथार्थ निष्कर्ष व मान्यतायें प्राप्त हों, उन्हें स्वीकार किया जाना चाहिये।

4.6.6 व्यवस्थित अध्ययन— व्यवहारवादी व्यवस्थित अध्ययन के समर्थक हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से सिद्धान्त की तुलना में अनुसंधान का क्रम पहले है। अनुसंधान से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर सिद्धान्तों का निर्माण किया जाना चाहिये। इस प्रकार कार्य व कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

4.6.7 आनुमतिक सिद्धान्तों पर आधारित— शुद्ध विज्ञान व्यवहारवादी चाहते हैं कि आनुमतिक सिद्धान्तों के निर्माण में मददगार हों। हमारे युग की सामाजिक राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में सहायक हों।

4.6.8 एकीकृत अध्ययन— मानव जीवन का एकीकृत अध्ययन मानव का व्यवहार स्वयं में एक पूर्ण इकाई है, अतः उसका अध्ययन अलग अलग खण्डों में नहीं किया जा सकता। सभी सामाजिक विज्ञानों के सहयोग के द्वारा ही मानव व्यवहार को समझा जा सकता है। राजनीति विज्ञान को तथ्य एवं आंकड़ों में कम करने चाहिये और उनके विश्लेषण में समाजशास्त्र अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि समाजिक विज्ञानों की अध्ययन पद्धतियों, शोधों एवं उपलब्धियों का प्रयोग किया जाना चाहिये। व्यवहारवाद अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन (Interdisciplinary Studies) का समर्थक है।

डेविड ईस्टन ने अध्ययन का सारांश इस प्रकार है—

1. मानव के व्यवहार में आधारभूत समानता होती है, अतः नियमों का निर्माण सम्भव है।
2. नियमों का सत्यापन किया जाना चाहिये।
3. अध्ययन में वैज्ञानिक तकनीक का प्रयोग किया जाना चाहिये तथा उसमें लगातार सुधार किया जाना चाहिये।
4. एकत्रित किये गये तथ्यों, आंकड़ों व सामग्री का शुद्धिकरण किया जाना चाहिये।
5. समस्त अध्ययन मूल्य-निरपेक्ष होना चाहिये।
6. अनुसंधान के आधार पर सिद्धान्त का निर्माण किया जाना चाहिये।
7. वैज्ञानिक सिद्धान्तों को समस्याओं के समाधान में काम में लाया जाना चाहिये।
8. मानव के व्यवहार को समझने के लिये अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन आवश्यक है।

4.7 व्यवहारवाद की आलोचनाएँ एवं सीमाएँ

व्यवहारवाद के जन्म के साथ ही इसकी तीव्र आलोचना होने लगी। मूलतः परम्परावादी विद्वानों ने इस विचार की आलोचना की, क्योंकि वे इसकी मान्यताओं से सहमत नहीं थे। बाद में व्यवहारवादियों ने भी अनुभव किया कि व्यवहारवाद की कुछ सीमाएँ हैं। व्यवहारवाद की आलोचना करने वाले प्रमुख विद्वानों के नाम इस प्रकार हैं—अर्नाल्ड बैस्ट्रेट, लियोस्ट्रास, सिबली, क्रिकपैट्रिक, राबर्ट ए. डहल, डायसी इत्यादि।

व्यवहारवाद की आलोचना में मुख्यतः निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

4.7.1 शब्दाढम्बर का मायाजाल— व्यवहारवादी स्वयं कोई नये सिद्धान्त को रचना में असफल रहे हैं, अतः उनके तर्क अर्थहीन व शब्दजाल दिखाई पड़ते हैं।

4.7.2 मूल्य निरपेक्ष अध्ययन सम्भव नहीं— राजनीतिशास्त्र के विद्वानों का मत है कि राजनीतिविज्ञान का न तो मूल्य निरपेक्ष अध्ययन सम्भव है, और न यह उचित ही है। एक शोधकर्ता विषय के चुनाव में भी मूल्यों से प्रभावित होता है। मूल्य निरपेक्षता का अर्थ यह होगा कि उचित और अनुचित, अच्छे और बुरे में कोई भेद नहीं किया जाये।

4.7.3 अन्तर्विरोध का दोष— व्यवहारवादियों के अध्ययन और कथन में विरोधाभास दिखाई पड़ता है, जब वह स्वयं ही तानाशाही के स्थान पर उदारवादी लोकतंत्र का समर्थन करने लगते हैं।

4.7.4 अत्यधिक खर्चीली पद्धति— व्यवहारवादी अध्ययन की शुद्धता व प्रमाणिकता के नाम पर बार बार सर्वेक्षण करते हैं, आंकड़ें एकत्रित करते हैं, जो बेहद खर्चीला काम है, अतः एक सामान्य आदमी व तृतीय विश्व का गरीब आदमी इस प्रणाली का खर्च वहन करने में असमर्थ रहता है।

4.7.5 राजनीतिविज्ञान के स्वतंत्र अस्तित्व को खतरा— व्यवहारवादियों ने एक तरफ तो राजनीतिक विज्ञान को परिभाषित नहीं किया, और इसके अध्ययन क्षेत्र को भी स्पष्ट नहीं किया है, जबकि उन्होंने अन्य समाज विज्ञानों की अवधारणाओं, तकनीकों, पद्धतियों को अपनाते पर जोर दिया है। अतः यह भय उत्पन्न होता है कि राजनीतिविज्ञान अपने स्वतंत्र अस्तित्व को खो सकता है।

4.7.6 राजनीतिविज्ञान व प्राकृतिक विज्ञान में मूल अन्तर— व्यवहारवादी प्राकृतिक विज्ञानों व सामाजिक विज्ञानों में समानता मानते हैं, इस आधार पर वह राजनीतिविज्ञान में प्राकृतिक विज्ञान की अध्ययन पद्धतियों को अपनाने पर बल देते हैं। लेकिन प्राकृतिक विज्ञान व राजनीति विज्ञान में आधारभूत अन्तर है। राजनीति विज्ञान के तथ्य अधिक जटिल परिवर्तनशील, कम परीक्षण योग्य व अस्पष्ट होते हैं। अतः व्यवहारवादियों का यह विश्वास भ्रमपूर्ण है कि उसे विज्ञान बनाया जा सकता है।

4.7.7 सुनिश्चित विज्ञान एवं भविष्यवाणी सम्भव नहीं है— व्यवहारवादियों को यह मानना है कि वह मानव व्यवहार व घटनाओं के बारे में सही सही भविष्यवाणी कर सकते हैं। लेकिन वास्तव में वे ऐसे समान्यीकरण में असफल रहे हैं। राजनीतिविज्ञान में सुनिश्चित सिद्धान्तों का निर्माण सम्भव है ही नहीं। इसलिये सही सही भविष्यवाणी करना भी सम्भव नहीं है।

4.7.8 मानव के राजनीति व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है- मानव व्यवहार अत्यन्त जटिल है, और उसके अन्तर्भूत की गहराईयों की सूक्ष्मता से समझना सम्भव नहीं है इसका मापन तो बिल्कुल भी सम्भव नहीं है। अतः इसका वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं है।

4.7.9 लघु एवं बृहत् इकाई सम्बन्धी समस्या- व्यवहारवादी सुविधा के लिये छोटे छोटे समूहों का अध्ययन करते हैं। किन्तु उनके अध्ययन के निष्कर्षों को संपूर्ण समाज पर नहीं लागू किया जा सकता। किसी स्थानीय समूह के मतदान व्यवहार को संपूर्ण समाज पर लागू करना सम्भव नहीं है।

4.7.10 नीति निर्माण में सहायता करने में असमर्थ- नीति निर्माण केवल तथ्यों के आधार पर नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें मूल्यों की भी आवश्यकता होती है। मूल्यों की अवहेलना करके बनाई गयी नीति अमानवीय व अनैतिक हो सकती है। व्यवहारवाद केवल तथ्यों को महत्व देता है, और मूल्यों की उपेक्षा करता है। यह दोष इसलिये उत्पन्न होता है कि केवल वैज्ञानिक पद्धति ही अध्ययन की सही पद्धति है। मात्र वैज्ञानिक पद्धति ही सही नहीं है, अन्य पद्धतियों एवं तकनीकों का भी सहारा लिया जाना चाहिये।

4.8. व्यवहारवादी उपलब्धियों की उपयोगिता एवं उसका महत्व

व्यवहारवाद का एक पक्ष ऐसा भी है राजनीति विज्ञान को जिसकी उपयोगिता को स्वीकार किया जा सकता है इसने राजनीति विज्ञान की अध्ययन प्रक्रिया को प्रभावित किया है। नयी भाषा, नयी शैली व तकनीक प्रदान की है। अनुसंधान को बढ़ावा देकर गतिशीलता प्रदान की है। डॉ. एस.पी. वर्मा के अनुसार व्यवहारवादियों ने राजनीति विज्ञान में अध्ययन के नये क्षेत्रों को खोला है, तथा नयी तकनीकों का आविष्कार किया है। व्यवहारवाद की उपलब्धियों को उपयोगिता तथा महत्व को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है-

4.8.1 नये राजनीति विज्ञान की स्थापना- व्यवहारवाद ने परम्परागत राजनीति विज्ञान का कायाकल्प कर दिया है। परम्परागत राजनीति विज्ञान मूल्य प्रधान आदर्शवादी, व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन पर जोर देता था, वहां व्यवहारवाद इसे मूल्य निरपेक्ष, यथार्थवादी व वस्तुनिष्ठ बनाने पर जोर देता है।

4.8.2 राजनीति विज्ञान का वैज्ञानिकीकरण करने का प्रयास- राजनीति विज्ञान ने अध्ययन प्रणाली के लिये सर्वेक्षण प्रणाली, प्रश्नावली प्रणाली, साक्षात्कार प्रणाली, सांख्यिकी प्रणाली को अपनाया है। इससे इसका स्वरूप त्रैमासिक बना है।

4.8.3 अध्ययन वस्तु में परिवर्तन- व्यवहारवाद से पहले राजनीति विज्ञान में अध्ययन का मुख्य केन्द्र बिन्दु संस्थाएँ थी, लेकिन इसने संस्थाओं के स्थान पर अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मानव-व्यवहार को बनाया है।

4.8.4 अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण की स्थापना- व्यवहारवादियों का मत है कि एक विषय को दूसरे विषय की अध्ययन पद्धतियों एवं उपलब्धियों को अपनाया जाना चाहिये। उनकी इसी मान्यता को अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण कहा जाता है। रॉबर्ट ए. डहल इस दृष्टि से व्यवहारवाद को महत्वपूर्ण मानता है।

4.8.5 वैकल्पिक धारणाएँ प्रस्तुत की हैं- विभिन्न व्यवहारवादी विद्वानों ने राजनीतिक अध्ययन एवं विश्लेषण के लिये निम्नलिखित अवधारणाएँ विकसित की हैं, जैसे शक्ति समूह, व्यवस्था, इच्छा शक्ति, मतदान व्यवहार, खेल सिद्धान्त की अवधारणाएँ। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान को वैज्ञानिक तथा आधुनिक स्वरूप प्रदान किया है।

4.9 सारांश

इसका सही मूल्यांकन करने के लिए इसके गुण व अवगुणों दोनों पर ध्यान देना आवश्यक है। परम्परावादियों ने व्यवहारवादी उपागम की कटु आलोचना करते हुए इसकी कमियों को उजागर किया। व्यवहारवादियों ने मूल्य निरपेक्ष अध्ययन पर जोर दिया, लेकिन परम्परावादियों ने इसे मूल्यहीन व मूल्य विरोधी करार दिया। अर्नाल्ड ब्रेस्ट ने तो इसे बीसवीं सदी की दुःखान्त घटना कहा। यह राजनीति विज्ञान का विकास करने में भी असफल रहा। लेकिन यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि व्यवहारवाद एक निकृष्ट व उपेक्षणीय उपागम है। इसके अनेक ऐसे पक्ष भी हैं जिससे इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया जा सकता है।

इसने यथार्थवादी अध्ययन के रूप में राजनीतिक अध्ययन के महत्व को प्रकट किया है। राजनीति विज्ञान को एक आनुभविक विज्ञान बनाने का प्रयास किया है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिये अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण को विकसित किया है। व्यवहारवादियों ने राजनीति विज्ञान को मात्र तथ्यात्मक बनाने का प्रयास किया तथा मूल्य निरपेक्ष अध्ययन पर बल दिया, लेकिन जैसे ही उन्होंने यह अनुभव किया कि ऐसा करना सम्भव नहीं है, उन्होंने अपने विचारों को संशोधित करने का प्रयास किया। तथा उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन में मूल्यों को भी महत्व दिया जाना चाहिये। व्यवहारवाद के अभाव में आधुनिक राजनीति विज्ञान का विकास ही सम्भव नहीं था। अतः आज वह उत्तर व्यवहारवाद के रूप में जीवित है।

4.10 अभ्यास प्रश्नावली

1. व्यवहारवाद से आप क्या समझते हैं? इसका आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
2. व्यवहारवादी उपागम राजनीति विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक बनाने में कहां तक सहायक सिद्ध हुई है? तर्क सहित उत्तर दीजिये।
3. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये-

1. व्यवहारवाद के उद्देश्य और उसके विकास की पृष्ठभूमि।
2. व्यवहारवादी क्रान्ति के लक्ष्य और उद्देश्य।
3. राजनीति विज्ञान के अध्ययन पर व्यवहारवाद का प्रभाव।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ऐतिहासिक दृष्टि से व्यवहारवाद का प्रारम्भिक विचारक है—
 1. ग्राहम वॉल्स 2. ए.एफ. बेन्टले 3. चार्ल्स मेरियम 4. उपरोक्त सभी ()
2. चार्ल्स मेरियम की पुस्तक का नाम है—
 1. ह्यूमनेचर इन पॉलिटिक्स 2. न्यू आस्पेक्ट्स ऑफ पालिटिक्स
 3. एडमिनिस्ट्रिव विह्येवियर आफ पालिटिक्स 4. दास कैपिटल ()
3. व्यवहारवादी विद्वान है—
 1. माटेस्व्यू 2. हरबर्ट साइमन 3. ट्राटस्की 4. उपरोक्त सभी। ()
4. व्यवहारवाद का लक्षण नहीं है—
 1. राजनीति विज्ञान को यथार्थवादी बनाना 2. मानव के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन
 3. वैज्ञानिक उपागमों एवं तकनीक का प्रयोग 4. ऐतिहासिक व विधिक दृष्टिकोण से संस्थाओं का अध्ययन ()
5. व्यवहारवादी विद्वान नहीं है—
 1. हेराल्ड लासवेल 2. डेविड ईस्टन 3. जी.डी.एच.कोल 4. राबर्ट ए. डहल ()
6. "व्यवहारवादी क्रान्ति राजनीतिविज्ञान की असफलताओं के प्रति असन्तोष का परिणाम है। इस क्रान्ति का उद्देश्य राजनीति विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक बनाना है" यह कथन किस विद्वान का है?
 1. राबर्ट ए. डहल 2. हेराल्ड जे. लास्की 3. सन्त ऑगस्टाइन 4. हॉज यूलाऊ ()
7. कौन सा कथन सही है—
 1. व्यवहारवाद ने परम्परागत राजनीति विज्ञान का आधुनिकीकरण किया है। 2. व्यवहारवाद का पतन हो गया है।
 3. व्यवहारवाद का स्थान उत्तर व्यवहारवाद ने ले लिया है। 4. उपरोक्त सभी। ()
8. व्यवहारवाद में किस प्रणाली या तकनीक का प्रयोग नहीं किया जाता है—
 1. सांख्यिकी व गणीतीय प्रणाली। 2. द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी प्रणाली। 3. साक्षात्कार व प्रश्नावली प्रणाली। ()
9. व्यवहारवाद के बारे में कौनसा कथन सही नहीं है—
 1. इसने परम्परागत राजनीति विज्ञान का कायाकल्प किया है।
 2. इसने राजनीति विज्ञान में अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण की स्थापना एवं विकास किया है।
 3. इसने राजनीति विज्ञान में नयी वैकल्पिक धारणाओं को शामिल किया है।
 4. यह परम्परागत राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र का विकास करने में असफल रहा है। ()
10. कौनसी पद्धति मूल्य मुक्तता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानती है—
 1. दार्शनिक पद्धति। 2. विधिशास्त्रीय पद्धति। 3. ऐतिहासिक पद्धति। 4. व्यवहारवादी पद्धति ()

सीमित शब्द सीमा वाले प्रश्न—

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सीमित शब्द सीमा में दीजिए—

1. व्यवहारवादी क्रान्ति 'राजनीति विज्ञान में किस घटना की ओर संकेत करती है।
2. व्यवहारवाद के उदय के दो मूल कारण बताइये।
3. व्यवहारवाद के उदय और विकास में चार्ल्स मेरियम के योगदान का उल्लेख कीजिए।
4. व्यवहारवाद के दो प्रमुख लक्ष्य और उद्देश्य बताइये।
5. व्यवहारवाद की आलोचना के तीन प्रमुख तर्क दीजिए।
6. किन्हीं पांच व्यवहारवादी राजनीति वैज्ञानिकों के नाम लिखिये।
7. आधुनिक राजनीति विज्ञान पर व्यवहारवाद को बताने वाले दो तर्क दीजिये।
8. वर्तमान में व्यवहारवाद की प्रासंगिकता क्या है?

4.11 सन्दर्भ ग्रंथ—सूची

अनुप कपूर "राजनीति विज्ञान के मूल आधार", एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली
 नन्दिनी उप्रेती "राजनीति विज्ञान के मूल आधार", राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

इकाई-5 : उत्तर व्यवहारवाद

संरचना

- 5.1 उद्देश्य
- 5.2 प्रस्तावना
- 5.3 उत्तर व्यवहार के उदय के कारण
 - 5.3.1 व्यवहारवाद की असफलता
 - 5.3.2 मानव व्यवहार में निश्चित नियमों का न होना
 - 5.3.3 व्यवहारवाद में मूल्यों की उपेक्षा
 - 5.3.4 व्यवहारवाद की अप्रासंगिकताएँ
 - 5.3.5 उत्तर-व्यवहारवाद की मांग
- 5.4 उत्तर व्यवहारवादी आन्दोलन की आधारभूत मान्यताएँ
 - 5.4.1 परिभाषा एवं अर्थ
 - 5.4.2 परम्परावाद की पुनरावृत्ति
 - 5.4.3 व्यवहारवाद में सुधार का आन्दोलन
 - 5.4.4 उत्तर-व्यवहारवादी समन्वयवादी
 - 5.4.5 विकास की निरन्तरता को प्रकट करता है
 - 5.4.6 उपयोगिता पर आधारित वैज्ञानिक का पक्षधर
 - 5.4.7 प्रवृत्ति की रचनात्मक होना
- 5.5 उत्तर व्यवहारवाद के सिद्धान्त, विशेषताएँ अथवा लक्षण
 - 5.5.1 सार का महत्त्व
 - 5.5.2 सामाजिक परिवर्तन पर बल
 - 5.5.3 समस्याओं के समाधान की आवश्यकता
 - 5.5.4 मूल्य राजनीतिक अध्ययन का अभिन्न अंग
 - 5.5.5 मानव मूल्यों की रक्षा में बुद्धिजीवियों का अहम् भूमिका
 - 5.5.6 राजनीति विज्ञान कार्य विज्ञान व मानव विज्ञान दोनों
 - 5.5.7 व्यवसाय का राजनीतिकरण अनिवार्य एवं वांछनीय
- 5.6 उत्तर व्यवहारवाद की आलोचना
 - 5.6.1 अन्तर्विरोध से ग्रसित
 - 5.6.2 अवैज्ञानिक दृष्टिकोण
 - 5.6.3 अमरीकी राष्ट्रीय हितों की प्रतिनिधि विचारधारा
 - 5.6.4 केवल उदारवादी मूल्यों का प्रतिनिधित्व
 - 5.6.5 तृतीय विश्व के लिए सीमित महत्त्व
 - 5.6.6 परम्परागत दृष्टिकोण तथा उत्तरव्यवहारवाद में अन्तर
- 5.7 परम्परागत दृष्टिकोण तथा उत्तर व्यवहारवाद में अन्तर
 - 5.7.1 विकास का अन्तर
 - 5.7.2 व्यवहारवाद के प्रति विरोध की प्रवृत्ति में अन्तर
 - 5.7.3 अध्ययन के दृष्टिकोण में अन्तर

- 5.7.4 विचारधारा की दृष्टि से अन्तर
- 5.7.5 सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से अन्तर
- 5.7.6 प्रासंगिकता की दृष्टि से अन्तर
- 5.8 व्यवहारवाद व उत्तर व्यवहारवाद में अन्तर
 - 5.8.1 प्रकृति में अन्तर
 - 5.8.2 मूल्यों की दृष्टि से अन्तर
 - 5.8.3 प्रकृति में अन्तर
 - 5.8.4 अप्रासंगिकता एवं प्रासंगिकता में अन्तर
- 5.9 सारांश
- 5.10 अभ्यास प्रश्नावली
- 5.11 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

उत्तर व्यवहारवाद का अध्ययन करने के लिए विद्यार्थी को निम्न बिन्दुओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

5.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य-

- उत्तर-व्यवहारवाद को विस्तृत रूप से जानना,
 - उत्तर-व्यवहारवाद के उदय के कारण,
 - इसका राजनीति विज्ञान पर पड़ने वाले प्रभाव,
- इत्यादि को जानना है।

5.2 प्रस्तावना

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद परम्परागत, अध्ययन दृष्टिकोण के विरोध में व्यवहारवाद को एक क्रान्तिकारी आन्दोलन तथा तथ्यात्मक शैक्षणिक आन्दोलन के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई और इससे एक 'नये राजनीति विज्ञान' (Science of Politics) की स्थापना के एक गम्भीर प्रयत्न के रूप में सराहना की गई। डेविड ईस्टन के अनुसार उत्तर व्यवहारवाद, व्यवहारवाद के प्रति एक प्रतिक्रिया थी। व्यवहारवाद को परम्परा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया रूप में देखा गया था, लेकिन उत्तर व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान को आगे बढ़ाना चाहता है। व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान को विज्ञान बनाने में असफल रहा। युग की ज्वलन्त समस्याओं के संदर्भ में सामाजिक एवं निश्चित दृष्टिकोण प्रदान करने में असफल रहा। सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों ही स्तरों पर व्यवहारवाद के प्रति असन्तोष का जन्म हुआ। अतः व्यवहारवादियों ने उत्तर व्यवहारवाद की परिकल्पना की। कुछ विद्वान इसको प्रतिक्रिया मानते हैं। किन्तु यह कथन वास्तव में सही नहीं है। इसकी स्थापना सार्थक सुधार के रूप में मानी गई।

उत्तर व्यवहारवाद ने परम्परागत (मूल्य प्रधान) दृष्टिकोण एवं आधुनिक व्यवहारवादी (तथ्य प्रधान) दृष्टिकोण के बीच उचित तालमेल एवं समन्वय स्थापित किया। कुछ विद्वान इसे द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (Dialectic Process) के रूप में विश्लेषित किया है। राजनीति विज्ञान का परम्परागत दृष्टिकोण वाद (Thesis) और व्यवहारवादी दृष्टिकोण एक प्रतिवाद (Anti Thesis) है। इन दोनों के संघर्ष एवं अन्तर्विरोध से एक संवाद (Synthesis) के रूप में की गयी। इसमें प्रथम का लक्षण मूल्य, द्वितीय का वैज्ञानिक पद्धति एवं तथ्य दोनों ही मौजूद हैं। उत्तर व्यवहारवाद इन दोनों से भिन्न है। एक विचारक के अनुसार व्यवहारवादियों ने व परम्परावादियों ने दोनों ने ही एक-दूसरे के दृष्टिकोण में मौजूद श्रेष्ठताओं को स्वीकार कर लिया है। उन्होंने परम्परावादियों की तरह मूल्यों को स्थान दिया है। लेकिन इसे परम्परा वाद की पुनरावृत्ति नहीं कहा जा सकता। इसने मूल्यात्मक दृष्टिकोण व वैज्ञानिक अध्ययन तकनीकों को अपनाया। उत्तर व्यवहारवाद को अधिक जागरूक, प्रासंगिक एवं कार्य-मुखी (Action Oriented) कहा जा सकता है।

5.3 उत्तर व्यवहारवाद के उदय के कारण

उत्तर व्यवहारवाद के उद्भव का कारण व्यवहारवादियों में निहित कमियों को माना जा सकता है। व्यवहारवाद सैद्धान्तिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में तथा युग की गम्भीर समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने में भी असफल रहा। व्यवहारवादियों ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया। डेविड ईस्टन ने 1969 ई. में कहा कि व्यवहारवाद के नाम पर एक निम्न स्तरीय तथा अप्रासंगिक अनुसंधान में समय नष्ट कर दिया गया है।

उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति के उद्भव के निम्नलिखित कारण बताये जा सकते हैं-

5.3.1 व्यवहारवाद की असफलता- व्यवहारवादियों ने राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान बनाने का असफल प्रयत्न ऐसा करना यह संभव नहीं था। अतः उत्तर व्यवहारवाद का विकास हुआ।

5.3.2 मानव व्यवहार में निश्चित नियमों का न होना— व्यवहारवादी मानव व्यवहार के निश्चित नियम स्थापित करने में असमर्थ रहे। व्यवहारवाद मानव का वस्तुनिष्ठ व वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं था इससे न तो निश्चित नियमों का निर्माण सम्भव था, न भविष्यवाणी ही की जा सकी थी। इस परिस्थिति ने उत्तर व्यवहारवाद को जन्म दिया।

5.3.3 व्यवहार में मूल्यों की उपेक्षा— व्यवहारवाद ने मूल्यों की पूर्ण रूपेण उपेक्षा की। इसमें मात्र तथ्यों के अध्ययन पर बल दिया। इसलिये व्यवहारवाद को मूल्य निरपेक्ष अध्ययन के लिए बीसवीं सदी की दुःखान्त घटना कहा जाने लगा। सन्तुलित अध्ययन के लिये तथ्य तथा मूल्य दोनों ही का महत्व है। इसकी पूर्ति करने के लिए उत्तर व्यवहारवाद के विकास की आवश्यकता अनुभव की गई।

5.3.4 व्यवहारवाद की अप्रासंगिकताएं तथा निष्क्रियता— व्यवहारवादियों ने अपने आप को वैज्ञानिक अध्ययन के नाम पर अत्यधिक व्यस्त कर लिया, तथा अपने युग की समस्त राजनीति व सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा की। उसने युग की प्रमुख समस्याओं की उपेक्षा की। इन प्रमुख समस्याओं में शीतयुद्ध, साम्यवाद के प्रसार का भय, आणविक युद्ध का खतरा, नवोदित अफ्रीकी एशियायी राष्ट्रों में बढ़ती हुई तानाशाही प्रवृत्ति, अमरीकी समाज में रंगभेद की समस्या, नागरिक अधिकार आन्दोलन, अमेरिकी समाज में वियतनाम युद्ध के विरुद्ध भड़की भावनाएँ, विश्व की बढ़ती जनसंख्या एवं गरीबी का विस्फोट इत्यादि। व्यवहारवादियों ने इन सभी समस्याओं के प्रति तटस्थता प्रदर्शित की। इन समस्याओं का समाधान व्यवहारवाद के माध्यम से संभव नहीं था।

5.3.5 उत्तर व्यवहारवाद समय की मांग— परम्परागत तथा व्यवहारवाद ने एक ऐसी पद्धति के जन्म पर बल दिया जिसमें दोनों का सामंजस्य हो, जो इन दोनों प्रणालियों के दोषों से मुक्त हो। तथा उसमें दोनों के गुण विद्यमान हो। अतः उत्तर व्यवहारवाद को इसके जन्म का भावनात्मक कारण माना जा सकता है। उत्तर व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान को विज्ञान का भी दर्जा प्रदान किया। ऐसा करके इसने बौद्धिक जगत का नेतृत्व करने की चेष्टा की।

5.4 उत्तर व्यवहारवाद की आधारभूत मान्यताएँ

उत्तर व्यवहारवाद की आधारभूत अवधारणाओं को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

5.4.1 परिभाषा एवं अर्थ—इस शब्द से यह ध्वनित होता है कि यह व्यवहारवाद के बाद के राजनीति विज्ञान के अध्ययन में आये परिवर्तन एवं विकास की अवस्था को बताता है। डेविड ईस्टन के अनुसार उत्तर व्यवहारवाद भविष्योन्मुखी है। यह अतीत की उपलब्धियों को स्वीकारते हुए इसमें कुछ नया जोड़ना चाहता है। अतः हम कह सकते हैं कि—

5.4.2 परम्परावाद की पुनरावृत्ति—उत्तर व्यवहारवादियों ने मानव-मूल्यों को महत्व दिया। इसने वैज्ञानिक तकनीक को भी अपनाया। उत्तर व्यवहारवादी परम्परावादियों की तुलना में उदारवादी लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध हैं। सामाजिक पुनर्निर्माण के प्रति अधिक कृत संकल्प से तो अतीत से प्रेरणा लेते हैं। न यह यथार्थवादी हैं, अपितु भविष्योन्मुखी हैं। अतः यह भूल नहीं की जानी चाहिये कि यह परम्परावाद की पुनरावृत्ति है।

5.4.3 व्यवहारवाद में सुधार का आन्दोलन है—उत्तर व्यवहारवादियों ने व्यवहारवाद की तीखी आलोचना की है। यह निषेधात्मक न होकर रचनात्मक आलोचना है। उनकी आलोचना का सार यह है कि उन्होंने तथ्यों के आधार पर शोध में सारी शक्ति लगा दी, तथा यह आग्रह किया गया है कि इसमें इस प्रकार सुधार किया जाना चाहिये कि अपने युग को सक्रिय योगदान कर सके। अपने युग के सदर्भ में अधिक प्रासंगिक एवं कार्यान्मुख होना चाहिये।

5.4.4 उत्तर व्यवहारवादी समन्वयवादी हैं—परम्परागत दृष्टिकोण एवं व्यवहारवाद का दृष्टिकोण परस्पर विरोधी प्रवृत्ति लिये हुए हैं परम्परागत दृष्टिकोण मूल्यों पर बल देता है जबकि व्यवहारवाद तथ्यों पर जोर देता है। उत्तर व्यवहारवाद में समन्वय स्थापित करते हुये तथ्यों एवं मूल्यों दोनों पर जोर दिया गया है। यह क्रिया-प्रतिक्रिया से विकसित एक संश्लेषण की अवस्था को प्रकट करता है।

5.4.5 विकास की निरन्तरता को प्रकट करता है—राजनीति विज्ञान के विकास की अवस्था को परम्परागत राजनीति विज्ञान के नाम से जाना जाता है। उत्तर व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान के विकास की नवीनतम अवस्था है।

5.4.6 उपयोगिता पर आधारित वैज्ञानिकता का पक्षधर—उत्तर व्यवहारवादी मानते हैं कि शोध का उद्देश्य हमारे युग की समस्याओं का अध्ययन होना चाहिये। डेविड ईस्टन ने प्रासंगिकता का सिद्धान्त कहा है। अतः शोध हमारे समाज की समस्याओं के अध्ययन में सहयोगी होनी चाहिये। अतः समस्त शोधों में इस प्रकार की प्रतिबद्धता और क्रियाशीलता का लक्षण अनिवार्य रूप (Science of commitment and action) से माना गया है।

5.4.7 प्रवृत्ति रचनात्मक होना—व्यवहारवादियों ने परम्परावादियों की आधारभूत मान्यताओं का विरोध किया, है। लेकिन वह किसी ऐसे सिद्धान्त के निर्माण करने में असफल रहा जो कि पुनर्निर्माण में सहायक हों। इस प्रकार यह एक नकारात्मक आन्दोलन सिद्ध हुआ। उत्तर व्यवहारवादियों ने 'ज्ञान के लिये ज्ञान' के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया, अपितु उन्होंने 'जीवन के लिए ज्ञान' के सिद्धान्त को अपनाया है। उत्तर व्यवहारवादियों का दृढ़ मत है कि राजनीति विज्ञान का उद्देश्य मानव मूल्यों की रक्षा करना है। समाज की समस्याओं का हल ढूँढ़ने के साथ समाज के पुनर्गठन में सहायता करना है, ताकि संपूर्ण समाज की रक्षा की जा सके। अतः यह एक रचनात्मक आन्दोलन है। इस तरह से उत्तर व्यवहारवाद की अवधारणा, व्यवहारवाद से भिन्नता लिये हुए है।

5.5 उत्तर व्यवहारवाद के सिद्धान्त, विशेषतायें अथवा लक्षण

डेविड ईस्टन द्वारा प्रस्तुत आठ आधारभूत मान्यतायें व्यवहारवाद की आधारशिला कही जा सकती हैं। किन्तु बाद में उसने व्यवहारवाद की निष्क्रियता व अनुपयोगिता का अनुभव किया तथा अन्य विद्वानों के साथ मिलकर उत्तर व्यवहारवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। अतः उसने उत्तर व्यवहारवाद की सात आधारभूत मान्यताओं को प्रस्तुत किया, तथा इन्हें 'प्रासंगिकता का धर्म' कहा। उसने इसको वृहत् धारणा का सारांश कहा। उन सात मान्यताओं का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित प्रकार से है—

5.5.1 सार का महत्व— तकनीक के पहले सार का महत्व है—व्यवहारवादियों ने तकनीक के प्रयोग के प्रयत्न में शोध के उद्देश्य की उपेक्षा की। तकनीक से पहले सार का स्थान आता है। पहले अध्ययन का उद्देश्य स्पष्ट किया जाना चाहिये। उत्तर व्यवहारवादियों का मत है कि, शोध का उद्देश्य समाज का हित होना चाहिये। व्यवहारवादियों का नारा है कि 'अस्पष्ट होने से गलत होना अच्छा है।' उत्तर व्यवहारवादियों का मत है कि 'अप्रासंगिक रूप से निश्चित होने के स्थान पर अस्पष्ट होना अच्छा है।'

5.5.2 सामाजिक परिवर्तन पर बल— उत्तर व्यवहारवाद सामाजिक परिवर्तन पर बल देता है, व्यवहारवादी सामाजिक परिवर्तन के विरोधी और रुढ़िवादी हैं। उत्तर व्यवहारवादी अनुदारवादी मूल्यों का विरोध करना चाहते हैं। तथा उदारवादी मूल्यों के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की गति को तेज करना चाहते हैं।

5.5.3 समकालीन समाधान की आवश्यकता— समकालीन समस्याओं के विश्वसनीय समाधान की आवश्यकता है। उत्तर व्यवहारवादियों का मत है कि मात्र इस का वैज्ञानिकीकरण कर दिया जाना उचित नहीं है, अपितु इसकी सार्थकता, इस तथ्य में निहित है कि समकालीन विश्व की राजनीतिक समस्याओं और उसके संकट के हल में मदद करें। अतः हम कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान को राजनीतिक व सामाजिक संकट का हल ढूँढ़ना चाहिये। लेकिन व्यवहारवादियों ने राजनीतिक जीवन की कठोर वास्तविकताओं की पूर्ण रूपेण उपेक्षा की। उत्तर व्यवहारवादियों का मत है कि हमारा युग विश्वव्यापी समस्याओं से ग्रस्त है, जैसे आणविक युद्ध, शस्त्रों की होड़, बढ़ती जनसंख्या, गरीबी, बढ़ता प्रदूषण, अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद, सामाजिक विघटन इत्यादि। अतः राजनीति विज्ञान का दायित्व है कि वह इन समस्याओं व संकटों से मानव समाज की रक्षा करे।

5.5.4 मूल्य, राजनीतिक अध्ययन का अभिन्न अंग है— इनके मतानुसार मानव समाज के लिये उस ज्ञान का ही महत्व है जो मूल्यों पर आधारित हो। डेविड ईस्टन का मत है कि 'मूल्यों की दृष्टिसे विज्ञान न कभी तटस्थ रहा है, न कभी हो सकता है।' यदि ज्ञानार्जन में मूल्यों की उपेक्षा की जाती है तो अर्जित ज्ञान का उपयोग मानव समाज के अहित में किया जा सकता है। उन्होंने मूल्य निरपेक्ष धारणा को मानवता विरोधी मानकर विरोध किया। अतः सामाजिक विज्ञान का उद्देश्य मूल्य सापेक्ष ज्ञानार्जन होना चाहिये।

5.5.5 मानव मूल्यों की रक्षा में बुद्धिजीवियों की अहम भूमिका है— समाज में बुद्धिजीवियों की एक विशिष्ट भूमिका होती है। वे उदारवादी मानव मूल्यों की रक्षा करें, ताकि वह मानव सभ्यता की रक्षा कर सकें। वे समाज की नजर में ऐसे अनुपयोगी बौद्धिक प्राणी बन जावेंगे, जो वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक अध्ययन की आड़ में मानव समाज के वर्तमान तथा भविष्य के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। मूल्य रहित शोध की अवधारणा खतरनाक है, जैसे ही मूल्यों के प्रति तटस्थ व उदासीन बुद्धिजीवी भी समाज के लिये अभिशपित हैं। अतः उनसे आशा की जाती है कि वे मानवीय मूल्यों की रक्षा में अहम भूमिका निभायें, तथा यह भी उनका दायित्व है कि समाज में उचित मानवीय आकांक्षाओं की पूर्ति करें।

5.5.6 राजनीति विज्ञान कार्य विज्ञान व मानव विज्ञान दोनों है— व्यवहारवादियों ने इसे केवल एक मानव विज्ञान, (चिन्तन विज्ञान) बना दिया। तथा इसके क्रियात्मक पक्ष की घोर उपेक्षा की। उत्तर व्यवहारवादियों का मत है कि राजनीति विज्ञान अपनी प्रकृति से ही मनन विज्ञान व कार्य विज्ञान दोनों हैं। अतः इन दोनों पक्षों में उचित समन्वय की आवश्यकता है। व्यवहारवादियों ने यह बड़ी भूल की कि उन्होंने शोधकार्य द्वारा ऐसे निरर्थक, सारहीन ज्ञान का अर्जन किया, जिसका सामाजिक पुनर्निर्माण की दृष्टि से कोई महत्व नहीं था। जबकि ज्ञान की पूर्णता एवं सार्थकता इस तथ्य में निहित होती है कि उसे व्यवहार में किस सीमा तक लागू किया जा सकता है। ईस्टन के अनुसार जानने का अर्थ है, उसे कार्य रूप में लागू करना, कार्य करने का अर्थ है कि समाज के पुनर्निर्माण एवं पुनर्गठन में व्यस्त होना। सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से उसके मननपक्ष की तुलना में कार्य पक्ष का अधिक महत्व है। अतः शोध का उद्देश्य क्रियाशीलता के प्रति प्रतिबद्धता होनी चाहिये।

5.5.7 व्यवसाय का राजनीतीकरण अनिवार्य एवं वांछनीय है— व्यवहारवादियों की सबसे बड़ी भूल यह थी कि उन्होंने समस्त राज-वैज्ञानिकों एवं बुद्धिजीवियों से संबंधित संस्थाओं को सामाजिक दायित्व के प्रति तटस्थ, उदासीन एवं निष्क्रिय बना दिया था। जबकि उत्तर व्यवहारवादियों का मत है कि उनका दायित्व है कि सामाजिक पुनर्निर्माण में योगदान दें तथा सामाजिक दायित्व को स्वीकार करें। इस प्रकार वह व्यवसायों के राजनीतीकरण (Politicisation of The Profession) की अनिवार्यता पर जोर दिया, जिसका सीधा अर्थ है कि उन्हें राजवैज्ञानिकों एवं बुद्धिजीवियों को संघों, शिक्षा संस्थाओं, विश्वविद्यालयों के सामाजिक दायित्वों की प्रतिबद्धता को स्वीकार करना चाहिये। उन्हें तटस्थता को ढींग नहीं करना चाहिये। उनका मत है कि संघों और संस्थाओं को उदारमानव मूल्यों की रक्षा के लिये, विश्वव्यापी राजनीतिक सामाजिक संघर्ष में खुलकर भाग लेना चाहिये। डेविड ईस्टन ने कहा है कि व्यक्ति का यह नैतिक दायित्व है कि ज्ञान को प्रयोग में लायें, उसे विभिन्न समुदायों व विश्वविद्यालयों को वर्तमान संघर्ष में शामिल होना चाहिये। व्यवसायीकरण व राजनीतिकरण से न तो बचा जा सकता है और न ही ऐसा करना वांछनीय ही है। ईस्टन के अनुसार शोध को प्रासंगिक और कार्यान्मुख होना चाहिये। सभी उत्तर व्यवहारवादी इस बात पर सहमत हैं कि अध्ययन के लिये वैज्ञानिक तकनीकों को अपनाया जाना चाहिये, तथा उसे कार्यान्मुख (Action oriented) होना चाहिये? सार रूप में कह सकते हैं कि अध्ययन हेतु वैज्ञानिक तकनीक अपनायी जानी चाहिये। शोध को तथ्यों पर आधारित होना चाहिये। शोध को प्रासंगिक व कार्यान्मुख होना चाहिये।

5.6 उत्तर व्यवहारवाद की आलोचना

व्यवहारवाद व उत्तर व्यवहारवाद दोनों अमरीकी राजनीति-वैज्ञानिकों की खोज हैं। लेकिन उत्तर व्यवहारवाद में भी कुछ दोष हैं, तथा उसकी आलोचना निम्नलिखित आधार पर की जाती है—

5.6.1 अन्तर्विरोध से ग्रसित है— उत्तर व्यवहारवादी अपने अध्ययन को एक साथ ही मूल्य प्रधान व तथ्यों पर आधारित बनाना चाहते हैं, एक साथ ही मूल्य प्रधान, आदर्शवादी व व्यक्तिनिष्ठ के अलावा मूल्य निरपेक्ष, यथार्थवादी व वस्तुनिष्ठ भी बनाना चाहते हैं, यह असम्भव है तथा इसने अन्तर्विरोध को जन्म दिया है।

5.6.2 अवैज्ञानिक दृष्टिकोण— वह तकनीक से पहले शोध का उद्देश्य निश्चित करते हैं। अतः पूर्वाग्रह से पीड़ित व अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

5.6.3 यह अमरीकी राष्ट्रीय हितों की प्रतिनिधि विचारधारा है— यद्यपि इसमें सच्चाई है। व्यावहारिक राजनीतिक दृष्टि में दोनों में आधारभूत अन्तर है। व्यवहारवाद की प्रासंगिकता जहां सत्य-शोध के प्रति थी, वहां उत्तर व्यवहारवाद की प्रतिबद्धता प्रासंगिकता से है। जब सम्पूर्ण अमरीकी समाज साम्यवाद के विरोध में लगा हुआ था, व्यवहारवादी राजनीतिक सिद्धान्तों की खोज में लगे हुये थे। यह अप्रासंगिकता, निष्क्रियता एवं अर्थहीन शोध थी, जो राष्ट्रीय हितों के प्रति प्रतिबद्धता का आह्वान था।

5.6.4 उत्तर व्यवहारवाद मात्र उदारवादी मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है— उत्तर व्यवहारवाद ने मानव मूल्यों की रक्षा पर अत्यधिक जोर दिया गया है। यह वास्तव में उदारवादी राजनीतिक व सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित विचारधारा है। यह समाज और समुदायों के ऊपर व्यक्ति की स्वतंत्रता को अधिक महत्व देते हैं, लेकिन उनके इस विचार से समाजवादी मूल्यों को ही मानव मूल्य मानते हैं और इन्हें ही शाश्वत मूल्य मानते हैं, जबकि इनका केवल सापेक्षिक महत्व है।

5.6.5 तृतीय विश्व के लिये सीमित महत्व है— उत्तर व्यवहारवादियों ने लोकतंत्र के मूल्यों को रूप में पेश किया है। जबकि तृतीय विश्व के देशों, अर्थात् एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमरीकी महाद्वीप में राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक पिछड़ापन, गरिबी, जनसंख्या का विस्फोट जूझती लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के लिये सीमित महत्व है। इन व्यवस्थाओं की पहली आवश्यकता तीव्र आर्थिक विकास के साथ, राजनीतिक स्थिरता प्राप्त करना है। ये व्यवस्थाएँ विकास के प्रसंगों से मूल्यों पर आधारित विकास पर जोर देती हैं। अतः उत्तर व्यवहारवादियों ने इसे मानव मूल्यों तक ही सीमित कर दिया है। अमेरिका द्वारा पोषित मानव अधिकार एवं विश्व पर्यावरण संरक्षण, तृतीय विश्व की लोकतांत्रिक संस्थाओं पर दबाव व हस्तक्षेप का काम कर रही हैं।

5.7 परम्परागत दृष्टिकोण तथा उत्तर व्यवहारवाद में अन्तर

इन दोनों के अन्तर को निम्नलिखित रूप में प्रकट किया जा सकता है—

5.7.1 विकास का अन्तर— परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान के विकास की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बन्धित है। यह शास्त्रीय पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। उत्तर व्यवहारवाद केवल वर्तमान विकास को इंगित करता है।

5.7.2 व्यवहारवाद के प्रति विरोध की प्रवृत्ति में अन्तर है— परम्परागत दृष्टिकोण अध्ययन तकनीकों का विरोध करता है। व्यवहारवाद इनको अपना उचित मानता है। व्यवहारवाद मात्र तथ्यों पर बल देता है, मूल्यों की उपेक्षा करता है। जबकि उत्तर व्यवहारवाद तथ्यों व मूल्यों को दोनों को महत्व देता है। अतः दोनों के विरोध के कारण भिन्न भिन्न हैं।

5.7.3 अध्ययन के दृष्टिकोण में अन्तर— मात्र मूल्यात्मक आधार पर अध्ययन करना परम्परागत दृष्टिकोण है, जबकि उत्तर व्यवहारवाद तथ्यों व मूल्यों दोनों को अपनाना चाहता है।

5.7.4 विचारधारा की दृष्टि से अन्तर है— परम्परागत दृष्टिकोण उदारवाद के साथ समग्रतावादी व आदर्शवादी विचार धाराओं को स्वीकार करता है जबकि उत्तर व्यवहारवादियों की मानव मूल्यों के प्रति अधिक प्रतिबद्धता दिखाई पड़ती है।

5.7.5 सामाजिक परिवर्तन के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर— परम्परागत दृष्टिकोण सामाजिक परिवर्तन के प्रति कम उत्साही है, लेकिन उत्तर व्यवहारवाद सामाजिक परिवर्तन का समर्थक है।

5.7.6 प्रासंगिकता की दृष्टि से अन्तर— परम्परागत दृष्टिकोण की अपेक्षा उत्तर व्यवहारवाद अधिक प्रासंगिक है। परम्परागत दृष्टिकोण हमारे युग की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, और न इनके जटिल समाधान की सामर्थ्य ही रखता है। उत्तर व्यवहारवाद इन समस्याओं के प्रति प्रतिबद्धता जाहिर करता है। अतः वह शोध की प्रासंगिकता व कार्यनिष्ठता पर बल देता है। परम्परागत दृष्टिकोण राजनीतिक विज्ञान की यथास्थिति से संतुष्ट है लेकिन उत्तर व्यवहारवाद उसको निरन्तर विकास में विश्वास रखता है। परम्परावाद अपनी प्रकृति से अतीतानुसूची, जबकि उत्तर व्यवहारवाद की प्रकृति भविष्यानुसूची है।

5.8 व्यवहारवाद व उत्तर व्यवहारवाद में अन्तर

व्यवहारवाद तथा उत्तर व्यवहारवाद की तुलना करके ही उनके अन्तर को स्पष्ट किया जा सकता है। दोनों ही आधुनिक राजनीतिक विज्ञान को अमेरिका की देन हैं। कुछ लोग मानते हैं कि उत्तरव्यवहारवाद व्यवहारवाद के प्रति उपजे असन्तोष की तीव्र बौद्धिक प्रतिक्रिया है। वास्तव में अधिकांश उत्तर व्यवहारवादी, पहले व्यवहारवादी थे। दोनों में समानता परिलक्षित होती है, लेकिन दोनों के बीच पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इस अन्तर को निम्नलिखित प्रकार से प्रकट किया जा सकता है—

5.8.1 दोनों धारणाओं की प्रकृति में अन्तर है— व्यवहारवाद परम्परागत राजनीति विज्ञान के विरोध में पैदा हुआ, लेकिन उत्तरव्यवहारवाद किसी निश्चित सिद्धान्त को जन्म देने में असफल रहा। मूल रूप से यह रचनात्मक नहीं है।

5.8.2 मूल्यों की दृष्टि से अन्तर है— व्यवहारवाद ने अध्ययन में केवल तथ्यों को अपनाने पर जोर दिया व मूल्यों की उपेक्षा की। उत्तर व्यवहारवाद ने तथ्यों एवं मूल्यों दोनों को अपनाया।

5.8.3 प्रकृति में अन्तर— व्यवहारवादियों ने इसमें व प्राकृतिक विज्ञान में आधारभूत समानता को स्वीकार किया। लेकिन उत्तर व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान को एक सामाजिक विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं,

5.8.4 अप्रासंगिकता एवं प्रासंगिकता में अन्तर

- 5.8.4.1** व्यवहारवाद अप्रासंगिकता के दोष से पीड़ित है, जबकि उत्तर व्यवहारवाद 'प्रासंगिकता' के सिद्धान्त को मानता है।
- 5.8.4.2** व्यवहारवाद 'सार से पहले तकनीक' को महत्व देता है, उत्तरव्यवहारवाद 'तकनीक से पहिले सार' को महत्व देता है,
- 5.8.4.3** व्यवहारवाद सामाजिक परिवर्तन के प्रति तटस्थता एवं उदासीनता का दृष्टिकोण रखता है, जबकि उत्तर व्यवहारवाद सामाजिक परिवर्तन का सक्रिय समर्थक है।
- 5.8.4.4** व्यवहारवादियों की रूचि राजनीति विज्ञान के वैज्ञानिकीकरण में है, जबकि राजनीति विज्ञान की मुख्य रूचि मानवीय समस्याओं के व्यवहारिक समाधान में है। व्यवहारवादी मूल्य निरपेक्ष ज्ञान की अवधारणा में विश्वास करते हैं, जबकि उत्तर व्यवहारवादी मूल्य सापेक्ष ज्ञान की अवधारणा में विश्वास करते हैं।
- 5.8.4.5** व्यवहारवादियों के अध्ययन में मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता का अभाव है, जबकि उत्तर व्यवहारवादियों का मत है कि बुद्धिजीवियों को मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिये।
- 5.8.4.6** व्यवहारवादियों ने इस शास्त्र को एक मनन विज्ञान का रूप दिया जबकि राजनीति विज्ञान इसे कार्यविज्ञान (Action Science) मानता है।
- 5.8.4.7** उत्तर व्यवहारवादियों ने व्यवसायों के राजनीतिकरण पर बल दिया जबकि व्यवहारवादी इस बारे में उदासीन हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि व्यवहारवाद व उत्तरव्यवहारवाद में परस्पर विरोध की स्थिति समाप्त हो चुकी है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिये परिशुद्ध तकनीकों का प्रयोग किया जाना चाहिये, व्यवहारवाद ने उत्तर व्यवहारवाद के 'प्रासंगिकता के सिद्धान्त' को अपना लिया है। दोनों के बीच समन्वय उपयोगी एवं सार्थक है।

5.9 सारांश

उत्तरव्यवहारवाद का मूल्यांकन उत्तर व्यवहारवाद की आलोचना अनेक आधारों पर की जाती है। वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक तकनीक पर बल दिया, तथा मूल्यों को भी अत्यधिक बल दिया। उत्तर व्यवहारवाद, व्यवहारवाद की तुलना में कम वैज्ञानिक हो गया है, तथ्य तथा मूल्यों की अवधारणा को स्वीकार करने के कारण अन्तर्विरोध व भ्रम की स्थिति पैदा हो गयी है। उत्तर व्यवहारवाद सामाजिक हितों की आड़ में अमेरिका के राष्ट्रीय हितों का समर्थन करता है। तृतीय निष्पक्ष दृष्टि से इसकी सीमित न संदिग्ध उपयोगिता है। उत्तर व्यवहारवाद की इस आलोचना से सहमत नहीं हुआ जा सकता है कि यह परम्परागत दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति है। दोनों में मूलभूत अन्तर है। यद्यपि उत्तर व्यवहारवादियों ने व्यवहारवाद की तीखी आलोचना की है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि यह मूल व्यवहारवाद का सुधरा हुआ रूप है। व्यवहारवादियों की कई मान्यताओं को स्वीकार किया है। जैसे अध्ययन में वैज्ञानिक तकनीक का उपयोग, राजनीति को यथार्थवादी अध्ययन, अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण। प्रासंगिकता के सिद्धान्त को जोड़कर मूल व्यवहारवाद को सुधारने की चेष्टा की है। इसमें सत्य का पर्याप्त अंश है, तो भी इसे पूर्णरूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उत्तर व्यवहारवादियों ने मूल्यों को अधिक महत्व दिया, इसको प्राकृतिक विज्ञान के स्थान पर सामाजिक विज्ञान स्वीकार किया। व्यवसायों के राजनीतिकरण पर बल दिया। दोनों में गुणात्मक (Qualitative) अन्तर है। तथा इसने संश्लेषण की अवस्था को प्रस्तुत किया। उत्तर व्यवहारवाद ने परम्परावाद तथा व्यवहारवाद दोनों के दोषों को त्यागा है, इसमें सामंजस्य व तालमेल की चेष्टा की है। परम्परावाद शास्त्रीय अध्ययन व मूल्यों पर जोर देता है, जबकि व्यवहारवाद वैज्ञानिक तकनीक व मूल्य निरपेक्षता पर जोर देता है। यह राजनीति विज्ञान की सन्तुलित विकास की अवस्था है। तथा इसे हमारे युग की समस्याओं के हल का दायित्व स्वीकार करना चाहिये। अतः राजनीति विज्ञान की उपयोगिता व महत्व को बनाये रखने का प्रशंसनीय कार्य किया है। यूरोप में साम्यवादी व्यवस्थाओं के स्थान पर लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना ने सिद्ध कर दिया है कि उत्तर व्यवहारवादियों ने जिन मूल्यों, प्रासंगिकता, प्रतिबद्धता व कर्म निष्ठता पर बल दिया, उनका विश्वव्यापी प्रभाव है।

5.10 अभ्यास प्रश्नावली

1. "व्यवहारवाद अतीत की वस्तु बन गया है।" इस कथन के प्रसंग में उत्तर व्यवहारवाद की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डालिये।
1. उत्तर व्यवहारवाद की परिभाषा दीजिये और इसके अर्थ तथा मुख्य मान्यताओं को स्पष्ट कीजिये?
2. डेविड ईस्टन का 'प्रासंगिकता का सिद्धान्त' क्या है? किन आधारों पर उत्तर व्यवहारवाद की आलोचना की जाती है?
3. निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिये—
 1. किन कारणों से व्यवहारवादी क्रान्ति उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति में परिवर्तन हो गयी।
 2. 'उत्तर व्यवहारवाद परम्परागत दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति नहीं है।' इस कथन के प्रसंग में दोनों का अन्तर स्पष्ट कीजिये।

- उत्तर व्यवहारवाद व व्यवहारवाद के अन्तर को स्पष्ट कीजिये ?
- परम्परावाद एक वाद है और व्यवहारवाद एक प्रतिवाद है, तथा उत्तर व्यवहारवाद एक संवाद (संश्लेषण) है? स्पष्ट कीजिये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न –

- किस व्यवहारवादी विद्वान ने व्यवहारवादी आन्दोलन की गम्भीर व तीव्र आलोचना की है।
 1. लासवेल 2. डेविड ट्रुमैन 3. डेविड ईस्टन 4. कैटलिन ()
- उत्तर व्यवहारवाद के बारे में कौनसा कथन सत्य है?
 1. यह व्यवहारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। 2. यह मूल व्यवहारवादी आन्दोलन में सार्थक सुधार है।
 3. इसका जन्म राजनीति विज्ञान के परम्परावादी एवं व्यवहारवादी दृष्टिकोण के बीच हुयी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का परिणाम है।
 4. उपरोक्त सभी ()
- वह कौनसा विद्वान है जो 'व्यवहारवाद' व 'उत्तर व्यवहारवाद' दोनों से ही घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।
 1. डेविड ईस्टन। 2. डेविड ट्रुमैन। 3. चार्ल्स मेरियम 4. गार्नेल ()
- उत्तर व्यवहार के लक्षणों की दृष्टि से कौनसा कथन सही है?
 1. तकनीक से पहले सार का महत्व है। 2. व्यवसायों का राजनीतिकरण अनिवार्य एवं वांछनीय है।
 3. राजनीतिविज्ञान कार्य विज्ञान एवं मनन विज्ञान दोनों हैं। 4. उपरोक्त सभी ()
- उत्तर व्यवहारवाद के बारे में कौन सा कथन असत्य है
 1. यह अपनी प्रकृति से समन्वयवादी है। 2. यह अपनी प्रकृति से रचनात्मक नहीं है।
 3. यह राजनीति विज्ञान के विकास की निरन्तरता को प्रकट करता है।
 4. यह 'ज्ञान के लिये ज्ञान' के सिद्धान्त की जगह 'जीवन के लिये ज्ञान' के सिद्धान्त का समर्थक है। ()

सीमित शब्दसीमा वाले प्रश्न–

- व्यवहारवाद के संदर्भ में उत्तर व्यवहारवाद की संकीर्ण अर्थ में क्या व्याख्या की गयी है?
- किस आधार पर उत्तर व्यवहारवाद को अपनी प्रकृति से समन्वयवादी अथवा संश्लेषणवादी कहा गया है?
- 'उत्तरव्यवहारवादी क्रान्ति' राजनीति विज्ञान में किस घटना की और संकेत करती है।
- उत्तर व्यवहारवाद के उदय के दो मूल कारण लिखिये।
- किस आधार पर उत्तर व्यवहारवाद को अपनी प्रकृति से रचनात्मक आन्दोलन कहा गया है?
- परम्परागत दृष्टिकोण तथा उत्तर व्यवहारवाद में समानता के दो तर्क दीजिये?
- परम्परावाद तथा उत्तर व्यवहारवाद में दो प्रमुख अन्तर बताइये?
- व्यवहारवाद व उत्तर व्यवहारवाद में दो प्रमुख अन्तर बताइये?

5.11 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

अनुप कपूर, "राजनीतिशास्त्र के मूल आधार", एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली.
 आर.सी. अग्रवाल "राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त", एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली.
 ओ.पी. गाबा, "राजनीतिशास्त्र के मूल आधार", मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर.

संवर्ग-2 : राज्य के मूल तत्त्व

इकाई-6 : राज्य के मूल तत्त्व

संरचना

- 6.1 उद्देश्य
- 6.2 प्रस्तावना
- 6.3 राज्य शब्द की उत्पत्ति
- 6.4 राज्य की परिभाषाएँ
- 6.5 राज्य के मूल तत्त्व
 - 6.5.1 जनसंख्या
 - 6.5.2 निश्चित भू-भाग
 - 6.5.3 सरकार
 - 6.5.4 सम्प्रभुता
- 6.6 सारांश
- 6.7 अभ्यास प्रश्नावली
- 6.8 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

6.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको सर्वोच्च राजनीतिक इकाई राज्य के संबंध में जानकारी प्रदान करना है। राज्य जो मानव के विकास का पर्यायी बन चुका है। इस अध्याय के अध्ययन से आप जान सकेंगे—

- राज्य का मानव जीवन को महत्त्व,
- राज्य के निर्माण के सम्बन्ध में भारतीय राजनीतिक विचारकों का दृष्टिकोण,
- राज्य निर्माण के आवश्यक तत्त्व,
- सम्प्रभुता जो राज्य की सर्वोच्च शक्ति होती है, उसके संबंध में भी व्यापक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

6.2 प्रस्तावना

राज्य, राजनीति शास्त्र के अध्ययन का महत्वपूर्ण एवं केन्द्रीय विषय है। यदि राजनीति शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाए तो हम पाते हैं कि इसके आधार स्तम्भ 'व्यक्ति' और राज्य है अर्थात् राजनीति शास्त्र के सभी सिद्धान्त व्यक्ति और राज्य के ईद-गिर्द घूमते हैं। गार्नर के अनुसार राजनीति शास्त्र का अन्त व प्रारम्भ राज्य के साथ ही होता है।

संगठित समाज एवं खूददेश्यों की सिद्धि के लिए राज्य को प्रथम सोपान के रूप में स्वीकार किया गया है। इसलिये अनेक राजनीतिक चिन्तकों के द्वारा राज्य के महत्त्व को अपने-अपने स्तर पर आधार मानकर प्रतिपादित किया गया है। अरस्तु के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के साथ-साथ राजनीतिक प्राणी है जिसका समाज के साथ-साथ राज्य में रहना बहुत जरूरी है, क्योंकि मनुष्य की अनेक मूलभूत आवश्यकताएँ राज्य के साथ जुड़ी हुई हैं। भारतीय राजनीतिक चिन्तक मनु राज्य को संगठित समाज की आधारशिला मानते हैं और कहते हैं कि समाज को अराजकता, अशांति, अन्याय व अव्यवस्था से मुक्ति दिलाने के लिए ईश्वर राज्य को उत्पन्न करता है। अरस्तु के अनुसार "राज्य जीवन के लिए बना है तथा सद्जीवन के लिए बना रहेगा।"

राज्य शब्द का उपयोग अनेक अर्थों एवं प्रयोजनों में किया जाता है, जिससे इसके प्रति अनेक भ्रामक धारणाएँ बनी हुई हैं। प्राचीन यूनानी लेखकों ने राज्य के लिए पोलिस शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ 'नगर राज्य' से होता है परन्तु आज नगर राज्यों का युग समाप्त हो गया है और राष्ट्रीय राज्य का दौर शुरू हो गया है जिनकी जनसंख्या करोड़ों में है जिनका विशाल क्षेत्रफल एवं भू-भाग होता है। राजनीति शास्त्र में एक रूढ़ के लिए राज्य शब्द का प्रयोग किया जाता है और उसकी विभिन्न इकाईयों के लिए भी राज्य शब्द प्रयोग में लाया जाता है। जैसे—भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे संघ के लिए राज्य शब्द का प्रयोग करना पूर्णतया उचित एवं तर्क संगत है, लेकिन इनकी इकाईयाँ जैसे—राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश आदि के लिए राज्य शब्द का प्रयोग करना गलत है। क्योंकि राज्य के लिए सम्प्रभुता का होना अत्यन्त आवश्यक

होता है जो केवल संघ के पास में है। इसी के चलते 15 अगस्त 1947 ई. से पूर्व भारत एक राज्य नहीं था, यद्यपि उसके पास, जनसंख्या, निश्चित भू-भाग सरकार थी। लेकिन समग्रभूता की शक्ति नहीं, वह तो ब्रिटिश सम्राट के पास थी।

6.3 राज्य शब्द की उत्पत्ति

राज्य को अंग्रेजी में 'स्टेट' (state) कहते हैं, जो स्टेट लैटिन भाषा के स्टेटस (status) शब्द से बना है, जिसका अर्थ व्यक्ति के स्तर से होता है। लेकिन सिसरो के समय में इसका अर्थ समाज के स्तर से लिखा जाने लगा। आधुनिक राजनीतिविज्ञान में राज्य शब्द सर्वप्रथम प्रयोग मैकियावेली ने किया।

6.4 राज्य की परिभाषाएँ

राज्य के अर्थ और परिभाषा को लेकर राजनीति शास्त्रियों में व्यापक मतभेद पाये जाते हैं, इसीलिए अनेक लेखकों ने अपने-अपने ढंग से राज्य को परिभाषित करने का प्रयास किया है जिनका विवरण इस प्रकार है—

1. अरस्तू ने लिखा है कि "राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक संघ होता है, जिसका उद्देश्य एक पूर्ण तथा आत्मनिर्भर जीवन की स्थापना है जिससे हमारा अभिप्रायः सुखी और सम्माननीय जीवन से है।"
2. प्लेटो के शब्दों में "राज्य व्यक्ति का विराट रूप है।"
3. टी.एच. ग्रीन के अनुसार मानवीय चेतना स्वतन्त्रता पर आधारित होती है स्वतन्त्रता अधिकार में निहित होती है, अधिकार राज्य की मांग करते हैं।"
4. हीगल के मतानुसार "राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण है।"
5. सन्त आगस्टाइन के अनुसार "राज्य स्वतन्त्र मनुष्यों के ऊपर स्वतंत्र मनुष्यों का शासन है, जिसका सरोकार न्यायपूर्ण व्यवहार व शिष्टाचार से है।"
6. जी.डी.एच. कोल का अभिमत है कि "राज्य अपने सदस्यों का सामाजिक इकाई के रूप में संगठित एक सम्पूर्ण समुदाय है।"
7. बर्गेस के अनुसार "राज्य एक संगठित इकाई के रूप में मानव जाति का एक विशिष्ट भाग है।"
8. ब्लुंशली का तर्क है कि "एक निश्चित प्रदेश के राजनीतिक दृष्टि से संगठित लोग राज्य हैं।"
9. बुडरो विल्सन लिखते हैं कि "पृथ्वी के किसी निश्चित भाग में शांतिमय जीवन के लिए संगठित जनता को राज्य कहा जाता है।"
10. लारकी के अनुसार "राज्य एक भूमिगत समाज है जो शासक और शासितों में बंटा हुआ होता है और अपनी सीमाओं के क्षेत्र में आने वाली अन्य संस्थाओं पर सर्वोच्चता का दावा करता है।"
11. गार्नर के अनुसार "राजनीति शास्त्र और सार्वजनिक कानून की धारणा के रूप में, राज्य थोड़े या अधिक संख्या वाले संगठन का नाम है जो स्थाई रूप से पृथ्वी के निश्चित भू-भाग में रहता है। वह बाहरी नियन्त्रण से सम्पूर्ण स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र हो और उसकी एक संगठित सरकार हो जिसकी आज्ञा का पालन अधिकांश जनता स्वभाव से करती है।"

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि राज्य एक ऐसी संस्था है जिसमें जनसंख्या निवास करती है, निश्चित भू-भाग में फैला होता है, व्यवस्था चलाने के लिए सरकार होती है और आन्तरिक व बाहरी रूप से पूर्णतया स्वतन्त्र होती है। जिसके आदेश या कानून को जनता सहर्ष स्वीकार करती है।

6.5 राज्य के मूल तत्व

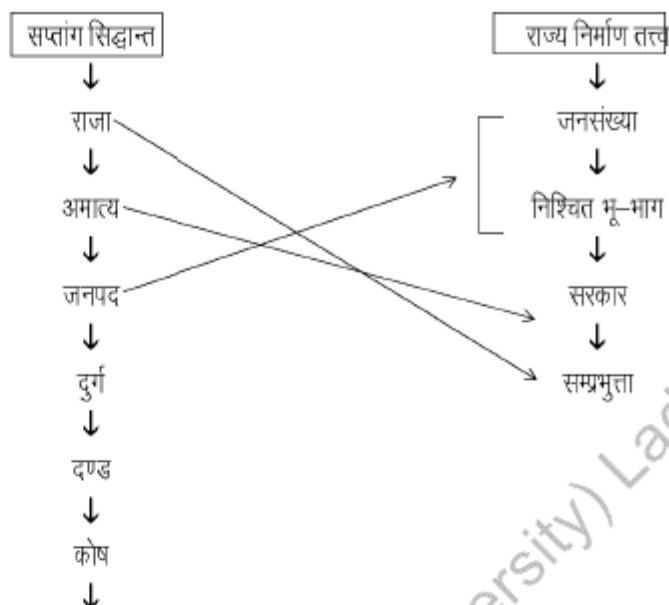
राज्य का निर्माण कौन-कौन से तत्वों से होता है? यह उपर्युक्त परिभाषाओं से काफी हद तक स्पष्ट हो जाता है, लेकिन फिर भी अनेक राजनीतिक चिन्तकों ने अलग-अलग तत्वों का उल्लेख किया है। भारतीय राजनीतिक चिन्तक मनु अपनी रचना 'मनुस्मृति' में तथा कौटिल्य अपनी कृति 'अर्थशास्त्र' में राज्य के सप्तांग सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जिसका सम्बन्ध भी राज्य की उत्पत्ति के तत्वों से है जिसमें राज्य निर्माण के सात तत्वों का उल्लेख करते हैं। (1) राजा, (2) अमात्य, (3) जनपद, (4) दुर्ग, (5) दण्ड, (6) कोष, (7) मित्र। उनका मत है कि इन सभी प्रकृतियों का अपना एक विशिष्ट महत्व होता है और एक के कमजोर होने की स्थिति राज्य के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लग सकता है लेकिन उक्त सभी विचारक राजा को सबसे महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत राज्य निर्माणक तत्व (सप्तांग सिद्धान्त) आधुनिक निर्माण तत्वों से कितना व्यापक है, जिनमें केवल राज्य निर्माण तक ही बल नहीं दिया गया है बल्कि निर्माण के पश्चात् राज्य अपना अस्तित्व कैसे बनाएगा? विकास को कैसे प्राप्त करेगा? अपनी अर्थव्यवस्था तथा पर-राष्ट्र नीति को किस प्रकार प्रभावी बना कर अपने हितों में अभिवृद्धि करेगा।

शुक्रनीतिसार में राजा व राष्ट्र को राज्य की आन्तरिक व बाहरी संरचनाओं के रूप में परिभाषित किया गया है तथा सप्तांग सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए उनकी तुलना मानव शरीर के विभिन्न अंगों से की गई है।

आधुनिक राजनीति विज्ञान में राज्य के चार निर्माण तत्वों को स्वीकार किया है। जिनका विवरण निम्नलिखित है—

6.5.1 जनसंख्या (Population)–



जनसंख्या के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती और न ही कुछ कुटुम्बों के आधार पर राज्य का निर्माण किया जा सकता बल्कि इसके लिए तो असंख्य कुटुम्बों का होना जरूरी होता है क्योंकि जब मनुष्य ही नहीं होगा तो राज्य की आवश्यकता किस उद्देश्य के लिए है? अतः जनसंख्या राज्य आवश्यकता का प्रथम तत्व है। प्लेटो के अनुसार राज्य मनुष्य का विराट रूप है। गार्नर के अनुसार राज्य के अस्तित्व के लिए जनता रूपी भौतिक तत्व की निरपेक्ष आवश्यकता है। ब्लुशली के शब्दों में राज्य के व्यक्तित्व का आधार जनता में निहित होता है।

एक राज्य की कितनी जनसंख्या होनी चाहिए? उसे सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। प्राचीन यूनानी चिंतकों द्वारा इसे निश्चित करने प्रयास किया गया है, जैसे—प्लेटो आदर्श राज्य की जनसंख्या 5040 बताते हैं, जबकि रूसो आदर्श राज्य की जनसंख्या 10,000 मानते हैं। लेकिन अरस्तू का मत है कि एक राज्य में जनसंख्या इतनी अधिक होनी चाहिए कि वे आत्मनिर्भर हो, इतनी कम भी होनी चाहिए कि शासन-टीक से चल सके। यहाँ ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राचीन यूनान में 'नगर राज्य' (Citystate) पाये जाते थे जिनकी जनसंख्या कुछ हजारों से ही हुआ करती थी लेकिन आज कतिपय राज्यों की जनसंख्या क्रमशः अरब में साम्यवादी चीन तथा भारत इसके उदाहरण हैं। वही दूसरी ओर संसार में कुछ ऐसे भी राज्य हैं जिनकी जनसंख्या बहुत कम है जैसे मोनेको (इटली) सानमेरिनो (इटली) जिनमें केवल 30-30 हजार लोग निवास करते हैं।

आधुनिक राज्यों में जनसंख्या के सम्बन्ध में दो धारणाएँ प्रचलित हैं। जहाँ एक ओर कतिपय राज्य जनसंख्या वृद्धि की चाहत रखते हैं जैसे—रूस व सिंगापुर में अधिक बच्चे जन्म देने वाली माता को पुरस्कार दिया जाता है और तो और अधिक जनशक्ति को राज्य को सामरिक दृष्टि से उचित माना जाता है ताकि अधिक से अधिक सैनिकों को युद्ध में औकात जा सके। इसलिए द्वितीय महायुद्ध के दौरान इटली व जर्मनी में अधिक सन्तान उत्पन्न करने वाली माता को 'वीर माता' का दर्जा दिया गया। वहीं दूसरी ओर विश्व के अधिकांश राज्य बढ़ती जनसंख्या की समस्या से ग्रस्त हैं और इसे रोकने के लिए हरसम्भव कोशिश भी कर रहे हैं। भारत जनसंख्या नियंत्रण के लिए गंभीर प्रयास कर रहा है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि राज्य के पास उपलब्ध संसाधनों के अनुपात में जनसंख्या होनी चाहिए ताकि जनता बिना किसी समस्या के अपना जीवन निर्वाह कर सके। जनसंख्या का गुणात्मक होना भी आवश्यक है।

6.5.2 निश्चित भू-भाग (Definite Territory) – राज्य के लिये निश्चित भू-भाग को आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। 19 वीं शताब्दी में क्लूबर पहला चिन्तक था जिसने निश्चित भू-भाग को आवश्यक माना। ब्लुशली के अनुसार जैसे राज्य के व्यक्तित्व आधार जनता होती है उसी प्रकार उसका भौतिक आधार निश्चित भू-भाग होता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि राज्य के आवश्यक तत्व के रूप में केवल निश्चित भू-भाग ही नहीं आता, अपितु इसके अन्तर्गत सभी प्राकृतिक संसाधन सम्मिलित होते हैं। जैसे—राज्य में विद्यमान नदियाँ, सरोवर, झीलें, खनिज पदार्थ, तट से 12 मील तक का समुद्र 200 किलोमीटर का आर्थिक प्रदेश और वायुमण्डल सभी भूमि के अन्तर्गत आते हैं। एक राज्य का कितना भू-भाग होना चाहिए। इस पर विचारकों की अलग-अलग राय है। प्लेटो और अरस्तू जैसे विचारक छोटे राज्य के समर्थक थे। कुछ विचारक यह मानते हैं कि राज्य का भू-भाग इतना होना चाहिए कि वह अपनी आवश्यकता का खाद्य उत्पन्न कर सके। लेकिन खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्म निर्भर न होने के बावजूद अनेक राज्य शक्तिशाली हैं। इसके अलावा यह भी कहा जाता है कि राज्य का सम्पूर्ण भू-भाग एक होना चाहिए अर्थात् उसके दो भू-भागों के बीच कोई अन्य सम्प्रभु राज्य नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो वह राज्य अपनी एकता और अखण्डता बरकरार नहीं रख सकता है। उदाहरणार्थ, जैसे भारत विभाजन के फलस्वरूप

जो पाकिस्तान बना उसके दो भू-भाग थे। पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान। इन दोनों प्रदेशों के बीच भारत था। इसके कारण पूर्वी पाकिस्तान कभी पश्चिमी पाकिस्तान के साथ भावात्मक लगाव नहीं रख पाया तथा वह उससे अलग हो गया। स्वतंत्र बंगलादेश का जन्म हुआ।

6.5.3 सरकार (Government)— सरकार राज्य का तीसरा प्रमुख तत्व है। जिस प्रकार जनसंख्या वैयक्तिक तत्व है, निश्चित भू-भाग भौतिक तत्व है। उसी प्रकार सरकार संगठनात्मक तत्व या राज्य के संगठन की प्रतीक है। सरकार राज्य को एक संधि में डालने का काम करती है और इसके उद्देश्यों को व्यवहार में लागू करती है क्योंकि राज्य अमूर्त होता है। सरकार के तीन अंग होते हैं। व्यवस्थापिका, जिसका कार्य कानूनों का निर्माण करना होता है। कार्यपालिका, जो कानूनों को लागू करती है। न्यायपालिका, जो कानूनों की व्याख्या करती है तथा उल्लंघन करने वालों को दंडित करती है। इन अंगों के आपसी सम्बन्धों को लेकर दो प्रकार के विचार पाये जाते हैं। जब तीनों अंगों का आपस में गहरा सम्बन्ध होता है तो उसे संसदीय व्यवस्था कहते हैं और जब तीनों अंगों का पृथक्करण कर दिया जाता है तो उसे अध्यक्षतात्मक व्यवस्था कहते हैं। लेकिन यहाँ तीनों अंगों के पृथक्करण से तात्पर्य यह नहीं है कि तीनों पूर्ण स्वतन्त्र हैं, अपितु नियन्त्रण व संतुलन के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं। सरकार के भी अनेक रूप देखे जा सकते हैं जैसे राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र आदि आधुनिक समय में लोकतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली के रूप में स्वीकार किया जाता है, क्योंकि इसमें शासन की अन्तिम शक्ति जनता में ही निहित होती है।

राज्य सम्प्रभु शक्ति का भी व्यवहार में प्रयोगकर्ता सरकार ही होती है। इसके अलावा एक राज्य में एक से अधिक सरकार नहीं हो सकती। यदि ऐसा नहीं होता है तो इसका अर्थ दूसरे राज्य की स्थापना है।

6.5.4 सम्प्रभुता (Sovereignty)— सम्प्रभुता को राज्य का सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। जिसे राज्य की आत्मा भी कह सकते हैं। जिस प्रकार आत्मा के अभाव में मानव शरीर का कोई अस्तित्व नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार सम्प्रभुता के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जिनके पास अन्य तीनों तत्व विद्यमान हैं लेकिन सम्प्रभुता नहीं है। इसलिए 15 अगस्त 1947 ई. से पूर्व भारत एक राज्य नहीं था, क्योंकि सम्प्रभुता ब्रिटिश सम्राट में निहित थी। इसके अलावा भारत संघ की सभी इकाईयों के पास जनसंख्या भू-भाग तथा सरकार है। लेकिन सम्प्रभुता न होने के कारण तकनीकी रूप से वे राज्य नहीं कहलाते।

सम्प्रभुता से तात्पर्य 'सर्वोच्च शक्ति' से है अर्थात् राज्य आन्तरिक या बाहरी स्तर पर पूर्ण या आंशिक स्वतन्त्र है और किसी भी बाहरी शक्ति के नियन्त्रण में नहीं है। आन्तरिक स्तर से तात्पर्य यह है कि राज्य अपनी सीमा के भीतर किसी भी प्रकार का कानून बना सकता है तथा अपनी सुविधा अनुसार सभी प्रकार के नीतिगत निर्णय ले सकता है। बाहरी स्तर से तात्पर्य यह है कि राज्य अपनी इच्छानुसार हित को मद्दे नजर रखते हुए दूसरे राज्यों के साथ बिना किसी बाहरी दबाव के सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। अर्थात् यह राज्य को ही तय करना होता है कि उसे किसके साथ युद्ध, शांति, सन्धि या समझौते करने हैं। बोडिन के अनुसार प्रभुसत्ता नागरिकों तथा प्रजा के ऊपर परम शक्ति है। जो कि कानूनों से नियन्त्रित नहीं है। विलोबी के अनुसार प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोच्च इच्छा होती है। गेटल के मतानुसार प्रभुसत्ता ही राज्य का वह लक्षण है जो उसे अन्य संघों से पृथक् करता है। इस प्रकार सम्प्रभुता राज्य का सबसे निर्णायक व प्रभावी तत्व है यद्यपि यह कहा जाता है कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राज्य की सम्प्रभुता को सीमित बनाती है, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। यदि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का सम्मान करता है तो उसका उद्देश्य विश्वशांति एवं मानवीय मूल्यों को प्रोत्साहन देना है। राज्य जब चाहे तब अपने हित के अनुसार कोई भी कठोर कदम उठा सकता है।

इन चार तत्वों के अलावा आधुनिक युग में नौकरशाही, अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता को भी राज्य के आवश्यक तत्वों के रूप में मान्यता दी जाती है।

6.6 सारांश

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि उपरोक्त चारों तत्व राज्य के लिए अनिवार्य हैं, एक तत्व के अभाव में राज्य की स्थापना नहीं की जा सकती राज्य के इन तत्वों का आपसी सम्बन्ध मानव शरीर के विभिन्न अंगों की स्थिति की भांति है जिस प्रकार शरीर का एक अंग रोगग्रस्त हो जाता है तो सम्पूर्ण शारीरिक ढांचा प्रभावित होता है। ठीक इस प्रकार एक अंग की कमजोर स्थिति राज्य के लिए घातक बन सकती है।

6.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य के निर्माण के तत्वों की विवेचना कीजिए।
2. सम्प्रभुता राज्य का प्राण तत्व है। सिद्ध कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न:-

1. प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने राज्य के लिये कौन कौन से आवश्यक तत्व बताये हैं।
2. गार्नर द्वारा दी गई राज्य की परिभाषा बताओ।
3. राज्य के निर्माण तत्व आंगिक एकता पर आधारित हैं। स्पष्ट कीजिए।
4. आन्तरिक सम्प्रभुता से आपका क्या तात्पर्य है।

5. बाहरी सम्प्रभुता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
6. सरकार का प्रमुख कार्य क्या है।
7. आदर्श राज्य की जनसंख्या पर प्रस्तुत विचार स्पष्ट कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आधुनिक अवधारणा के रूप में राज्य शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किसने किया?
2. प्लेटो ने आदर्श राज्य की जनसंख्या कितनी बताई है।
3. रूसो ने आदर्श राज्य की जनसंख्या कितनी बताई है।
4. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में राज्य निर्माण के सम्बन्ध में प्रतिपादित सिद्धान्त को क्या कहा गया है?
5. सरकार के तीनों अंगों के कार्य बताओ।
6. सरकार के अंगों के आपसी सम्बन्धों के आधार पर कौनसी व्यवस्थाएं होती हैं।
7. राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण है। यह विचार किसका है?
8. सम्प्रभुता से क्या तात्पर्य है?
9. राजस्थान राज्य क्यों नहीं है?
10. निश्चित भू-भाग को राज्य का प्रमुख तत्व मानने वाले प्रथम आधुनिक राजनीतिक चिन्तक कौन हैं?

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कृष्णकान्त मिश्र, राजनीतिक सिद्धान्त और शासन ग्रन्थ शिल्पी नई दिल्ली
2. ज्ञान सिंह संधु राजनीतिक सिद्धान्त हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
3. रोमिला थापर, वंश से राज्य तक ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली
4. डेविड इस्टन, दि पॉलिटिकल सिस्टम
5. आर. सी. अग्रवाल, राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

इकाई-7 राज्य उत्पत्ति के सिद्धान्त: दैवी सिद्धान्त

संरचना

- 7.1 उद्देश्य
- 7.2 प्रस्तावना
- 7.3 दैवी सिद्धान्त के आधारभूत तत्व
- 7.4 दैवी सिद्धान्त का प्रयोग
- 7.5 दैवी सिद्धान्त की आलोचनाएँ
 - 7.5.1 लोकतांत्रिक मूल्यों के विपरीत
 - 7.5.2 अत्याचारी राजा को ईश्वर द्वारा नियुक्त करने की धारणा गलत
 - 7.5.3 आधुनिक राज्यों के लिए अनुपयुक्त सिद्धान्त
 - 7.5.4 संविधानवाद के विरुद्ध
 - 7.5.5 रुढ़िवाद के विरुद्ध
 - 7.5.6 राज्य तो मानव निर्मित
 - 7.5.7 यह सिद्धान्त धार्मिक है
 - 7.5.8 नास्तिक लोगों को स्वीकार नहीं
 - 7.5.9 कल्पनाओं पर आधारित
- 7.6 सारांश
- 7.7 अभ्यास प्रश्नावली
- 7.8 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

7.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य राज्य की उत्पत्ति से संबंधी दैवीय सिद्धान्त को जानना है जो राज्य को एक ईश्वर निर्मित संस्था मानता है। इस अध्याय के पश्चात् आप जान सकेंगे—

- इससे यह सिद्ध होता है कि राज्य का निर्माण ईश्वर ने किया है,
- राजा एवं ईश्वर को एक समान माना गया है,
- राजा को अपार शक्तियाँ प्रदान करता है,
- प्रजा को चाहिए कि वह तत्परता से राजा के आदेशों का पालन करे तथा ऐसा करने में ही उनकी भलाई है,

इस अध्याय में दैवीय सिद्धान्त की व्यापक आलोचना भी की गई है और इस सिद्धान्त को स्वतन्त्रता, लोकतंत्र तथा विश्वशान्ति के प्रतिकूल बताए हैं, उसे भी जान सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना

राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? यह प्रश्न राजनीति विज्ञान में काफी विवादस्पद रहा है। राज-वैज्ञानिकों ने इसके लिए अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जैसे— दैवीय सिद्धान्त, पितृ सत्तात्मक परिवार, मातृ सत्तात्मक परिवार, शक्ति सिद्धान्त, सामाजिक समझौतावादी सिद्धान्त, ऐतिहासिक तथा विकासवादी तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त आदि प्रमुख हैं। मानव एक जिज्ञासु व चिन्तनशील प्राणी रहा है। अतः वह हमेशा किसी न किसी विषय के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयास करता रहता है। इसी कड़ी में मानव राज्य की उत्पत्ति के बारे में जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करता है लेकिन उसे स्पष्ट ऐतिहासिक तथ्य न मिलने के कारण वह अपनी कल्पना के अनुसार राज्य उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। जो परस्पर विरोधाभासी हैं। डॉ. गार्नर ने कहा है कि वे परिस्थितियाँ जिनमें आदिम मानव ने सबसे पहले राजनीतिक चेतना के प्रकाश को देखा और वे किस प्रकार के राजनीतिक संगठन के रूप में एकत्रित हुए— ऐसे तथ्य हैं जो पूर्णता नहीं तो अधिक से अधिक अस्पष्टता के कोहरे में दबे हुए हैं। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि जहाँ इतिहास असफल हो जाता है वहाँ हम कल्पनाओं का सहारा लेते हैं। इस प्रकार चिन्तकों की कल्पनाओं पर आधारित राज्य उत्पत्ति के सिद्धान्त धर्म, शक्ति व व्यक्ति (मनुष्य) को केन्द्रीय आधार मानकर प्रतिपादित किये गये हैं। इन सिद्धान्तों में ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त को विश्वनीय तौर पर स्वीकार किया जाता लेकिन अन्य सिद्धान्तों के महत्व को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता।

राज्य उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को काल्पनिक सिद्धान्त माना जाता है। यह सबसे प्राचीनतम सिद्धान्त है। अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों ने न केवल इसको स्वीकार किया अपितु इसको स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने का प्रयास किया। मनु का तर्क है जब समाज में अव्यवस्था, अराजकता, अन्याय एवं अशांति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी, तब ईश्वर ने इन समस्याओं से समाज को मुक्ति दिलाने के लिए राज्य की उत्पत्ति की। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि राज्य एक ईश्वरीय संस्था है, राजा ईश्वर का भेजा हुआ प्रतिनिधि है राजा व ईश्वर के कानून एक है और दोनों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति दण्ड का भागीदार होगा।

मध्य युग में यूरोप में चर्च व राज्य के बीच जो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई थी, उसके पीछे दैवी सिद्धान्त उत्तरदायी था। क्योंकि इस सिद्धान्त की आड़ में राजा अपने को शक्तिसम्पन्न बना रहे थे और उनके द्वारा यह तर्क दिया गया कि जहाँ जड़ जगत् को ईश्वर संचालित करता है, मानव जगत् पर वह राजा के माध्यम से शासन चलाता है। सर राबर्ट फिल्मर ने अपनी रचना पैट्रियार्क में तर्क दिया है कि ईश्वर ने आदम को पहला मनुष्य ही नहीं बनाया वह धरती पर पहला शासक भी था और वर्तमान राजा उत्तराधिकारी है। अतः राजा, सीधे ईश्वर से शक्ति प्राप्त करता है, चर्च से नहीं। दैवीय सिद्धान्त को आधार मानकर अनेक शासक तानाशाह (निरंकुश) बन गए थे और कहा करते थे कि यदि राजा दुष्ट है तो ईश्वर ने जनता को उसके द्वारा किये गये पाप के लिए दण्डित करने के लिए ही उसे ऐसा बनाया है। और उसके आचरण की जाँच करने का अधिकार ईश्वर को ही है, किसी मानवीय सत्ता को नहीं। जनता राजा का विरोध नहीं कर सकती है।

7.3 दैवीय सिद्धान्त के आधारभूत तत्व

इस सिद्धान्त की मान्यताओं को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित कर सकते हैं—

1. राज्य एक दैवी संस्था है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति स्वयं परमात्मा ने लोगों के लाभ के लिए की है।
2. राजा ईश्वर का भेजा हुआ प्रतिनिधि है। इसलिए राजा ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है न की जनता के प्रति।
3. जनता का यह धार्मिक कर्तव्य बनता है कि वे राजा के प्रत्येक कानून या आदेश की पालना करें। यदि कोई राजा का विरोध करता है तो पाप का भागीदार होगा।
4. राजा को किसी भी कानून या अन्य साधन द्वारा मर्यादित नहीं किया जा सकता, क्योंकि कानून का निर्माता स्वयं राजा है।
5. राजा के आदेश ही कानून हैं। उसके कार्य सदैव न्यायपूर्ण व उदार होते हैं और राजा का उद्देश्य किसी को कष्ट देना नहीं होता।
6. इस सिद्धान्त के अनुसार राजा का विरोध करने का अधिकार जनता को नहीं होता। यदि ऐसा करती है तो वह पाप है।
7. राजा के कार्य उचित या अनुचित हैं इसकी जाँच करने का अधिकार किसी मानव शक्ति को नहीं है केवल ईश्वर को है।
8. राज सत्ता पैतृक है। राजा के मरने के बाद उसका लड़का या उत्तराधिकारी राजगद्दी पर बैठेगा।

7.4 दैवी सिद्धान्त का प्रयोग

यद्यपि दैवी सिद्धान्त को कल्पनाओं पर आधारित माना जाता है लेकिन विश्व इतिहास में ऐसे अनेक अवसर मिलेंगे, जहाँ इस सिद्धान्त का व्यवहार में प्रयोग किया गया।

1. शासकों ने अपने निरंकुश व तानाशाह पूर्ण शक्तियों को उचित ठहराने के लिये इस सिद्धान्त सहारा लिया।
2. जब विश्व में लोकतांत्रिक व्यवस्था व मूल्यों का प्रचार-प्रसार किया जा रहा था तब उसे रोकने के लिए दैवी सिद्धान्त का प्रयोग किया गया।
3. जब जनता की इच्छा और आकांक्षाओं पर राजा खरे नहीं उतर रहे थे, तब जनता ने उनका विरोध करना शुरू किया। तब जनता में कर्तव्य—पालन व राज-भक्ति की भावना जागृत करने के लिए दैवी सिद्धान्त की सहायता ली गई।
4. मध्य युग में यूरोप के राजा व चर्च के बीच संघर्ष चल रहा था, तब चर्च द्वारा अपनी सर्वोच्चता सिद्ध करने के लिए इस सिद्धान्त का आश्रय लिया गया यह तर्क दिया कि परमात्मा सारी शक्तियाँ ईसा को प्रदान करता है, ईसा ने ये सारी शक्तियाँ चर्च को दी तथा चर्च ने सभी सांसारिक शक्तियाँ राजा को दी हैं। चर्च के औचित्य को सिद्ध करने के लिए इस सिद्धान्त की दुहाई दी गई।
5. बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यूरोप में हिटलर व मूसोलिनी जैसे तानाशाह उभरकर आये थे, उन्होंने भी दैवी सिद्धान्त को आड़ में लिया।
6. वर्तमान में भी कतिपय शासक अपने आप को किसी न किसी देवता का अवतार बताकर शासन करता हैं। जैसे—नेपाल के शासक अपने को विष्णु के अवतार मानते हैं। इसी तरह जापान के सम्राट को भी पवित्र माना जाता है।

7.5 दैवी सिद्धान्त की आलोचनाएँ

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त सबसे प्राचीनतम एवं लोकप्रिय रहा है। इसमें धर्म को केन्द्र बनाया गया। प्राचीन काल में इस सिद्धान्त की लोकप्रियता अपनी चरम सीमा पर थी प्रत्येक शासक अपनी शक्ति को वैध व सही ठहराने के लिये इस सिद्धान्त का सहारा लेता था। लेकिन विज्ञान, तकनीकी, तर्क बुद्धिवाद एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास ने दैवी सिद्धान्त की प्रासंगिकता एवं उसके आधार तत्वों पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया। विद्वानों की धारणा है कि समाज जैसे खुला, अधिकार व स्वतन्त्रतामय होता गया, वैसे ही इस सिद्धान्त के विरुद्ध आवाज उठने लगी और इसे मानव के वैयक्तिक विकास तथा मानवाधिकारों के विरुद्ध माना गया। ऐसा भी कहा जाता है इसके

प्रतिपादक व समर्थक संकुचित विचारों से ग्रस्त थे। इसीलिए उन्होंने राज्य व राजा की सर्वोच्चता सिद्ध करने के लिए ऐसे विचार प्रतिपादित किये। गिलक्राइस्ट के अनुसार, यह कहना कि ईश्वर इस या उस मनुष्य को राजा बनाता है, अनुभव और व्यावहारिकता के प्रतिकूल है। अनेक राजनीतिक शास्त्रियों ने इसकी व्यापक आलोचना की है जिसकी विवेचना निम्नलिखित रूप से है—

7.5.1 लोकतांत्रिक मूल्यों के विपरीत— लोकतांत्रिक व्यवस्था उच्च मूल्यों पर आधारित होती है। नागरिक समाज स्वतंत्रता, समानता, अधिकार एवं न्याय इसके मुख्य आधार होते हैं। शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है और शासक (सरकार) जनता के प्रति उत्तरदायी रहकर अपनी शक्तियों का प्रयोग करती है। ऐसा न करने पर उन्हें जन आक्रोश का सामना करना पड़ता है और जनता उन्हें सत्ता से हट सकती है। लेकिन दैवी सिद्धान्त इसके विपरीत विचारों का प्रतिपादन करता है। इसमें राज्य या राजा सर्वोच्च, सर्वशक्तिमान तथा ईश्वर का प्रतिनिधि बताकर जनता पर शासन थोपा जाता है तथा जनता को राज्य का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं दिया जाता है। इस सिद्धान्त का सहारा लेकर अनेक राजाओं या शासकों ने तानाशाहपूर्ण व्यवहार किया।

7.5.2 अत्याचारी राजा को ईश्वर द्वारा नियुक्त करने की धारणा गलत— दैवी सिद्धान्त के समर्थक ये मानते हैं कि ईश्वर द्वारा अत्याचारी शासक की नियुक्ति पापयुक्त व दोषी जनता को दण्डित करने के लिए की जाती है। यह पूर्णतया अनुचित, अव्यावहारिक व कल्पनाओं पर आधारित है क्योंकि ईश्वर न्यायकारी व दयालु है जो अपनी प्रजा को कभी कष्ट देना नहीं चाहता। इसके अलावा स्वयं दैवी सिद्धान्त के समर्थक मानते हैं कि जनता के कष्टों का निवारण तथा शांति व्यवस्था की स्थापना हेतु ईश्वर राज्य की स्थापना करता है। अतः उनकी यह धारणा पारस्परिक विरोध वाली है। केवल निरंकुश शासकों ने अपने अमानवीय व अत्याचारी कार्यों की वजह उठाने के लिए इसका सहारा लिया।

7.5.3 आधुनिक राज्यों के लिए अनुपयुक्त सिद्धान्त— आधुनिक राजव्यवस्था में इस सिद्धान्त का कोई औचित्य नहीं है। यह सिद्धान्त राजतन्त्रात्मक व्यवस्था के अनुकूल है जबकि आधुनिक राजव्यवस्था तो लोकतन्त्र व गणतन्त्र पर आधारित है जिसमें शासन की शक्ति जनता में निहित होती है और वहाँ राज्य या शासन का प्रमुख वंशानुगत या ईश्वर द्वारा नियुक्त न होकर जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नियुक्त होता है।

7.5.4 संविधानवाद के विरुद्ध— संविधानवाद से तात्पर्य केवल संविधान का होना ही नहीं है अपितु संविधान के प्रावधानों के अनुसार शासन व्यवस्था का संचालन करने से है। संविधान सीमित सरकार व खुले समाज की बात करता है और इसे लगभग सभी आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों द्वारा स्वीकार किया जाता है लेकिन दैवी सिद्धान्त इसका विरोध करता है।

7.5.5 रुढ़िवाद पर आधारित— इस सिद्धान्त को प्रगति के विरुद्ध माना जाता है क्योंकि यह बताता है कि राजा व राज्य ईश्वर के बनाये हुए हैं जो अपने आप में परिपूर्णता लिए हुए हैं तथा जिनमें किसी भी प्रकार के सुधार की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि जनता उसका विरोध करने का प्रयास करती है वह पाप व दण्ड की भागीदार होगी! लेकिन आलोचक दैवी सिद्धान्त के इस मत से सहमत नहीं हैं और कहते हैं कि परिवर्तित सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति के अनुसार राज्य व राजा में भी आवश्यक परिवर्तन या संशोधन करने चाहिए, ताकि वह परिस्थितियों के अनुसार जटिलताओं पर खरा उतर सके। यह सिद्धान्त गतिशीलता के नियमों के प्रतिकूल है।

7.5.6 राज्य तो मानव निर्मित— दैवी सिद्धान्त के समर्थक राज्य को ईश्वर द्वारा निर्मित मानते हैं लेकिन आधुनिक अनुसंधानों से यह ज्ञात होता है कि राज्य का निर्माण तो स्वयं मनुष्य ने किया है ताकि उसके कष्टों का निवारण हो सके। राज्य समाज में शांति व्यवस्था की स्थापना कर सके और कानूनों का निर्माण, लागू एवं व्याख्या कर सके। इसके अतिरिक्त राज्य का विकास अचानक नहीं होकर क्रमिक ढंग से हुआ है। राज्य तो सदियों के सतत विकास का परिणाम रहा है।

7.5.7 यह सिद्धान्त धार्मिक है— दैवी सिद्धान्त के संबंध में यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त राजनीतिक न होकर धार्मिक है। जिसमें केवल धार्मिक पहलुओं को केन्द्र बिन्दु रखते हुए विचार प्रस्तुत किये गये हैं, जिनका राजनीति या सामाजिक स्थिति से कोई सरोकार ही नहीं है। इसलिए आलोचक कहते हैं कि इसकी व्याख्या धार्मिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त रहकर संकुचित दृष्टिकोण के आधार पर ही की गई है। अतः उनके विचारों से ऐसा आभास होता है कि राज्य एक राजनीतिक संस्था न होकर धार्मिक संस्था है। अपने दावे को मजबूत करते हुए आलोचक यह कहते हैं, परमात्मा जो कुछ कहता है धर्म के मामलों में कहता है, राजनीतिक मामलों में नहीं। धार्मिक मामलों में तो अंधविश्वास से काम लिया जा सकता है। लेकिन राजनीतिक मामलों में विवेक काम में लिया जाता है।

7.5.8 नास्तिक लोगों को स्वीकार नहीं— समाज में रहने वाले अनेक व्यक्ति नास्तिक होते हैं जिन्हें परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास ही नहीं होता। अतः उन्हें यह कहना कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वर ने की है तो वे इसे स्वीकार नहीं कर सकता है।

7.5.9 कल्पनाओं पर आधारित— दैवी सिद्धान्त का यथार्थ एवं वास्तविकता से कोई वास्ता नहीं है। इसके प्रतिपादकों ने कल्पनाओं के पंख लगाकर आकाश में उड़ने का प्रयास किया है। फिगिस के अनुसार यह सिद्धान्त केवल आस्था के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है, तर्क के आधार पर नहीं।

7.6 सारांश

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक युग में राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त कोई प्रासंगिकता नहीं रखता और न ही इसका कोई औचित्य रहा है। प्रगतिशील समाज इसकी धारणाओं को स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि यह व्यक्ति व समाज को ऐसी अवस्था में ले जाता है। जहाँ उसके विकास, उन्नति तथा विवेक का कोई स्थान

नहीं होता है। लेकिन फिर भी राज्य की एकता, अखण्डता तथा सुदृढ़ता को कायम करने में यह सिद्धान्त उपयुक्त माना जाता है। गिल्क्राइस्ट के शब्दों में यह सिद्धान्त कितना भी गलत और विवेकशून्य क्यों न हो, कम से कम अराजकता से निवारण का श्रेय इसे अवश्य प्राप्त है। पुराने जमाने में जब धार्मिक कानूनों का डरावना रूप मनुष्य के मन को आज की अपेक्षा अधिक डराता रहा, तब दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त राज्य की व्यवस्था बनाये रखने में एक उपकरण के रूप में बड़ा उपयोगी था। इस तरह समाज में व्याप्त अराजकता, अन्याय एवं अशांति के ताण्डव नृत्य को समाप्त करने में यह सिद्धान्त काफी सार्थक साबित हुआ है। यह जनता को दायित्व बोध का इतना आभास करवाता है कि उनमें आज्ञाकारिता की भावना विकसित होती है। गेटेल, जब लोग अपने ऊपर शासन करने योग्य नहीं थे। तब इस सिद्धान्त ने उन्हें आज्ञापालन करना सिखाया।

7.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य के दैवी सिद्धान्त को बताते हुए, राजाओं के दैवीय अधिकारों की विवेचना कीजिए।
2. दैवी सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. दैवी सिद्धान्त के आधारभूत तत्व बताइए।
2. राजा के दैवीय अधिकार का सिद्धान्त क्या है?
3. दैवी सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग किस प्रकार किया गया है?
4. "दैवी सिद्धान्त लोकतंत्र विरोधी है।" सिद्ध कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. दैवी सिद्धान्त का क्या महत्व है?
2. भारत के कौन-कौन से राजनीतिक चिन्तकों ने दैवी सिद्धान्त को स्वीकार किया है?
3. दैवी सिद्धान्त के अनुसार राज्य कैसी संस्था है?
4. राबर्ट फिल्मर की रचना का नाम बताओ ?

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. बी.आर.पुरोहित "राजनीतिक शास्त्र के मूल सिद्धान्त" राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
2. रामशरण शर्मा "प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ" राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
3. आर.सी.अग्रवाल "राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त" एस.चन्द्र एण्ड कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली।

इकाई-8 : राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धान्त

संरचना

- 8.1 उद्देश्य
- 8.2 प्रस्तावना
- 8.3 शक्ति सिद्धान्त की विशेषताएँ
 - 8.3.1 शक्ति ही एकमात्र आधार
 - 8.3.2 भौतिक व सैनिक शक्ति
 - 8.3.3 शक्ति और मानव स्वभाव
 - 8.3.4 शक्ति ही न्याय
 - 8.3.5 शक्तिशाली केवल अल्पसंख्यक
 - 8.3.6 राज्यों का अस्तित्व केवल शक्ति पर
 - 8.3.7 राज्य का उद्देश्य शक्ति को बढ़ाना
 - 8.3.8 शक्ति ही सम्मान का प्रतीक
 - 8.3.9 योग्यतम की जीत
- 8.4 शक्ति सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग
 - 8.4.1 प्राचीन यूनान में
 - 8.4.2 चर्च बनाम राज्य
 - 8.4.3 व्यक्तिवाद की धारणा
 - 8.4.4 अराजकतावाद की धारणा
 - 8.4.5 साम्राज्यवाद तथा साम्यवाद की धारणा
 - 8.4.6 उग्रराष्ट्रवाद व सैन्यवाद के समर्थन के लिए
 - 8.4.7 सैनिक क्रांतियों व शक्ति सिद्धान्त
 - 8.4.8 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयोग
- 8.5 शक्ति सिद्धान्त की आलोचनाएँ
 - 8.5.1 राज्य उत्पत्ति का आधार केवल शक्ति नहीं
 - 8.5.2 राज्य का विस्तार केवल शक्ति द्वारा नहीं
 - 8.5.3 राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा है
 - 8.5.4 राज्य का स्थायी तथा वास्तविक आधार नैतिक शक्ति
 - 8.5.5 योग्यतम की विजय का आधार अव्यावहारिक
 - 8.5.6 मानवता के लिए घातक
 - 8.5.7 राज्य मानवीय चेतना का परिणाम
 - 8.5.8 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्त
 - 8.5.9 आन्तरिक व बाहरी संघर्ष को प्रोत्साहन
 - 8.5.10 अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विरुद्ध
- 8.6 सारांश
- 8.7 अभ्यास प्रश्नावली
- 8.8 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

8.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त के संबंध में जानकारी देना है। इस अध्याय में आप जानेंगे—

- राज्य शक्ति का परिणाम है,
- शक्ति सिद्धान्त यह दावा करता है कि आदिम अवस्था में मानव जीवन पशुतुल्य था। कालान्तर में होने वाले विकास ने उन्हें शक्ति के लिए प्रेरित किया,
- परिवार को राज्य उत्पत्ति का प्रथम चरण माना गया है,
- योग्यतम की जीत के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है,
- व्यावहारिक स्तर पर शक्ति सिद्धान्त के प्रयोग को बताया गया है,
- इनके अलावा शक्ति सिद्धान्त की आलोचनाओं से भी परिचित होने का अवसर मिलेगा।

8.2 प्रस्तावना

शक्ति सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र आधार शक्ति या बल को मानता है। ऐसी धारणा है कि मानव सम्यता एवं संस्कृति के विकास या उत्पत्ति के समय मानव जीवन में जटिलताएं नहीं थी। समाज परिवार व विवाह जैसी संस्थाओं का अभाव था। इस तरह मानव का जीवन पशुतुल्य था, जो कन्द मूल एवं कच्चा मांस खाकर अपना पेट भरता था और गुफाओं में रहता था। लेकिन धीरे-धीरे मानवीय चेतना का विकास हुआ। जब मानव एक स्थान पर रहकर कृषि करने लगा तब विवाह तथा परिवार जैसी संस्थाएँ अस्तित्व में आती हैं। इस प्रवृत्ति ने मानव को संपत्ति संकलन व शक्ति बढ़ाने के लिए विवश किया। परिणाम स्वरूप मानव में संकीर्ण सोच का विकास होता है। अन्ततोगत्वा मानव के बीच अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिये संघर्ष शुरू हो जाता है।

शक्ति सिद्धान्त के समर्थकों की मान्यता है कि संघर्ष की स्थिति सभी स्तरों पर विद्यमान थी। जैसे परिवार में सबसे शक्तिशाली व्यक्ति उसका मुखिया बना, परिवारों के समूह में जो सबसे शक्तिशाली था, वह कबीले का प्रमुख बना और कबीलों में सबसे शक्तिशाली राज्य व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता बना। इस तरह प्रत्येक स्तर पर अपने वजूद (स्थिति) को मजबूत करने के लिये शक्ति संघर्ष होता है।

1. प्रथम चरण – परिवार में संघर्ष (मुखिया)
2. द्वितीय चरण – परिवारों का आपसी संघर्ष (समूह प्रमुख)
3. तृतीय चरण – परिवारों के समूहों का संघर्ष (कबीला प्रमुख)
4. चतुर्थ चरण – कबीलों का संघर्ष (शासक)
5. पंचम चरण – राज्य की सर्वोत्तम सत्ता की स्थापना
6. षष्ठम चरण – राज्य से साम्राज्य

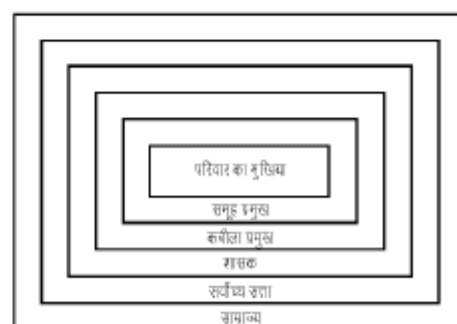
इस प्रकार राज्य बलवानों द्वारा निर्बलों पर अधिकार और प्रभुत्व का परिणाम है। वाल्टेयर का मत है प्रथम शासक एक भाग्यशाली योद्धा था। जेक्स अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिक्स में लिखते हैं कि यह सिद्ध करने में तनिक भी कठिनाई नहीं कि आधुनिक राजनीतिक समाजों का मूल सफल युद्ध में है।

ऐतरेय 'ब्राह्मण ग्रन्थ' में लिखा है कि देवताओं में पहले राजा नहीं था। देवताओं का जब असुरों से संग्राम हुआ तो देवताओं की पराजय हुई। इसके बाद देवताओं की सभा हुई जिसमें यह कहा गया कि हमारी हार इसलिये हुई कि युद्ध में हमारा नेतृत्व करने वाला कोई राजा नहीं था। आओ हम सब मिलकर राजा को चुनें। लीकॉक ने लिखा है ऐतिहासिक क्रम के अनुसार सरकार मानवीय आक्रमण का परिणाम है। राज्य का प्रारम्भ व्यक्ति द्वारा व्यक्ति को बन्दी बनाने व गुलाम बनाने की प्रवृत्ति में खोजा जाना चाहिए, उसे अपेक्षाकृत निर्बल कबीलों पर विजय व अधिग्रहण के रूप में स्वीकार करना चाहिए और सामान्यतया श्रेष्ठ भौतिक शक्ति द्वारा आधिपत्य सम्बन्धी आत्म खोज की सिलसिले की दृष्टि से संकल्पित करना चाहिए। कबीले से राज्य और राज्य से साम्राज्य का धीरे-धीरे विकास हुआ है। बिस्मार्क के मतानुसार राज्य का आधार रक्त और लोहा होना चाहिए। ट्रीटस्के का कहना है कि राज्य आक्रमण करने और रक्षा करने की जन शक्ति है। जिसका पहला काम युद्ध करना और न्याय का शासन करना है। मारगेन्थाऊ का कहना है कि राजनीति (राज्य) शक्ति के लिये संघर्ष है। माओ-त्से-तुंग का तर्क है कि शक्ति बन्दूक की नली से निकलती है। इस तरह से शक्ति राज्य की उत्पत्ति का मुख्य तत्त्व है।

8.3 शक्ति सिद्धान्त की विशेषताएँ

शक्ति सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ सामने आती हैं।

8.3.1 शक्ति ही एकमात्र आधार— शक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादकों की मान्यता है कि राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र आधार शक्ति है, जिसके आधार पर इसका निर्माण किया गया है। ईश्वर या सामाजिक



शक्ति सिद्धान्त एवं राज्य उत्पत्ति

समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति होना कपोल कल्पनाएं हैं। इतिहास बताता है कि मानव हमेशा से ही अपने प्रभाव में वृद्धि करने के लिये संघर्षशील रहा है और शक्तिशाली ने कमजोर या निर्बलों पर नियन्त्रण स्थापित किया है। अतः यही बात राज्य की उत्पत्ति के संबंध में लागू होती है।

8.3.2 भौतिक व सैनिक शक्ति— शक्ति सिद्धान्त के अनुसार शक्ति से तात्पर्य भौतिक व सैनिक शक्ति से है, क्योंकि इसके अभाव में राज्य अपने साम्राज्य का विस्तार नहीं कर सकता। इन साधनों या शक्ति के रूप के बल पर व्यक्ति ने परिवार, परिवार ने समुह, समुह ने कबीला, कबीला ने सभी कबीलों पर नियन्त्रण व प्रभुत्व स्थापित किया। आज भी राज्य की शक्ति की पहचान इन्हीं के आधार पर होती है। जैसे— संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व की एकमात्र महाशक्ति (सुपर पावर) है इसलिये कोई राज्य उसका मुकाबला नहीं कर सकता।

8.3.3 शक्ति और मानव स्वभाव— मनुष्य का स्वभाव यह बताता है कि वह दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने की अभिलाषा रखता है इसके लिए वह किसी भी हद (सीमा) को पार कर सकता है और जितनी चाहे उतनी कीमत चुका सकता है। शक्ति सिद्धान्त ही नहीं, अपितु सामाजिक समझौते के एक प्रमुख प्रतिपादक हॉब्स मानव के इसी स्वभाव के चलते राज्य उत्पत्ति की बात करते हैं। शक्ति सिद्धान्त में यह बताया गया है कि मानव जब उत्तरोत्तर शक्ति का विस्तार करने लगता है, उसी गति से उसकी आकांक्षाएं बढ़ती हैं।

8.3.4 शक्ति ही न्याय— ऐसा माना जाता है कि जो शक्तिशाली है वह हर स्तर पर अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर सकता है और यही बात न्याय की अवधारणा पर लागू होती है कि जो शक्तिशाली है वह न्याय प्राप्त कर सकता है। प्लेटो के समय यूनान में सोफिस्ट थेसीमेकस का क्रान्तिकारी न्याय सिद्धान्त प्रचलित था “शक्ति ही सत्य है” और “शक्तिशाली का हित साधना ही न्याय है” अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति न्याय प्राप्त करना चाहता है, लेकिन न्याय वहीं प्राप्त कर सकता है जो शक्तिशाली है।

8.3.5 शक्तिशाली केवल अल्पसंख्यक— इस सिद्धान्त के अनुसार समाज की आर्थिक, राजनीतिक एवं अन्य शक्तियों पर कुछ ही लोगों का नियन्त्रण होता है, जो जनसंख्या की दृष्टि से अल्पसंख्यक होते हैं। लेकिन फिर भी समाज के बहुसंख्यक उनके निर्देश पर चलने को विवश हैं। यह स्थिति आज भी देखी जा सकती है क्योंकि समाज के एक छोटे से वर्ग के हाथों में शक्ति केन्द्रित है और बहुसंख्यक लोग अभाव भरी जिन्दगी जीने को बाध्य हैं। उदाहरण के लिए आर्थिक संसाधनों पर समाज के कुछ लोगों का ही नियन्त्रण है जो देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को संचालित कर रहे हैं, तथा बहुसंख्यक जनता अभावों का जीवन जी रही है।

8.3.6 राज्यों का अस्तित्व शक्ति पर— इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब राज्य शक्ति की दृष्टि से कमजोर हुआ है तब-तब उस राज्य के अस्तित्व पर भी प्रश्न चिह्न लगा है। शक्ति सम्पन्न राज्य होने पर कोई भी राष्ट्र उसकी ओर आंख नहीं उठा सकता है बल्कि शक्ति के बल पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी पहचान भी कायम कर सकता है। इसीलिए विश्व का प्रत्येक राष्ट्र अपनी शक्ति बढ़ाने की हर सम्भव कोशिश करता है। कमजोर राष्ट्रों को न केवल बाहरी ताकतों से खतरा होता है, अपितु आन्तरिक स्तर पर भी अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। वर्तमान में अमरीका विश्व का बेताज बादशाह अपनी शक्ति के बल पर ही है। वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का नेतृत्व, निर्देशन तथा नियन्त्रण करता है।

8.3.7 राज्य का उद्देश्य शक्ति को बढ़ाना— राज्य इस बात की हर सम्भव कोशिश करता है कि वह अपनी शक्ति को साम, दाम, दण्ड, भेद के प्रत्येक तरीके को अपनाकर वृद्धि करे और समय आने पर उसका सफल प्रयोग भी अपने हित के अनुसार करे। जैसे— भारत द्वारा मई 1998 में पोकरण द्वितीय परीक्षण करने का उद्देश्य ही शक्ति में वृद्धि करना था ताकि दुश्मन देश आक्रमण करने का दुस्साहस न कर सके।

8.3.8 शक्ति ही सम्मान का प्रतीक— शक्ति सिद्धान्त के समर्थकों की यह धारणा है कि शक्ति ही सम्मान की प्रतीक होती है, जो पूर्णतया तर्क संगत एवं व्यावहारिक दिखाई देती है। समाज में जो व्यक्ति साधन सम्पन्न या शक्तिशाली होता है तो उसको सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। यही बात विश्व राजनीति पर लागू होती है। अमरीका के प्रत्येक वैध या अवैध कारनामों विश्व समुदाय द्वारा स्वीकार किये जाते हैं, चाहे वह किसी देश की सम्प्रभुता को भी क्यों न कुचले। अफगानिस्तान व इराक पर की गई कार्यवाही इस दावे को की पुष्टि करती है।

8.3.9 योग्यतम की जीत— हर्षट स्पेन्सर योग्यतम की जीत का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं जिसके अनुसार समाज में संघर्ष होता है जिसमें शक्तिशाली विजयी होते हैं और निर्बल पराजित। अतः जीने का अधिकार शक्तिशाली व्यक्तियों का है न की कमजोर को। इस सिद्धान्त में शक्ति सिद्धान्त के समर्थक विश्वास करते हैं।

8.4 शक्ति सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग

राजनीति विज्ञान में शक्ति सिद्धान्त के विविध प्रयोग की घटनाएँ मिलती हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि शक्ति सिद्धान्त कोरी कल्पनाओं पर आधारित न होकर व्यावहारिकता से सम्बद्ध है। जो इस प्रकार है—

8.4.1 प्राचीन यूनान में— प्लेटो के समय यूनान में न्याय सिद्धान्त सोफिस्ट विचारकों से प्रभावित था जिनके अनुसार न्याय शक्तिशालियों का हित है। प्लेटो ने इसकी आलोचना करते हुए इसके विरुद्ध अपने न्याय का सिद्धान्त प्रतिपादन किया।

8.4.2 चर्च बनाम राज्य— मध्य युग में यूरोप में चर्च और राज्य के बीच अपनी सर्वश्रेष्ठता साबित करने एवं प्रभुसत्ता का प्रयोग करने के लिए संघर्ष हुआ। उस समय चर्च का कहना था कि राज्य पाशविक शक्ति के कारण उत्पन्न हुआ है और उसी के आधार पर टिका हुआ है। अतः यह चर्च की अपेक्षा घटिया है, क्योंकि चर्च का आधार धर्म है।

8.4.3 व्यक्तिवाद की धारणा— व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य का आधार शक्ति है, जो अनुचित कानून बनाकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित कर देती है। इसलिए यह एक आवश्यक बुराई (Necessary Evils) है, जिसे व्यक्ति के कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। यह धारणा जान स्टूअर्ट मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर तथा एडम स्मिथ आदि ने प्रतिपादित की है।

8.4.4 अराजकतावाद की धारणा— अराजकतावादी राज्य को 'अनावश्यक बुराई' के रूप में मानते हैं। उनका कहना है कि राज्य का आधार शक्ति होने के कारण वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अनुचित हस्तक्षेप करता है जिससे स्वतन्त्रता समाप्त होती है अतः ऐसे राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं है। राज्य को नष्ट कर एक संस्था को शक्ति देना चाहते हैं। इस धारणा का समर्थन बाकुनिन क्रोपाटकिन तथा विलियम गौडविन किया है।

8.4.5 समाजवाद तथा साम्यवाद के समर्थन के लिए— समाजवाद एवं साम्यवाद का प्रतिपादक कार्ल मार्क्स था। उनके अनुसार राज्य शक्ति पर आधारित है, जिसका प्रयोग राज्य पूँजीपतियों के हित साधने एवं श्रमिकों को शोषण करने के लिए करता है। लेनिन के मतानुसार राज्य पूँजीपतियों के हाथ में एक ऐसा साधन है जिससे वे बहुसंख्यक जनता पर शासन करते हैं इसी को ध्यान से रखते हुए कार्ल मार्क्स दुनिया के मजदूरों को संगठित होने का नारा देते हैं और कहते हैं कि 'सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व' पूँजीपतियों एवं राज्य की जड़ों को पूर्णतया समाप्त कर देगी और आदर्श स्थिति में वर्ग विहीन राज्य विहीन और शोषण विहीन समाज की स्थापना होगी अर्थात् राज्य अपनी शक्ति के दुरुपयोग के कारण समाप्त हो जायेगा।

8.4.6 उग्रराष्ट्रवाद एवं सैन्यवाद के समर्थन के लिए— उग्रराष्ट्रवाद एवं सैनिक शासकों के द्वारा अपनी विचारधारा एवं बलों को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए शक्ति सिद्धान्त का न केवल सहारा लिया गया, अपितु व्यवहार में भी इसके अनेक प्रयोग किये गये हैं। इस विचारधारा के अनेक समर्थकों द्वारा शक्ति का गुणगान किया गया है। ट्रिटशे ने कहा कि युद्ध लोगों को एकता के सूत्र में बांध देता है, प्रत्येक व्यक्ति की महत्वहीनता प्रकट करता है, छोटे-छोटे घरेलू झगड़ों का अन्त करता है और देश भक्ति तथा आदर्श राष्ट्रवाद को बहुत तेज बना देता है। जनरल वॉन बर्नहार्ड का मत था कि, शक्ति की सर्वोच्चता सत्य है और इस बात का निर्णय कि सत्य क्या है? युद्ध के द्वारा होता है। युद्ध सच्चे निर्णय देता है क्योंकि इसके निर्णय वास्तविक तथ्यों पर आधारित हैं। इन विद्वानों की सोच 1920 ई. के बाद से व्यवहार में लागू होती है और इसे आधार मानकर फासीवादी मुसोलिनी (इटली) व नाजीवादी हिटलर (जर्मनी) में उभर कर सामने आते हैं जो शक्ति को आधार मान अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा कायम करने का प्रयास करते हैं और विश्व विजय का सपना साकार करने के लिए कोशिश करते हैं।

8.4.7 सैनिक क्रांतियाँ व शक्ति सिद्धान्त— आधुनिक विश्व में भी अनेक सैनिक क्रांतियाँ हुई हैं जिनका मूल आधार शक्ति है। जैसे— पाकिस्तान में जनरल परवेज मुशर्रफ़ द्वारा शक्ति के बल पर नवाज शरीफ की लोकतांत्रिक सरकार को उखाड़ फेंकना। फिजी में महेन्द्र चौधरी की सरकार का सैनिक तानाशाही का शिकार बनना, म्यांमार में सैन्य शासक द्वारा शक्ति के बल पर लोकतांत्रिक दंग से चुने हुए जनप्रतिनिधियों की सत्ता को कुचलना, आदि उदाहरण हमारे सामने हैं।

8.4.8 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयोग— शक्ति सिद्धान्त का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्तर पर देखा जा सकता है। शीतयुद्ध काल में विश्व को दोनों महाशक्तियाँ अमरीका व सोवियत संघ, शक्ति के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का संचालन कर रहे थे। आज विश्व की एकमात्र महाशक्ति अमरीका भी अपनी शक्ति को आधार मानकर दूसरे राज्यों को सम्प्रभुता का हनन करने से नहीं चुकता। इसी पर चलते उसने अफगानिस्तान व इराक पर आक्रमण किये और अन्य कई राष्ट्रों पर उसकी नजर है। उसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने वर्चस्व को बढ़ाना है।

8.5 शक्ति सिद्धान्त की आलोचनाएँ

यद्यपि शक्ति सिद्धान्त के प्रयोग का संबंध मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ जुड़ा हुआ है जिसका प्रयोग किसी न किसी रूप में आज तक जारी है लेकिन जिन प्रयासों से मानव सभ्यता व संस्कृति विकसित होकर अपने इस रूप में आयी है। इसके उत्तरोत्तर विकास के लिए शक्ति सिद्धान्त अनुकूल नहीं माना जाता है। आलोचकों का मत है कि इसे स्वीकार करने से मानवता के समाने अस्तित्व का गम्भीर खतरा पैदा हो सकता है और समाज में अशांति, हिंसा, अराजकता एवं अव्यवस्था का ताण्डव नृत्य व्याप्त हो सकता है। इस सिद्धान्त की निम्नलिखित रूप आलोचनाएँ की जाती हैं—

8.5.1 राज्य उत्पत्ति का आधार केवल शक्ति नहीं— राज्य की उत्पत्ति में शक्ति सिद्धान्त के महत्व को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता लेकिन ऐसा नहीं है कि राज्य के उत्पत्ति में केवल शक्ति तत्व का योग रहा हो। ऐसा माना जाता है कि धर्म, रक्त सम्बन्ध, मानव चेतना, परिस्थितियाँ, आदि का भी इसमें योगदान रहा है। लीकोंक के शब्दों में शक्ति सिद्धान्त की मूल यह है कि समाज के विकास में जिस वस्तु का स्थान केवल एक तत्व रहा है, उसे एकमात्र नियामक तत्व की महानता प्रदान कर देता है।

8.5.2 राज्य का विस्तार, केवल शक्ति द्वारा नहीं— राज्य के विस्तार में शक्ति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है लेकिन यह केवल शक्ति के आधार पर ही नहीं हुआ। इतिहास में अनेक राज्यों के संघ का निर्माण या राज्यों का एकीकरण, आपसी हित, आर्थिक लाभ आदि के लिए हुआ। जैसे स्वतंत्रता के समय भारत में 600 से ज्यादा देशी रियासतें थी उनमें से अधिकांश का विलय इन्हीं आधार पर हुआ। यदि केवल शक्ति के आधार पर किया जाता तो भारत आज अपनी एकता बनाये हुए नहीं रख सकता। सीले ने कहा है कि राज्य की उन्नति केवल शक्ति से ही नहीं हुई, यद्यपि विस्तार के क्रम में निःसन्देह शक्ति ने भाग लिया।

8.5.3 राज्य का आधार शक्ति नहीं बल्कि इच्छा है— यद्यपि राज्य की आन्तरिक एवं बाहरी सुरक्षा के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है परन्तु राज्य का एकमात्र आधार शक्ति नहीं हो सकता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब शक्ति को आधार माना गया तब-तब वे राज्य बालू से बने रेत के घरोंदों के समान बिखरे हैं, जैसे—

हिटलर व मुसोलिनी के राज्यों का आधार यही होने के कारण उनका राज्य अधिक दिनों तक नहीं टिक सका। भारत में भी ब्रिटिश सत्ता का आधार शक्ति था, अतः उसे भी भारतीयों के असन्तोष के सामने घुटने टेकने पड़े। शक्ति पर आधारित राज्य के प्रति आम जनता में भी अविश्वास व घृणा बढ़ती है। इसीलिए टी.एच.ग्रिन ने कहा है राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा होती है। इस प्रकार राज्य वही सर्वश्रेष्ठ है जो जनता के दिलों पर राज करें, न कि शरीर पर।

8.5.4 राज्य का स्थायी तथा वास्तविक आधार नैतिक शक्ति— आधुनिक युग लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का है, जिसमें शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है। इसमें पारिविक शक्ति का कोई स्थान नहीं होता है, क्योंकि यह लोकतंत्र की भावनाओं पर कुठाराघात करती है। बौदा ने कहा है “शक्ति केवल डाकुओं के गिराव का संगठन कर सकती है, राज्य का नहीं।”

8.5.5 योग्यतम की विजय का सिद्धान्त अव्यावहारिक— हर्बट स्पेन्सर योग्यतम की विजय का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है, जिसके अनुसार जीवित रहने का अधिकार शक्तिशाली को ही है, कमजोर या निर्बल को नहीं। इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इससे समाज में “जिसकी लाठी उसकी भैंस” की कहावत-चरितार्थ हो जाएगी। समाज में न्याय के स्थान पर अन्याय, सत्य के स्थान पर असत्य अहिंसा के स्थान पर हिंसा, तथा व्यवस्था के स्थान पर अराजकता हावी हो जाएगी। इसके अलावा यह भी असम्भव है कि समाज का प्रत्येक मनुष्य योग्य हो। यदि राज्य में कमजोर व अयोग्य मनुष्य हैं तो राज्य उनके कल्याण हेतु प्रयास करें।

8.5.6 मानवता के लिए घातक— शक्ति सिद्धान्त मानवता के लिए विनाशकारी है। इस सिद्धान्त को अपनाने से समाज में सर्वत्र अशांति, हिंसा, अराजकता, अन्याय, अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच सकते हैं। शक्ति सिद्धान्त के चलते समाज का सौहार्दपूर्ण वातावरण अनिश्चितता व घृणा में बदल सकता है। अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा ने व्यक्ति को इतना संकुचित बना दिया है कि वह मानवता के स्थान पर निजी हितों को प्राथमिकता देने लग गया है। शक्ति रूपी मकड़ी के जाल में व्यक्ति ऐसा फँस गया है कि वह निकलना चाहे तो भी नहीं निकल सकता है।

8.5.7 राज्य मानवीय चेतना का परिणाम— मानव की चेतना स्वतन्त्रता की माँग करती है। स्वतन्त्रता अधिकारों में निहित होती है और अधिकार प्राप्ति के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि राज्य, सरकार और वास्तव में सभी संस्थाएँ मानव चेतना का परिणाम हैं और वे ऐसी कृतियाँ भी हैं जो मनुष्य द्वारा नैतिक उद्देश्यों को समझने के कारण उत्पन्न हुई हैं। इस प्रकार राज्य मानवीय चेतना का परिणाम है न कि शक्ति का।

8.5.8 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्त— जॉन लॉक का मत है कि मनुष्य ने राज्य का निर्माण अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रताओं की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए किया है। लेकिन शक्ति को राज्य का आधार मान लिया जाए तो राज्य शक्ति के नशे में चूर होकर अपने दायित्वों से दूर चला जाएगा। इसके अलावा ऐसे राज्य में व्यक्ति का कोई स्थान नहीं होता है बल्कि ऐसा कहा जाता है कि व्यक्ति, राज्य की शक्ति के नाम पर अपना सब कुछ न्यौछावर कर दे। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान न होने के कारण राज्य का यह मुखी विकास अवरुद्ध हो जाता है।

8.5.9 आन्तरिक व बाहरी संघर्ष को प्रोत्साहन— यदि शक्ति को राज्य का आधार मान लिया जाए तो राज्य के आन्तरिक विभिन्न वर्गों में भी नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष को प्रोत्साहन मिलेगा। जब प्रत्येक राज्य अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयास करेगा, इसके लिए शस्त्रों की होड़ को बढ़ावा देगा। जिसके परिणाम स्वरूप अनिश्चिता की स्थिति हर क्षण बनी रहेगी।

8.5.10 अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विरुद्ध— अन्तर्राष्ट्रीयवाद सम्पूर्ण विश्व को परिवार के रूप में देखता है। ऐसी विचारधारा का प्रचार करता है जिससे विश्व शांति, मानवीय मूल्यों, निशस्त्रीकरण, आपसी सौहार्द, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की खुशबू सारे वातावरण में फैले लेकिन शक्ति सिद्धान्त इसके विरुद्ध है। उसका तो एक मात्र ध्येय राज्य की शक्ति को बढ़ाना है इस भावना के चलते मानव सम्मति व संस्कृति पतन के कगार पर खड़ी है। शस्त्रों की बढ़ती होड़ ने सम्पूर्ण विश्व को बारूद के ढेर पर खड़ा कर दिया है जिस पर कच्चे धागे से बंधी नंगी तलवार लटक रही है, जो एक हवा के झोंके के साथ टूटकर मानवता को नष्ट कर सकती है।

8.6 सारांश

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शक्ति सिद्धान्त की आलोचनाओं के बावजूद इसके महत्व को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। यह स्वीकार्य है कि शक्ति के बिना कोई भी राज्य अपनी एकता, अखण्डता एवं सम्प्रभुता को बनाये नहीं रख सकता। किसी राज्य की कमजोर स्थिति का लाभ उठाकर कोई भी दूसरा राज्य उसके सम्मुख चुनौती उत्पन्न कर सकता है। लेकिन जब किसी भी अन्य विचारधारा या सिद्धान्त की भांति शक्ति सिद्धान्त में भी अति आ जाती है तब वह व्यवस्था के लिए घातककारी सिद्ध हो सकता है। शक्ति अपने विभिन्न रूपों का महत्व समय, काल, परिस्थितियों के अनुसार दर्शाती रहती है। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में पहले सैनिक शक्ति का महत्व था, परन्तु आज आर्थिक शक्ति का। इन्हें आधार मानकर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से सम्बन्ध स्थापित करता है। फिर भी शक्ति सिद्धान्त का महत्व निर्विवाद है। यह राज्य की उत्पत्ति का तार्किक आधार पर प्रस्तुत करता है।

8.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. शक्ति सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. शक्ति सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग किस हद तक सफल हुआ है? सिद्ध कीजिए।

2. शक्ति सिद्धान्त "जिसकी लाठी उसकी भैंस" पर आधारित है। इस कथन के आधार पर शक्ति सिद्धान्त की आलोचनाएँ बताओ।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. शक्ति सिद्धान्त के प्रमुख लक्षण बताओ।
2. शक्ति सिद्धान्त के संबंध में मार्क्सवाद का क्या मत है?
3. शक्ति सिद्धान्त लोकतंत्र विरोधी है। स्पष्ट किजिए।
4. मानव जीवन शक्ति प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहा है। सिद्ध किजिए।
5. "राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा है" तर्क सहित लिखिए।
6. शक्ति सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए किस प्रकार घातक है?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. "हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिक्स" के लेखक कौन हैं?
2. "शक्ति बन्दूक की नली से निकलती है।" यह मत किसका है?
3. न्याय शक्तिशाली के हित साधन है। यह कथन किस विचारधारा का है।
4. "योग्यतम की विजय" सिद्धान्त के प्रतिपादक का नाम बताओ।

8.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ओ. पी. गाबा समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त मलिक एण्ड कम्पनी जयपुर।
2. ओ. पी. गाबा राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा मलिक एण्ड कम्पनी जयपुर।
3. डॉ. बी. आर. पुरोहित राजनीतिक शास्त्र के मूल सिद्धान्त राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर।
4. ज्ञान सिंह संधु राजनीतिक सिद्धान्त हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।

इकाई-9 : सामाजिक संविदा का सिद्धान्त—हॉब्स, लॉक तथा रूसो द्वारा प्रतिपादित

संरचना

- 9.1 उद्देश्य
- 9.2 प्रस्तावना
- 9.3 हॉब्स (1588–1679)
 - 9.3.1 मानव स्वभाव
 - 9.3.2 प्राकृतिक अवस्था
 - 9.3.3 सामाजिक समझौता (संविदा)
 - 9.3.4 राज्य और प्रभुसत्ता
 - 9.3.5 व्यक्ति और राज्य
- 9.4 जॉन लॉक (1632–1704)
 - 9.4.1 मानव स्वभाव
 - 9.4.2 प्राकृतिक अवस्था
 - 9.4.3 सामाजिक समझौता
 - 9.4.4 प्रभुसत्ता की प्रकृति
 - 9.4.5 व्यक्ति और राज्य
- 9.5 रूसो (1712–1778)
 - 9.5.1 मानव स्वभाव
 - 9.5.2 प्राकृतिक अवस्था
 - 9.5.3 सामाजिक समझौता
 - 9.5.4 प्रभुसत्ता
 - 9.5.5 व्यक्ति और राज्य
 - 9.5.6 सामाजिक समझौता सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन
- 9.6 सामाजिक समझौते की प्रमुख विशेषताएँ
 - 9.6.1 राज्य दैवी संस्था नहीं
 - 9.6.2 राज्य विहित अवस्था व्यक्तियों के लिए हितकारी नहीं
 - 9.6.3 समझौते का आधार समानता
 - 9.6.4 समझौते से प्रभुसत्ता का निर्धारण
 - 9.6.5 कल्याण पर आधारित
 - 9.6.6 परिस्थितियों से प्रभावित
 - 9.6.7 व्यक्ति और राज्य के संबंधों का निर्धारण
- 9.7 सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचनाएँ
 - 9.7.1 समझौता अनैतिहासिक
 - 9.7.2 प्राकृतिक अवस्था का गलत चित्रण
 - 9.7.3 राज्य विकास का परिणाम
 - 9.7.4 राज्य की सदस्यता अनिवार्य
 - 9.7.5 राज्य और व्यक्ति के संबंधों की अनुचित व्याख्या

- 9.7.6 राज्य कृत्रिम संस्था नहीं
- 9.7.7 विद्रोह का पोषक
- 9.7.8 प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों का अस्तित्व सम्भव नहीं
- 9.7.9 अतार्किक सिद्धान्त
- 9.7.10 प्राकृतिक अवस्था में समझौता सम्भव नहीं
- 9.7.11 समझौता भावी पीढ़ी को मान्य नहीं
- 9.8 सारांश
- 9.9 अभ्यास प्रश्नावली
- 9.10 सन्दर्भ ग्रंथ—सूची

9.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौतावादी सिद्धान्त को जानना है, जो मुख्य रूप से इस बात पर बल देता है कि राज्य एक मानव निर्मित संस्था है, जिसका निर्माण मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- तीनों प्रमुख समझौतावादी हॉब्स, लॉक एवं रूसो के विचारों को,
- तीनों विचारकों ने समझौते की अलग-अलग परिस्थितियाँ तथा कारण बताए हैं,
- समझौते की प्रकृति को लेकर भी विचारों ने अपनी-अपनी राय दी है,
- हॉब्स निरंकुश राजतंत्र, लॉक सीमित राजतंत्र तथा रूसो लोकतंत्र की बात करता है,
- ये सिद्धान्त व्यक्ति की गरिमा का पूरा सम्मान करते हैं, इसीलिए हॉब्स को प्रथम व्यक्तिवादी, लॉक को प्रथम उदारवादी तथा रूसो को लोकतंत्र का समर्थक बताया है, इसे भी जान सकेंगे।

9.2 प्रस्तावना

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में सामाजिक समझौता(संविदा) सिद्धान्त का प्रमुख स्थान है। यह सिद्धान्त दैवी तथा शक्ति सिद्धान्त की प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व में आया था। इसके अनुसार राज्य का निर्माण मानव ने अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर की है। सम्य जीवन के लिए राज्य अनिवार्य है। इसका औचित्य यह है कि यदि राज्य नहीं होगा तो शांति, सुरक्षा तथा व्यवस्था नहीं होगी और यदि शांति, सुरक्षा तथा व्यवस्था नहीं होगी तो सम्य जीवन का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसीलिए राज्य की उत्पत्ति मानव की इच्छा के अनुसार हुई है अर्थात् राज्य ईश्वरीय या दैवी सत्ता हो ही नहीं सकता। इस प्रकार का तर्क देकर इस सिद्धान्त ने उस समय प्रचलित रुढ़िवादी धारणाओं पर कड़ा प्रहार किया, जिनके द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को तिलाजली दे दी गई थी उसे पुनः महत्व दिया गया। यह सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि राज्य एक मानव निर्मित संस्था है अर्थात् राज्य व्यक्ति के लिए बना है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। इस प्रकार इसे उदारवादी सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तक कौटिल्य के राज्य उत्पत्ति के विचारों में समझौतावादी सिद्धान्त की झलक देखी जा सकती है।

सामाजिक संविदा सिद्धान्त के प्रतिपादकों में हॉब्स (1588–1679) लॉक (1632–1704) रूसो (1712–1778) का उल्लेखनीय योगदान रहा है। लेकिन इस सिद्धान्त को तीनों ने प्रतिपादन अपने-अपने ढंग से सवारा और स्थापित किया। हॉब्स का मत है कि प्राकृतिक अवस्था (राज्य उत्पत्ति की पूर्व अवस्था) में समाज में अव्यवस्था व अराजकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। व्यक्ति का जीवनक्षण भंगुर हो चुका था। उसे सम्पत्ति व जीवन की सुरक्षा का भय सता रहा था। अतः इससे मुक्ति पाने के लिए राज्य की स्थापना की जाती है। लॉक के मतानुसार मनुष्य के सामने ऐसी संस्था का अभाव था, जो कानूनों का निर्माण, क्रियान्वयन, तथा व्याख्या कर सके। अतः इस उद्देश्य के लिए राज्य अस्तित्व में आया। रूसो के अनुसार राज्य सामान्य इच्छा का परिणाम है। इस प्रकार तीनों विचारकों ने 17 वीं तथा 18 वीं शताब्दी में बदलती हुई सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के अनुसार इस सिद्धान्त की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। फिर भी उनके विश्लेषण का तरीका व आधार एक ही है। इसके पाँच मुख्य तत्व हैं (1) मानव स्वभाव (2) प्राकृतिक अवस्था (3) सामाजिक समझौता (4) राज्य और सम्प्रभुता (5) राज्य और व्यक्तियों का संबंध

9.3 थामस हॉब्स (1588–1679)

थामस हॉब्स इंग्लैण्ड का एक महान् दार्शनिक था। उनका अपने जन्म के विषय में कहना था कि मैं और मेरा भय जुड़वां भाई हैं। अव्यवस्था का भय हॉब्स के सिद्धान्त की आधारशिला है। उसके समय इंग्लैण्ड में गृह युद्ध हुआ था जो 1642–1649 तक चला। इससे हॉब्स के मन में यह धारणा घर कर गई कि इंग्लैण्ड में शक्तिशाली राजतन्त्र ही स्थाई शांति बहाल कर सकता है। इस तरह हॉब्स के विचारों को इंग्लैण्ड की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों ने बहुत प्रभावित किया, जिसकी छाया उसके सामाजिक संविदा के सिद्धान्त पर स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। हॉब्स, सामाजिक समझौता सिद्धान्त अपनी पुस्तक 'लेवायथन (1651)' में प्रस्तुत करता है। जिसमें हॉब्स शक्तिशाली

व निरंकुश राजतन्त्र को समर्थन करता है। वह कहता है कि समाज में व्याप्त अव्यवस्था अराजकता तथा अशांति को रोकने के लिये तथा मानव जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए राज्य का ऐसा होना बहुत आवश्यक है। वास्तव में देखा जाए तो हॉब्स का उद्देश्य तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का चित्रण प्रस्तुत करते हुए राजतन्त्र को शक्तिशाली बनाना था लेकिन संयोगवश राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित हो गया जिसका विवरण इस प्रकार है।

9.3.1 मानव स्वभाव— हॉब्स मानव स्वभाव का चित्रण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मानव हिंसक, स्वार्थी, लोभी, तृष्णा प्रधान, अहंकारी, आत्मभिमानी आदि था। इन साधनों की प्राप्ति के लिये प्रतिस्पर्धा बढ़ गई थी। उससे समाज में असंतोष अविश्वास, जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा का भय अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। मानव अपने निहित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए किसी हद तक जाने को तैयार था। चाहे उसे किसी दूसरे मनुष्य की जान लेनी भी क्यों न लेनी पड़े इस तरह मानव का स्वभाव निकृष्ट कोटि का था।

9.3.2 प्राकृतिक अवस्था— प्राकृतिक अवस्था से तात्पर्य राज्य उत्पत्ति की पूर्व स्थिति से है। हॉब्स के अनुसार मानव की संकुचित प्रवृत्ति के कारण समाज में अव्यवस्था व अराजकता का ताण्डव नृत्य व्याप्त था। व्यक्ति की जीवन व संपत्ति की सुरक्षा क्षणभंगुर थी अर्थात् कानून का अभाव दण्ड का अभाव तथा सम्प्रभुता धारी का अभाव था इस तरह मानव अपनी तृष्णा को शांत करना अपना परम कर्तव्य मान रहा था। उस पर कोई बाध्यकारी या नियन्त्रण की शक्ति नहीं थी। हॉब्स ने अपनी प्रसिद्ध ग्रन्थ लेवायथन में प्राकृतिक अवस्था का चित्रण इस प्रकार किया है। सभी एक-दूसरे से लड़ते थे। इस अवस्था में उचित व अनुचित न्याय व अन्याय को कोई स्थान नहीं था। धोखा और शक्ति ही मनुष्य के गुण समझे जाते थे, और जो मानव जीवन के आधार थे। इस तरह प्राकृतिक अवस्था में निरंतर संघर्ष व युद्ध की स्थिति बनी हुई थी। हॉब्स के अनुसार यह अवस्था निरर्थक थी। इसलिये सभ्य जीवन की मांग है कि मानव अपनी तृष्णा की पूर्ति के लिये राज्य की व्यवस्था करें और उसकी आज्ञा के अनुसार अपनी तृष्णा की पूर्ति करें। इन्हीं के लिए मानव राज्य की उत्पत्ति की सोचता है और इसके लिये वह आपस में समझौता करते हैं।

9.3.3 सामाजिक समझौता (संविदा)— मानव इन परिस्थितियों से उब चुका था। वे एक ऐसी व्यवस्था की तलाश में आ जाते जो उसे इन स्थितियों से निजात (मुक्ति) दिला सके। हॉब्स के अनुसार सामाजिक समझौते द्वारा यह सम्भव हो सकता है। सामाजिक समझौता हॉब्स के मत में एकधारणा है, कोई घटना नहीं इसके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से इस प्रकार कहता है मैं अपने ऊपर शासन करने का अधिकार इस व्यक्ति या जन समा को इस शर्त पर सौंपने की स्वीकृति देता हूँ कि तुम भी अधिकार उसको सौंपोगे और इस तरह उसके कार्यों की स्वीकृति दोगे। इस प्रकार समझौते हैं के फलस्वरूप सभी लोग अपने अधिकार समा को सौंपते हैं। उससे राज्य का निर्माण होता है। इस प्रकार समझौता व्यक्ति और प्रभुसत्ताधारी के बीच नहीं हुआ, बल्कि हर व्यक्ति का हर व्यक्ति या सारे व्यक्तियों के साथ हुआ है। इस तरह समझौते का अंग प्रभुसत्ताधारी न होने के कारण उसकी शक्तियाँ असीमित एवं अनियन्त्रित हैं।

9.3.4 राज्य तथा प्रभुसत्ता— हॉब्स के अनुसार समझौते के परिणाम स्वरूप राज्य और प्रभुसत्ता स्थापित हुई। समझौते का भाग न होने कारण प्रभुसत्ताधारी की शक्तियाँ असीमित व निरंकुश हैं और समाज में व्याप्त अराजकता पर अंकुश लगाने के लिए ऐसा होना भी आवश्यक है। एक बार समझौता होने के बाद व्यक्ति सम्प्रभु की आज्ञा मानने को बाध्य है। हॉब्स का तर्क है कि प्रभुसत्ता निरंकुश, अविभाज्य, असीम, सर्वव्यापी तथा अहस्तांतरणीय है। प्रभुसत्ता के बास के अनुसार शासन व्यवस्था निर्धारित होती है। यदि प्रभुसत्ता एक व्यक्ति (राजा) में निहित है तो राजतन्त्र कुछ विशेष समूह में निवास करती है तो कुलीनतंत्र और यदि नागरिकों को प्रभुसत्ता प्राप्त है तो लोकतन्त्र कायम होता है लेकिन इंग्लैण्ड की राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हॉब्स निरंकुश राजतन्त्र का उपासक था।

9.3.5 व्यक्ति और राज्य— व्यक्ति और राज्य राजनीति विज्ञान के दो आधार स्तम्भ हैं। इसीलिए अधिकांश सिद्धान्तों का प्रतिपादन इन्हीं दोनों को ध्यान में रखकर किया गया है। हॉब्स ने अपने सामाजिक समझौता सिद्धान्त में इनकी स्पष्ट विवेचना प्रस्तुत की है। उसका मत है कि व्यक्ति अपनी सुविधा अर्थात् जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए राज्य का निर्माण करता है। अतः राज्य का दायित्व बनता है कि इसके लिए वह हर सम्भव कोशिश करें। यदि शासक (सरकार) इनकी अनदेखी कर, आम जनता के साथ अन्याय व अत्याचार करता है तो यह स्थिति प्राकृतिक अवस्था से भी बदतर हो जाएगी अर्थात् खेत को बाढ़ ही (सुरक्षा के लिए मिट्टी की दीवार) खाने लग जाएगी तो खेत का क्या होगा? अतः ऐसी सरकार का समर्थन नहीं करना चाहिए।

लेकिन हॉब्स का कहना है कि व्यक्ति की तृष्णा पर अंकुश लगाने के लिए और राज्य (समाज) को अत्याचार अव्यवस्था, तथा अनिश्चितता के गहरे गर्त में जाने से रोकने के लिए राज्य का निरंकुश, सर्वोच्च, असीमित तथा अनुत्तरदायी होना आवश्यक है। समझौते का उद्देश्य व्यवस्था स्थापित करना है। व्यवस्था प्रभुसत्ता की माँग करती है, प्रभुसत्ता कानून द्वारा अभिव्यक्त होती है और कानून का पालन नहीं होगा तो वहाँ अराजकता फैलेगी। इस तरह कानून प्रभुसत्ता का आदेश है, जो व्यक्ति को बांधता है। वह शक्तिशाली राज्य की अक्रावस्था का समर्थन करता है।

9.4 जॉन लॉक (1632-1704)

17 वीं शताब्दी के महत्वपूर्ण अंग्रेजी दार्शनिक जॉन के रूप में लॉक का नाम विख्यात है। वे भी इंग्लैण्ड की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से बहुत प्रभावित थे। 1688 ई. की रक्तहीन (गौरवपूर्ण) क्रांति ने उन्हें काफी प्रभावित किया जिसकी झलक उनके विचारों एवं सामाजिक समझौता पर पड़ती है। उस समय इंग्लैण्ड की राजव्यवस्था संक्रमण के दौर से गुजर रही थी। शासक तानाशाह बना हुआ था। अतः उसके विरोधस्वरूप रक्तहीन क्रांति होती है जिसकी प्रमुख मांग संवैधानिक सुधार, लोकतंत्र, नागरिक अधिकार, स्वतन्त्रता आदि थी। जॉन लॉक ने सामाजिक समझौते का प्रतिपादन अपनी पुस्तक 'टू ट्रिटाइज (1690) एवं सिविल सोसायटी में किया है। यद्यपि उसके विचार हॉब्स से भिन्न हैं, लेकिन समझौते के चरण एवं स्थिति के संबंध में वे जैसे हैं।

9.4.1 मानव स्वभाव— मानव स्वभाव के सम्बन्ध में जॉन लॉक के विचार हॉब्स के विपरीत हैं। लॉक के अनुसार मनुष्य स्वभाव से शांतिप्रिय, सहयोगी, विनम्र, विवेकशील, न्यायप्रिय, स्वतन्त्रता की चाहत रखने वाला आदि मानवीय गुणों एवं नैतिक मूल्यों से परिपूर्ण था। वह चाहता है कि उसे आत्म-संरक्षण मिले अर्थात् मानव की सोच होती है कि उसके प्राकृतिक अधिकारों सम्पत्ति, जीवन और स्वतन्त्रता की सुरक्षा निश्चित हो।

9.4.2 प्राकृतिक अवस्था— जॉन लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में पारस्परिक झगड़े, संघर्ष या अशांति की स्थिति नहीं थी। जबकि इस अवस्था में मानव तीन प्राकृतिक अधिकारों स्वतन्त्रता, सम्पत्ति व जीवन का प्रयोग करता था, परन्तु इस अवस्था में कुछ असुविधाएँ थीं। प्रथम इस अवस्था में स्थायी विधि और विधि निर्माण की संख्या का अभाव था द्वितीय विधि का सफल कार्यान्वयन की कोई व्यवस्था नहीं थी। तृतीय एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी जो कानूनों की व्याख्या कर सके। इस तरह व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का अभाव था जो सरकार के अंग होते हैं। अतः इन्हें प्राप्त करने हेतु प्राकृतिक अवस्था का परित्याग करना पड़ा।

9.4.3 सामाजिक समझौता— जॉन लॉक दो समझौते की बात करता है— सामाजिक समझौता एवं सरकारी समझौता। सामाजिक समझौते से सिविल सोसायटी का निर्माण होता है तथा सरकारी समझौते से राज्य या सरकार या प्रभुसत्ताधारी की उत्पत्ति होती है। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अधिकारों को छोड़ अन्य सभी शक्तियाँ मानव राज्य को सौंप देता है। इस तरह राज्य समझौते का भागीदार होने के कारण समझौते की शर्तों के साथ बंधा हुआ है और वह अपनी मनमानी नहीं कर सकता। इस प्रकार लॉक ने दर्शन में सांविधानिक राज्य, बहुमत के शासन, प्रतिनिधि सरकार के उदारवादी विचार दिये हैं। उसने जीवन, सम्पत्ति व स्वतन्त्रता को प्राकृतिक अधिकार माना है। जिनकी अवहेलना राज्य के द्वारा नहीं की जा सकती। यदि राज्य ऐसा करती है तो जनता को यह अधिकार है कि वह उसके विरुद्ध विद्रोह कर दे। अन्त में हम कह सकते हैं कि लॉक सीमित राजतंत्र का पक्षधर था।

9.4.4 प्रभुसत्ता की प्रकृति— राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की आत्म सुरक्षा तथा उसके साधन—जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना है। राज्य सत्ता के संगठन के संबंध में लॉक का विचार है कि कार्यपालिका व्यवस्थापिका के अधीन होनी चाहिए। कार्यपालिका सेवक है और व्यवस्थापिका स्वामी। व्यवस्थापिका की स्वीकृति के बिना कोई कर नहीं लगाया जा सकता और न ही कर संग्रह किया जा सकता है। प्रतिनिधित्व नहीं तो कर नहीं यह प्रसिद्ध सिद्धान्त लॉक के विचारों से प्रेरित है।

9.4.5 व्यक्ति और राज्य— जॉन लॉक राज्य की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्व देता है उसके अनुसार राज्य का औचित्य एवं अस्तित्व व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए है अतः सामाजिक समझौता इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया गया है।

सारांश में जॉन लॉक को एक महान् उदारवादी विचारक के रूप में स्थान प्राप्त है।

9.5 रूसो (1712–1778)

सामाजिक समझौते के तीसरे प्रमुख विचारक के रूप में रूसो का नाम आता है। जहाँ हॉब्स व लॉक पर इंग्लैंड की तत्कालीन राजनीति व व्यवस्था का प्रभाव पड़ा, वहीं रूसो फ्रांस का रहने वाला था। इस समय फ्रांस में सन्देहवाद, मौलिकवाद, विज्ञान के घनत्कारों की आंशिक अनुभूति, राजनीतिक उत्पीड़न, आर्थिक शोषण, राजनीतिक दासता से मुक्ति पाने की मध्यम वर्ग की चाहत, लोक जीवन में स्वार्थपरता, आदंबर आदि की परिस्थितियाँ विद्यमान थीं। रूसो ने इनका विरोध अपनी पुस्तक 'श्वेबनतेमे वद मुंसपजल व उमदर' में किया लेकिन रूसो को व्यापक जन-आक्रोश का सामना करना पड़ा।

रूसो अपने विचारों में स्वतन्त्रता एवं समानता पर बल देता है। उसके तो शब्दों में मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है परन्तु सर्वत्र बन्धनों से जकड़ा हुआ है। यद्यपि रूसो के विचार उसके जीवन काल में स्वीकार नहीं किये गये। लेकिन माना जाता है कि 1789 ई. की फ्रांस की क्रांति जो स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व का नारा देती है वह रूसो के विचारों से प्रेरित थी। रूसो सामाजिक समझौते का वर्णन अपनी रचना 'सोशल कान्ट्रेक्ट' (1760) में करता है।

9.5.1 मानव स्वभाव— रूसो के अनुसार आदिम मानव एक ऐसा व्यक्ति था जिसमें तनाव पैदा ही नहीं हुआ था। सम्यता के विकास तथा नवीन अनुसंधानों के कारण मानव जीवन में जटिलता आती गयी, उससे व्यक्ति के तनावों में वृद्धि हुई। इसलिए मनुष्य की इच्छा है कि वह एक ऐसी सम्यता का निर्माण करे, जो प्राकृतिक मानव की सम्यता हो और जहाँ उसके स्वार्थ और परमार्थ में चेतना व विवेक के अनुसार समन्वय हो सके।

9.5.2 प्राकृतिक अवस्था— रूसो का मत है कि "मानव स्वतन्त्र पैदा होता है परन्तु वह सब जगह बन्धनों से जकड़ा रहता है।" प्राकृतिक अवस्था में मानव का जीवन उच्च कोटि का था। वह सुखी, सन्तुष्ट व आत्मनिर्भर था। रूसो प्राकृतिक मनुष्य को 'उदात्त वनचर' की संज्ञा देता है। मानव का जीवन सरल था उसकी मांगें भी सीमित थीं। वह कन्द मूल व केच्चा मांस खाकर पेट भरता था। उसे कृषि, उद्योग का ज्ञान नहीं था। इस तरह व्यक्ति किसी के अधीन नहीं था, परन्तु सम्यता के विकास के साथ-साथ मानव जीवन में जटिलताएँ आने लगीं। मानव एक स्थान पर रहने लगा कृषि करने लगा। तब उसमें सम्पत्ति संकलन करने के भाव आने लगते हैं और वह इस क्षेत्र में अधिक से अधिक प्रयास करता है। परन्तु इसके परिणामस्वरूप आर्थिक असमानता को प्रोत्साहन मिलता है और विद्यमान संसाधनों पर चन्द लोगों का नियन्त्रण हो जाता है इसके चलते मनुष्य से उसकी सादगी, ईमानदारी, समानता, परमार्थ की भावना को छिनकर उसे मानवता का दुश्मन, सम्पत्ति का भूखा, स्वार्थी और घमंडी बना दिया। समकालीन सम्यता के विरुद्ध रूसो की शिकायत थी कि यहाँ हर कोई काम के आदमी की तलाश में है, अच्छे आदमी की तलाश में है।

9.5.3 सामाजिक समझौता— रूसो के अनुसार सम्य कहलाने वाले इस समाज की कष्टदायी स्थिति से छुटकारा पाने के दो तरीके थे। पहला यह कि सम्पत्ति विहिन, सम्यताविहिन आदिम व्यवस्था को दुबारा लाया जाये। दूसरा यह है कि एक नये आधार पर समझौते द्वारा राज्य की स्थापना की जाये। अतः पहला तरीका नहीं अपनाया जा

सकता था। इस तरह मानव समझौते के द्वारा राज्य स्थापना पर बल देता है। जिससे एक नये स्वतंत्र एवं समानता पर आधारित समाज का जन्म हो सके। रूसो के अनुसार व्यक्ति आपस में मिलकर समझौता करते परन्तु यहाँ सत्ता किसी व्यक्ति या व्यक्ति समुह को नहीं सौंपी जाती है बल्कि समाज की तमाम सामान्य इच्छा मिलकर समझौता करती है और उसकी परिणति राज्य के रूप में होती है रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा का अनिप्रायः परमार्थ इच्छाओं का योग है। इस तरह समझौते के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सामुहिक स्वतंत्रता में बदल देता है।

9.5.4 प्रभुसत्ता—रूसो की प्रभुसत्ता का निवास सामान्य इच्छा में होता है। इससे उसका तात्पर्य जनता के ऐसे संकल्प से है जिसका उद्देश्य समाज के सामान्य हित की सिद्धि करना है। दूसरे शब्दों में, सरकार, सामान्य इच्छा द्वारा नियुक्त जन हित का साधन है। रूसो की सामान्य इच्छा नैतिक संकल्पना पर आधारित है। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि यह बहुमत या सम्पूर्ण समाज की इच्छा हो।

9.5.5 राज्य और व्यक्ति—रूसो का मानना है कि सामान्य इच्छा द्वारा निर्धारित राज्य का स्वरूप आंगिक है। व्यक्ति राज्य की सदस्यता प्राप्त करने के बाद मानवीय गुणों से परिपूर्ण बनता है। सामान्य इच्छा के सर्वोच्च विवेकीय निर्देशन में मानव तनाव मुक्त होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। इस प्रकार सामान्य इच्छा उसकी स्वतन्त्रता एवं मानवीय सारतत्व का आधार है। मानव सर्वगुण सम्पन्न नहीं हैं। इसलिए वह यथार्थ इच्छा और आदर्श इच्छा से सदैव चुनाव करने में असमर्थ होता है। इस समस्या से बचने के लिये सभी मानव अपने आप को सामान्य इच्छा के निर्देशन में समर्पित कर देते हैं। सामान्य इच्छा का पालन करते हुए जब मानव अपनी यथार्थ इच्छा के विरुद्ध चलता है तब उसे लगता है कि उसे विवश किया जा रहा है। परन्तु ऐसी स्थिति में स्वतन्त्रता से वंचित नहीं, वास्तविक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होता है।

सामाजिक समझौते सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

हॉब्स	लॉक	रूसो
मानव स्वभाव—झगड़ालू, स्वार्थी, लोभी, रक्तपिपासु।	दया, करुणा, प्रेम एवं वातसल्य पर आधारित।	प्रारम्भ में अच्छा था परन्तु नवीन अनुसंधानों ने जटिल बना दिया।
प्राकृतिक अवस्था—सतत संघर्षशील	उच्च स्तरीय थी तथा इस अवस्था में भी मनुष्य तीन प्रकार के प्राकृतिक अधिकारों का सम्भोग कर रहा था।	मानव स्वतन्त्र पैदा होता है परन्तु सर्वत्र बन्धनों से जकड़ा हुआ था।
समझौते के कारण—जीवन तथा संपत्ति की क्षणभंगुरता को दूर करना	सरकार की स्थापना करने के लिए किया गया	प्राकृतिक अवस्था में आ रही मुक्ति से मुक्तपान के लिए
समझौते का स्वरूप—एक पक्षीय समझौता जनता—जनता के बीच	दो प्रकार का समझौता जनता—जनता से (सिविल सोसाइटी); जनता—राजा से (राज्य) का निर्माण	एक स्तरीय समझौता
सम्प्रभु की स्थिति—राज्य को व्यापक शक्तियां तथा निरंकुश राजातंत्र का समर्थन	सीमित राजतंत्र	लोकतंत्र

9.6 सामाजिक समझौते की प्रमुख विशेषताएँ

हॉब्स, लॉक तथा रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते के अन्तर्गत अनेक मुद्दों पर सहमत होने के बावजूद व्यापक मतभेद है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

9.6.1 राज्य दैवी संस्था नहीं—सामाजिक समझौतावादी विचारों के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि राज्य कोई दैवी संस्था न होकर मानव निर्मित संस्था है। जिसका निर्माण मानव ने अपनी सुविधा के लिये किया है, क्योंकि प्राकृतिक अवस्था की समस्याओं से ग्रस्त था। अतः उनसे मुक्ति पाने के लिए वे समझौता करने को तैयार होता है जिसके परिणाम स्वरूप राज्य अस्तित्व में आता है।

9.6.2 राज्यहीन अवस्था व्यक्तियों के लिए हितकारी नहीं—राज्य विहीन या प्राकृतिक अवस्था मानव के लिए अहितकारी होती है। जिसमें मनुष्य के समुख अनेक चुनौतियाँ आती हैं। जैसे हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में अराजकता व अव्यवस्था की स्थिति व्याप्त थी, जिससे मानव मुक्ति प्राप्त करना चाहता था। लॉक के अनुसार मानव के सामने एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी जो कानून का निर्माण, कार्यान्वयन तथा व्याख्या कर सके। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था ठीक थी लेकिन सभ्यता के विकास ने मानव को मानवता का दुश्मन, संपत्ति का भूखा, स्वार्थी और घमण्डी बना दिया था। इस प्रकार सामाजिक समझौते के सभी प्रतिपादक सभ्य समाज के लिए राज्य के औचित्य को स्वीकार करते हैं।

9.6.3 समझौते का आधार समानता—सामाजिक समझौते में समानता का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। क्योंकि इसमें सभी मनुष्यों को समझौते का हिस्सा माना गया है। जैसे हॉब्स के अनुसार समझौता व्यक्तियों के बीच होता है। लॉक के मत में, दो समझौते होते हैं जिनसे समाज व राज्य का निर्माण होता है। रूसो सामान्य इच्छा को आधार मानकर समझौते की बात करता है। इस प्रकार योजनाबद्ध तरीके से प्राकृतिक अवस्था का परित्याग कर नागरिक समाज का निर्माण किया गया।

9.6.4 समझौते से प्रभुसत्ता का निर्धारण— नागरिक समाज की स्थापना के पूर्व एवं पश्चात् की स्थिति में प्रमुख अन्तर यह था कि समझौते से प्रभुसत्ता का निर्धारण हो जाता है। जिसके द्वारा कानून का निर्माण, कार्यान्वयन, व्याख्या तथा उल्लंघन करने वालों को दण्डित किया जाता है। जो राज्य की सर्वोच्च शक्ति होती है। इस सम्प्रभु शक्ति का निर्माण नागरिक अपनी इच्छा से समझौते के द्वारा करते हैं। और उसी के आदेश का पालन करना अपने लिए मलाई समझते हैं।

9.6.5 कल्पनाओं पर आधारित— सामाजिक समझौते का सिद्धान्त व्यावहारिक न होकर कल्पनाओं पर आधारित है और तीनों विचारकों के द्वारा अपनी कल्पना को मद्देनजर रखते हुए प्रतिपादित किया गया है।

9.6.6 परिस्थितियों से प्रभावित— सामाजिक समझौते के तीनों विचारकों द्वारा अपने देश की तत्कालीन राजनीति परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने विचारों को अन्तिम रूप दिया गया है। हॉब्स के समय ब्रिटेन में गृह युद्ध एवं अशांति की स्थिति थी। अतः उसने सम्प्रभु को निरंकुश व असीमित बनाया, लॉक के समय में ब्रिटेन में सैनैधानिक सुधारों की माँग हो रही थी। रूसो के समय में फ्रांस की स्थिति डाँवाडोल थी तथा राजनीति में उत्पीड़न, आर्थिक शोषण, लोकजीवन में स्वार्थपरता, आदिभ्रम आदि हावी थे। अतः उन्होंने इनका विरोध किया।

9.6.7 व्यक्ति और राज्य के संबंधों का निर्धारण— यद्यपि यह स्पष्ट हो चुका है कि व्यक्ति अपनी सुख सुविधा के लिए राज्य का निर्माण करता है लेकिन फिर भी सामाजिक समझौता सिद्धान्त के माध्यम से व्यक्ति और राज्य के आपसी संबंधों को निर्धारित करने का सफल प्रयास किया गया है। हॉब्स, लॉक और रूसो ने बीच का रास्ता अपनाते हुए व्यक्ति के जीवन व स्वतन्त्रता की सुरक्षा पर भी बल दिया गया है। और राज्य को शक्ति भी दी गई है ताकि वह व्यक्ति के अनुचित व्यवहार पर अंकुश लगा सके।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक समझौते की अपनी विशेषताएँ हैं।

9.7 सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचनाएँ

17वीं व 18वीं शताब्दी में सामाजिक समझौता अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। अनेक राजनीतिक चिन्तकों ने इसका प्रबल समर्थन किया, जिनमें हुकर, मिल्टन, ग्रोशियस, बुल्फ, काण्ड, ब्लेकस्टोन, स्पिनोजा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु 18 वीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं 19 वीं सदी के पूर्वार्द्ध में इसकी कड़ी आलोचनाएँ की गईं। ल्यूम ने घोषित किया है कि शासक और शासितों के सम्बन्ध के आधार के रूप में समझौता असंगत है तथा इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। सर हेनरी मैन ने कहा है कि समाज तथा सरकार की उत्पत्ति के इस वर्णन से बढ़कर व्यर्थ की वस्तु और क्या हो सकती है। ब्लुंशली इस सिद्धान्त को अत्यन्त भयंकर ग्रीक कपोल कल्पना और वूल्जेन सरासर झूठा बताया है। वाहन के शब्दों में सामाजिक समझौता सिद्धान्त न तो इतिहास को समझने का उचित साधन है और न ही किसी ठोस राजनीतिक दर्शन का उदाहरण है। इस सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित रूप से की जा सकती है।

9.7.1 समझौता अनैतिहासिक— ऐतिहासिक दृष्टि से सामाजिक समझौता सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इतिहास में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि मनुष्य ने अपनी समस्याओं से ग्रस्त होकर राज्य निर्माण हेतु समझौता किया। गार्नर ने लिखा है कि इतिहास में कोई ऐसा प्रामाणिक उदाहरण नहीं मिलता, जिसके अनुसार ऐसे व्यक्तियों द्वारा जिन्हें पहले से राज्य का पता नहीं था, आपसी समझौते से राज्य की स्थापना की गयी हो। यह समझौता अनैतिहासिक है।

9.7.2 प्राकृतिक अवस्था का गलत चित्रण— सामाजिक समझौतावादियों द्वारा प्राकृतिक अवस्था की जो परिकल्पना की गयी है, वह तर्क विवेक की कसौटी पर खरी नहीं उतरती क्योंकि समझौता या अनुबन्ध करना स्वतन्त्र नागरिकों के बस का सौदा होता है। आदिम अवस्था में मनुष्य में इतनी समझ नहीं थी कि वह एक संगठित समाज एवं राज्य की कल्पना कर सके।

9.7.3 राज्य विकास का परिणाम— ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि राज्य एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं का विकास हुआ है, निर्माण नहीं। सामाजिक प्राणी होने के नाते मानव आरम्भ में परिवारों में, फिर कुलों, फिर कबीलों, फिर जनपदों, अथवा राज्यों में संगठित हुआ। लाफर ने कहा है कि परिवार की भांति ही राज्य के लिए आवश्यक है और वह समझौते का नहीं बरन् वस्तु स्थिति के प्रभाव का परिणाम है।

9.7.4 राज्य की सदस्यता अनिवार्य— इस सिद्धान्त के तहत राज्य को एक ऐसे संगठन के रूप में चित्रित किया गया है जिसकी सदस्यता ऐच्छिक हो। किन्तु राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं, वरन् अनिवार्य होती है। व्यक्ति उसी प्रकार राज्य का सदस्य होता है। जिस प्रकार परिवार का। बर्क के शब्दों में राज्य को काली मिर्च, कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसे ही अन्य सामान्य व्यापार की साझेदारी समझौता के समान नहीं समझा जाना चाहिए जिसे अस्थायी स्वार्थ के लिए किया गया हो और समझौते के पक्ष इच्छानुसार भंग कर सकते हों। इसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। यह तो स्मस्त विज्ञान, समस्त कला, समस्त गुणों तथा समस्त पूर्णता के बीच एक साझेदारी है।

9.7.5 राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों की अनुचित व्याख्या— व्यक्ति और राज्य के बीच पारस्परिक संबंध समझौते पर नहीं बरन मानवीय स्वभाव पर आधारित है। वॉन हालर ने लिखा है कि यह कहना कि व्यक्ति और राज्य में समझौता हुआ उतना ही युक्तिसंगत है जितना यह कहना कि व्यक्ति और सूर्य में इस प्रकार समझौता हुआ कि सूर्य व्यक्ति को गर्मी दिया करेगा।

9.7.6 राज्य कृत्रिम संस्था नहीं है— इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक मानव निर्मित संस्था है। लेकिन वास्तविकता यह है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था न होकर मानवीय स्वभाव पर आधारित प्राकृतिक संस्था है। मालवर्ग का कहना है कि राज्य व्यक्तियों के बीच स्वेच्छा से किये हुए समझौते से नहीं बना है, मनुष्यों को उन सामाजिक आवश्यकताओं से बाध्य होकर राज्य में रहना पड़ा, जिनसे वह बच नहीं सकता था।

9.7.7 विद्रोह का पोषक— समझौता सिद्धान्त राज्य को व्यक्तिगत सनक का परिणाम बताकर विद्रोह, क्रान्ति एवं अराजकता को प्रोत्साहन देता है और नागरिकों के व्यवस्थित जीवन का अन्त होता है। लाइनर ने लिखा है कि इस सिद्धान्त को अपनाने से अराजकता फैलने का डर है।

9.7.8 प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों का अस्तित्व सम्भव नहीं— इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों जिसमें जॉन लॉक का नाम आता है वे प्राकृतिक अधिकारों की बात करते हैं जो भ्रामक हैं, क्योंकि अधिकारों का उदय समाज में होता है और एक राज्य में रहकर अधिकारों का उपभोग किया जा सकता है। ग्रीन का कहना है कि, प्राकृतिक अवस्था में जो कि एक असामाजिक स्थिति होती है, अधिकारों की कल्पना स्वयं ही एक विरोधाभास है।

9.7.9 अतार्किक सिद्धान्त— इस सिद्धान्त की आलोचना केवल इतिहास या दर्शन के आधार पर नहीं की जाकर तार्किकता के आधार पर भी की जाती है। आलोचकों का मत है कि मानव प्राकृतिक स्थिति में जीवन जी रहा था और उसमें किसी भी प्रकार की सामाजिक या राजनीतिक चेतना नहीं थी तब अचानक राज्य के बारे में विचार कैसे आया? राज्य जैसी संस्था के बारे में यह कहना कि यह समझौते का परिणाम है तो स्वीकार नहीं किया जा सकता एक कहावत है कि एक रात में चीता अपना रंग नहीं बदल सकता ठीक उसी प्रकार अचानक, मानव के हृदय में राज्य की बात आना कोरी कल्पना ही है।

9.7.10 प्राकृतिक अवस्था में समझौता सम्भव नहीं— आलोचकों के द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि आदिम मानव अपनी सामाजिक चेतना में इतना आगे बढ़ चुका था कि वह समझौता कर सके, तो प्राकृतिक अवस्था में किये गये किसी समझौते का वैधानिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है क्योंकि समझौते दूरी के हो सकते हैं जब उसके पीछे राज्य की स्वीकृति का बल हो, लेकिन प्राकृतिक अवस्था में ऐसा कुछ नहीं था।

9.7.11 समझौता भावी पीढ़ी को मान्य नहीं— कोई भी समझौता जिन निश्चित लोगों के मध्य होता है उन्हीं पर लागू होता है। अतः अज्ञात समय एवं अज्ञात व्यक्तियों द्वारा किया गया समझौता वर्तमान व भावी पीढ़ी को स्वीकार नहीं है। डॉ आर्चीवार्द ने कहा है यदि पूर्वजों ने खट्टे अंगूर खाये, तो उनके बच्चों के दाँत क्यों उतरें। किसी भी समझौते को भावी पीढ़ियों के लिए बन्धनकारी नहीं माना जा सकता है।

9.8 सारांश

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक समझौता सिद्धान्त व्यापक आलोचनाओं के बावजूद महत्वपूर्ण है क्योंकि इस सिद्धान्त ने दैवी सिद्धान्त न केवल खण्डित किया, अपितु उसके बढ़ते प्रभाव पर अंकुश लगाया। क्योंकि उससे राजनीतिक तानाशाही का सूत्रपात हो गया था। जिसमें व्यक्ति के अधिकार, स्वतन्त्रता, गरिमा एवं सम्मान का कोई स्थान नहीं था। इसमें यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि राज्य का निर्माण शक्ति के बल पर न होकर व्यक्ति की इच्छानुसार हुआ है।

9.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
2. हॉब्स, लॉक व रूसो के सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचारों की तुलनात्मक व्याख्या कीजिये।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. जॉन लॉक द्वारा प्रस्तुत प्राकृतिक अवस्था बताओ।
2. जॉन लॉक के अनुसार समझौते के क्या कारण थे?
3. सामाजिक समझौता या अनुबन्धावादी विचारों अपनी तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित थे। सिद्ध कीजिये।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. हॉब्स की प्रमुख रचना का नाम बताओ।
2. रूसो की प्रमुख रचना का नाम बताओ।
3. रूसो सम्प्रभुता का वासु कहाँ करवाता है?
4. सामान्य इच्छा से आपका क्या आशय है?
5. लॉक कौन-कौन से प्राकृतिक अधिकार बताता है?
6. लॉक के अनुसार समझौते का प्रमुख कारण क्या था?
7. प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में रूसो के क्या विचार हैं?
8. हॉब्स और लॉक कौन-कौन सी शासन व्यवस्था का समर्थन करते हैं?

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ओ. पी. गाबा राजनीति शास्त्र के आधारभूत तत्व मलिक एण्ड कम्पनी जयपुर।
2. एस. पी. वर्मा पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास रस्तोगी पब्लिकेशन्स मेरठ।
3. आर. सी. अग्रवाल राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त एस. चन्द एण्ड कम्पनी नई दिल्ली।

इकाई-10 : राज्य उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त

संरचना

- 10.1 उद्देश्य
- 10.2 प्रस्तावना
- 10.3 राज्य विकास के तत्त्व
 - 10.3.1 मूल सामाजिक प्रवृत्ति
 - 10.3.2 रक्त संबंध
 - 10.3.3 धर्म
 - 10.3.4 शक्ति
 - 10.3.5 आर्थिक गतिविधियाँ
 - 10.3.6 राजनीतिक चेतना
- 10.4 सारांश
- 10.5 अभ्यास प्रश्नावली
- 10.6 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

10.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त के संबंध में जानकारी करवाना है, जो इस बात पर बल देता है कि राज्य का निर्माण किसी घटना के अनुसार नहीं हुआ बल्कि क्रमिक विकास का परिणाम है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- इससे आप जान सकेंगे कि राज्य का विकास उसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार मानव शरीर का,
- राज्य विकास के आवश्यक तत्वों का भी उल्लेख किया गया है,
- राज्य को स्वाभाविक संस्था बताया गया है,
- मार्ल मार्क्स ने राज्य के विकास में आर्थिक तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका बताई है उसे भी जान सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना

राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई? यह राजनीतिक विज्ञान का एक विवादास्पद प्रसंग है। इसके लिए अनेक विचारकों के द्वारा अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। लेकिन इनमें दो रायों पर अधिक प्रारम्भिक, बड़े पैमाने पर व्यावहारिक सिद्धान्त के रूप में ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त को माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य दैवी, परिवार या समझौते या शक्ति का न होकर विकास का परिणाम है अर्थात् राज्य अपने इस रूप में अचानक या किसी घटना द्वारा नहीं आया बल्कि क्रमिक विकास से धीरे-धीरे अस्तित्व में आया है। जिस प्रकार जन्म के समय बच्चा युवा या प्रौढ़ नहीं बन सकता, क्योंकि धीरे-धीरे उसके शारीरिक अंगों का विकास होता है ठीक उसी प्रकार राज्य क्रमिक विकास की देन है। मानव को एक सामाजिक व राजनीतिक प्राणी के रूप में स्वीकार किया जाता है, अतः उसमें चेतना अवश्य पायी जाती है। इसी के परिणामस्वरूप मनुष्य में संगठित समाज और राज्य उत्पत्ति की भावना का विकास होता है।

ऐतिहासिक प्रमाणों से ऐसा आभास होता है कि सृष्टि के प्रारम्भिक दौर में मनुष्य आदिम या बर्बर जीवन जीता था लेकिन धीरे-धीरे उसके जीवन में जटिलता आने लगी और उसकी बुनियादी आवश्यकताएँ बढ़ी। इसी स्थिति ने राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। इस सन्दर्भ में डॉ. गार्नर ने ठीक ही कहा है कि राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है, न वह उच्च कोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या समझौते की कृति है और न परिवार का विस्तृत रूप है। यह तो क्रमिक विकास से उदित एक ऐतिहासिक संस्था है। लीकों ने भी लिखा है कि राज्य का उद्गम एक क्रमिक विकास के आधार पर हुआ है। इतिहास मानव जाति के ज्ञात तथा अज्ञात काल तक फैला हुआ है। बर्गस ने कहा है कि, राज्य अपूर्ण एवं अव्यवस्थित रूप में प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे विकास होता है मानव जाति के पूर्ण तथा विश्वव्यापी संगठन का रूप ले रहा है।

10.3 राज्य विकास के तत्त्व

यह बता पाना अत्यन्त कठिन है कि कब और किस प्रकार राज्य अस्तित्व में आया। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध समाजशास्त्री समनर तथा कैलर ने अपनी पुस्तक (**The Science of society**) में लिखा है कि यह कहना कि राज्य किस समय सबसे पहले दिखाई दिया, उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार यह कहना कि कब नैतिक नियम

बने या बच्चा कब युवा हुआ। अन्य सामाजिक संस्थाओं की भाँति ही राज्य विभिन्न परिस्थितियों के कारण विकसित हुआ है। इसके लिए अनेक परिस्थितियों का योगदान रहा है, जो निम्नलिखित रूप से हैं :-



10.3.1 सामाजिक प्रवृत्ति— राज्य के विकास में मानव की सामाजिक प्रवृत्ति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इससे उसे संगठित समाज की ओर अग्रसर होने का मौका मिलता है। अरस्तू के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है, जो मनुष्य समाज या राज्य में नहीं रहता, वे पशु हैं या देवता। मानव इनसे अलग रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं कर सकता क्योंकि उसकी अनेक आवश्यकताएँ समाज और राज्य के साथ जुड़ी हुई हैं। अरस्तू ने आगे कहा है कि राज्य केवल जीवन के अस्तित्व के लिए विकसित हुआ है और अच्छे जीवन को सम्भव बनाने के लिए अब विद्यमान है। इससे यह आभास होता है कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था है और मानव की सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम है। विल्सन ने भी कहा है कि यद्यपि विधि-विधान और सामाजिक अवस्था को किसी मनुष्य ने ही बनाया है फिर भी अपने आप नहीं बन गयी। इसके विकास में मनुष्य की सूझ-बूझ का प्रभाव रहा है।

10.3.2 रक्त सम्बन्ध— मानव को सामाजिक संगठन प्रदान करने में रक्त सम्बन्धों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इससे व्यक्ति में एकता की भावना का विकास होता है और वह अपने रक्त संबंधों के लिए निजी हितों का परित्याग कर सकता है। शोधजी में एक कटावत है कि खून पानी से गाढ़ा होता है। मैकाइवर के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का आरम्भ सामाजिक स्थिति के उस चरण में मिलता है जब लोगों का रक्त संबंधों या बन्धुत्व पर आधारित समूहों में परिवारों के संगठित संघ के रूप में, कबीले के निम्नतर भाग के रूप में, रक्त बन्धुता के रूप में या वंश के रूप में रहते थे। रक्त संबंध के आधार परिवार का उदाहरण देते हुए मैकाइवर ने कहा है पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों के समाज में पहला स्थान परिवार का है। परिवार व्यवस्था का उद्गम कब हुआ है? इसके संबंध में मैकाइवर ने लिखा है कि परिवारों का अस्तित्व काम-वृत्ति तथा सम्पत्ति जुटाने का परिणाम है। इन प्रवृत्तियों से जुड़े हुए हितों ने पारस्परिक संबंध बनाए रखने की प्रक्रिया को बल देकर समाज के संगठन में सहायता दी है। इस प्रकार रक्त संबंध के आधार पर पारिवारिक व्यवस्था निर्धारित होने लगी और जनसंख्या की वृद्धि के कारण कुटुम्ब का आधार बढ गया, इसके बाद कुल, समाज और फिर राज्य अस्तित्व में आया। रक्त सम्बन्धों की सुदृढ़ता के कारण लोगों में एकता की भावना का विकास हुआ।

10.3.3 धर्म— धर्म द्वारा समाज की एकता बहाली एवं राज्य उत्पत्ति के क्षेत्र में उल्लेखनीय भूमिका रही है। यह एक ऐसा माध्यम है जब समाज विघटन के कगार पर पहुँच जाता है, असत्य, अन्याय, अत्याचार, अपराध, अराजकता, मानवीय मूल्यों का ह्रास आदि अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब धर्म के द्वारा उसे सही राह (मार्ग) पर लाया जा सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब समाज में विघटन एवं मानवीय मूल्यों के ह्रास का दौर प्रारम्भ हुआ है, तब-तब धरती पर कोई न कोई मसीहा (पैगम्बर) प्रकट हुआ है। इसी धारणा को मद्देनजर रखते हुए विकासवादी विचारक धर्म को राज्य की उत्पत्ति का प्रमुख तत्त्व मान रहे हैं। विल्सन के अनुसार प्रारम्भिक समाज में धर्म समाज रक्त का प्रतीक उसकी एकता, पवित्रता और दायित्व की अभिव्यक्ति था। गैटल ने तो यहाँ तक लिखा है कि रक्त संबंध और धर्म एक ही वस्तु के दो रूप थे और समूह की एकता व उसके कर्तव्यों को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि असम्य मानव को सम्य बनाने एवं अनुशासन उत्पन्न करने में धर्म एक प्रभावी तत्त्व था। इस्लाम, ईसाई, सिख आदि धर्म हमारे नियमों को आधार मानकर शासन व्यवस्था का संचालन किया जा रहा है।

10.3.4 शक्ति— राज्य की उत्पत्ति में शक्ति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जैक्स ने कहा है कि "युद्ध ने राजा को जन्म दिया है।" मानव सम्यता एवं संस्कृति के विकास के समय मानव जीवन सरल एवं सन्तुष्ट था लेकिन समय बीतने के साथ जटिलता आने लगी और उसकी आवश्यकताएँ आसमान छुने लगी। जब मानव अपना बर्बर जीवन त्याग कर एक निश्चित स्थान पर रहने लगा, कृषि करने लगा तब उसमें संपत्ति संकलन करने की भावना जागृत हुई और उसके दिलो दिमाग में यह धारणा घर कर गयी कि उसे येन-केन प्रकारेण अधिक से अधिक संपत्ति प्राप्त करनी है। इस प्रवृत्ति ने संघर्ष और तनाव को जन्म दिया। इससे मनुष्य के जीवन में क्षण भंगुरता आने लगी उसके ऊपर जीवन व सम्पत्ति की असुरक्षा का खतरा मण्डरा रहा था। अतः शक्तिशाली व्यक्ति के नेतृत्व को स्वीकार करता है। संघर्ष की प्रक्रिया और आगे बढ़ती है। शक्ति नेतृत्व कबीले

पर आधिपत्य स्थापित करता है और कबीले का सरदार शासक बन जाता। इतिहास में अनेक उदाहरण हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि अनेक राज्य अपनी आत्मरक्षा के लिए एक शक्तिशाली राज्य के नेतृत्व में इकट्ठे हुए।

कार्ल मार्क्स ने शक्ति को आर्थिक पहलू से जोड़कर कहा है कि शक्तिशाली पूंजीपतियों ने अपने हितों की पूर्ति करने और राज्य की शक्ति के माध्यम से मजदूरों का अधिक से अधिक शोषण करने के लिए राज्य की उत्पत्ति की है। इस तरह आर्थिक शक्ति ने राज्य के निर्माण में योगदान दिया है।

10.3.5 आर्थिक गतिविधियाँ— आर्थिक गतिविधियों ने भी राज्य के विकास में सहायता दी है। गैटेल ने लिखा है कि आर्थिक चेष्टाएँ, जिनके द्वारा मनुष्य ने मौलिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की तथा बाद में सम्पत्ति और धन का संचय किया, राज्य के निर्माण में आवश्यक तत्व रही हैं। कार्ल मार्क्स ने तो यहाँ तक कह दिया कि राज्य आर्थिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति है। इस तरह जब आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन होता है तब सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में बदलाव आता है।

आदिम मानव अपनी बर्बर अवस्था में कन्दमूल एवं कच्चा मांस खाकर पेट भरता था। इस अवस्था में समाज में आर्थिक असमानता एवं गरीब—अमीर का भेद व्याप्त नहीं था। बाद में पशु पालन शुरू कर देता है परन्तु इस युग में गरीब—अमीर का भेद उत्पन्न हो जाता है। पशुपालन के दौर में मानव की आवश्यकताएँ बढ़ी और वह कृषि करने लगा। कृषि ने मानव के जीवन में व्यापक परिवर्तन ला दिया। अब मनुष्य एक निश्चित स्थान पर रहने लगा। इससे गाँवों व शहरों की उत्पत्ति हुई और आर्थिक रिवाज अधिक बढ़ा। इस तरह मानव को बढ़ती हुई आर्थिक क्रियाकलापों ने राज्य की उत्पत्ति में सहयोग दिया, क्योंकि मनुष्य के समक्ष आर्थिक सुरक्षा की प्रमुख समस्या थी।

10.3.6 राजनीतिक चेतना— राजनीतिक चेतना का तात्पर्य उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जागरूकता है जिनके हेतु राज्य की स्थापना की जाती है। इसीलिए राज्य के विकास में राजनीतिक चेतना को सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, राज्य निर्माण के सभी तत्वों की तह में, जिनमें रक्त सम्बन्ध व धर्म भी सम्मिलित हैं, राजनीतिक चेतना है, जो सबसे मुख्य तत्व है। ब्लुशली के अनुसार मनुष्य में सामाजिक जीवन की इच्छा ही राज्य निर्माण का कारण बनती है।

मानव जब अपनी बर्बर अवस्था को त्याग देता है और निश्चित स्थान पर रहने लगता है तथा निजी संपत्ति के संकलन करने लगता है तब समाज में संघर्ष को बढ़ावा मिलता है। ऐसी परिस्थितियों में मानव के सामने यह मुद्दा होता है कि वह अपने जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा कैसे करे? अतः उसके जहन में राज्य जैसी संस्था का विचार आता है। इस प्रकार मानव का यह विचार राजनीतिक चेतना के रूप में परिवर्तित होकर राज्य निर्माण का मार्ग प्रशस्त करती है।

10.4 सारांश

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में विकासवादी सिद्धान्त की मान्यता यह है कि राज्य का निर्माण किसी एक तत्व द्वारा नहीं हुआ है अपितु अनेक तत्वों जैसे मूल सामाजिक प्रवृत्ति, रक्त सम्बन्ध, धर्म, शक्ति, आर्थिक गतिविधियाँ, और राजनीतिक चेतना आदि। इन सभी का सामूहिक योगदान रहा है। गार्नर ने कहा है कि इनमें से किसी एक तत्व के कारण राज्य का उदय नहीं हुआ है वरन् सबके सामूहिक रूप से कार्य करने के परिणाम स्वरूप ही राज्य अस्तित्व में आया।

10.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. "राज्य एक विकसित वस्तु है न कि निर्मित।" इस कथन को स्पष्ट करते हुए राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. "राज्य आर्थिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
2. राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त क्या है?
3. धर्म राज्य के विकास में कैसे सहायक सिद्ध हुआ?
4. राज्य के विकास में मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का क्या योगदान है?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति के संबंध में गार्नर की क्या राय है?
2. **The Science of society** के लेखक बताओ।
3. "राज्य सद्जीवन के लिए अस्तित्व में आया और अच्छे जीवन के लिए बना रहेगा।" यह विचार किसका है?
4. "युद्ध ने राजा को जन्म दिया।" यह मत किसने दिया?

10.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ब्रजमोहन शर्मा एवं अनाम जैतली "राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त" राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर
2. ज्ञान सिंह सधु (सम्पादक) "राजनीति सिद्धान्त" हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

इकाई-11 : सम्प्रभुता का सिद्धान्त

संरचना

- 11.1 उद्देश्य
- 11.2 प्रस्तावना
- 11.3 सम्प्रभुता का अर्थ
- 11.4 सम्प्रभुता की परिभाषाएँ
- 11.5 सम्प्रभुता की प्रमुख विशेषताएँ
 - 11.5.1 स्थायित्व
 - 11.5.2 अनन्यता या अपवर्जितता
 - 11.5.3 सर्वव्यापकता
 - 11.5.4 अदेयता
 - 11.5.5 एकता
 - 11.5.6 अवधिरहितता
 - 11.5.7 अविभाज्यता
 - 11.5.8 निरंकुशता
 - 11.5.9 मौलिकता
- 11.6 सम्प्रभुता के प्रकार (स्वरूप)
 - 11.6.1 नाममात्र तथा वास्तविक सम्प्रभुता
 - 11.6.2 सवैधानिक प्रभुसत्ता
 - 11.6.3 राजनीतिक प्रभुसत्ता
 - 11.6.4 लौकिक प्रभुसत्ता
 - 11.6.5 कानूनन एवं वास्तविक प्रभुसत्ता
- 11.7 जॉन आस्टिन का सम्प्रभुता संबंधी सिद्धान्त
 - 11.7.1 राज्य का अनिवार्य तत्व
 - 11.7.2 निश्चितता का होना
 - 11.7.3 सर्वोच्च
 - 11.7.4 आज्ञाकारिता
 - 11.7.5 सम्प्रभु का आदेश ही कानून
 - 11.7.6 अविभाज्य
- 11.8 सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचनाएँ
 - 11.8.1 लोकप्रिय प्रभुसत्ता का विरोध
 - 11.8.2 निश्चित सम्प्रभु को खोज पाना कठिन
 - 11.8.3 शक्ति पर बल
 - 11.8.4 लोकतंत्र के विरुद्ध
 - 11.8.5 कानून सम्प्रभु का आदेश नहीं
 - 11.8.6 सम्प्रभुता अविभाज्य नहीं है
 - 11.8.7 सम्प्रभुता असीमित नहीं होती
 - 11.8.8 अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध
- 11.9 सारांश
- 11.10 अभ्यास प्रश्नावली
- 11.11 सन्दर्भ ग्रंथ—सूची

11.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य सम्प्रभुता के सम्बन्ध में व्यापक जानकारी हासिल करना है। इस अध्याय में आप जानेंगे—

- सम्प्रभुता किस प्रकार राज्य का अनिवार्य तत्त्व है,
- सम्प्रभुता के संबंध में विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण,
- सम्प्रभुता सिद्धान्त की विशेषताएँ, जो सर्वोच्चता, व्यापकता तथा स्थायित्व लिए हुए हैं,
- सम्प्रभुता के विभिन्न प्रकार,
- सम्प्रभुता के संबंध में जॉन आस्टिन के विचार,
- बहुलवादियों के द्वारा जो सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचना की गई है, उसे भी जानने का अवसर मिलेगा।

11.2 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों मनु एवं कौटिल्य ने राज्य के निर्माण संबंधी सप्तांग सिद्धान्त में राजा को सम्प्रभुता के प्रतीक के रूप में स्वीकार कर उसे सबसे अधिक महत्व दिया है और कहा गया है कि राजा (सम्प्रभु) के कमजोर होने की स्थिति में राज्य अपना अस्तित्व नहीं बनाए रख सकता।

राज्य अनेक तत्वों से मिलकर बनता है, जैसे— जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार और सम्प्रभुता। यद्यपि प्रत्येक तत्व का अपना एक विशेष महत्व होता है। एक भी तत्व के अभाव में राज्य नहीं कहला सकता। लेकिन इन सबसे महत्वपूर्ण सम्प्रभुता है क्योंकि अनेक प्रदेशों के पास यह तीसरा तत्व तो है लेकिन सम्प्रभुता नहीं होने के कारण राज्य की संज्ञा नहीं दी सकती है।

राजनीतिक सिद्धान्तों एवं विचारधाराओं के अध्ययन से ऐसा आभास होता है कि इन सभी में सम्प्रभुता का उल्लेख किसी न किसी रूप में अवश्य ही किया गया है। जैसे राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों में प्रभुसत्ता को केन्द्र बिन्दु रखते हुए विचार प्रतिपादित किये गये हैं। राज्य व व्यक्ति के बीच संबंध किस प्रकार के होने चाहिए इसका अध्ययन प्रभुसत्ता के अध्ययन के बिना नहीं किया जा सकता। विभिन्न शासन व्यवस्थाओं का निर्धारण भी प्रभुसत्ता की स्थिति के अनुसार किया जाता है। जब सम्प्रभुता का वास एक व्यक्ति में होगा तो राजतंत्र, कुछ व्यक्ति या वर्ग विशेष में होगा तो कुलीनतंत्र, और जब सम्प्रभुता का निवास आम जनता में होगा तो लोकतंत्र व्यवस्थाएँ स्थापित की जाती हैं।

उदारवादी दृष्टिकोण के अनुसार राजनीतिक समाज में संघर्षों को सीमित करने और विवादों को हल करके सामाजिक सामन्जस्य स्थापित करने और तालमेल बिठाने की प्रक्रिया होनी है और यह प्रक्रिया राज्य अथवा राजनीतिक व्यवस्था द्वारा अपनायी जाती है। राज्य की उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धान्तों के अध्ययन से ऐसा आभास होता है कि मानव अपनी आदिम अवस्था में था तब उसके सामने ऐसी कोई समस्याएँ नहीं थी जिनसे पारस्परिक संघर्ष हो लेकिन सम्यक्ता के विकास के साथ उसके जीवन में जटिलता उत्पन्न हुई और उसे एक ऐसी प्रभावी संस्था की आवश्यकता हुई जो उसके जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा को सुनिश्चित कर सके। मानव की संघर्ष की अवस्था पर अंकुश ला सके तथा उसके अनुचित व्यवहार पर आवश्यक नियन्त्रण स्थापित कर समाज में स्थाई शांति स्थापित करे और इसके लिए आवश्यकतानुसार कानून का निर्माण, कार्यान्वयन व व्याख्या कर सके। यह सभी प्रभुसत्ता से ही सम्भव था। अतः सम्प्रभुता से अभिप्रायः उस न्यायोचित सत्ता से है जिसके माध्यम से राज्य राजनीतिक प्रक्रिया सम्पन्न करने में सफल होता है। साधारण शब्दों में सम्प्रभुता से तात्पर्य 'सर्वोच्च सत्ता' अर्थात् जो आन्तरिक व बाहरी रूप से पूर्णतया स्वतन्त्र होती है और उसके ऊपर कोई सत्ता नहीं होती, जो उसको नियन्त्रित करती हो।

सम्प्रभुता राज्य की एकता का प्रतीक है। जिस प्रकार फूलों का ढेर माला नहीं हो सकता, क्योंकि माला बनने के लिए फूलों को धागे में पिरोना आवश्यक होता है, वीक उसी प्रकार समाज की जनसंख्या, जो अनियन्त्रित भीड़ के समान होती है उसको सही दिशा दिखाने एवं आज्ञापालन की भावना का विकास करवाने हेतु सम्प्रभुता आवश्यक है।

11.3 सम्प्रभुता का अर्थ

सम्प्रभुता की हिन्दी भाषा में प्रभुसत्ता या राजसत्ता के नाम से जाना जाता है। अंग्रेजी भाषा में इसको "सावरेन्टी" कहा जाता है जो लैटिन भाषा के "सुप्रेनस" शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है, सुपर अर्थात् सर्वोच्च तथा ऐनस का तात्पर्य शक्ति "सर्वोच्च शक्ति" अर्थात् राज्य आन्तरिक व बाहरी दोनों स्तरों पर सभी प्रकार के निर्णय में समर्थ है और उस पर किसी भी शक्ति का कोई दबाव या नियन्त्रण नहीं है। आन्तरिक सम्प्रभुता से अभिप्रायः यह है कि राज्य के अन्दर रहने वाले सभी व्यक्ति, संस्थाएँ उसके अधीन होती हैं। यदि वे उसकी आज्ञा का पालन न करे तो उसे उचित दण्ड देने का अधिकार है। बाहरी सम्प्रभुता का यह अर्थ है कि राज्य किसी भी बाहरी देश या संस्था के अधीन नहीं है। प्रत्येक राज्य अपने हितों के अनुसार नीति का निर्धारण कर सकता है। यह राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह किस राज्य के साथ संधि, समझौता या युद्ध करे। इस प्रकार सम्प्रभुता राज्य को वह दर्जा प्रदान करती है जिसकी कल्पना सम्प्रभुता के अभाव में नहीं की जा सकती है। इस तरह से सम्प्रभुता आधुनिक समय में भी राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है।

11.4 सम्प्रभुता की परिभाषाएँ

सम्प्रभुता के संबंध में विभिन्न विचारकों द्वारा भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं। जिनका विवरण निम्नलिखित हैं—

1. बॉदों के अनुसार "नागरिकों और शासितों के ऊपर ऐसी शक्ति है जिस पर कानून का कोई बन्धन नहीं होता।"
2. जेलिनेक के शब्दों में "सम्प्रभुसत्ता राज्य का वह गुण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या बाहरी शक्ति के आदेश से नहीं बंधता है।"
3. बोडिन के मतानुसार, "प्रभुसत्ता नागरिकों तथा प्रजा के ऊपर वह परम शक्ति है जो कि कानून के नियन्त्रण में नहीं है।"
4. बर्गेस का कहना है कि "प्रभुसत्ता प्रत्येक प्रजाजन व उसके समुदायों पर राज्य की मौलिक, निरंकुश तथा असीमित शक्ति है।"
5. विलोबी का तर्क है कि "प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोप्युक्त इच्छा होती है।"
6. वुडरो विल्सन के अनुसार "प्रभुसत्ता वह शक्ति है जो प्रतिदिन क्रियाशील रहकर कानून बनाती है और उनका पालन कराती है।"
7. लास्की के अनुसार, "प्रभुसत्ताधारी कैधानिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय से उच्चतर है। वह सभी को अपनी इच्छानुसार कार्य करने को बाध्य करती है।"
8. ब्लैकस्टोन का कहना है कि "प्रभुसत्ता वह अनिवार्य, सर्वोच्च और अनियन्त्रित शक्ति है, जिसमें सर्वोच्च कानूनी शक्ति निवास करती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह सिद्ध होता है कि प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोच्च शक्ति है, इसके बिना न तो राज्य की कल्पना की जा सकती है और न ही राज्य इसके अभाव में नीतिगत फैसले ले सकता है।

11.5 सम्प्रभुता की प्रमुख विशेषताएँ

सम्प्रभुता की उपरोक्त धारणा के आधार पर निम्नलिखित विशेषताएँ सामने आती हैं—

11.5.1 स्थायित्व— इससे अभिप्राय: यह है कि राज्य और सम्प्रभुता के बीच घनिष्ठ संबंध है। जब तक राज्य बना रहेगा तब तक सम्प्रभुता कायम रहेगी। सम्प्रभुताधारी के बदलने से या राज्य के पुनर्गठन से सम्प्रभुता का नाश नहीं होता है। इसके लिए इंग्लैण्ड में यह कहा जाता है कि राजा मर गया परन्तु राजमुकुट विरायु हो। गार्नर ने लिखा है कि प्रभुसत्ता मृत्यु अथवा विशेष वाहक के अस्थाई रूप में अधिकार वंचित अथवा राज्य के पुनर्निर्माण के साथ समाप्त नहीं होती बल्कि तुरन्त नए वाहक के हाथ में उसी प्रकार बदल जाती है, जैसे भौतिक शरीर के बाहरी परिधान के समय आकर्षण का केन्द्र एक अंग से दूसरे अंग में बदल जाता है।

11.5.2 अनन्यता या अपवर्जितता— इससे तात्पर्य यह है कि एक राज्य में एक से अधिक सम्प्रभुता नहीं रह सकती। जिस प्रकार एक स्थान में एक ही तलवार होती है ठीक उसी प्रकार की स्थिति राज्य की होती है। एक से अधिक सम्प्रभु मान लेने पर राज्य की एकता नष्ट हो जाती है।

11.5.3 सर्वव्यापकता— सम्प्रभुता सर्वव्यापी होती है। राज्य की सीमा में रहने वाले सभी व्यक्ति एवं संस्थाएँ उसके नियन्त्रण में होती हैं और उसके प्रत्येक कानून की पालना तो करती ही है, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इसकी सर्वव्यापकता का प्रभाव देखा जा सकता है क्योंकि इसके कारण राज्य स्वतन्त्र रूप से अन्तर्राष्ट्रीय नीति बाहरी क्षेत्र में उसे विश्व जनमत को ध्यान में रखकर निर्णय लेना होता है।

11.5.4 अदेयता— इसका अर्थ यह है कि प्रभुसत्ताधारी अपनी प्रभुसत्ता दूसरे को देकर स्वयं सम्प्रभुताधारी नहीं रह सकता है। यह स्थिति सम्प्रभुता के लिए घातक होती है। बार्नर ने कहा है कि सम्प्रभुता राज्य का व्यक्तित्व और उसकी आत्मा है। जिस प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व अदेय है और वह किसी दूसरे को नहीं दे सकता, इसी प्रकार राज्य की सम्प्रभुता भी किसी अन्य को नहीं दी जा सकती। लीवर ने कहा है कि जिस प्रकार आत्म-हत्या के बिना मनुष्य अपने जीवन को या वृक्ष अपने फलने-फूलने के गुण को पृथक् नहीं कर सकता है, उसी प्रकार प्रभुसत्ता को भी राज्य से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

11.5.5 एकता— जिस प्रकार मानव शरीर के विभिन्न अंगों में एकता पायी जाती है ठीक उसी प्रकार सम्प्रभुता में भी एकता का लक्षण विद्यमान है क्योंकि सम्प्रभुता अविभाज्य, अहस्तान्तरित एवं अनन्यता होती है। सम्प्रभुता की एकता भंग होने का तात्पर्य राज्य के अस्तित्व के सम्मुख संकट उठ खड़ा होना है।

11.5.6 अवधिरहितता— इसका अर्थ यह है कि यदि प्रभुसत्ताधारी कुछ समय तक अपनी सम्प्रभुता का प्रयोग न करे तो, उसकी सम्प्रभुता नष्ट नहीं होती है।



11.5.7 अविभाज्यता— सम्प्रभुता को दो या दो से अधिक भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता है। सम्प्रभुता बांटने से अभिप्रायः राज्य एकता को भंग करना है। कोल्होन के अनुसार सर्वोच्च सत्ता एक पूर्ण वस्तु है। इसको विभक्त करना, इसको नष्ट करना है। यह राज्य की सर्वोच्च शक्ति है। जिस प्रकार हम अर्द्ध वर्ग या अर्द्ध त्रिभुज की कल्पना नहीं कर सकते। सम्प्रभुता को विभाजित नहीं किया जा सकता है।

11.5.8 निरंकुशता— सम्प्रभुता की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसका निरंकुश होना भी है। अर्थात् सम्प्रभुधारी जब अपनी शक्ति का प्रयोग करता है तो उस पर कोई नियन्त्रण या अंकुश न होता और न ही किसी कानून या परम्परा द्वारा ऐसा किया जा सकता है। जिससे उसके कार्य में रुकावट पैदा होती है। विलोबी के अनुसार सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।

11.5.9 मौलिकता— सम्प्रभुताधारी अपनी जिन शक्तियों का प्रयोग कर जनता को अनुभव करवाता है, उससे राज्य एवं समाज की व्यवस्था संचालित होती है। वह शक्ति उसे किसी द्वारा प्राप्त न होकर उसके अपने अधिकार है। मौलिकता इसकी महत्वपूर्ण विशेषता है।

11.6 सम्प्रभुता के प्रकार (स्वरूप)

सम्प्रभुता के अनेक प्रकार या स्वरूप दिखाई देते हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है—

11.6.1 नाममात्र तथा वास्तविक सम्प्रभुता— जब राजतांत्रिक व्यवस्था अपने सर्वोच्च शिखर पर थी तब शासन की वास्तविक शक्तियों का प्रयोग राजा के द्वारा किया जाता था, लेकिन जैसे-जैसे संवैधानिक सुधार होने लगे, उससे राजा की शक्ति कमजोर होने लगी और संसद शक्ति का वास्तविक केन्द्र बन गई। इस तरह जहाँ संसदीय व्यवस्था अपनायी गयी है, वहाँ कार्यपालिका के दो रूप; अर्थात् नाममात्र एवं वास्तविक, देखने को मिलता है। संविधान द्वारा संघर्ष शक्तियाँ नाममात्र के प्रमुख को प्रदान की जाती हैं लेकिन वास्तविक प्रयोगकर्ता प्रधानमंत्री या मंत्रिमण्डल ही होता है। इंग्लैण्ड में सम्राट व भारत में राष्ट्रपति नाममात्र की प्रभुसत्ता के रूप में हैं। इस संबंध में लावेल ने लिखा है कि संविधान के प्रारम्भिक सिद्धान्त के अनुसार सम्राट के परामर्शदाता मंत्रिमण्डल होते थे। उनका कार्य था— मन्त्रणा देना तथा सम्राट का कार्य था निर्णय! परन्तु अब स्थिति बदल गयी है, अब सम्राट मन्त्रणा देता है और मंत्री निर्णय करते हैं। दोनों ही देशों में वास्तविक सम्प्रभुता का प्रयोग प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद करती है।

11.6.2 संवैधानिक प्रभुसत्ता— किसी भी देश में वहाँ की सर्वोच्च कानून बनाने वाली शक्ति को कानूनी प्रभुसत्ता कहते हैं जिसे उस देश में संविधान बनाने, संशोधन करने और रद्द करने का पूरा अधिकार होता है। इंग्लैण्ड में संसद व राजा कानूनी प्रभुसत्ताधारी हैं। डायसी के अनुसार ब्रिटिश संसद संवैधानिक दृष्टि से इतनी शक्तिशाली है कि वह शिशु को प्रौढ़ करार दे सकती है। वह मृत्यु के बाद किसी भी व्यक्ति को राजद्रोही सिद्ध कर सकती है। वह गैर— कानूनी संतान को कानूनी करार दे सकती है और यदि वह उचित समझे तो किसी व्यक्ति को अपने मामले में न्यायाधीश बना सकती है।

11.6.3 राजनीतिक प्रभुसत्ता— इसके तहत कानूनी एवं राजनीतिक प्रभुसत्ता की अलग-अलग इकाईयाँ होती हैं। कानूनी दृष्टि से इंग्लैण्ड में संसद प्रभुसम्पन्न है, लेकिन वास्तव में संसद पर अनेक प्रतिबंध होते हैं। संसद जनहित के विरुद्ध कानून नहीं बना सकती, क्योंकि संसद के सदस्यों का चुनाव जनता करती है और निश्चित कालावधि में जनता के सम्मुख जाना पड़ता है और जनता उन पर उचित नियन्त्रण रखती है। अतः संसद पर नियन्त्रण करने वाली शक्ति राजनीतिक सम्प्रभुता कहलाती है। डायसी के शब्दों में जिस सम्प्रभु को वकील लोग मानते हैं, उसके पीछे दूसरा सम्प्रभु होता है। इस सम्प्रभु के सामने कानूनी सम्प्रभु को सिर झुकाना ही पड़ता है, जिसकी इच्छा को अन्तिम रूप में राज्य के नागरिक मानते हैं, वही राजनीतिक सम्प्रभु है। अतः राजनीतिक सम्प्रभुधारी से हमारा आशय मतदाताओं तथा राज्य के उन अन्य प्रभावों से जो लोकमत को प्रभावित करते हैं, जैसे— समाचार—पत्र, राजनीतिक दल, दबाव समूह आदि कानून निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

11.6.4 लौकिक या लोक सम्प्रभुता— इस सम्प्रभुता से तात्पर्य यह है कि जनता की शक्ति सबसे बड़ी होती है और सम्प्रभुता का अधिवास उसी में है। जनता अपने हित के लिए एक सम्प्रभुधारी को शक्ति प्रदान करती है, जिसका यह दायित्व बनता है कि वह जनहितों को दृष्टिगत रखते हुए नीतिगत फैसले ले अन्यथा उसे जन—आक्रोश का सामना करना पड़ता है। इस सिद्धान्त का प्रयोग अनेक राजनीतिक चिन्तकों के द्वारा निरंकुशता का खण्डन करने के लिए किया। गार्नर के अनुसार लौकिक प्रभुसत्ता का अभिप्रायः केवल यही नहीं कि जिन राज्यों में वयस्क को मत देने का अधिकार है, अपितु उनमें मतदाताओं को अपनी इच्छा प्रकट करने और उस पर अमल करवाने की सत्ता प्राप्त है। वर्तमान लोकतान्त्रिक राष्ट्रों में लौकिक सम्प्रभुता अथवा लोक सम्प्रभुता का सिद्धान्त प्रचलित है।

11.6.5 कानून एवं यथार्थ प्रभुसत्ता— संविधान द्वारा जिस व्यक्ति या समूह को शासन करने का अधिकार प्रदान करता है उसे वैध प्रभुसत्ता कहते हैं और एक देश में व्यवहार में जिस व्यक्ति या समूह द्वारा प्रयोग किया जाता है उसे यथार्थ प्रभुसत्ता कहते हैं। यथार्थ या वास्तविक प्रभुसत्ता को परिभाषित करते हुए ब्राइस ने कहा है कि “यथार्थ सम्प्रभुता उस व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के उस समूह में पायी जाती है जो कानूनन तथा गैर कानूनन अपनी इच्छा को राज्य में कार्यान्वित कर सकता है।”

11.7 जॉन आस्टिन का सम्प्रभुता संबंधी सिद्धान्त

सम्प्रभुता की अवधारणा की सुस्पष्ट व्याख्या करने का श्रेय इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विधिवेत्ता जॉन आस्टिन (1790—1859) को जाता है। यह व्याख्या इन्होंने अपनी पुस्तक “विधि शास्त्र पर व्याख्यान” (Lectures on Jurisprudence) में की है। यह पुस्तक 1832 ई. को प्रकाशित हुई। आस्टिन, हॉब्स, और बेन्थम के विचारों से बहुत प्रभावित था। जहाँ हॉब्स सामाजिक समझौता सिद्धान्त के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर था, उसके सामने जीवन व संपत्ति की सुरक्षा की चिन्ता थी, इसीलिए वह राज्य की उत्पत्ति करता है और इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए वह निरंकुश व सर्वोच्च सम्प्रभुता की कल्पना करता है। वहीं

बेन्थम अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त के आधार पर यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि राज्य वही अच्छा है जो अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख में अधिकाधिक वृद्धि करता हो। उसका कहना है कि "उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश ही कानून होता है।" इसी से प्रेरित होकर आस्टिन सम्प्रभुता की अवधारणा का प्रतिपादन करता है। जो इस प्रकार है कोई निश्चित उच्चसत्ताधारी मनुष्य, जो स्वयं किसी वैसे ही उच्च सत्ताधारी के आदेश पालन का अभ्यस्त न हो, यदि मनुष्य समाज के बड़े भाग से स्थायी रूप में अपने आदेशों का पालन कराने की स्थिति में हो तो वह उच्चसत्ताधारी मनुष्य उस समाज में सम्प्रभु होता है और वह समाज एक राजनीतिक व स्वाधीन समाज अर्थात् राज्य होता है। आस्टिन के सम्प्रभुता संबंधी विचार से निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

11.7.1 राज्य का अनिवार्य तत्त्व— आस्टिन का मत है कि जो राजनीतिक व स्वतन्त्र समाज है अर्थात् राज्य के लिए सम्प्रभुता का होना निहायत आवश्यक है। जिस प्रकार जल के बिना मछली जीवित या अस्तित्व बनाये नहीं रख सकती ठीक उसी प्रकार राज्य की सम्प्रभुता के बिना परिकल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि यह एक ऐसा तत्त्व है जो संगठित समाज की स्वाधीनता का सूचक है।

11.7.2 निश्चितता का होना— सम्प्रभुता का तत्त्व निश्चितता की आधारशिला पर टिका हुआ होता है अर्थात् सम्प्रभुता एक मानव या मानव समूह के रूप में हो सकती है। यह सामान्य इच्छा, प्राकृतिक कानून, दैवी इच्छा, जनमत जैसे भावात्मक प्रतीकों में निहित नहीं हो सकती। यह एक ऐसी निश्चित सत्ता होती है जिस पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं होता।

11.7.3 सर्वोच्च— सम्प्रभुधारी के उच्चतर ऐसी कोई शक्ति नहीं होती है जो उसको आदेश दे और आदेश की पालना करने के बाध्य करें। आन्तरिक व बाहरी दोनों ही स्तरों पर यह सर्वोच्च है और कोई भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसके नीतिगत फैसले को प्रभावित नहीं कर सकता।

11.7.4 आज्ञाकारिता— सम्प्रभु शक्ति को समाज की बहुसंख्या से पूर्ण आज्ञाकारिता प्राप्त होनी चाहिए। समाज के लोगों में आज्ञा का पालन करना स्वभाव से होना चाहिए न कि यदा कदा या दबाव पर आधारित।

11.7.5 सम्प्रभु का आदेश ही कानून— आस्टिन का तर्क है कि सम्प्रभुधारी का आदेश ही कानून होता है, उसे कही, पर किसी के द्वारा किसी भी रूप में चुनौती नहीं दी जा सकती, यदि कोई उसके आदेश की अवहेलना करने का प्रयास करता है तो वह दण्ड का भागीदार होगा।

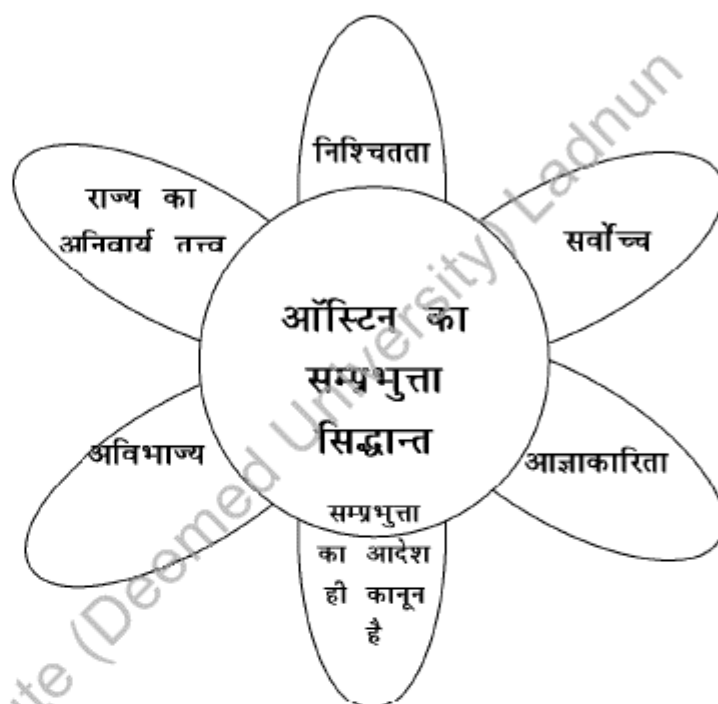
11.7.6 अविभाज्य— जिस प्रकार विभाजित मानव शरीर के अंगों का कोई अस्तित्व नहीं होता और इस स्थिति में सम्पूर्ण शरीर और मानव जीवन के अस्तित्व पर प्रश्न विन्द लग जाता है, ठीक उसी प्रकार सम्प्रभुता का विभाजन करने पर सम्प्रभुता तो प्रभावित होती ही है साथ में राज्य के अवसान की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जान आस्टिन ने सम्प्रभुता के एकत्ववादी (monistic) अवधारणा का प्रतिपादन किया है।

11.8 सम्प्रभुता सिद्धान्त आस्टिन के विचारों की आलोचनाएँ

जान आस्टिन ने सम्प्रभुता को राज्य का आवश्यक तत्त्व मानते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि सम्प्रभुता सर्वोच्च, असीमित, निरंकुश, सर्वव्यापक होती है। जिसके बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती, यह राजनीतिक दृष्टि से संगठित समाज को आधार प्रदान करती है, यह समाज की स्वाधीनता का द्योतक है आदि। यह सिक्के का एक पहलू है। दूसरे पहलू के तहत इसकी व्यापक आलोचना की गई और यह कहा गया है कि इस विचारधारा से व्यक्ति की स्वतन्त्रता संकट में पड़ जाती है और सम्प्रभुधारी अपनी शक्ति का अनुचित लाभ उठाकर तानाशाह बन जाता है। इसकी आलोचना बहुलवादियों के द्वारा की गई है, जो इसके विरुद्ध विचारों का प्रतिपादन करते हैं। ये आलोचनाएँ निम्नलिखित रूप से हैं—

11.8.1 लोकप्रिय प्रभुसत्ता के विरुद्ध— लोकप्रिय या लौकिक प्रभुसत्ता इस बात पर बल देती है कि सम्प्रभुता का वास जनता में होना चाहिए यही समय की मांग है क्योंकि आधुनिक विश्व राज्यों में लोकतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन-प्रणाली के रूप में स्वीकार किया गया है जिसका आधार भी जनता होता है। इसके अलावा रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त की अनदेखी की गयी है। मैकाइवर अपनी पुस्तक 'मॉडर्न स्टेट' (The Modern State) में लिखते हैं कि आस्टिन की विचारधारा उपनिवेशों के राजनीतिक जीवन पर लागू होती है, क्योंकि उस विचारधारा की विषय वस्तु स्वामी और दास के सम्बन्ध की व्याख्या मात्र है।



11.8.2 निश्चित सम्प्रभु को खोज पाना कठिन— सर हेनरी मेन ने अपनी कृति **Early Institutions** में लिखा है कि इतिहास में इस प्रकार के निश्चित सम्प्रभुधारी (जनश्रेष्ठ) का उदाहरण नहीं मिलता है। मध्य युग में यह तय करना कठिन था कि राज्य सम्प्रभु है या चर्च। सामन्तों के युग में सामन्तों की शक्ति कम नहीं थी। वर्तमान समय में भी यह तय नहीं किया जा सकता कि सम्प्रभुता की शक्ति का प्रयोग कौन कर रहा है?

11.8.3 शक्ति पर बल— सम्प्रभुता सिद्धान्त एवं आस्टिन के विचारों से ऐसा प्रतीत होता है कि शक्ति को बहुत महत्व देते हुए शक्ति ही सार पर ही सारा बल दिया गया है। लेकिन वास्तविकता यह है कि जनता कानून का पालन भय या दण्ड के कारण नहीं करती, अपितु अपनी इच्छानुसार करती है। क्योंकि उन्हें अच्छी तरह मालूम होता है कि कानून के पालन से प्राप्त लाभ या सुविधा कानून के विरोध से प्राप्त लाभ या सुविधा की तुलना में काफी अधिक होते हैं। हर्नशा का कहना है कि आस्टिन के दर्शन में हवलदारी की गंध पायी जाती है। शक्ति पर अत्यधिक बल दिये जाने से सम्प्रभुता का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

11.8.4 लोकतन्त्र के विरुद्ध— सम्प्रभुता एवं आस्टिन के सिद्धान्त के अनुसार सम्प्रभुता एक व्यक्ति में निहित होती है, जबकि आधुनिक लोकतन्त्र में प्रभुसत्ता की शक्ति जनता में निहित मानी जाती है और जनता की इच्छा ही सर्वोपरि होती है। जनता अपने मत के माध्यम से निश्चित समयावधि के लिए सम्प्रभु को तय कर देती है जो जनता के प्रति जवाबदेही होकर कार्य करता है और वह जनहित की अनदेखी करने का साहस नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उसके दुष्परिणाम भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए, क्योंकि सम्प्रभु को जनता अपनी मत की शक्ति द्वारा पदच्युत कर सकती है। आस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त एक व्यक्ति को सर्वोपरि मानते हुए उसकी शक्ति को बढ़ाने पर बल दिया जाता है।

11.8.5 कानून सम्प्रभुधारी का आदेश नहीं— जॉन आस्टिन का यह विचार कि कानून सम्प्रभु का आदेश होता है, जो स्वीकार नहीं किया जा सकता। आलोचकों की राय में आस्टिन यह कहकर कानून के अन्य स्रोतों जैसे— रीतिरिवाज, परम्परा, संविधान व्यवस्थापिका, न्यायालय के निर्णय, संविधान संशोधन आदि की उपेक्षा करता है। कौटिल्य लिखता है कि, धर्म, औचित्य या न्याय परम्पराएँ व्यवहार की शर्तें परम्परागत नियम व प्रथाएँ तथा राजा के आदेश कानून के स्रोत होते हैं। आधुनिक समय में भी परम्पराएँ, न्यायिक निर्णय, न्यायिक टीकाएँ, संविधान आदि कानून के स्रोत होते हैं जिनकी अनदेखी चाहे कितना भी शक्तिशाली सम्प्रभु क्यों न हो? विरोध नहीं कर सकता। इस तरह कानून वे नियम और व्यवस्थागत मान्यताएँ होती हैं, जिन्हें राज्य बनाता और समाज मान्यता प्रदान करता है।

11.8.6 सम्प्रभुता अविभाज्य नहीं है— बहुलवादियों का मानना है कि सम्प्रभुता एक सर्वशक्तिमान राज्य में अविभाज्य नहीं रह सकती बल्कि यह विभक्त की जा सकती है। इनके अनुसार सम्प्रभुता राज्य की अनेक इकाईयों के पास रहती है क्योंकि मनुष्य के जीवन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अनेक संस्थाएँ पायी जाती हैं जिनमें से राज्य भी एक राजनीतिक संस्था है जो अन्य इकाईयों से शक्तिशाली न होकर समक्ष होती है। इसके अलावा संघात्मक व्यवस्था में राज्य द्वारा अपनी सम्प्रभुता की शक्ति का आवश्यक विभाजन किया जाता है।

11.8.7 सम्प्रभुता असीमित नहीं होती— बहुलवादियों का तर्क है कि सम्प्रभुता सीमित होती है। ब्लुंशली लिखता है कि राज्य अपने समस्त स्वरूप में सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता, क्योंकि बाहरी मामलों में वह अन्य राज्यों के अधिकारों से और आन्तरिक क्षेत्र में स्वयं की प्रकृति तथा अपने सदस्यों के व्यक्तिगत अधिकारों से सीमित है। आलोचकों का कहना है कि परम्पराएँ, धर्म, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, नागरिक अधिकार अन्य समुदायों का अस्तित्व आदि राज्य की सम्प्रभुता को नियन्त्रण में रखते हैं।

11.8.8 अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध— अन्तर्राष्ट्रीयवाद की अवधारणा ने सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार के रूप में तब्दील कर दिया है। केवल एक राज्य दूसरे राज्य के नजदीक नहीं आया है अपितु विश्व के सभी देश एक छत के नीचे (संयुक्त राष्ट्र संघ) के साथ आ गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों ने राज्य की सम्प्रभुता को सीमित कर दिया है जैसे सम्प्रभु राज्य किसी भी दूसरे राज्य पर आक्रमण कर सकता है। लेकिन उसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज के जनमत के विरोध का सामना करना पड़ता है और उस पर जवाबी कार्यवाही की जा सकती है।

11.9 सारांश

इस प्रकार चर्चयुक्त विवेचना के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि सम्प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना के बावजूद इसका अपना एक विशेष महत्व है जिसके बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती और नहीं इसके बिना राज्य अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है। राज्य और समाज को एकता के सूत्र में बांधने में इसका प्रमुख योगदान होता है। यद्यपि बहुलवादी जो इसके आलोचक हैं वे भी राज्य को एक राजनीतिक इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं और अन्य इकाईयों की तुलना में राज्य को महत्व देते हैं। उनका भी तर्क है कि व्यवस्था के सुचारु रूप से संचालन तय करने के लिए राज्य के पास कुछ विशेष शक्ति का होना जरूरी होता है। ताकि वह अन्य इकाईयों के बीच उठने वाले मतभेदों का समाधान कर सके। सम्प्रभुता सिद्धान्त से ऐसा प्रतीत होता है कि यह निरंकुशता का मार्ग प्रशस्त करता है और लोकतांत्रिक मूल्यों पर कुठाराघात करता है। लेकिन सम्प्रभुता की शक्ति अब सीमित नहीं रही है। उसे अनेक स्रोतों से नियन्त्रण में लिया जा रहा है। जैसे जनमत, परम्पराएँ, संविधान, नागरिक अधिकार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून आदि। वर्तमान में संयुक्त राष्ट्रसंघ भी राज्य की सम्प्रभुता को नियन्त्रित करता है।

11.10 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सम्प्रभुता को परिभाषित करत हुए उसकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. आस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

लघुतरात्मक प्रश्न

1. सम्प्रभुता का अर्थ स्पष्ट करो।
2. नाममात्र की वास्तविक सम्प्रभुता क्या है?
3. संवैधानिक प्रभुसत्ता किसे कहते हैं?
4. राज्य के लिए सम्प्रभुता अनिवार्य तत्व है सिद्ध कीजिये।
5. बहुलवादियों ने सम्प्रभुता के सिद्धान्त की किन आधारों पर आलोचना की है?

अति लघुतरात्मक प्रश्न

1. सम्प्रभुता का शाब्दिक अर्थ क्या है?
2. सम्प्रभुता की सर्वप्रथम व्याख्या किसने प्रस्तुत की?
3. प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोच्च इच्छा होती है यह कथन किसका है?
4. जॉन आस्टिन की प्रमुख रचना का नाम बताओ।

11.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ज्ञान सिंह संधु (सम्पादक) "राजनीति सिद्धान्त" हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
2. आर.सी.अग्रवाल "राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त" एस.चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली।

इकाई-12 : राज्य के कार्य एवं राज्य का औचित्य

संरचना

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रस्तावना

12.3 राज्य के कार्य एवं औचित्य

12.3.1 बाहरी आक्रमणों से रक्षा

12.3.2 आन्तरिक शांति – व्यवस्था

12.3.3 न्याय व्यवस्था

12.3.4 सार्वजनिक शिक्षा

12.3.5 सार्वजनिक स्वास्थ्य

12.3.6 उत्पादन में वृद्धि

12.3.7 बेसहारों का सहारा

12.3.8 मनोरंजन का प्रबन्ध

12.3.9 आर्थिक असमानता का अन्त

12.3.10 श्रम सुधार

12.3.11 विदेश नीति का संचालन

12.3.12 सामाजिक न्याय पर बल

12.3.13 नागरिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था

12.3.14 प्राकृतिक आपदाओं में सहायता

12.4 सारांश

12.5 अभ्यास प्रश्नावली

12.6 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

12.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य मानवीय विकास का पर्याय बन चुकी संस्था राज्य के कर्तव्य तथा औचित्य के बारे में जानना है। इसमें आप जानेंगे—

- राज्य के संबंध में विभिन्न विचारधाराओं एवं विद्वानों के तर्क,
- राज्य किस प्रकार मानव के सर्वांगीण विकास में भूमिका अदा करता है,
- राज्य के लोककल्याणकारी स्वरूप,
- राज्य की बढ़ती भूमिका तथा कार्यों को भी जानने का अवसर प्राप्त होगा।

12.2 प्रस्तावना

मनुष्य सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है, जो मनुष्य समाज एवं राज्य में नहीं रहता, वह देवी-देवता है या फिर पशु।

— अरस्तु

राज्य, राजनीतिविज्ञान के अध्ययन का केन्द्रीय विषय है। इसमें में अधिकांश सिद्धान्तों एवं विचारधाराओं का प्रतिपादन राज्य और व्यक्ति को केन्द्रीय आधार मानकर किया गया है। कुछ विचारधाराएँ राज्य को अधिक महत्व देती हैं, तो कुछ व्यक्ति को। लेकिन अधिकांश विचारधाराएँ राज्य के अस्तित्व को स्वीकार करती हैं और संगठित समाज की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में राज्य को माना जाता है। राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों से यह सिद्ध होता है कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य ने अपनी आवश्यकता एवं परिस्थितियों के अनुसार की है।

राज्य का कार्यक्षेत्र क्या होना चाहिए? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। इसको लेकर अनेक विद्वानों द्वारा अपने विचार एवं सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। हीगल जिसे उग्र

आदर्शवादी माना जाता है, उसके अनुसार राज्य साधन नहीं, साध्य है। अर्थात् राज्य व्यक्ति के लिए नहीं बना है, अपितु व्यक्ति राज्य के लिए बना है। भारतीय राजनीतिक चिन्तक मनु एवं कौटिल्य राज्य को सर्वशक्तिमान के रूप में पेश करते हैं। जॉन लॉक के अनुसार राज्य का जन्म स्वयं के हित साधनों में वृद्धि करने के लिए न होकर अच्छे नागरिकों के जीवन और उन्नतशील समाज के निर्माण के लिए हुआ है। अरस्तू के अनुसार राज्य मानव जीवन के लिए लिए बना है और सद्व्यवस्था के लिए बना रहेगा। लारकी ने कहा है कि राज्य मानवीय आचरण को सन्तुलित करने का एक तरीका है। राज्य ऐसे नियम बनाता है जिससे मनुष्य अपने जीवन को सन्तुलित व नियमित करता है। समाजवादी राज्य को अधिक से अधिक कार्य देने के पक्षधर है। आधुनिक राज्य का स्वरूप लोककल्याणकारी है जिससे राज्य के कार्यक्षेत्र में दिन-दुगुणी रात चौगुनी वृद्धि हुई है, आज ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो राज्य की नियन्त्रण सीमा से बाहर हो। क्योंकि "लोककल्याणकारी राज्य से अभिप्रायः ऐसे राज्य से है, जो व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पन्न होने वाली तमाम जन उपयोगी क्रियाओं का संचालन करता है।" इनके विपरीत ऐसे अनेक विचारक एवं विचारधाराएं हैं जो राज्य का विरोध करती हैं। व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में देखते हैं और इस कारण वे राज्य को कम से कम कार्य देने की बात करते हैं। साम्यवादी राज्य को एक शोषणकारी संस्था के रूप में चित्रित करते हैं और यह कहते हैं कि यह पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करता है और श्रमिकों का शोषण सहन करता है। जिससे समाज में शोषण एवं वर्ग को प्रोत्साहन मिलता है। अतः आदर्श अवस्था राज्य विहिन समाज की होगी। अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक बुराई के रूप में देखते हैं। उनका तर्क है कि राज्य अनुचित कानून बनाकर व्यक्ति स्वतन्त्रता की समाप्त करती है अतः इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती इसलिए इसे समाप्त कर दिया जाना चाहिए। उपयोगितावाद (बेन्थम) के अनुसार राज्य का आधार सुखवाद है इसलिए वही राज्य अच्छा है जो जनता के अधिकाधिक सुखों में वृद्धि एवं कष्टों का निवारण करता है।

12.3 राज्य के कार्य एवं औचित्य

यह सिद्ध हो चुका है कि राज्य और मानव का अटूट रिश्ता है। दोनों का एक दूसरे के बिना कोई अस्तित्व नहीं है। सृष्टि निर्माण के प्रारम्भिक दौर में राज्य नामक संस्था का अभाव था लेकिन जैसे-जैसे मानव सम्यक्ता व संस्कृति का विकास होता गया है वैसे-वैसे उसके जीवन में जटिलता एवं चुनौतियाँ आने लगी। वह उनसे मुक्ति की आशा में राज्य की उत्पत्ति करता है। इस तरह राज्य का प्रमुख कार्य या दायित्व या औचित्य यह है कि वह लोगों के कष्टों का निवारण करने, उनके जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा प्रदान करने, सामाजिक व्यवस्था के सफल संचालन हेतु नीतिगत निर्णय ले, उन फैसलों (कानूनों) को लागू करे तथा विरोध करने वालों को दण्डित करे आदि। औद्योगिक क्रांति, राजनीतिक चेतना का विकास, नवीन आविष्कारों आदि ने राज्य के कार्यक्षेत्र को बढ़ा दिया है। राज्य पहले से जो कार्य करता आया है वे कर ही रहा था लेकिन और कार्य जुड़ गये जैसे- जनहित, आर्थिक समानता, सामाजिक न्याय इत्यादि।

जॉन लॉक के अनुसार, "राज्य का उद्देश्य मानव-हित है।" ब्लुंशली के मतानुसार "राज्य का कार्य सार्वजनिक कल्याण है।" गिडिंग्स के अनुसार "ऐसा वातावरण बनाए रखता है जिसमें सभी प्रजाजन सर्वोच्च एवं आत्मनिर्भर जीवन बिता सकें।" रिशी के अनुसार "राज्य ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिससे व्यक्ति द्वारा सर्वोत्तम जीवन प्राप्त किया जा सके।" गार्नर का कहना है कि "राज्य का कार्य व्यक्ति का हित-साधन, राष्ट्र का हित साधन है और मानव सम्यक्ता का विकास है।" टी.एच. ग्रीन के तर्क में "राज्य का कार्य पुलिस कार्य सम्पन्न करना, अपराधियों को पकड़ना और समझौतों पर निर्दयतापूर्वक अमल करवाना ही नहीं है, अपितु राज्य को यथाशक्ति व्यक्तियों के लिए उनकी बौद्धिक तथा नैतिक प्रवृत्तियों में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है, उसे प्राप्त करने का अवसर प्रदान करना है।" बार्कर का कहना है कि "राज्य को अपना कार्य क्षेत्र केवल बाहरी आक्रमणों से रक्षा एवं आन्तरिक शांति ही नहीं समझना चाहिए वरन्, विज्ञान, कला तथा प्रत्येक विद्या की उन्नति में योग देकर राष्ट्र व समाज का विकास करना चाहिए।" इस प्रकार राज्य के कार्यों को निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।

12.3.1 बाह्य आक्रमणों से रक्षा- राज्य का अनिवार्य कार्य बाह्य आक्रमणों से रक्षा करना होता है। प्राचीन काल से ही राज्य यह कार्य करता आया है। व्यक्ति की यह सोच होती है कि राज्य न केवल आन्तरिक क्षेत्र में सुरक्षा का प्रबन्ध करे अपितु बाहरी स्तर पर भी करे और ऐसा करना राज्य का दायित्व एवं औचित्य भी है। इसके लिए राज्य अपनी सेना तैयार करता है। आधुनिक समय में भी बाहरी आक्रमणों एवं युद्धों का खतरा बना रहता है। प्रत्येक राज्य एक दूसरे के सम्भावित आक्रमण से ऐसे भयभीत है कि वे अपने बजट का अधिकांश भाग युद्ध या सेना संबंधी कार्यों में खर्च कर रहे हैं। इसके चलते राज्यों के बीच हथियारों की होड़ बढ़ गई है। इसके परिणाम स्वरूप सारा विश्व एक बारूद के ढेर में तब्दील हो गया है और न जाने कब एक चिन्तारी विश्व को युद्ध की किमीषिका में झोंक दे। राज्य यह कहकर हथियारों का जखीरा तैयार कर रहा है कि उसे बाहरी आक्रमणों से रक्षित है, लेकिन इससे विश्वशांति कायम नहीं हो सकती, बल्कि इसके लिए तो शांतिपूर्ण तरीकों का सहारा लेना होगा। इसके लिए अहिंसा का प्रशिक्षण लोगों को देना होगा।

12.3.2 आन्तरिक शांति व्यवस्था- राज्य केवल बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा का प्रबन्ध नहीं करता, अपितु आन्तरिक शांति व्यवस्था बनाये रखता है। ऐसे तत्व जो इसको भंग करने का प्रयास करते हैं, उनके प्रयासों को असफल करता है। इसके अभाव में व्यक्ति का जीवन व सम्पत्ति खतरे में पड़ती है साथ ही राज्य का विकास एवं उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। आन्तरिक शांति व्यवस्था बनाए रखने के लिए राज्य पुलिस व गुप्तचर सेना का जाल बिछाता है और उन्हें अत्याधुनिक संसाधन से युक्त बनाता है। आज राज्यों के सामने सबसे प्रबल चुनौती यही है। भारत जैसे राज्य में सीमा पार से आतंकवाद को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, उससे हमारी आन्तरिक शांति व्यवस्था ढगमगा गयी है। आतंकवाद, नस्लवाद, जातिवाद, एवं साम्प्रदायिक हिंसा ने शांति व्यवस्था को तहस-नहस कर दिया है। राज्य का ध्यान एवं संसाधन का उपयोग विकास कामों में नहीं हो रहा है। आर्थिक अपराधी भी आन्तरिक शान्ति के सम्मुख गहन चुनौती उपस्थित कर रहे हैं।

12.3.3 न्याय व्यवस्था— किसी भी सम्य समाज की आधारशिला न्याय व्यवस्था होती है। इस बात का इतिहास साक्षी है कि जब-जब किसी राज्य की न्याय व्यवस्था कमजोर एवं पक्षपातपूर्ण हुई है तब-तब राज्य बालू के रेत के घरोंदे के समान इतिहास के पन्नों में समाया है। अतः प्रत्येक राज्य का यह दायित्व बनता है वह स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्याय व्यवस्था का उचित प्रबन्ध करे। जो वास्तविक अपराधी है, उन्हें कठोर सजा दे। आधुनिक राज्यों में नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। उनके संबंध में भी यही व्यवस्था है कि इनका हनन होने पर नागरिक न्यायालय में अपील कर सकता है। जैसे भारतीय संविधान का अनुच्छेद 32 जो संवैधानिक उपचारों के अधिकार से सम्बन्धित है। वह भी ऐसी व्यवस्था करता है। न्याय न मिलने की स्थिति में व्यक्ति का विकास काफी हद तक प्रभावित होता है। इसलिए आधुनिक राज्यों में शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत पर बल दिया गया है ताकि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता बनी रह सके।

12.3.4 सार्वजनिक शिक्षा— शिक्षा राज्य का आईना (दर्पण) होती है, जिससे नागरिकों में न केवल नैतिक व चारित्रिक गुणों का विकास होता है, अपितु राजनीतिक चेतना का विकास एवं नागरिकों को अपने दायित्वों का बोध होता है। आधुनिक युग में राज्य का स्वरूप लोककल्याणकारी होने के कारण राज्य सार्वजनिक शिक्षा का अनिवार्य एवं निःशुल्क प्रबंध करता है। भारत में तो शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने की बात कही जा रही है। अशिक्षा को समाप्त करने के लिए राज्य द्वारा विशेष प्रयास किये जा रहे हैं।

12.3.5 सार्वजनिक स्वास्थ्य— यह पूर्णतया सत्य है कि यदि किसी राज्य में स्वास्थ्य की स्थिति खराब है, लोगों के लिए चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सुविधा का उचित प्रबन्ध नहीं है तो राज्य किसी भी स्थिति में विकास नहीं कर सकता। अतः राज्य के द्वारा स्वास्थ्य स्तर को उच्च बनाने, स्वास्थ्य सेवाओं में गुणात्मक सुधार लाने आम जनता को महामारी या अन्य साध्य व असाध्य बीमारियों से बचाने के लिए हर सम्भव ठोस कदम उठाये जाते हैं।

12.3.6 उत्पादन में वृद्धि— जब राज्य के कृषि एवं औद्योगिक उत्पादनों में आशानुकूल अभिवृद्धि होगी तो राज्य सफलता के भूय सौपान तय कर सकता है और राज्य के नागरिकों में आत्म निर्भरता, आत्म सम्मान एवं आत्म गौरव की भावना का विकास होता है। उत्पादन कम होने की स्थिति से देश पतन की ओर अग्रसर होता है, क्योंकि आवश्यकता की वस्तुओं का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन न होने पर विदेशों से आयात करना पड़ता है। जिससे देश का धन विदेशों में चला जाता है और उन देशों पर निर्भरता आ जाती है। यह स्थिति राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए अनुकूल नहीं होती है। इसलिए हर देश उत्पादन बढ़ाने की हर सम्भव कोशिश करता है। इस हेतु राज्य नवीन अनुसंधान करवाता है और नवीन साधनों के संबंध में उद्योगों एवं कृषकों को जानकारी उपलब्ध करवाता है। जैसे भारत में कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए हरित क्रांति, दूध उत्पादन में वृद्धि हेतु श्वेत क्रांति आदि कार्यक्रम संचालित किये गए।

12.3.7 बेसहारा का सहारा— आधुनिक राज्य का यह दायित्व बनता है कि वह बेसहारा, वृद्ध, अपाहिजों तथा अनाथों को सहारा प्रदान करे। इसके लिए राज्य वृद्धाश्रम, वृद्धावस्था पेंशन, अपाहिजों को रियायतें एवं अन्य अनेक सुविधायें उपलब्ध करवाता है। भारत सहित विश्व के अधिकांश राज्य इस क्षेत्र में सहायनीय कार्य कर रहे हैं।

12.3.8 मनोरंजन का प्रबन्ध— व्यक्ति के लिए यह बहुत जरूरी होता है कि वह अपने दैनिक कार्य के अलावा कुछ समय मनोरंजन के लिए व्यतीत करे ताकि उसे मानसिक एवं शारीरिक शांति मिल सके। अतः राज्य को चाहिये कि वह इस क्षेत्र में भी गम्भीरता पूर्वक प्रयास करे। राज्य इस संबंध में पार्क, क्लब, बाग, फिल्म, पुस्तकालय, नाटकगृहों, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय खेलों का आयोजन आदि की व्यवस्था करता है। इसके अलावा राज्य का यह भी दायित्व बनता है कि वह ऐसे मनोरंजन के साधन जिनसे सामाजिक ढांचे पर प्रतिकूल असर पड़ता है जैसे जुआगृह, अश्लील साहित्य एवं फिल्म आदि पर रोक लगाता है।

12.3.9 आर्थिक असमानता का अन्त— समाज में जब तक अमीर-गरीब के बीच खाई अधिक गहरी होगी तो राज्य कभी भी उन्नति नहीं कर पायेगा और न ही सामाजिक समरसता स्थापित हो सकेगी। राज्य के आर्थिक संसाधनों पर समाज के कुछ लोगों का नियन्त्रण होने की स्थिति में वे बहुसंख्यक लोगों का शोषण करते हैं और राज्य की अर्थव्यवस्था को अपनी मनमर्जी से संचालित करते हैं। बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग अमव भरी जिन्दगी व्यतीत करता है जिसे दो वक्त की रोटी भी मुश्किल से नसीब होती है। दूसरी ओर पूंजीपति विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। यह स्थिति समाज के लिए घातक सिद्ध होती है और आगे चलकर असमानता की ज्वाला क्रांति या संघर्ष के रूप में फुटती है। अतः राज्य आर्थिक असमानता को दूर करने के ठोस कदम उठाये। इसके लिए राज्य बड़े उद्योग धन्धे पर अपना नियन्त्रण रखे। अर्थव्यवस्था पर उचित नियन्त्रण लगाये और असमानता बढ़ाने वाली प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाये आदि। लेकिन वर्तमान में आर्थिक उदारीकरण या वैश्वीकरण के इस दौर में आर्थिक असमानता में वृद्धि होती जा रही है।

12.3.10 श्रम सुधार— पूंजीपतियों के शोषण से श्रमिकों को बचाने के लिए राज्य को ऐसे कानूनों का निर्माण करना चाहिए, जिससे उद्योग धन्धों के संचालन से मिल मालिक, श्रमिकों का आर्थिक शोषण न कर सके। अतः राज्य श्रम सुधार हेतु श्रमिकों का वेतन, कार्य करने के घण्टे, स्वास्थ्य सुधार आदि के लिए उचित दिशा निर्देश पूंजीपतियों का जारी करता है।

12.3.11 विदेश नीति का संचालन— एक राज्य विश्व के अन्य राज्यों से पूर्णतया पृथक् या अलग रहकर अपनी अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। अतः उसे दूसरे राज्य के साथ मधुर संबंध स्थापित करने के लिए एवं अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अपनी मजबूत पकड़ स्थापित करने के लिए एक व्यवस्थित एवं सुनियोजित विदेश नीति का अनुसरण करना होता है। जिसका प्रमुख आधार राष्ट्रीय हित होता है। अर्थात् एक राज्य अपने हितों की बलवेदी पर कोई समझौता नहीं करता। वर्तमान विश्व व्यवस्था ने विदेश नीति की प्रासंगिकता एवं औचित्य और अधिक बढ़ा दिया है क्योंकि सम्पूर्ण विश्व एक परिवार के रूप में बदल गया है। वर्तमान में विश्व समाज तथा विश्व सरकार की अवधारणा साकार हो रही है। विश्व के सभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं या संगठनों के सदस्य बनते जा रहे हैं।

12.3.12 सामाजिक न्याय पर बल— सामाजिक न्याय का अर्थ है कि समाज में प्रत्येक निर्धन, पिछड़े वर्ग और अशिक्षितों को धनवान, समृद्ध वर्ग एवं शिक्षितों की भाँति उन्नति के समान अवसर मिले ताकि समाज में व्याप्त विषमताओं को हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त किया जा सके। राज्य को चाहिए कि वह इसे लागू करने के लिए देने के लिए रचनात्मक प्रयास करे जैसे— पिछड़ों को सरकारी नौकरियों, संसद एवं विधानमण्डलों तथा अन्य जनप्रतिनिधित्व की संस्थाओं में स्थान आरक्षित करे, लेकिन यह व्यवस्था भारत की तरह जाति पर आधारित नहीं होनी चाहिए अपितु आर्थिक आधार पर होनी चाहिए और जो एक बार इसका लाभ प्राप्त कर चुका तो उसे दुबारा नहीं मिलना चाहिए अन्यथा सामाजिक न्याय के स्थान पर जातिवाद का जहर हावी हो जाएगा। सामाजिक न्याय को साकार करके दलितों, पिछड़े तथा कमजोर वर्गों का उत्थान संभव होगा।

12.3.13 नागरिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था— नागरिकों के चहुँमुखी विकास के लिए नागरिक स्वतन्त्रता की उचित व्यवस्था होना आवश्यक होती है। इस बात का इतिहास साक्षी है कि जब-जब नागरिक स्वतन्त्रता का दमन करने का प्रयास किया तब-तब उस राज्य को समाप्त होना पड़ा है। अतः प्रत्येक राज्य द्वारा नागरिक स्वतन्त्रता की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। आधुनिक राज्य अपने अपने संविधान के माध्यम से नागरिकों को अधिकार एवं स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। जैसे— भारतीय संविधान के भाग-3 के अनुच्छेद 12-35 के मध्य उल्लेखनीय हैं। इसी तरह अमरीका में प्रथम दस संविधान संशोधनों द्वारा नागरिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गयी। इसके अलावा इनके हनन की भी उचित व्यवस्था भी राज्य द्वारा की जाती है। नागरिक स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था से ही व्यक्ति का सर्वांगीण विकास संभव है।

12.3.14 प्राकृतिक आपदाओं में सहायता— समय-समय पर प्रकृति मनुष्य की कड़ी परीक्षा लेती रही है और मुसीबतों का प्रहाड़ डाल देती है इनसे मनुष्य के विकास पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। प्रकृति की यह मार भूकम्प, अकाल, बाढ़ तथा महामारी आदि के रूप में देखी जा सकती है। अतः राज्य का यह दायित्व बनता है कि प्राकृतिक आपदाओं के समय हर संभव सहायता उपलब्ध कराये ताकि जनता के कष्टों का निवारण हो सके वर्तमान समय में राज्य अपने इस दायित्व का निर्वहन भली प्रकार से कर रहा है।

12.4 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज्य का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जो राज्य की सीमा से परे हो। वर्तमान में राज्य सामाजिक सेवा के सभी कार्य सम्पादित कर रहा है। लेकिन पिछले दशक में आर्थिक उदारीकरण तथा वैश्वीकरण की प्रक्रिया से राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित होता जा रहा है तथा निजीकरण की प्रक्रिया का बढ़ावा दिया जा रहा है। इससे राज्य की भूमिका सीमित होती जा रही है। आज राज्य को मानवीय विकास की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में माना जाता है। राज्य का हरसम्भव यही प्रयास रहता है कि मानवीय जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं की गम्भीरता से लेते हुए उनका विकास करें। बदलती हुई परिस्थितियों ने राज्य की भूमिका एवं दायित्वों को परिवर्तित किया है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक राज्य के महत्त्व को स्वीकारा जाता रहा है। यही कारण है कि व्यापक आलोचनाओं के बावजूद इसका अस्तित्व बना हुआ है और भविष्य में भी बना रहेगा।

12.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य के कार्य एवं औचित्य को सिद्ध करो।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राज्य के संबंध में व्यक्तियों के विचार स्पष्ट कीजिए।
2. मार्क्सवादी राज्य को किस रूप में देखते हैं।
3. राज्य के लोककल्याण स्वरूप की व्याख्या कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. "राज्य मानव जीवज के लिए बना है और सदजीवन के लिए बना रहेगा।" यह विचार किसका है।
2. लोककल्याणकारी राज्य का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. "राज्य एक अनावश्यक बुराई है।" यह मत किस विचारधारा का है।
4. "राज्य पूंजीपतियों का हित साधने वाली संस्था है।" यह किस विचारधारा का मत है।

12.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ओ.पी.गाबा "राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा" मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर
2. अनुप कपूर "राजनीतिक शास्त्र के मूल सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी नई दिल्ली
3. आर. सी. अग्रवाल "राजनीति शास्त्र के मूल आधार" एस. चन्द एण्ड कम्पनी नई दिल्ली

इकाई-13 : अधिकार

संरचना

- 13.1 उद्देश्य
- 13.2 प्रस्तावना
- 13.3 अधिकारों की परिभाषाएं
- 13.4 अधिकारों का सिद्धान्त
 - 13.4.1 प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त
 - 13.4.2 अधिकारों का कानूनी सिद्धान्त
 - 13.4.3 अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त
 - 13.4.4 अधिकारों का लोक कल्याणकारी सिद्धान्त
 - 13.4.5 अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त
- 13.5 अधिकारों का वर्गीकरण
 - 13.5.1 प्राकृतिक अधिकार
 - 13.5.2 नैतिक अधिकार
 - 13.5.3 कानूनी अधिकार
 - 13.5.4 मौलिक अधिकार
 - 13.5.5 राजनीतिक अधिकार
 - 13.5.6 सामाजिक अधिकार
 - 13.5.7 शिक्षा का अधिकार
 - 13.5.8 काम का अधिकार
 - 13.5.9 धार्मिक अधिकार
- 13.6 सारांश
- 13.7 अभ्यास प्रश्नावली
- 13.8 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

13.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य अधिकारों के संबंध में जानकारी हासिल करना है, जिसके अध्ययन से आप अपने अधिकारों के प्रति सजग हो सकेंगे—

- अधिकारों से हमारा आशय क्या है?
- अधिकारों के हमारे दावे की बुनियाद क्या है?
- अधिकारों से किन उद्देश्यों की प्राप्ति होती है?
- अधिकारों के संबंध में प्रचलित विभिन्न सिद्धान्तों तथा अधिकारों के प्रकारों के संबंध में जानने का अवसर प्राप्त होगा,
- आप यह भी जान सकेंगे कि भारत में अधिकारों को लागू करने के लिए किस हद तक प्रयास किये गये हैं।

3.2 उद्देश्य

मानव सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास मानव द्वारा अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले संघर्ष से भरा पड़ा है। अधिकारों का सीधा संबंध मनुष्य के विकास से है। इनके अभाव में उसका न केवल व्यक्तित्व का विकास प्रभावित होता है, अपितु अन्य क्षेत्र भी विकास शून्य हो जाते हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था ने अधिकारों की आवश्यकता को और अधिक बढ़ा दिया है, इसीलिए प्रत्येक लोकतांत्रिक राज्य अपने नागरिकों को विविध अधिकार प्रदान करता है।

‘मानव एक सामाजिक प्राणी है—राजनीतिक दर्शन में इस बात पर प्रारम्भ से ही बल दिया जाता रहा है। व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर रहना चाहता है अर्थात् मानव का समाज में रहना आवश्यक है क्योंकि वह अकेला नहीं रह सकता और उसकी अनेक मूलभूत आवश्यकताएँ समाज के साथ—जुड़ी हुई हैं। इसलिए हम परिवार, समुदायों, गाँवों, शहरों और महानगरों में रहते हैं। इसलिए हम दूसरों से अपनी आवश्यकताओं और सुविधाओं की माँग करते हैं। मानव की यह इच्छा होती है कि कोई भी उसके रास्ते में रोड़े न अटकाये और वह बिना किसी अवरोध के अपने लक्ष्य तक पहुँच जाए। यही माँग और इच्छा अधिकार कहलाती है। इस तरह अधिकार तथा समाज के साथ गहरा सम्बन्ध है। इस कारण यह कहाँ जाता है कि मानव की चेतना स्वतन्त्रता की माँग करती है, स्वतन्त्रता अधिकारों में निहित है, अधिकार जिन्हें राज्य बनाता है, और लागू करता है एवं समाज स्वीकृति प्रदान करता है।

अधिकारों के तहत व्यक्ति केवल अपने ही अधिकारों के संरक्षण की बात नहीं करता, वह चाहता है कि उसके अधिकार प्रयोग से दूसरे व्यक्ति, समाज एवं राज्य को विकास पथ पर आगे बढ़ाया जा सकता है। ऐसा न होने की स्थिति में राजनीतिक व्यवस्था अराजकता का शिकार बन सकती है और केवल शक्तिशाली व्यक्ति ही अपने अधिकार का प्रयोग कर सकता है। अतः इससे बचने के लिए राज्य उचित प्रबन्ध करता है और स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की स्थापना करता है।

अधिकार को अंग्रेजी में राइट (Right) कहते हैं। जो रोंग (Wrong) का विलोम है—अर्थात् अधिकार का अर्थ प्रायः उचित या अनुचित से लिया जाता है। समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ उचित व अनुचित के अर्थ बदलते रहे हैं और बदलते रहेंगे। इसलिए अधिकारों की अवधारणा में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए 19 वीं शताब्दी में बेरोजगारों के लिए भूखे रहना उचित समझा जाता था, जबकि 20 वीं शताब्दी में बेरोजगारों को बेरोजगार भत्ता दिया जा रहा है। अनेक लोकतांत्रिक देशों में अधिकारों की विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं—

13.3 अधिकारों की परिभाषाएँ

1. लास्की ने कहा है कि, “अधिकार सामाजिक जीवन की वे दशाएँ हैं, जिनके बिना कोई मनुष्य अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता है।”
2. विले के अनुसार “विशेष कार्य करने में स्वाधीनता की उचित माँग अधिकार है।”
3. बोसों के मत में, “अधिकारों द्वारा ही मनुष्य समाज में उन्नति कर सकता है।”
4. हालैण्ड का तर्क है कि, “अधिकार एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के कर्तव्यों को समाज के मूल और शक्ति द्वारा प्रभावित करने की क्षमता है।”

13.4 अधिकारों के सिद्धान्त

अधिकारों के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

13.4.1 प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त— अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्तों के अनुसार मानव अपने अधिकारों का उसी प्रकार स्वामी है जैसे—अपने हाथ, पाँव, आँखें या शरीर के अन्य अंगों का होता है अर्थात् मानव अपने जन्म के साथ अधिकारों को लेकर पैदा होता है, किसी के द्वारा प्रदान किये हुए नहीं है। इन अधिकारों पर किसी को प्रतिबन्ध लगाने की कोई शक्ति नहीं है बल्कि समाज और राज्य का यह दायित्व बनता है कि उनके संरक्षण की उचित व्यवस्था करे। इन अधिकारों को विश्व के अधिकांश सविधानों में स्थान दिया गया है। इस विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक जॉन लॉक हैं। वे तीन प्राकृतिक अधिकार जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति का उल्लेख अपनी पुस्तक ‘शासन पर दो निबन्ध’ (1789) में करते हैं। लॉक के अनुसार नागरिक समाज और राज्य की उत्पत्ति और अस्तित्व इन अधिकारों की सुरक्षा नहीं कर पाता है तो जनता का यह अधिकार बनता है कि वे राज्य के विरुद्ध क्रांति कर दें।

13.4.2 अधिकारों का कानूनी सिद्धान्त— इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार केवल ऐसी माँगें हैं, जिन्हें राज्य कानूनी मान्यता प्रदान करता है। इनका उचित प्रबन्ध न होने पर नागरिक न्यायालय की शरण ले सकते हैं और अपील कर सकते हैं। इस विचार के प्रतिपादकों में टॉमस हॉब्स, बेन्थम और आर्स्टिन हैं। हॉब्स के अनुसार अधिकारों की उत्पत्ति राज्य की उत्पत्ति के बाद ही हुई है, क्योंकि राज्य विहीन अवस्था में न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण, उचित या अनुचित खोखले शब्द थे। इस प्रकार अधिकारों का संबंध राज्य में रहने वाले मनुष्यों से ही है।

13.4.3 अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त— यह सिद्धान्त वास्तव में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व में आया। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों का जन्म इतिहास से हुआ है। वे उन रीति-रिवाजों और प्रयोगों पर आधारित हैं, जो उपयोगी समझे जाते थे। प्राकृतिक अधिकारों की बात करना केवल मिथ्या है। बर्क के अनुसार जब मानव अमूर्त अधिकारों की कल्पना करके उनकी प्राप्ति में जुट जाता है तो समाज का युगों से प्रचलित ढाँचा तहस-नहस हो जाता है। बर्क के अनुसार अधिकार ऐतिहासिक उपलब्धियाँ हैं। समाज के दीर्घकालीन विकास के दौरान विभिन्न वर्ग और समूह अपना-अपना स्थान प्राप्त करके समाज में सामन्तस्य तथा सहयोग पैदा करते हैं। सामन्तस्य तथा सहयोग समाज की आत्मा है। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों के सार तत्व में परिवर्तन आता रहता है परन्तु इस परिवर्तन की गति अत्यन्त तीव्र हो जाए तो समाज का सन्तुलन बिगड़ जाता है।

13.4.4 अधिकारों का लोक-कल्याणकारी सिद्धान्त— यह सिद्धान्त उपयोगितावादी विचारकों की देन है। इसके अनुसार अधिकार समाज की देन है और अधिकारों का अस्तित्व भी लोक कल्याण के लिए होता है। बेन्थम, मिल, लास्की आदि इसके समर्थक हैं। मिल के अनुसार व्यक्ति के विकास एवं लोक कल्याण में कोई मौलिक विरोध नहीं है, बल्कि ये एक सिक्के के दो पहलु हैं। अधिकारों से अभिप्रायः उन सुविधाओं से है जो समाज में रहते हुए अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख प्राप्ति में सहायक होते हैं।

13.4.5 अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त— इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक देवी संस्था है। इस कारण राज्य ईश्वर का प्रतिरूप, राजा ईश्वर का मेजा हुआ प्रतिनिधि है, राज्य के कानून और ईश्वर के आदेश एक हैं, दोनों का उल्लंघन होने पर व्यक्ति दण्ड का भागीदार होता है। इस तरह राज्य साध्य हैं और व्यक्ति साधन अर्थात् राज्य व्यक्ति के लिए नहीं बना, अपितु व्यक्ति राज्य के लिए बना है।

इस सिद्धान्त के समर्थक ये मानते हैं कि मानव का हित समाज के हित में निहित है क्योंकि समाज से पृथक् व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। व्यक्ति समाज के अधीन होता है और राज्य उन्हीं अधिकारों को मान्यता प्रदान करता है जो नैतिक हैं तथा सामाजिक हित की अभिवृद्धि करते हैं। वे कहते हैं कि अधिकारों की नींव कानून के आधार पर नहीं, अपितु नैतिकता के आधार पर होनी चाहिए। अधिकारों से मनुष्य का आन्तरिक विकास सम्भव हो सकता है।

13.5 अधिकारों का वर्गीकरण

अधिकार एवं इच्छा (शक्ति) में व्यापक अन्तर देखा जा सकता है। जंगल में जानवरों के अधिकार न होकर शक्ति होती है, जो शक्तिशाली है उसका प्रभाव अधिक होता है। यह स्थिति मानव समाज के लिए हितकारी नहीं होती इससे अराजकता अर्थात् "जिसकी लाठी उसकी भैंस" की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब तक व्यक्ति की शक्ति को समाज मान्यता न दे और व्यक्ति उनको सबके हित के लिए प्रयोग न करे, तब तक अधिकार अस्तित्व में नहीं आ सकते। समाज की मान्यता एवं राज्य के संरक्षण द्वारा व्यक्ति के अधिकार का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार अधिकारों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

13.5.1 प्राकृतिक अधिकार— अधिकारों का यह रूप अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार अधिकार राज्य के पूर्व ही व्याप्त थे। जिन लोक अपने सामाजिक समझौता में मानव के पास जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति के अधिकारों का उल्लेख करते हैं। इस तरह ये अधिकार ईश्वर की देन हैं, जिन पर प्रतिबन्ध या सीमित करने की शक्ति किसी के पास नहीं है। आधुनिक काल में राजनीति के विद्वानों का मानना है कि जब समाज या राज्य बने नहीं थे, तब अधिकारों की बात करना व्यर्थ है।

13.5.2 नैतिक अधिकार— ये अधिकार मानव की नैतिक भावना पर निर्भर करते हैं अर्थात् ये अधिकार मानव को मिलने वाले संस्कारों पर निर्भर होते हैं उच्च संस्कार मिलने पर व्यक्ति में उच्च कोटि की नैतिकता एवं मूल्यों का विकास होता है जिन्हें आधार मानकर व्यक्ति समाज में अपनी पहचान व प्रतिष्ठा कायम कर सकता है। नैतिक अधिकारों के पीछे कोई वैधानिक (कानूनी) शक्ति नहीं होती है। उदाहरण के लिए माता-पिता का यह नैतिक अधिकार बनता है कि वे वृद्धावस्था में अपने बच्चों से सेवा कराएं। परन्तु बच्चे ऐसा नहीं करते हैं तो वे न्यायालय की शरण नहीं ले सकते हैं। नैतिक आधारों के पीछे बाह्यकारी शक्ति का अभाव होता है।

13.5.3 कानूनी अधिकार— इन अधिकारों का स्रोत कानून होता है, इनके हनन की स्थिति में कानून का सहारा लिया जाता है। उदाहरण के लिए व्यक्ति को जीवन व धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है। यदि कोई व्यक्ति, संस्था, या राज्य के द्वारा इनका हनन किया जाता है तो व्यक्ति न्यायालय की शरण ले सकता है और अपने अधिकारों के समुचित संरक्षण प्राप्त कर सकता है तथा न्यायालय आरोपी को दण्ड देता है।

13.5.4 मौलिक अधिकार— आधुनिक राज्यों एवं मानवीय समाज में अधिकारों का यह रूप सबसे अधिक प्रचलित है। विश्व के प्रत्येक देश द्वारा अपने संविधानों में नागरिकों के लिए मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गयी है। ऐसा करना राज्य अपना दायित्व मानता है और राज्य की उन्नति एवं समृद्धि की पहचान है। मौलिक अधिकार मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिए परमावश्यक है। इसके बिना व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं होगा और समाज का विकास नहीं होगा तो राज्य का विकास व उन्नति नहीं होगी। भारतीय संविधान के भाग 3 के अनुच्छेद 12-35 के बीच उल्लिखित छः मौलिक अधिकार हैं—

- | | |
|--|---|
| 1. समानता का मौलिक अधिकार (अनुच्छेद 14-18) | 2. स्वतन्त्रता का मौलिक अधिकार (अनुच्छेद 19-22) |
| 3. शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23 व 24) | 4. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25-28) |
| 5. संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार (अनुच्छेद 29-30) | 6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32-35) |

इस तरह मौलिक अधिकारों के साथ संरक्षण का अधिकार दिया गया है।

13.5.5 राजनीतिक अधिकार— लोकतांत्रिक व्यवस्था एवं राजनीतिक अधिकार एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। राजनीतिक अधिकारों के बिना लोकतंत्र की कल्पना नहीं की जा सकती। जब तक जनता राजनीतिक में व्यवस्था के राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने, मत देने, चुनाव लड़ने, सार्वजनिक पद ग्रहण करने, सरकार की आलोचना करने, राजनीतिक दल या संगठन बनाने का अधिकार नहीं है तो लोकतंत्र की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त लोकतंत्र में राजनीतिक अधिकारों का महत्व एवं अस्तित्व होता है ये राजनीतिक अधिकार प्रगतिशील समाज के द्योतक होते हैं, जिसमें सभी वयस्क नागरिकों को बिना किसी भेद-भाव के अधिकार प्रदान किये जाते हैं।

13.5.6 सामाजिक अधिकार— जहाँ राजनीतिक अधिकारों का संबंध राजनीतिक क्रिया-कलापों से है, वहीं सामाजिक अधिकारों का संबंध समाज की प्रगति एवं उन्नति से है। इन अधिकारों में जीवन की रक्षा, सम्पत्ति संकलन, खरीदने, बेचने, विचार अभिव्यक्ति के अधिकार शामिल होते हैं। इसके अलावा लोगों को शांतिपूर्वक एकत्रित होने और संस्थाएं बनाने का अधिकार होता है। लोगों को अपने कुटुम्ब के मामलों को अपनी इच्छानुसार प्रबन्ध करने का अधिकार होता है। वे अपने कुटुम्ब या जाति की एकता बनाने के लिए एक मंच तैयार करते हैं। ताकि संगठित होकर अपने हितों की पूर्ति की जा सके। भारत जैसे विविधता वाले देश में प्रत्येक जाति का अपना संगठन होता है जिसके माध्यम से वे अपनी सामाजिक गतिविधियों का संचालन तो करते ही हैं साथ में दबाव समूह के रूप में राज्य की नीतियों को प्रभावित भी करते हैं।

13.5.7 शिक्षा का अधिकार— शिक्षा समाज का दर्पण होती है। अशिक्षा से ग्रस्त समाज का भविष्य अन्धकारमय होता है और शिक्षा के बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा मिले, इसके लिए राज्य को शिक्षा के अधिकार की व्यवस्था करनी चाहिए। ऐसा होने पर राज्य द्वारा अनिवार्य एवं मुक्त शिक्षा का प्रबन्ध करना उसका दायित्व बन जाता है। 83वें संविधान संशोधन द्वारा प्राथमिक शिक्षा को मौलिक अधिकारों की सूची में शामिल किया गया है।

13.5.8 काम का अधिकार— मानव की जीविका उपार्जन का उचित प्रबन्ध होना चाहिए, ताकि वे अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को आसानी से पूरा कर सकें। यह तभी सम्भव हो सकता है जब काम का अधिकार प्राप्त होगा। इससे तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को काम देना राज्य का कर्तव्य बनता है। यदि वह काम नहीं दे सकता है तो मानव की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कदम उठाये। काम के अधिकार का संबंध समाजवादी विचारधारा के संविधानों से है।

13.5.9 धार्मिक अधिकार— मानव जीवन को व्यवस्थित आधार प्रदान करने में धर्म का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसीलिए मानव किसी न किसी धर्म के साथ जुड़ा हुआ होता है और उसकी क्रियाकलापों को सहर्ष स्वीकार भी करता है। अतः मानव को धार्मिक गतिविधियों में भाग लेने का अधिकार, धर्म का प्रचार-प्रसार, धार्मिक भाषा को प्रोत्साहन, धार्मिक शिक्षण संस्थाएं संचालित करने का अधिकार आदि होते हैं।

13.6 सारांश

इस प्रकार हम ये कह सकते हैं कि अधिकारों का मनुष्य के साथ गहरा लगाव है। इनके अभाव में उसका जीवन ही अधूरा है। इसीलिए मानव हमेशा अधिकार प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहा है। अधिकारों की विधिवत् शुरुआत कब हुई? इस संबंध में कुछ भी स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। अनेक प्राचीन यूनानी दार्शनिक अधिकारों की बात करते हैं। लेकिन ऐसा माना जाता है कि सर्वप्रथम 1215ई. के "मैग्नाकार्टा" घोषणा पत्र ने अधिकारों की नींव रखी और इसके पश्चात् फ्रांस की राज्य क्रांति, अमरीका में स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् नागरिकों के अधिकारों की घोषणा ने अधिकारों को संजीव आधार प्रदान किया। इसके बाद विश्व के सभी संविधानों द्वारा अपनी राजनीतिक व्यवस्था के अनुरूप अधिकारों की व्यवस्था की गई। लेकिन अधिकारों की उन्नति के इतिहास में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि बढ़ गई है, जब संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 10 दिसम्बर, 1948 ई. को मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की गई। इससे अधिकारों को न केवल आधार मिला है, अपितु अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप एवं दर्जा मिला तथा प्रत्येक देश इसकी अनुपालना करने के लिए बाध्य है। यही कारण है कि प्रत्येक देश अपने आप को अधिकारों का संरक्षक होने का दावा करता है।

13.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अधिकारों का क्या अर्थ है? इसके विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए।
2. अधिकारों के वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिए।
3. "व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास के लिए अधिकार बहुत आवश्यक हैं" सिद्ध कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक अधिकारों की व्याख्या कीजिए।
2. प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त क्या है?
3. मौलिक अधिकारों के महत्व पर प्रकाश डालिए।
4. भारतीय संविधान में उल्लिखित अधिकार बताओ।
5. क्या शिक्षा को अधिकार के रूप में शामिल किया जाना चाहिए?

अति लघुत्तरात्मक

1. अधिकार के संबंध में लॉकी के विचार बताओ।
2. "अधिकारों द्वारा ही मनुष्य समाज में उन्नति कर सकता है" ये मत किसका है?
3. लॉक द्वारा प्रस्तुत प्राकृतिक अधिकार लिखिए।
4. आदर्शवाद के अनुसार अधिकारों का क्या आधार है?
5. अधिकारों की विधिवत् शुरुआत कब से मानी जाती है?
6. अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप कब दिया गया?

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. मुखर्चार्य अली — "संयुक्त राष्ट्र संघ और मानवाधिकार" राजनीतिक विज्ञान एवं लोक प्रशासन विभाग, जय नारायण व्यास, विश्वविद्यालय, जोधपुर
2. डी डी बसु — "भारत का संविधान", वाधवा एण्ड कम्पनी, मेरठ
3. डेविड बेन्थम — "पॉलिटिक्स एण्ड ह्यूमन राइट्स", ब्ले कवेल
4. ज्ञान सिंह सन्धु (सम्पादित) — "राजनीति सिद्धान्त", हिन्दी माध्यम, कार्यन्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

इकाई-14 : मानवाधिकार

संरचना

- 14.1 उद्देश्य
- 14.2 प्रस्तावना
- 14.3 मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा
- 14.4 संयुक्त राष्ट्र संघ और मानवाधिकार
- 14.5 मानवाधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र
- 14.6 मानवाधिकार संस्थाएं
- 14.7 मानवाधिकार पर आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन
- 14.8 मानवाधिकार उल्लंघनों पर रोक तथा संयुक्त राष्ट्र संघ
- 14.9 मानवाधिकार और भारत
- 14.10 मानवाधिकार और लोकतंत्र
- 14.11 आतंकवाद बनाम मानवाधिकार
- 14.12 मानवाधिकारों को प्रभावी बनाने हेतु सुझाव
- 14.13 अभ्यास प्रश्नावली
- 14.14 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

14.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य मानवाधिकारों के संबंध में जानकारी दिलाना है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- मानवाधिकार क्या हैं,
- एक मानव होने के नाते मनुष्य को कौन-कौन से अधिकार प्राप्त होते हैं,
- मानवाधिकारों का संबंध मानव के विकास के साथ जुड़ा होता है,
- मानवाधिकारों को प्रभावी बनाने में संयुक्त राष्ट्रसंघ का योगदान,
- मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के पश्चात् बढ़ता महत्त्व,
- मानवाधिकारों को कठोरता से लागू करने के लिए किये गए अन्तर्राष्ट्रीय उपाय,
- मानवाधिकारों के संवर्धन में लोकतांत्रिक विचारधारा की भूमिका,
- वर्तमान समय में मानवाधिकारों की वस्तुस्थिति,
- मानवाधिकारों को प्रभावी बनाने के लिए दिये गए महत्वपूर्ण सुझावों से अवगत हो सकेंगे।

14.2 प्रस्तावना

मानवाधिकार सामाजिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता हैं, जिसके अभाव में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं कर सकता है और ऐसे कार्य नहीं कर सकता है, जो समाज के लिए उपयोगी एवं सार्थक हो। अतः प्रत्येक राज्य का वह दायित्व बनता है कि वह अपने नागरिकों को अधिकार सम्पन्न बनाएँ। आज सम्पूर्ण विश्व में मानवाधिकारों की चर्चा हो रही है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को इस कदर प्रभावित किया है कि इनके स्वरूप में भी बदलाव आ गया है।

अधिकारों का सम्बन्ध मानव सम्यता के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। मानव अपने प्रारम्भिक काल में स्वच्छंद जीवन व्यतीत करता था लेकिन जीवन की जटिलता के कारण स्वच्छंद जीवन भी प्रभावित होता है और अधिकारों के उपभोग में बाधा आती है। ऐसी स्थिति में संघर्ष को बढ़ावा मिलता है। ऐसे में अधिक शक्तिशाली व्यक्ति दूसरे के अधिकारों का हनन करने में सफल हो जाता था; किन्तु यह स्थिति मानवाधिकार तथा मानव सम्यता के लिए अच्छी नहीं थी। प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक जीन जेक्स रूसो ने लिखा है कि “मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है परन्तु हर जगह वह जंजीरों से जकड़ा हुआ है।”

मानवाधिकारों को वैधानिक रूप प्रदान करने में फ्रांस एवं अमरीकी क्रांति का महत्वपूर्ण योगदान रहा, क्योंकि इनके बाद निर्मित यहाँ के संविधानों में मानवाधिकारों को सम्मानजनक स्थान दिया गया। इसके पश्चात् विश्व के अनेक देशों के संविधानों में नागरिक अधिकारों के रूप में शामिल किया गया।

मानवाधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप देने में संयुक्त राष्ट्र संघ की उल्लेखनीय मूमिका रही है, जिसने अपनी स्थापना के साथ ही इस क्षेत्र में सुधार लाने के प्रयास तेज किये। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण 10 दिसम्बर, 1948 को जारी मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा रही। इसके बाद मानवाधिकारों का वास्तविक रूप विश्व के सभी देशों की जनता के सामने एक समान गया और उन देशों में मानवाधिकारों मांग जोर पकड़ने लगी, जहाँ मानवाधिकारों की स्थिति दयनीय थी।

संयुक्त राष्ट्र संघ इस घोषणा के पश्चात् इस क्षेत्र में व्यापक सक्रिय हो गया है। मानवाधिकारों को नवीन जान फूंकने के लिए अपने अनेक अभिसमयों, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा पत्रों, संधि एवं समझौते किये गये हैं, ताकि विश्व के अधिक से अधिक देशों को जोड़ कर अधिक से अधिक लोगों को फायदा मिल सके। जिनमें प्रमुख हैं—आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 3 जनवरी, 1976 ई., नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा, दास प्रथा के उन्मूलन का घोषणापत्र, यातना तथा अन्य निर्मम, अमानवीय व तिरस्कार पूर्ण व्यवहार या दण्ड के विरुद्ध घोषणा तथा शरणार्थियों की प्रस्थिति संबंधी कन्वेंशन, बाल श्रम उन्मूलन की घोषणा, बच्चों के अधिकारों की घोषणा आदि। इन घोषणाओं का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानवीय समाज की समस्याओं एवं आवश्यकताओं से हैं। इनके माध्यम से विश्व के वातावरण को मानवाधिकारमय बनाने का सफल प्रयास किया गया है।

मानवाधिकारों के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ के अलावा अनेक क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं गैर सरकारी संगठन सक्रिय हैं जो समय-समय पर अपनी रिपोर्ट जारी कर मानवाधिकारों में एक नवीन रक्त का संचार कर रहे हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश मानवाधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय रंग बदरंग होने लगा है, क्योंकि कुछ राष्ट्र कथित तौर पर अपने आपको मानवाधिकारों का संरक्षक होने का दावा करते हैं, जो मानवाधिकारों की आड़ में राजनीति का धिनौना खेल खेल रहे हैं। इनका हनन कर दबाव की राजनीति का सहारा ले रहे हैं।

14.3 मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा (10, दिसम्बर, 1948)

मानवाधिकारों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण कड़ी तब जुड़ गयी, जब संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 10 दिसम्बर 1948 को मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा की गई। जिसमें यह स्पष्ट किया गया कि "यह घोषणा सभी देशों के सभी लोगों के लिए उपलब्ध का समान पैमाना होगा" महासभा ने सदस्य देशों और उनकी तमाम जनता से अनुरोध किया कि वे घोषणा में वर्णित मानवाधिकारों का सम्मान करें। इस घोषणा में कुल 30 अनुच्छेद शामिल थे, जो निम्न लिखित हैं—

1. प्रत्येक व्यक्ति इस घोषणा में वर्णित सभी अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं का हकदार है।
2. प्रत्येक व्यक्ति की जीवन की स्वतंत्रता एवं दैनिक सुरक्षा का अधिकार।
3. प्रत्येक व्यक्ति विधि के समक्ष समान।
4. दण्डनीय अपराध का आरोप है तो उस व्यक्ति की सार्वजनिक सुनवाई।
5. लोक विचारण।
6. दासता से मुक्ति का अधिकार।
7. क्रूर, अमानवीय तथा अपमानजनक व्यवहार से मुक्ति का अधिकार।
8. किसी व्यक्ति को बिना मुकदमा चलाये गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।
9. पत्र-व्यवहार का बिना किसी हस्तक्षेप के अधिकार।
10. राष्ट्रीयता का अधिकार।
11. राज्य की सीमा में स्वतन्त्र रूप से भ्रमण एवं निवास का अधिकार।
12. अन्य देशों से शरण मांगने का अधिकार।
13. वयस्क स्त्री व पुरुष को शादी एवं परिवार बसाने का अधिकार।
14. सम्पत्ति का स्वामी बनने का अधिकार।
15. जबरदस्ती सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता।
16. धार्मिक स्वतन्त्रता।
17. अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता।
18. शांतिपूर्ण तरीके से सम्मेलन व प्रदर्शन का अधिकार।
19. समान रूप से सरकार में भाग लेने का अधिकार।
20. लोक सेवा में पहुँचने का अधिकार।
21. सामाजिक सुरक्षा का अधिकार।
22. काम का अधिकार।
23. विश्राम, अवकाश तथा वेतन सहित आवधिक छुट्टियों का अधिकार।
24. बेरोजगारी के विरुद्ध संरक्षण का अधिकार।
25. नियोजन के स्वतन्त्र चयन का अधिकार।
26. व्यवसाय संघ बनाने का अधिकार।
27. समान कार्य के लिए समान वेतन का अधिकार।
28. जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार।
29. प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा का अधिकार।
30. प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य होगी।

उपर्युक्त मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा, व्यक्ति स्वतन्त्रता एवं अधिकारों के लिए वरदान साबित हुई और अनेक राष्ट्रों ने अपने संविधानों में शामिल कर अपने नागरिकों को अधिकार प्रदान किया है। जिसमें भारत का नाम भी उल्लेखनीय है। मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा उन अधिनायकवादी एवं तानाशाही शक्तियों के मुंह पर करारा तमाचा है, जो मानवाधिकारों का हनन करती हैं।

14.4 संयुक्त राष्ट्र संघ और मानवाधिकार

संयुक्त राष्ट्र संघ, मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा करने तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु आज भी मानवाधिकारों के संरक्षण की दिशा लगा हुआ है। संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा, सुरक्षा परिषद, न्यास परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, युद्ध अपराध प्राधिकरण, यूनेस्को, यूनीसेफ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय महिला आयोग, अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, अल्पसंख्यक संरक्षण हेतु उप आयोग तथा अनेक समझौते के कार्यान्वयन हेतु अनेक समितियाँ कार्यरत हैं, जो

अपने विभिन्न कार्यक्रमों से मानव अधिकारों के मुद्दे को गति प्रदान कर रही हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद 68 के तहत 1945 ई. में मानवाधिकार आयोग की स्थापना की गई है, जो मानवाधिकार हनन की घटनाओं की जाँच करता है और प्रतिवर्ष रिपोर्ट जारी करता है।

14.5 मानवाधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा पत्र

मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ इस दिशा में निरन्तर गतिशील रहा है, ताकि इस और अधिक प्रभावी बनाया जा सके। ये प्रतिज्ञा पत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों से संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा जो 1966 को पारित की गई तथा जिसे 1976 ई. को लागू किया गया। इस प्रसंविदा का प्रमुख उद्देश्य मानव समाज में सामाजिक एवं आर्थिक न्याय स्थापित करना, क्योंकि इसके बिना राजनीतिक न्याय या स्वतन्त्रता की स्थापना नहीं की जा सकती।

इस घोषणा के अनुसार सभी जनसमाजों को आत्म-निर्णय का अधिकार होगा और किसी भी स्थिति में समाज के प्रत्येक नागरिक को जीविका के साधनों से वंचित नहीं किया जाएगा। प्रत्येक राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि सभी स्त्री-पुरुष समान रूप से आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों का उपभोग करें, राज्य अधिकारों पर केवल कानूनी सीमाएँ ही लगायेगा, सभी को रोजगार पाने के अवसर उपलब्ध कराये जायेंगे तथा समान कार्यों के लिए समान वेतन की व्यवस्था होगी, श्रमिकों को श्रमिक संघ बनाने, शामिल होने व कानून की परिधि में हड़ताल करने का अधिकार है, सभी राज्य सामाजिक सुरक्षा को स्वीकार करते हैं, व्यक्ति के स्वयं व अपने परिवार का जीवन स्तर सुधारने का अधिकार स्वीकार करते हैं। पक्षकार राज्य प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के उच्चतम स्तर के उपभोग को तत्पक्ष करेंगे, इसके तहत मृत्यु दर में कमी लाना, पर्यावरणीय विभाग, चिकित्सा सेवाओं का विस्तार आदि प्रयास शामिल हैं।

शिक्षा के अधिकार को स्वीकार किया गया और यह तय किया गया कि शिक्षा इस प्रकार दी जाए, जिससे मनुष्य के व्यक्तित्व एवं गरिमा का विकास हो सके। इस हेतु राज्य अनिवार्य व निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करेगा।

नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार संबंधी प्रसंविदा का संबंध व्यक्ति के जीवन व बाहरी विकास से है। लोकतांत्रिक अवधारणा का तीव्र गति से विश्वव्यापी होने के कारण इनकी उपयोगिता स्वामाविक रूप से बढ़ गई है। इन अधिकारों का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को भय से मुक्ति दिलाना और देश की राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्ति की भागीदारी सुनिश्चित करना है।

जो अधिकार, एक व्यक्ति के जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार के संरक्षण और उपभोग से संबंधित हैं और जिन्हें सम्य जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है, वे नागरिक अधिकार हैं। राजनीतिक अधिकार, वे अधिकार हैं, जिनसे व्यक्ति अपने देश की सरकार में भागीदार बनता है।

घोषणा में आत्म-निर्णय के अधिकार, नागरिक अधिकारों का सम्मान, स्त्री-पुरुष का समान अवसर, जीवन का अधिकार, मृत्यु दण्ड की समाप्ति, यातना व दासता से मुक्ति, बिना मुकदमा चलाए गिरफ्तारी पर रोक, अपराध प्रणाली में सुधार, जेलों की दशा में सुधार, व्यक्ति के प्रदेश के भीतर भ्रमण व आवास की स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार, विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, शांति पूर्वक संगठन बनाने, सम्मेलन करने का अधिकार, राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने, सरकारी पद प्राप्त करने, चुनाव में हिस्सा लेने आदि की व्यवस्था पक्षकार राज्यों द्वारा तय की जाएगी और राज्य लागू करने के लिए कृत संकल्प रहेंगे।

‘यातना’ एक प्राचीन अभिशाप है, जिसने सम्पूर्ण मानवजा को झंकझोर रखा है। यातना को मानवीय गरिमा के प्रति अपराध की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि इसके कारण व्यक्ति का विकास पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ अपनी स्थापना से ही इसे रोकने का प्रयास कर रहा है। यही कारण है कि मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा पत्रों में यातनाओं को समाप्त करने का संकल्प लिखा गया था। परन्तु फिर भी यातना अपनी चरम सीमा पर थी और उनसे संयुक्त राष्ट्र संघ बहुत चिन्तित था। अतः उसने मानवाधिकार आयोग से मसौदा तैयार करवाया और 1984 को आयोग ने यातना विरोधी समझौते को स्वीकार किया। जिसमें यह तय किया गया कि किसी भी रूप में यातनाओं को स्वीकार नहीं किया जाएगा। इस समझौते को लागू करने के लिए निगरानी समिति का गठन किया गया है जो यातना सम्बन्धी मामलों की जाँच करती है।

यातना और अन्य क्रूर अमानवीय या अपमानजनक व्यवहार तथा दण्ड के विरुद्ध अभिसमय को 1975 ई. में स्वीकार किया गया था और यह भी कहा गया कि व्यक्ति के साथ इस प्रकार का व्यवहार तीन स्तरों पर पारिवारिक, सरकारी एवं सामाजिक स्तर पर होता है।

इस समझौते में राष्ट्रों में महत्वपूर्ण प्रश्नों पर आम सहमति बनी। जैसे यातना के प्रत्येक रूप को अमानवीय घोषित करते हुए किसी भी परिस्थिति में यातना को स्वीकार नहीं किया जाए, व्यक्ति को राज्य से निष्कासित नहीं किया जाएगा, प्रत्यर्पण संधि में प्रत्यर्पण योग्य अपराधी को शामिल किया जाएगा, कानून लागू करने वाले कर्मचारियों को राज्य इस बात की शिक्षा देगा कि यातना निषेध तरीके से दायित्वों का निर्वहन करें, आदि।

यातना और अन्य निर्दयी, अमानवीय अथवा क्रूरतापूर्ण अपमानजनक व्यवहार या दण्ड के विरुद्ध सभी व्यक्तियों को सुरक्षा की घोषणा भी 4 फरवरी, 1985 ई. को की गई।

यातना से उत्पीड़ितों के लिए संयुक्त राष्ट्र वैैच्छिक कोष की स्थापना भी की गई है, जिसका उद्देश्य सहायता के मान्य क्षेत्रों से वैैच्छिक दान स्वीकार करें और यातना से पीड़ित व्यक्तियों को मानवीय, कानूनी तथा वित्तीय सहायता प्रदान करें।

रंगभेद को मानवता के विरुद्ध न केवल अभिशाप माना जाता है। इस पर अंकुश लगाने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ अपनी स्थापना से प्रयास कर रहा है। रंगभेद रूपी सबसे ज्वलंत समस्या दक्षिणी अफ्रीका में सर्वाधिक थी, जिसके कारण वहाँ के सम्पूर्ण समाज में उत्पीड़न, यातना, शोषण, दमन आदि व्याप्त थे।

संयुक्त राष्ट्र संघ इस अमानवीय कृत्यों को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध था। इसके लिए उसने अनेक ठोस कदम उठाए। हर प्रकार के रंगभेद समाप्त करने की घोषणा 20 नवम्बर, 1963 ई. को की गयी। इसका मूल उद्देश्य बिना किसी भेदभाव के मानवाधिकारों और मूल अधिकारों को प्रोत्साहन देना और हर प्रकार के भेदभाव से मुक्त समाज का निर्माण करना है।

घोषणा में यह उल्लेख किया गया, कि जाति, रंग या नस्ल के आधार पर भेदभाव करना, मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा की अवमानना है, कोई संस्था या सरकार रंगभेद को प्रोत्साहन नहीं देगी, किसी भी प्रकार के रंगभेद को स्वीकार नहीं किया जा सकता, नागरिक अधिकारों के उपभोग में रंग या नस्ल का भेद नहीं किया जाएगा, बिना किसी भेदभाव के देश के सभी नागरिकों को राजनीतिक प्रक्रिया में हिस्सा लेने का अधिकार है, यदि रंगभेद पर आधारित कोई नीति है तो उसको राज्य तत्काल प्रभाव से समाप्त करेंगे, आदि।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अपने दावे को और अधिक मजबूत करने के लिए रंगभेद समाप्त कराने की अन्तर्राष्ट्रीय संधि की घोषणा की गयी, जिसमें रंगभेद को समाप्त करने की प्रतिबद्धता दोहरायी गई। इसके पश्चात् 1970 ई. में रंगभेद की समाप्ति के लिए समिति का गठन किया गया।

इस प्रकार रंगभेद को समाप्त करने में संयुक्त राष्ट्र संघ को सफलता मिली और दक्षिणी अफ्रीका में नेल्सन मण्डेला के नेतृत्व में पहली लोकतांत्रिक सरकार बनी। अब वहाँ रंगभेद समाप्त हो चुका है। इसी तरह से जिम्बावे भी रंगभेद से मुक्त हो चुका है।

मानवाधिकारों के प्रमुख अंग के रूप में महिलाओं की स्थिति बहुत खराब है। पुरुष, नारी के साथ अमानवीय कार्य करने से नहीं चूकता है। नारी के साथ बलात्कार, यौन उत्पीड़न, शारीरिक व मानसिक यातना जैसे अमानवीय कार्य करना आम बात है। कभी उसे दहेज के नाम पर जलाया जाता है। कभी पुरुष उसे अपनी हवस का शिकार बनाता है। नारी घर की चारदीवारी में घुटन भरी जिन्दगी जीने को मजबूर है। महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने की आवश्यकता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के विभेदों की समाप्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा को जारी किया है। जिसका प्रमुख उद्देश्य है—“स्त्री-पुरुष में व्याप्त भेदभाव को समाप्त करना और महिलाओं को अपने अधिकार दिलाना। इस घोषणा को जारी करते वक्त यह आशा व्यक्त की गई थी कि समानता एवं न्याय पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना से पुरुष व महिलाओं के बीच समानता बढ़ेगी और महिलाओं के खिलाफ जारी अपराधों पर अंकुश लगेगा।

इस घोषणा में स्वीकार किया गया कि लिंग पर आधारित भेदभाव महिला उत्पीड़न का प्रतीक होगा, सभी राज्य भेदभाव मिटाने के लिए कृत संकल्प हैं, समाज में व्याप्त महिला विरोधी परम्पराओं को समाप्त किया जाएगा, राज्य राजनीतिक जीवन में महिलाओं के भेद मिटाने के लिए हर सम्भव कोशिश करेंगे, महिलाओं को पुरुष के समान शिक्षा का अधिकार है, महिलाओं को समान रोजगार के अवसर सूलम होंगे और समान कार्यों के लिए समान वेतन मिलेगा, महिलाओं के स्वास्थ्य स्तर में सुधार लाया जाएगा, आदि।

विकास के अधिकार की घोषणा को 1986 ई. में स्वीकार किया गया था। यह घोषणा अपने आप में भारी महत्व रखती है। यह पहला अवसर था, जब विकास को मानवाधिकारों के साथ जोड़ा गया। इससे समाज में आत्म-निर्णय का अधिकार विकसित हो सका और उपनिवेशवाद से मुक्ति सम्भव हुई तथा निशस्त्रीकरण की बात पर विश्व जनमानस को यह बताया गया कि ऐसा करके वह धन का उपभोग मानव विकास के लिए करें।

आज के बच्चे कल का भविष्य हैं, परन्तु शोषण, दमन, अन्याय, अज्ञानता से दबे हुए हैं, अभाव का जीवन जीने को विवश हैं। इनकी जिन्दगी को बेहतर बनाने का दावा करने वाला हमारा समाज लाखों बच्चों को बालश्रम और खतरनाक कार्यों की ओर धकेल रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ बच्चों की इस स्थिति से बहुत चिन्तित है। उसने इस स्थिति में सुधार लाने के लिए बच्चों के अधिकार संबंधी संधि को स्वीकार किया है, जिसमें राष्ट्रों ने यह तय किया है कि वे बच्चों की स्थिति में सुधार लाने के लिए कृतसंकल्प हैं। उनके द्वारा बालश्रम पर अंकुश लगाया जाएगा, बच्चों के लिए अनिवार्य व निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी, बच्चों के अवैध व्यापार को रोका जाएगा, बच्चों को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार दिया जाएगा, बच्चों को अन्तःकरण और धार्मिक स्वतन्त्रता है, अनाथ बच्चों को सहायता दी जाएगी, बच्चों के स्वास्थ्य सुधार हेतु प्रयास होंगे, दासता से मुक्ति दिलायी जायेगी, आदि।

14.6 मानवाधिकार संस्थाएँ

मानवाधिकार संस्थाएँ त्रिस्तरीय होती हैं अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय। जो अपने विभिन्न क्रियाकलापों के माध्यम से मानवाधिकारों की घोषणाओं को न केवल आगे बढ़ा रही हैं, अपितु मानवाधिकारों को उपयुक्त तन्त्र एवं मजबूत आधार प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो रही हैं।

मानवाधिकार संस्थाओं के विकास में संयुक्त राष्ट्र संघ की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, उसी की पहल से इनका जाल विश्वव्यापी हो सका। उसने अपनी घोषणाओं को मूर्तरूप देने के लिए अपने स्तर पर अनेक प्रकार की मानवाधिकार संस्थाओं की नींव रखी। इसके अलावा उसने अपने सदस्य राष्ट्रों पर इस बात के लिए दबाव डाला कि वे अपने राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकार संस्थाओं का गठन कर इन्हें अधिक साधन सम्पन्न बनाएं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वाधान में अनेक संस्थाएँ कार्यरत हैं, जैसे— अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, महिला आयोग, अल्पसंख्यक संरक्षण हेतु उपसमिति, अन्तर्राष्ट्रीय बाल आयोग, मानवाधिकार केन्द्र, रंगभेद विरुद्ध समिति, स्वतन्त्रता संबंध समिति, आदि। इसी तरह क्षेत्रीय स्तर पर भी अनेक आयोग कार्यरत हैं, जो मानवाधिकारों की सुदृढ़ता

के लिए प्रयासरत हैं। जैसे – मानवाधिकारों का अन्तर – अमरीकी आयोग, यूरोपीय आयोग, अफ्रीकी आयोग, अरब आयोग, दक्षिणी एशिया मानवाधिकार आयोग आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जो अपने विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से मानवाधिकारों के विकास में सार्थक भूमिका अदा कर रही हैं। राष्ट्रीय स्तर पर विश्व के लगभग सभी देशों ने मानवाधिकार आयोग की स्थापना की है, परन्तु संसाधनों का नितान्त अभाव होने के कारण यह संस्थाएँ अपने दायित्वों का निर्वाह सही तरीके से नहीं कर पा रही हैं।

मानवाधिकारों की अवधारणा को मजबूत आधार प्रदान करने में गैर सरकारी मानवाधिकार संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, जिसको हम नजर अंदाज नहीं कर सकते हैं। यह गैर सरकारी संगठन अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर व्याप्त हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के मानवाधिकार संगठनों ने न केवल विभिन्न राष्ट्रों पर निशाना साधा है, अपितु संयुक्त राष्ट्र संघ के क्रियाकलापों व नीतियों पर भी प्रश्न विन्दित लगा दिया है और उसकी भी अनेक स्तरों पर कड़ी आलोचना कर अपने कार्यक्रमों में सुधार लाने के लिए बाध्य किया है। इन संगठनों द्वारा जारी रिपोर्टों को सरकारी संगठनों की रिपोर्टों की तुलना में अधिक विश्वसनीय माना जाता है।

एमनेस्टी इन्टरनेशनल, ह्यूमन राइट्स वॉच, इन्टरनेशनल कमीशन ऑफ जस्टिस आदि गैर सरकारी क्षेत्र की मानवाधिकार संस्थाएँ हैं, जो अपनी रिपोर्टें तथा अन्य दस्तावेजों के माध्यम से समाज में व्याप्त उन मानवाधिकार हनन की घटनाओं को उजागर करती हैं, जो सरकारी स्तर के संगठनों की पहुँच के बाहर हैं। इसके अलावा यह संगठन समय-समय पर विभिन्न कार्यक्रम चलाकर मानवीय समाज को समस्याओं से मुक्त करने का प्रयास कर रहे हैं। जैसे हाल ही में एमनेस्टी इन्टरनेशनल ने 'उत्पीड़न के विरुद्ध' एक कार्यक्रम शुरू किया है क्योंकि संगठन का यह मानना है कि 'राजनीतिक तानाशाही को समाप्त किया जा सकता है, परन्तु उत्पीड़न को नहीं।'

यद्यपि अनेक ऐसे अवसर आये हैं, जिनमें इन संगठनों को कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा है। सामान्यतया सरकारें इनकी रिपोर्टों को यह कहकर नजर अन्दाज कर देती हैं कि इनकी रिपोर्टें पक्षपातपूर्ण हैं। यदि इन तर्कों में सच्चाई है तो आयोगों को सोचना होगा।

14.7 मानवाधिकारों पर आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा की उपलब्धियों के वास्तविक आंकलन के लिए अनेक सम्मेलनों का आयोजन किया गया है। आज तक कुल दो विश्व सम्मेलनों का आयोजन किया जा चुका है। प्रथम सम्मेलन 22 अप्रैल से 13 मई, 1968 ई. के तेहरान में आयोजित किया गया और द्वितीय सम्मेलन 14 से 25 जून, 1993 को विएना में आयोजित किया गया। दोनों ही सम्मेलनों की उल्लेखनीय उपलब्धि रही। जिनमें बड़ी संख्या में सदस्य राष्ट्रों के साथ-साथ गैर सरकारी संगठनों ने भी हिस्सा लिया। इन सम्मेलनों में तात्कालिक विश्व स्थिति को ध्यान में रखते हुए मानव अधिकारों के क्षेत्र में सुधार लाने की आवश्यकता पर बल दिया गया।

तेहरान विश्व सम्मेलन से मानवाधिकारों की अवधारणा में नवीन रक्त का संचार हुआ। इस सम्मेलन में विकसित राष्ट्रों को आगाह किया गया कि वे राजनीति का धिनौना खेल न खेलें, बल्कि विकासशील राष्ट्रों को हर सम्भव सहायता करें, जिससे इन राष्ट्रों में स्वतः मानवाधिकारों में सुधार हो जाये। सम्मेलन में साक्षरता के महत्व को स्वीकार किया गया और यह कहा गया कि इसके बिना मानवाधिकारों के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है। शस्त्रों की बढ़ती होड़ पर सम्मेलन ने गहरी चिन्ता व्यक्त की और कहा कि निशस्त्रीकरण को बढ़ावा दिया जाए। सम्मेलन ने सरकारों से यह कहा कि वे अपने यहाँ जनसंख्या विस्फोट को रोकें और इसके लिए परिवार नियोजन के साधनों का विकास करें।

मानवाधिकारों के विएना विश्व सम्मेलन से पूर्व सम्पूर्ण विश्व शीत युद्ध की चपेट में था, जिससे यह मुद्दा भी अछूता नहीं रहा। इस समय मानवाधिकारों की अवधारणा पूर्णतया निष्प्रभावी हो चुकी थी। दोनों गुट इस मुद्दे का प्रयोग एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार के लिए कर रहे थे। इस कारण मानवाधिकारों का पूर्ण राजनीतिकरण हो गया था। परन्तु 1993 के आते-आते शीत युद्ध रूपी बर्फ पिघलने लगती है और शीत युद्ध को कब्र में दफना दिया जाता है। तब इन परिस्थितियों में इस विश्व सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें 171 राष्ट्रों तथा विभिन्न संगठनों के 7,000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा के बाद से मानव अधिकारों के क्षेत्र में हुई प्रगति की समीक्षा और मूल्यांकन करना, विकास तथा आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों के उपभोग के बीच के संबंध पर विचार करना तथा मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना।

सम्मेलन में लोकतन्त्र विकास, मूल स्वतंत्रताओं तथा मानवाधिकारों को एक सिक्के के दो पहलू माना गया। विकसित राष्ट्रों से यह कहा गया कि वे विकासशील देशों के ऋण माफ कर उनके विकास कार्यों में सहयोग दें। शिक्षा की अनिवार्यता पर बल देते हुए यह कहा गया कि मानवाधिकार, अन्तर्राष्ट्रीय विधि व लोकतंत्र को पाठ्यक्रमों में शामिल किया जाए। सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय अपराध न्यायालय के गठन पर बल दिया।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों सम्मेलनों से मानवाधिकारों की जड़ें मजबूत हो सकीं और वर्तमान विश्व राजनीतिक का प्रमुख हिस्सा बन सकीं।

14.8 मानवाधिकार उल्लंघनों पर रोक तथा संयुक्त राष्ट्र संघ

संयुक्त राष्ट्र संघ अपनी स्थापना के काल से ही इस क्षेत्र में ठोस कदम उठाने लगा। इसके लिए इस अवधारणा को संस्थागत आधार प्रदान करने के उद्देश्य से 1946 में मानवाधिकार आयोग की नींव रखी और उसके पश्चात् मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा करके मानवाधिकारों के हनन को रोकने का हर सम्भव प्रयास किया। इनके लिए वह जाँचों, व्यक्तिगत शिकायतों एवं जन चर्चाओं के आधार पर रोकने हेतु उचित कार्यवाही करता है। मानवाधिकार आयोग प्रति वर्ष अपना सम्मेलन आयोजित करता है, जिसमें

मानवाधिकार उल्लंघनों के मुद्दे पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श कर रिपोर्ट जारी की जाती है। आयोग की दृष्टि में किसी राष्ट्र में मानवाधिकारों की स्थिति बहुत खराब है तो आयोग अपना जाँच दल वहाँ भेजकर स्थिति का आकलन करवाता है। आयोग को प्रतिदिन मानवाधिकार उल्लंघनों की शिकायतें मिलती रहती हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानवाधिकार हनन को रोकने हेतु अनेक कदम उठाए हैं। गैर-कानूनी मृत्यु-दण्ड और गायब करने की घटनाओं पर रोक लगाने हेतु, वह प्रयासरत है। इसके सन्दर्भ में एक विशेष कार्यदल का गठन किया गया है, जिसकी नियमित बैठक होती रहती है।

1991 ई. में आयोग ने एक कार्यदल का गठन किया है, जिसका कार्य मनमाने ढंग से कैद में रखे जाने से संबंधी मामलों की जाँच करना, जो सम्बन्धित सरकारों को शीघ्रातशीघ्र जवाब देने व उचित कार्यवाही करने का निर्देश देता है।

उत्पीड़न मानवाधिकारों के विरुद्ध है। अतः इस पर नियंत्रण लगाने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने कदम उठाए हैं। इसके लिए एक 10 सदस्यीय समिति का गठन किया गया है।

आतंकवाद को मानवता के विरुद्ध घोषित किया है, जिससे उन लोगों को बल मिलेगा जो आतंकवादियों के विरुद्ध कार्यवाही को चला रहे हैं। इसके अलावा संयुक्त राष्ट्र संघ नरल भेद समाप्ति, महिला अधिकारों को प्रोत्साहन, अल्पसंख्यकों का उचित संरक्षण, स्वदेशी लोगों का संरक्षण, अप्रवासियों का संरक्षण, रंगभेद की समाप्ति आदि के लिए प्रयास कर रहा है, जिसमें उसे कुछ सीमा तक सफलता भी मिली है।

14.9 भारत में मानवाधिकार आयोग

भारत में मानवाधिकार आयोग 1993 में अस्तित्व में आया, जब संसद ने 'मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम 1993' को पारित किया। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इससे पूर्व भारत में मानवाधिकारों की कोई व्यवस्था नहीं थी। भारतीय संविधान, जो 26 जनवरी, 1950 ई. को लागू हुआ था, उसके भाग 3 में नागरिक अधिकारों की स्पष्ट घोषणा की गई है। परन्तु विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों को उचित ढंग से लागू करने के लिए एक ऐसे तंत्र की आवश्यकता थी, जो आयोग की स्थापना के साथ पूरी हो गई। आयोग का एक अध्यक्ष और चार अन्य सदस्य होते हैं, जो विभिन्न क्षेत्रों से चयनित किये जाते हैं। इनका चयन एक समिति करती है, जिसमें प्रधानमंत्री, लोकसभा अध्यक्ष, गृहमंत्री, लोकसभा में विपक्ष का नेता, राज्य सभा में विपक्ष का नेता और राज्यसभा के उपसभापति सम्मिलित होते हैं। मानवाधिकार आयोग प्रतिवर्ष अपनी रिपोर्ट तैयार करता है, जो संसद के सम्मुख पेश की जाती है।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की उपलब्धियों का अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि इसने अप्रूप अनेक दायित्वों का ईमानदारी से निर्वाह किया है। आयोग समय-समय पर घटित होने वाली मानवाधिकार हनन की घटनाओं की ओर प्रशासन का ध्यान दिलाता है और इनकी पुनरावृत्ति रोकने के लिए आवश्यक सुझाव देता है। जैसे-आयोग ने न्यायालय को सिफारिश की है कि वे बलात्कार से पीड़ित महिला का नाम उजागर न करें। इसके अलावा आयोग ने तलाकशुदा महिलाओं के लिए गुजारा भत्ता बढ़ाने की सिफारिश की है। आयोग द्वारा प्रतिवर्ष रिपोर्ट जारी की जाती है, जिसमें मानवाधिकार का वास्तविक स्थिति प्रस्तुत की जाती है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि आयोग को साधन सम्पन्न बनाया जाए, ताकि वह अपने निर्णय स्वयं ले सके तथा राज्य और जिला स्तर पर मानवाधिकार आयोगों का गठन किया जाए।

14.10 लोकतंत्र और मानव अधिकार

लोकतंत्र और मानव अधिकार के बीच क्या सम्बन्ध है? क्या लोकतंत्र और मानव अधिकार एक दूसरे के पूरक हैं? क्या लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में मानव अधिकारों की अवधारणा जीवित रह सकती है? प्रश्न अपने आप में व्यापकता महत्त्वपूर्ण बने हुए सामान्यतया यह धारणा बन चुकी है कि लोकतांत्रिक समाज में ही मानव अधिकार सम्भव हैं। जब-जब लोकतंत्र के समाप्त होने के बाद सैनिक या तानाशाही (व्यवस्था) स्थापित हुई है वो, किसी भी कीमत पर मानवाधिकारों को स्वीकार नहीं करती है, क्योंकि उनका आधार ही मानवाधिकार विरोधी होता है। ये शासक अपनी सत्ता को मजबूती व स्थायित्व देने के लिए मानवाधिकारों हनन (करने के लिए विभिन्न) कदम जैसे-प्रेस पर प्रतिबन्ध लगाना, नागरिकों को मूल अधिकारों से वंचित रखना, न्यायपालिका पर अपना पूरा नियन्त्रण स्थापित करना, राजनीतिक विरोधियों को मौत के घाट उतारना या बिना मुकदमा चलाये जेलों में डालना आदि का सहारा लेते हैं।

जहाँ लोकतांत्रिक सरकार होती है, वह इस बात का हर सम्भव प्रयास करती है कि नागरिकों को विकास के समुचित अवसर मिलें, उनके मानवाधिकारों की उचित व्यवस्था हो आदि। इसके अलावा लोकतांत्रिक संविधानों में भी नागरिकों के मानव-अधिकारों को उचित स्थान दिया जाता है। इसमें जनमत की शक्ति काफी महत्त्वपूर्ण स्थिति में होती है, जिसे यह व्यवस्था नजरअन्दाज नहीं कर सकती, क्योंकि उन्हें इस बात का हर समय भय बना रहता है कि यदि वे जनमत की अवहेलना कर कोई कदम उठाते हैं तो उसका खामियाजा उसे भुगतना पड़ेगा। जैसे 1975 में जब श्रीमती इन्दिरा गांधी ने आपातकाल लगाकर लोगों को उनके अधिकारों से वंचित किया, विपक्ष के नेताओं को "मीसा" कानून के तहत जेलों में बन्द कर दिया तो इसका परिणाम यह हुआ कि 1977 की छठी लोकसभा चुनाव में कांग्रेस को सत्ता से हाथ धोना पड़ा। अनेक विद्वान लोकतंत्र व मानवाधिकारों को एक साथ जोड़ कर देखते हैं। लोकतांत्रिक शासकों को पदच्युत कर सत्ता पर सैनिक तानाशाह काबिज हुए, उनमें पाकिस्तान, बर्मा, अफगानिस्तान, फिजी के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं। अनेक रिपोर्टों से इस बात की पुष्टि हो रही है कि इन राष्ट्रों में अब निरन्तर रूप से मानवाधिकारों का हनन हो रहा है।

पाकिस्तान में परवेज मुशर्रफ सरकार के पाँच वर्ष के बाद जारी विभिन्न मानवाधिकार संगठन की रिपोर्टों में काफी चिन्ता व्यक्त की गई है। अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संगठन 'ह्युमन राइट्स वॉच' ने जारी अपनी वार्षिक रिपोर्ट में पाकिस्तान की सैनिक सरकार को मानवाधिकार विरोधी सरकार करार दिया है और कहा है कि सरकार का यह दावा पूर्णतया खोखला साबित हुआ है कि उसके सत्ता में आने से मानवाधिकारों की स्थिति में सुधार आयेगा। रिपोर्ट में बताया गया है कि आपातकाल लगाकर नागरिकों को मूल अधिकारों से वंचित किया जा रहा है, संविधान को हटाकर अल्पसंख्यक समुदाय के लोगों के साथ अन्याय, भेदभाव, दमन व शोषण किया जा रहा है, हड़तालों को प्रशासन बल पूर्वक कुचल रहा है, न्यायपालिका पर सरकारी नियंत्रण हो गया है, राजनीतिक विरोधियों पर बिना मुकद्मा चलाए जेलों में डालकर अमानवीय यातनाएँ दी जा रही हैं। इसी प्रकार एमनेस्टी इन्टरनेशनल में भी पाकिस्तान की सैनिक सरकार के कार्यकाल को मानवाधिकारों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण करार दिया है। जिसमें बताया गया है कि विशेष अदालत ने 250 बंदियों को मृत्युदण्ड दिया है तथा अल्पसंख्यक समुदाय, पत्रकार एवं मानवाधिकार कार्यकर्ता स्वयं को असुरक्षित महसूस कर रहे हैं। पाकिस्तान की मानवाधिकार आयोग की अध्यक्ष अस्मा जहाँगीर ने भी मानवाधिकारों की स्थिति पर गहरी चिन्ता व्यक्त कर अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आलोचनाओं की पुष्टि कर दी है।

फिजी में जिस प्रकार महेन्द्र चौधरी की लोकतांत्रिक सरकार का तख्ता पलटकर वहाँ के अल्पसंख्यक समुदाय के साथ जो व्यवहार किया गया है, वह भी मानवाधिकारों के लिए चिन्ता का विषय है। फिजी के संविधान को बदलकर यह प्रावधान कर दिया गया है कि अब अल्पसंख्यक (हिन्दू) समुदाय का कोई भी नागरिक प्रधानमंत्री जैसे महत्वपूर्ण पद पर नहीं पहुँच सकता है, जो स्पष्ट रूप से लोकतांत्रिक अवधारणा के विपरीत है।

बर्मा में भी सैनिक सरकार है। यह जिस प्रकार लोकतंत्र प्रेमी लोगों के साथ अमानवीय व्यवहार कर रही है, वह भी चिन्ता का विषय है। 'आंग सान सू की' की पार्टी द्वारा चुनाव जीत जाने के बावजूद सैनिक सरकार उन्हें सत्ता सौंपने को तैयार नहीं हैं और नित नये हथकण्डे अपनाकर उन्हें प्रताड़ित किया जा रहा है। विपक्षी पार्टी को विरोध प्रदर्शन करने, बैठक करने आदि से रोका जा रहा है और अनेक विपक्षी नेताओं को जेल में डाल दिया गया है, प्रेस पर सरकारी नियन्त्रण है तथा नागरिकों को मूल अधिकारों से वंचित किया जा रहा है।

अफगानिस्तान की तालिबान सरकार भी मानव-अधिकारों का हनन करती रही। संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार आयोग, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनेक सरकारी व गैर सरकारी संगठन समय-समय पर आलोचना करते रहते हैं। तालिबान सरकार ने जिस प्रकार महिलाओं को नौकरी करने पर प्रतिबन्ध लगाया, नागरिकों के साथ दमनकारी कार्य किये, इस्लाम के नाम पर बेगुनाह लोगों को मौत के घाट उतारा है, हजारों लोग नय के कारण शरणार्थी बनकर पड़ोसी देशों में चले गये, भूखमरी अपनी चरम सीमा पर रही, समाचारपत्र एवं न्यायालय भी सरकारी दमन के शिकार बनाया ये सभी चिन्ता का विषय थे। अब इस सरकार का पतन हो गया है।

खाड़ी के अनेक अरब राष्ट्रों में राजतंत्र या सैनिक शासनतंत्र विद्यमान है और यहाँ पर भी मानवाधिकारों की स्थिति लोकतांत्रिक देशों की तुलना में बहुत कमजोर है। 14 अक्टूबर, 2000 को सऊदी एयर लाइन्स का विमान इसलिए अपहरण किया गया कि वहाँ मानवाधिकारों की स्थिति खराब थी।

साम्यवादी चीन ये भी मानवाधिकार उल्लंघन के गम्भीर आरोप हैं और चीन-अमरीका के बीच विवाद का भी एक प्रमुख कारण है। यहां लोकतांत्रिक नेताओं को प्रताड़ित किया जाता है, अल्पसंख्यक समुदाय के लोगों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जा रहा है, प्रेस पर सरकारी नियन्त्रण, नागरिकों को राजनीतिक अधिकारों से वंचित किया हुआ है और एक प्रकार से वहाँ साम्यवादी दल की तानाशाही कायम है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था से ही मानवाधिकार का संरक्षण संभव है।

14.11 आतंकवाद बनाम मानवाधिकार

आतंकवाद एक चिरव्यापी समस्या है। इसके कारण न केवल अशांति को प्रोत्साहन मिला है, अपितु राष्ट्रों की एकता व अखण्डता खतरे में पड़ गई है। आतंकवादियों द्वारा सुनियोजित ढंग से सार्वजनिक स्थानों को क्षति पहुँचायी जा रही है। राजनेताओं, पत्रकारों, सामाजिक कार्यकर्ताओं की हत्या व अपहरण करते हैं और समाज में तनाव व अनिश्चितता की स्थिति पैदा कर रहे हैं।

आतंकवाद और मानवाधिकारों के मुद्दे के इतिहास के बीच एक नया अध्याय तब जुड़ गया, जब कथित अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवादी ओसामा बिन लादेन के संगठन 'अलकायदा' ने 11 सितम्बर 2001 को अमरीकी विमानों का अपहरण कर न्यूयार्क स्थित विश्व व्यापार केन्द्र तथा वाशिंगटन स्थित अमरीकी रक्षा मुख्यालय पेन्टागन पर आत्मघाती हमला कर हजारों बेगुनाह लोगों को मृत्यु की गहरी नींद में सुला दिया।

इन घटनाओं ने यह साबित कर दिया कि आतंकवाद किस प्रकार मानवाधिकारों का विनाश करता है।

जो मानवाधिकार संगठन अब तक आतंकवादियों को समर्थन दे रहे थे और उनके खिलाफ की जाने वाली सेना एवं पुलिस की कार्यवाही को मानवाधिकार विरोधी बता रहे थे, वे अब इस पर आत्ममंथन करें और विश्व इस मुद्दे के समाधान करने हेतु विश्व समुदाय को सहयोग करें, ताकि इन संगठनों की विश्वसनीयता कायम हो सके और मानवता विरोधी इस अभियान को समूल नष्ट किया जा सके।

आज आतंकवाद के कारण मानवता गम्भीर खतरे में है। विश्व के अधिकांश राष्ट्र इससे ग्रस्त हैं। इसके कारण न केवल इन राष्ट्रों में अशांति को बढ़ावा मिला है, अपितु इनकी एकता, अखण्डता व सम्प्रभुता को भी खतरा पैदा हो गया है।

यदि हम मानवीय गरिमा की बहाली के पक्षधर हैं एवं मानवाधिकार तथा लोकतन्त्र को फलता-फूलता देखना चाहते हैं तो आतंकवाद को विश्व समाज से हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त करना होगा। इसके लिए मानवाधिकार संगठन आगे आये।

जब सेना और पुलिस उनके खिलाफ कार्यवाही करती है तो मानवाधिकार संगठन आतंकवादियों का पक्ष लेते हैं तथा वहां तत्काल अपने जाँच दल भेज देते हैं।

मानवाधिकार संगठन और गैर सरकारी संगठन आतंकवाद को समाप्त करने में सकारात्मक भूमिका अदा कर सकते हैं और सरकार व जनता के बीच सेतु का काम कर सकते हैं। इस भूमिका के लिए इन संगठनों को आत्म मंथन करना होगा, केवल आलोचनाएं या निन्दा करने से समस्या का समाधान नहीं होता, बल्कि समस्या का समाधान तभी होगा जब समाधान करने का प्रयास किया जाए। यदि मानवाधिकार संगठन ऐसा कर ले तो मानवाधिकारों की अवधारणा साकार रूप ले सकती है और प्रत्येक व्यक्ति इनका उपयोग कर सकता है।

14.12 मानवाधिकारों को प्रभावी बनाने हेतु सुझाव

अन्ततः, हम यह कह सकते हैं कि मानवाधिकारों की अवधारणा को विश्वव्यापी बनाने और सुदृढ़ता प्रदान करने में संयुक्त राष्ट्र संघ का उल्लेखनीय योगदान रहा है। जिसे हम किसी भी हालात में नजरअन्दाज नहीं कर सकते। परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ के अथक प्रयासों के बावजूद विश्व में मानवाधिकार उल्लंघन की घटनाओं में कोई कमी नहीं आयी है।

मानवाधिकारों की अवधारणा के लिए सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि इसकी घोषणा तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा पत्रों को लेकर राष्ट्रों में आपसी आम सहमति नहीं है। इसकी घोषणाएँ विकसित और विकासशील देशों की आपसी राजनीति का शिकार हो रही हैं। विकासशील देशों का मत है कि जब मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा की गई है, उसमें विकासशील राष्ट्रों के विचारों का कोई स्थान नहीं था, क्योंकि जब इसे जारी किया गया था, तब वे परतंत्र थे। अतः इस घोषणा की पुनर्समीक्षा की जाए, वहीं दूसरी ओर विकसित देश यह आरोप लगाते हैं कि विकासशील देशों में मानवाधिकारों की स्थिति बहुत खराब है। इस आधार पर विकसित राष्ट्र, विकासशील राष्ट्रों पर प्रतिबन्धात्मक कार्यवाही करके अपने हितों की पूर्ति कर रहे हैं, अपितु विकासशील राष्ट्रों पर दबाव डालने के लिए कर रहे हैं, ताकि विकासशील राष्ट्र उनकी नीतियों को मान लें।

मानवाधिकार संगठनों का इस अवधारणा को संवाहित करने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। परन्तु इन संगठनों की भूमिका विवाद के घेरे में है। इन पर यह आरोप लगाना सामान्य बात हो गई है कि यह अपनी रिपोर्टें पक्षपात पूर्ण तरीके से पेश करते हैं। आतंकवादी जैसे राष्ट्र विरोधी तत्वों का पक्ष लेकर उन लोगों के मानवाधिकारों के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं, जिनका हनन ये आतंकवादी करते हैं।

इस प्रकार आवश्यकता इस बात की है कि इस अवधारणा को सन्तुलित बनाया जाए, उसमें व्याप्त विसंगतियों को दूर किया जाए और मानव समाज में एक ऐसा वातावरण बनाया जाए, जिसमें मानवाधिकारों के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ पैदा हो सकें। अन्त में मानवाधिकारों की स्थिति में सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

- मानवाधिकारों के प्रति जागृति
- मानवाधिकार आयोगों को साधन सम्पन्न बनाना।
- आयोगों का जाल बिछाना।
- राजनीतिक हस्तक्षेप पर नियंत्रण।
- मानवाधिकारों के नाम पर राजनीति न हो।
- मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा की पुनर्समीक्षा।
- सार्वभौम मानवाधिकारों के साथ कर्तव्य जोड़ा जाए।
- मानवाधिकारों की स्पष्ट व्याख्या की जाए।
- लोकतंत्र की रक्षा का हर सम्भव प्रयास।
- मानवाधिकारों की शिक्षा।
- मानवाधिकार हनन के मामलों पर शीघ्र निपटारा
- मृत्युदण्ड के प्रावधान को समाप्त करना।
- पत्रकारों को सुरक्षा दी जाए।
- भ्रष्टाचार को मानवाधिकार के साथ जोड़ा जाए।
- चिकित्सा सेवा और मानवाधिकार।
- जाँच की व्यवस्था में बदलाव लाना।
- पुलिस एवं सैन्य व्यवस्था में सुधार लाना।
- जेलों की दशा सुधारना।
- न्यायिक सक्रियता की धारणा को बल।
- आतंकवाद पर अंकुश के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पहल।
- पर्यावरण को मानवाधिकारों के साथ जोड़ना।
- मानवाधिकार संस्थाएँ निष्पक्षता का परिचय दें।
- मानवाधिकारों से संबंधी पृथक न्याय व्यवस्था
- बाल कल्याण आयोगों का गठन।
- बाल श्रमिकों का उचित पुनर्वास।
- बाल शिक्षा को अनिवार्य रूप से लागू करना।
- मानवाधिकारों की घोषणाओं को ईमानदारी से लागू किया जाए।
- उत्पीड़न या शोषण से ग्रस्त व्यक्ति का उचित संरक्षण।
- महिला उत्पीड़न संबंधी मामलों की सुनवायी गुप्त हो।
- महिला संबंधी मामले महिला न्यायाधीशों द्वारा सुने जाएँ।
- महिलाओं में आत्म-निर्भरता के गुण विकसित करना।
- महिलाओं की अधिक से अधिक राजनीति में भागीदारी सुनिश्चित करना।
- कामकाजी महिलाओं के लिए विशेष कानूनी संरक्षण का प्रावधान।
- सेना व पुलिस की कार्यवाही कानून की सीमा में हो।

- | | |
|--|--|
| 35. अल्पसंख्यकों के अधिकार एवं सुरक्षा सुनिश्चित करना। | 36. बिना मुकदमा चलाए गिरफ्तारी पर पूर्ण रोक। |
| 37. व्यक्ति व राज्य के अधिकारों में सन्तुलन। | 38. वेश्यावृत्ति को कानूनी मान्यता। |
| 39. उग्रवाद से निपटने के लिए मानवाधिकारों के पृथक मापदण्ड। | 40. जाति भेद को समाप्त करने के प्रयास। |
| 41. विश्व व्यापार के साथ मानवाधिकारों को जोड़ा जाए। | |

14.13 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

- मानवाधिकारों को प्रभावी बनाने में संयुक्त राष्ट्र संघ के योगदान का उल्लेख कीजिए।
- "लोकतंत्र में ही मानवाधिकारों का संरक्षण सम्भव है।" सिद्ध कीजिए।
- आतंकवाद बनाम मानवाधिकार पर एक टिप्पणी लिखिये।
- मानवाधिकारों पर प्रकाश डालते हुए उन्हें प्रभावी बनाने हेतु सुझाव दीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

- मानवाधिकार संस्थाओं के योगदान पर प्रकाश डालिए।
- मानवाधिकार पर आयोजित विश्व सम्मेलनों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
- भारत में मानवाधिकार आयोग की गतिविधियों का उल्लेख कीजिए।
- मानवाधिकारों पर सार्वभौम घोषणा का क्या प्रभाव पड़ा?
- रंगभेद उन्मूलन की दिशा में संयुक्त राष्ट्र संघ के क्या प्रयास किये हैं?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

- मानवाधिकारों को वैधानिक रूप कब मिला?
- मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा कब की गई?
- विश्व मानवाधिकार दिवस कब मनाया जाता है?
- संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग अस्तित्व में कब आया?
- विकास के अधिकार की घोषणा का मूल उद्देश्य क्या है?
- किन्ही तीन गैर सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संगठनों के नाम बताओ?
- भारत में मानवाधिकार आयोग की स्थापना कब की गई?

14.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डॉ. मुख्तार अली, "संयुक्त राष्ट्र संघ और मानवाधिकार" (शोधग्रन्थ) राजनीति शास्त्र एवं लोक प्रशासन विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
- वी. आर. कृष्ण अय्यर, "ह्युमन राइट्स इस्टन लॉ हाऊस नई दिल्ली
- जय-जय राम उपाध्याय, "मानवाधिकार," सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी इलाहाबाद
- दिलीप ज्ञाखड़, "मानवाधिकार" यूनिवर्सिटी बुक हाऊस, जयपुर

इकाई-15 : स्वतन्त्रता एवं समानता

संरचना

- 15.1 उद्देश्य
- 15.2 प्रस्तावना
- 15.3 स्वतन्त्रता का अर्थ
- 15.4 स्वतन्त्रता की परिभाषाएं
- 15.5 स्वतन्त्रता के विविध रूप
 - 15.5.1 प्राकृतिक स्वतन्त्रता
 - 15.5.2 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता
 - 15.5.3 नागरिक स्वतन्त्रता
 - 15.5.4 राजनीतिक स्वतन्त्रता
 - 15.5.5 आर्थिक स्वतन्त्रता
 - 15.5.6 राष्ट्रीय स्वतन्त्रता
 - 15.5.7 नैतिक स्वतन्त्रता
- 15.6 स्वतन्त्रता एवं कानून
- 15.7 स्वतन्त्रता के सहायक तत्व
 - 15.7.1 लोकतन्त्र की स्थापना
 - 15.7.2 संविधान
 - 15.7.3 संविधानवाद
 - 15.7.4 मौलिक अधिकार
 - 15.7.5 स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका
 - 15.7.6 सत्ता का विकेंद्रीकरण
 - 15.7.7 शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त
 - 15.7.8 आर्थिक सुरक्षा
 - 15.7.9 विधि का शासन
 - 15.7.10 राजनीतिक शिक्षा एवं चेतना
 - 15.7.11 स्वतन्त्र प्रेस
 - 15.7.12 सामाजिक न्याय

समानता का महत्व

- 15.8 समानता का अर्थ
- 15.9 समानता के प्रकार
 - 15.9.1 सामाजिक समानता
 - 15.9.2 नागरिक समानता
 - 15.9.3 राजनीतिक समानता
 - 15.9.4 आर्थिक समानता
 - 15.9.5 अवसर और शिक्षा की समानता
 - 15.9.6 धार्मिक समानता
- 15.10 सारांश
- 15.11 अभ्यास प्रश्नावली
- 15.12 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

15.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य स्वतन्त्रता तथा समानता से अवगत करवाना है। आप सभी इन शब्दों को सुनते हैं और प्रयोग में भी लाते हैं परन्तु इनके बारे में विस्तारपूर्वक नहीं जानते। ये ऐसी अवधारणाएँ हैं, जो मानव के सर्वांगीण विकास के साथ जुड़ी हुई हैं। इसके अध्ययन के बाद आप इनके संबंध में जान सकेंगे तथा काफी कुछ और भी जानेंगे—

- व्यक्ति व समाज के लिए स्वतन्त्रता एवं समानता के महत्त्व को समझेंगे,
- स्वतन्त्रता के सकारात्मक और नकारात्मक आयामों में अन्तर की व्याख्या करने में समर्थ होंगे,
- स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकार तथा स्वतन्त्रता को प्रभावी बनाने वाले तत्वों के बारे में जानेंगे,
- समानता क्या है? हमें इसके नैतिक और राजनीतिक आदर्श के बारे में क्या सोचना चाहिए,
- क्या समानता का मतलब हर स्थिति में व्यक्ति को समान माना जाना चाहिए,
- समानता के विभिन्न प्रकारों के बारे में जान सकेंगे।

15.2 स्वतन्त्रता का महत्व

मानव सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास स्वतन्त्रता की प्राप्ति की घटनाओं से भरा हुआ है। इस बात का इतिहास साक्षी है, जब—जब किसी सत्ता ने निरंकुश बनकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचलने का प्रयास किया है, तब—तब विद्रोह, क्रांति या संघर्ष हुए हैं क्योंकि मनुष्य कभी भी पराधीन रहना बर्दास्त नहीं कर सकता चाहे स्वतन्त्रता के लिए प्राणों की आहुति भी क्यों न देनी पड़ जाए, उससे भी वह नहीं चुकता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि स्वतन्त्रता मानव के लिए सर्वप्रिय एवं बुनियादी आवश्यकता है। जिसके अभाव में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। ऐसा न होने से व्यक्ति तो पिछड़ेगा ही, साथ में समाज और राज्य की स्थिति दयनीय बन जाती है।

यद्यपि स्वतन्त्रता का संबंध मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। आदिम काल में मानव स्वच्छंद था, क्योंकि उस पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं थे। यह स्थिति उस समय तक समाज के लिए घातक भी नहीं थी। लेकिन जैसे—जैसे सामाजिक संगठन का क्षेत्र विस्तृत होने लगा, वैसे—वैसे यह स्थिति समाज के लिए विध्वंसक बनती गयी और ऐसी आवश्यकता की अनुभूति हुई, जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बनाए रख सके और उस पर उचित अंकुश भी लगा सके ताकि अराजकता की स्थिति से समाज निजात पा सके। इसीलिए यह कहा जाता है कि स्वतन्त्रता का अर्थ प्रतिबन्धों का अभाव नहीं, वरन् अनुचित पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था है।

मानव का स्वतन्त्रता के साथ गहरा लगाव रहा है। इंग्लैण्ड में प्राचीन एवं मध्यकाल में निरंकुश राजाओं ने लोगों की स्वतन्त्रता व अधिकारों की परवाह न करके अपनी मनमानी, की तो लोगों ने स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया। फलतः सम्राट जॉन द्वारा 1215 ई. में मैग्नाकार्टा घोषणा जारी की गई। इसके बाद भी राजाओं का तानाशाह पूर्ण रवैया कम नहीं हुआ और उसकी परिणति रक्त हीन क्रांति (1688) के रूप में हुई। इस तरह फ्रांस में दमन, अन्याय एवं पराधीनता का कूच चलता रहा, उससे परेशान होकर जनता क्रांति करती है जो फ्रांस की राज्य—क्रांति (1789) के नाम से प्रसिद्ध होती है। क्रांति का प्रमुख नारा स्वतन्त्रता, समानता एवं लोकतन्त्र था। 1917 ई. में रूस में जार के अत्याचारों से तंग आकर जनता विद्रोह करती है जो बोल्शेविक क्रांति कहलाती है। इसके बाद रूस में साम्यवाद की स्थापना होती है। भारत में 1857 ई. का विद्रोह एवं 1947 ई. का स्वतन्त्रता संग्राम गुलाबी की बैड़ियों से मुक्त पाने के लिए था। इसके अलावा 20 वीं शताब्दी में एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमरीका में होने वाली सभी आन्दोलन स्वतन्त्रता के लिए हुए थे।

15.3 स्वतन्त्रता का अर्थ

स्वतन्त्रता को अंग्रेजी में 'लिबर्टी' कहा जाता है। लिबर्टी शब्द लैटिन भाषा के 'लिबर' शब्द से निकला है। लिबर का अर्थ है, बन्धनों का अभाव होना। इसलिए कतिपय लोगों का मत है स्वतन्त्रता का यह अर्थ है कि व्यक्ति के कार्यों में किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। परन्तु इस अर्थ को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इससे समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। बार्कर ने लिखा है कि "जिस प्रकार बंदसूरती का न होना खूबसूरती नहीं है, उसी प्रकार बन्धनों का न होना स्वतन्त्रता नहीं है।" इसलिए यह कहा जाता है कि स्वतन्त्रता पर उचित प्रतिबन्ध होना चाहिए। लास्की के अनुसार "स्वतन्त्रता का अर्थ उस वातावरण की स्थापना से है जिससे मानव को अपने पूर्ण विकास के लिए अवसर प्राप्त होते हैं।"

15.4 स्वतन्त्रता की परिभाषाएँ

विभिन्न विद्वानों ने स्वतन्त्रता की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं—

1. सीले के अनुसार, "स्वतन्त्रता अति शासन की विरोधी है।"
2. मैकनी के मतानुसार, "स्वतन्त्रता का अर्थ प्रतिबन्धों का अभाव नहीं बल्कि अनुचित पर उचित प्रतिबन्ध की व्यवस्था है।"
3. बर्न्स का कहना है कि, "स्वतन्त्रता अपने व्यक्तित्व तथा योग्यताओं का पूरा विकास है।"
4. गेटेल का मत है कि, "स्वतन्त्रता से अभिप्रायः उस सकारात्मक शक्ति से है जिससे उन चीजों को करके आनन्द प्राप्त होता है जो कि करने योग्य हैं।"
5. जी.डी.एच.कोल के तर्क में, "बिना किसी बाधा के अपने व्यक्तित्व को प्रकट करने के अधिकार का नाम स्वतन्त्रता है।"

6. महात्मा गांधी का कहना है कि, "स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण का अभाव नहीं, अपितु व्यक्तित्व के विकास की अवस्थाओं की प्राप्ति है।"
7. लास्की के मतानुसार, "स्वतन्त्रता उस वातावरण को बनाये रखती है, जिनमें व्यक्ति को अपने जीवन का सर्वोच्च विकास करने की सुविधा प्राप्त हो।"

15.5 स्वतन्त्रता के विविध रूप

माण्टेस्क्यू का कहना है कि "स्वतन्त्रता के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा शब्द हो, जिसके इतने अधिक अर्थ होते हों और जिसने नागरिकों के मस्तिष्क पर इतना अधिक प्रभाव डाला हो।" इस प्रकार हम स्वतन्त्रता के निम्नलिखित रूप प्रस्तुत कर सकते हैं :-

15.5.1 प्राकृतिक स्वतन्त्रता- प्राकृतिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य है कि व्यक्ति अपने जन्म के साथ अर्थात् राज्य स्थापना के पूर्व स्वतन्त्र होता है। अतः उस पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। जॉन लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मानव को तीन अधिकार जीवन, स्वतन्त्रता व सम्पत्ति, प्राप्त थे। रुसो का कहना है कि "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है, किन्तु सर्वत्र बंधनों से बँधा हुआ है।" लेकिन इस विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि अधिकार केवल राज्य में ही प्राप्त किये जा सकते हैं, जब कोई राज्य था ही नहीं तो अधिकारों की कल्पना करना व्यर्थ है। स्वच्छन्दता का अर्थ स्वतन्त्रता नहीं हो सकता। इससे तो केवल अराजकता बढ़ सकती है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता मानव की नैसर्गिक स्वतन्त्रता को प्रतिष्ठित करती है।

15.5.2 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता- इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति के उन कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, जिनका संबंध केवल उसके ही अस्तित्व से हो। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अन्तर्गत भोजन, वस्त्र, धर्म, पारिवारिक जीवन, शादी, बच्चों की शिक्षा, कार्य करने की स्वतन्त्रता इत्यादि आती हैं। राज्य को चाहिए कि वह व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न लगाये। व्यक्तिवादी इस स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक माने जाते हैं। मिल कहता है कि "मानव समाज को केवल आत्मरक्षा के उद्देश्य से ही, किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता में व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से हस्तक्षेप करने का अधिकार हो सकता है। अपने रूप पर, अपने शरीर, मस्तिष्क और आत्मा पर व्यक्ति सम्प्रभु है।" व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मानव में आत्मविश्वास का संचार करती है।

15.5.3 नागरिक स्वतन्त्रता- नागरिक स्वतन्त्रता से अभिप्रायः व्यक्ति की उस स्वतन्त्रता से है, जो व्यक्ति को समाज या राज्य का सदस्य होने के नाते प्राप्त होती है। नागरिक स्वतन्त्रता का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर व अधिकार प्रदान करना होता है। आजकल प्रत्येक प्रगतिशील सरकार अपने नागरिकों को भाषण, लेखन, घूमने-फिरने, व्यवसाय करने, किसी भी धर्म का पालन करने, उचित तरीके से सम्पत्ति का संग्रह करने की स्वतन्त्रता देती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नागरिक स्वतन्त्रता का स्तर जितना उच्च कोटि का होगा, राज्य में उतना ही लोकतन्त्रात्मक एवं लोक कल्याणकारी कहलायेगा।

15.5.4 राजनीतिक स्वतन्त्रता- आधुनिक समय में लोकतान्त्रिक शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है। अतः लोकतन्त्र का कार्यान्वयन करने के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता का होना बहुत आवश्यक होता है। राजनीतिक स्वतन्त्रता इस बात का प्रतीक है कि आम जनता को शासकीय कार्यों में भाग लेने का पूरा अधिकार होता है। लास्की के अनुसार "राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेने की शक्ति ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है।" इस के तहत व्यक्ति को जो स्वतन्त्रता मिलती है वे निम्नलिखित रूप से हैं -

1. राजनीतिक क्रियाकलापों में भाग लेना,
2. सार्वजनिक पद योग्यता के अनुसार ग्रहण करना
3. देश के सभी वयस्क नागरिकों को मताधिकार,
4. सरकार के कार्यों की सार्वजनिक रूप से आलोचना करना
5. राजनीतिक दल या संगठन बनाने की स्वतन्त्रता
6. लोगों को अपनी शिकायतों को दूर करवाने हेतु याचिका दायर करने की छूट

गिल्क्राइस्ट के अनुसार राजनीतिक स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र काफी हद तक एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं।

राजनीति स्वतन्त्रता के बिना लोकतन्त्र की कामना भी नहीं की जा सकती है।

15.5.5 आर्थिक स्वतन्त्रता- महात्मा गांधी के अनुसार राजनीतिक स्वतन्त्रता, आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना केवल दिखावा मात्र है। नागरिकों को पर्याप्त आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए ताकि वे अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति मली-भाँति कर सकें। आर्थिक स्वतन्त्रता से अभिप्रायः व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता से है। अमीर, गरीब को न सताए, श्रमिकों को कार्य के अनुसार उचित वेतन मिले। लास्की के अनुसार "आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ प्रत्येक प्राणी को अपनी जीविका कमाने के लिए समुचित सुरक्षा एवं सुविधा प्राप्त हो। इस प्रकार साधारण व्यक्ति बेरोजगारी, भूख, शोषण एवं उत्पीड़न के भय से मुक्त रहे ताकि वे निर्भिक होकर अपने राजनीतिक स्वतन्त्रता का प्रयोग कर सकें। यदि उसके पेट में रोटी नहीं है तो वह देश की राजनीति के बारे में सोच नहीं सकता अर्थात् "पहले पेट पूजा फिर काम दूजा।" इस तरह व्यक्ति को अपनी जीविका उपार्जन के सभी सुअवसर मिलने चाहिए ताकि वह अपना विकास एवं अन्य स्वतन्त्रताओं का सही उपयोग कर सके।

15.5.6 राष्ट्रीय स्वतन्त्रता- राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से आशय सम्प्रभुता से है अर्थात् राज्य आन्तरिक व बाहरी दोनों ही स्तरों पर पूर्ण स्वतंत्र हैं और किसी भी शक्ति के नियन्त्रण में नहीं हैं। 20 वीं शताब्दी में भारत सहित दुनिया के अनेक देशों ने अपने को पराधीनता से मुक्ति दिलाने अर्थात् औपनिवेशिक हुकूमत की बेड़ियों से मुक्ति के लिए

तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए संघर्ष किया। इतिहास में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के नाम पर हजारों स्वतंत्रता सेनानियों का उल्लेख मिलता है। ऐसा माना जाता है कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता ही प्रथम सीढ़ी है जिससे अन्य प्रकार की स्वतन्त्रताएं अस्तित्व में आती हैं। इसके अभाव में राष्ट्र व व्यक्ति का समग्र विकास अवरुद्ध हो जाता है। इस स्वतन्त्रता में राष्ट्र निर्भिक होकर आन्तरिक व बाहरी स्तरों पर बिना किसी दबाव के नीति का निर्धारण कर सकता है और अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अपनी पहचान कायम रखता है।

15.5.7 नैतिक स्वतन्त्रता— यदि व्यक्ति को अन्य सभी प्रकार की स्वतन्त्रताएं प्राप्त हैं, लेकिन नैतिक दृष्टि से पराधीन हैं तो उसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। नैतिक स्वतन्त्रता से आशय व्यक्ति की उस मानसिक स्थिति से है, जिसमें वह अनुचित लोभ-लालच के बिना अपना सामाजिक जीवन व्यतीत करने की योग्यता रखता हो। काम्ते के अनुसार "व्यक्ति की विवेकपूर्ण इच्छा शक्ति ही वास्तविक स्वतंत्रता है।"

15.6 स्वतन्त्रता एवं कानून

स्वतन्त्रता एवं कानून (राज्य) के बीच किस प्रकार का संबंध रहना चाहिए, यह राजनीति विज्ञान का प्रमुख विवादास्पद विषय रहा है। राजनीति विज्ञान में जितने भी सिद्धान्त या विचारधाराएँ प्रतिपादित की गई हैं वे सभी स्वतन्त्रता एवं राज्य के इर्द-गिर्द घूमती हैं, जिनके आधार पर इनके आपसी संबंधों का निर्धारण किया जा सकता है। व्यक्तिवादी एवं अराजकतावादी स्वतन्त्रता पर अत्यन्त बल देते हुए राज्य को स्वतन्त्रता का विरोधी बताते हैं। उनके अनुसार राज्य अनुचित कानूनों का निर्माण कर स्वतन्त्रता के मार्ग में रोड़े अटकाता है। विलियम गोडविन का विचार है कि "कानून स्वतन्त्रता के लिए सबसे हानिकारक संस्था है।" इसलिए अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक बुराई के रूप में मानते हैं। इस तरह व्यक्तिवादी अहस्तक्षेप (लेसेज फेयर) की नीति में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि राज्य को अपने कानूनों द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस तरह इन विचारधाराओं के अनुसार, स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनों का अभाव है जो उचित नहीं है। दूसरी ओर अनेक विचारक मानते हैं कि स्वतन्त्रता और कानून एक दूसरे के पूरक एवं रक्षक हैं। कानून के बिना स्वतन्त्रता सम्भव नहीं हो सकती है। जॉन लॉक के अनुसार "जहाँ कानून नहीं वहाँ स्वतन्त्रता भी नहीं।" कानूनों के अभाव में राज्य में जिसकी लाठी उसकी मुँस की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और वही व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करेगा पाता है जो शक्तिशाली होगा। अतः स्वतन्त्रता का लाभ प्रत्येक व्यक्ति को मिले इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रतिबन्धों की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। विलोबी के अनुसार "यदि नियन्त्रण न हो तो स्वतन्त्रता भी न होती।" गेटेल ने कहा है कि "वास्तविक अर्थों में स्वतन्त्रता त्यों-त्यों पूर्ण और महत्वपूर्ण बनती चली जाती है। ज्यों-ज्यों प्रभुता अधिक सम्पूर्ण और समुचित ढंग से संगठित होती चली जाती है।" इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि कानून एवं स्वतन्त्रता में अटूट सम्बन्ध है। कानून के अभाव में स्वतन्त्रता का स्वप्न नहीं देखा जा सकता। इस तरह स्वतन्त्रता का अर्थ कानूनों (प्रतिबन्धों) का अभाव नहीं, अपितु अनुचित पर उचित प्रतिबन्धों (कानूनों) की व्यवस्था है।

15.7 स्वतन्त्रता के सहायक तत्व

यह सिद्ध हो चुका है कि स्वतन्त्रता का व्यक्तित्व विकास एवं समाज व राज्य की उन्नति से गहरा सम्बन्ध है। अतः यह आवश्यक है कि उन तत्वों की खोज की जाए, जो स्वतन्त्रता के विकास में सहायक हो। इसके विकास के लिए निम्नलिखित परिस्थितियों को आवश्यक माना जाता है—

15.7.1 लोकतन्त्र की स्थापना— स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र एक सिक्के के दो पहलू हैं। लोकतन्त्र ही वह व्यवस्था है जहाँ नागरिकों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है क्योंकि इसमें शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है। जनता की शासन कार्यों में पूर्ण भागीदारी होती है। इस कारण वह शासन की आलोचना भी कर सकती है और आवश्यकता पड़ने पर मतदान की शक्ति द्वारा सत्ता परिवर्तन भी कर सकती है। अन्य व्यवस्थाओं में तो सर्वप्रथम स्वतन्त्रता को कुचला जाता है। लोकतन्त्र में तो शासकों का यह दायित्व बनता है कि वे नागरिक स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करने का हर संभव प्रयास करें।

15.7.2 संविधान— संविधान केवल कानूनों का संग्रह ही नहीं होता, अपितु इसमें शासन या सरकार की शक्ति एवं मर्यादाओं, नागरिक अधिकार व कर्तव्य आदि का उल्लेख होता है। शासन का कोई भी अंग इनकी अनदेखी नहीं कर सकता। इसीलिए प्रत्येक देश का अपना एक संविधान होता है। जिसको आधार मानकर शासन व्यवस्था का संचालन होता है। अतः स्वतन्त्रता के लिए संविधान का होना अतिआवश्यक है ताकि नागरिक व सरकार दोनों अपनी सुविधाओं से परिचित रहे। आधुनिक संविधानों का निर्माण भी स्वतन्त्रता को आधार मानकर किया गया है। जिनमें सभी पक्षों के लिए उचित प्रावधान किये गये हैं।

15.7.3 संविधानवाद— संविधानवाद से अभिप्रायः केवल संविधान का होना ही नहीं होता है अपितु संविधान के अनुसार शासन व्यवस्था का संचालन होने की प्रक्रिया को संविधानवाद की संज्ञा दी जा सकती है। संविधानवाद को भी स्वतन्त्रता का रक्षक माना जाता है, क्योंकि इसमें संविधानवाद में स्वतन्त्रता के उन तमाम पहलुओं को अंगीकार किया जाता है, जिनसे स्वतन्त्रता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, जैसे सीमित सरकार, उत्तरदायी शासन, स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका, प्रेस की स्वतन्त्रता तथा नागरिक अधिकार आदि। इसलिए आधुनिक राज्यों में संविधानवाद की स्वतंत्रता के लिए अतिआवश्यक माना जाता है।

15.7.4 मौलिक अधिकार— विश्व के प्रत्येक संविधान में नागरिकों के लिए मौलिक अधिकारों का प्रावधान किया जाता है ताकि लोगों के अधिकार तथा स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे। सरकार जनता के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप करती है। मौलिक अधिकारों के बिना लोगों की स्वतन्त्रता कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकती। इसके अलावा मौलिक अधिकार होने पर सरकार ऐसे कानून बनाने से निषेध करती है, जो उनकी स्वतंत्रता के विरुद्ध होते हैं।

15.7.5 स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका— इस बात का इतिहास साक्षी हैं कि जब-जब न्यायपालिका की स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता पर प्रश्न चिन्ह लगा है तब-तब उस व्यवस्था को समाप्त होना पड़ा है, क्योंकि इसके अभाव में स्वतन्त्रता न केवल खतरे में पड़ जाती है अपितु यह समाप्त हो जाती है। न्यायपालिका अपनी गतिविधियों के माध्यम से राज्य के तानाशाहपूर्ण व्यवहार पर अंकुश लगाती है और मौलिक अधिकारों की रक्षा करता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका को व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त रखा जाए और इसे न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान की जाए ताकि संविधान के विरुद्ध उठाए गये कदमों पर अंकुश लगा सके इस तरह न्यायपालिका एक सजग पहरेदार की भांति स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकता है। स्वतन्त्रता का अपहरण होने पर व्यक्ति न्यायपालिका की शरण में जा सकता है।

15.7.6 सत्ता का विकेंद्रीकरण— यदि सत्ता एक ही केन्द्र में निहित रहे तो उसकी मनमर्जी की सम्भावना अधिक रहती है। अतः सत्ता का विकेंद्रीकरण ऊपर से नीचे तक होना चाहिए और सत्ता में अधिक से अधिक लोगों की भागीदारी सुनिश्चित होनी चाहिए। भारत में इसी विचार को ध्यान में रखते हुए लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। जिसमें केन्द्र व राज्य के अलावा स्थानीय निकायों जैसे—पंचायती राज संस्थाओं और शहरी निकायों को शक्तिशाली बनाया गया है। 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन के द्वारा इस अवधारणा को सशक्त किया गया है।

15.7.7 शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त— माण्टेस्क्यू ने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए बताया कि सरकार के तीनों अंगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का पृथक्करण होना चाहिए। ऐसा होने पर ही स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है। उनका कहना है कि यदि तीनों अंग एक हाथ में केन्द्रित होंगे तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता किसी भी शर्त पर बनी नहीं रह सकती। इसके लिए संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान सहित विश्व के अनेक देशों के संविधान में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है।

15.7.8 आर्थिक सुरक्षा— लास्की ने कहा है कि "जहाँ कुछ लोग अमीर और गरीब, शिक्षित और अशिक्षित होते हैं, वहाँ हम सदैव स्वामी और दासों का संबंध पाते हैं।" इसके लिए यह आवश्यक है कि लोगों को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त हो। आर्थिक असमानता गरीबी, बेरोजगारी, गरीब-अमीर के बीच खाई कम हो और लोगों को उन्नति के समान अवसर मिले। आर्थिक सुरक्षा के बिना स्वतन्त्रता सारहीन है।

15.7.9 विधि का शासन— स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए विधि का शासन आवश्यक है। इसलिए संयुक्त राज्य अमरीका, इंग्लैण्ड, भारत आदि देशों के संविधान में विधि के शासन की व्यवस्था की गई है। विधि के शासन से तात्पर्य यह है कि कानून की दृष्टि में सभी बराबर होते हैं और कानून के द्वारा किसी के साथ जाति, धर्म, सम्पत्ति आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा और सब व्यक्तियों को अपराध करने पर बराबर का दण्ड मिलेगा। कोई भी वर्ग विशेषाधिकार वाला नहीं होगा। किसी व्यक्ति को तब तक दण्ड नहीं दिया जाएगा और बिना किसी कारण के मुकदमा नहीं चलाया जाएगा। उसे लम्बे समय तक बन्दी नहीं बनाया जाएगा जब तक कि उस पर आरोप निर्धारित न हो जाएँ।

15.7.10 राजनीतिक शिक्षा एवं चेतना— स्वतन्त्रता की रक्षा स्थायी रूप में तभी हो सकती है, जब इसकी शिक्षा आम लोगों को प्राप्त होगी। लोगों को अपनी स्वतन्त्रता एवं अधिकारों के बारे में ज्ञान होना चाहिए। लास्की ने कहा है "नागरिकों की महान भावना स्वतन्त्रता की वास्तविक संरक्षक है न कि कानून की शब्दावली।" जब कभी सरकार स्वतन्त्रता का दमन करने की कोशिश करती है तो जनता का यह अधिकार बनता है कि वह ऐसी सरकार को उखाड़ फेंक दें। जेफरसन ने कहा है कि "कोई भी देश अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा तब तक नहीं कर सकता, जब तक कि समय पर वहाँ की जनता अपनी विरोध भावना का प्रदर्शन करके अपने शासकों को सजग न करती रहे।" किसी भी देश में राजनीतिक चेतना स्वतन्त्रता की रक्षा में अप्रत्याशित योगदान दे सकती है।

15.7.11 स्वतन्त्र प्रेस— प्रेस किसी भी समाज की आँख होती है जो निर्भीक होकर अपनी भावना को उजागर कर उन कारनामों को उजागर करता है जो स्वतन्त्रता के लिए अवांछनीय हो। स्वतन्त्र प्रेस शासन व्यवस्था को मर्यादित बनाये रखती है और ऐसे वातावरण का निर्माण करती है जो स्वतन्त्रता को बढ़ाने में सहायक होती है। प्रेस जनता व सरकार के बीच कड़ी का काम करता है। साथ में स्वतन्त्रता का हनन करने वाली गतिविधियों से अवगत करवाता है इस तरह निष्पक्ष, न्यायपूर्ण एवं स्वतन्त्रता प्रेस स्वतन्त्रता के लिए सबसे बड़ा वरदान है।

15.7.12 सामाजिक न्याय— सामाजिक न्याय की अवधारणा भी स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देने में सहायक है। यह इस बात पर बल देता है कि समाज में किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं किया जाए, समाज में असमानता दूर करने के लिए कमजोर व पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए ठोस रणनीति तैयार की जाए और राज्य ऐसी व्यवस्था करे जिनसे समरसता बनी रहे। भारत जैसे राष्ट्र में इसकी सख्त आवश्यकता है, जहाँ छुआछूत, जाति बन्धन, दलितों के साथ अन्याय एवं अमानवीय व्यवहार होना आम बात हो। अतः इसके महत्व को ध्यान में रखते हुए संविधान में उचित प्रावधान किए गए ताकि स्वतन्त्रता का लाभ समाज का प्रत्येक वर्ग उठा सके और समाज के कमजोर वर्ग के लोग मुख्य धारा में शामिल हो सकें।

समानता का महत्व

व्यक्ति के लिए जितना महत्व स्वतन्त्रता का है, उतना ही महत्व समानता का है क्योंकि समानता के बिना स्वतन्त्रता का वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं किया जा सकता है। समानता की माँग में सदैव से ही प्रचलित विषमताओं का रूप बदला है, वैसे-वैसे समानता का अर्थ भी बदल रहा है। समानता का सबसे पहले औचित्य धार्मिक आधार पर स्थापित किया गया। इसके अनुसार सभी मानव इसलिए समान हैं कि वे सभी एक ही ईश्वर के रूप हैं।

पश्चिम में यूनान व रोमन व्यवस्थाएँ मूलतः विषमता पर आधारित थी। यदि समानता की कोई बात है भी तो यह केवल नागरिकों तक सीमित थी। मानव जाति के बड़े भाग नारी, दास और बच्चों को नागरिक नहीं माना जाता था। इस प्रकार समानता की माँग आधुनिक युग की ही देन है।

समानता का औचित्य का आधार क्या है? क्या मानव जन्म से समान या असमान है? क्या वे एक ही ज्योति के एक जैसे-प्रतिरूप हैं या नहीं? इन प्रश्नों पर लेखक न तो सहमत हुए हैं और न ही होंगे।

समानता का अर्थ: साधारण शब्दों में समानता का अर्थ यह लिया जाता है कि सब व्यक्तियों को समान दर्जा प्राप्त हो और सबको बराबर वेतन मिले। परन्तु व्यवहार में यह सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रकृति ने मानव को असमान बनाया है। रूप, रंग, बुद्धि, शक्ति के आधार पर व्यक्ति में काफी भिन्नताएँ हैं तो हम समान मानने वाले कौन होते हैं। लास्की ने कहा है कि "समानता का यह मतलब नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाए; यदि ईंट ढोने वाले को वेतन एक प्रसिद्ध गणितज्ञ अथवा वैज्ञानिक के बराबर दिया गया तो इससे समाज का उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा। इसलिए समानता का यह अर्थ है कि कोई विशेष अधिकार वाला वर्ग न रहे और सबको उन्नति के समान अवसर प्राप्त हो।"

15.8 समानता के प्रकार

समानता का संबंध मानव जीवन के तमाम पहलुओं से है। इस कारण समानता के अनेक प्रकार होते हैं। इसका भी एक समान महत्व होता है।

15.9.1 सामाजिक समानता— सामाजिक समानता से तात्पर्य यह है कि किसी भी व्यक्ति के साथ जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, रंग, नस्ल, लिंग, वर्ण, जन्म, स्थान आदि के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा और सबको उन्नति के समान अवसर उपलब्ध होंगे। इसके अभाव में समाज में समरसता स्थापित नहीं हो सकती और फिर ऐसा समाज नरक बन कर रह जाता है वहाँ कथित तौर पर उच्च जाति का होने का दावा करने वाले लोग पिछड़े व दलितों के साथ अमानवीय व्यवहार करते हैं। भारत में सामाजिक समानता लाने के लिए स्वतंत्रता के पश्चात से ही प्रयास तेज किये गये, जिसके अन्तर्गत संविधान के अनुच्छेद 17 में छुआछूत को गैर कानूनी करार दिया गया, अनुच्छेद 14-18 के बीच समानता का मौलिक अधिकार शामिल कर इस दिशा में सार्थक पहल की गई। संयुक्त राज्य अमरीका में भी रंगभेद को समाप्त करने के लिए कानूनी प्रयास किये गये। वहाँ दासता को भी कानून बनाकर समाप्त किया गया।

15.9.2 नागरिक समानता— इसका अर्थ यह है कि देश के सभी नागरिक कानून के समक्ष समान हैं। कानून की दृष्टि में ऊँच-नीच, धनवान, गरीब, धर्म, नस्ल इत्यादि का भेदभाव नहीं होना चाहिए। ब्रिटेन व भारत दोनों में नागरिक समानता स्थापित करने के लिए "विधि का शासन" स्थापित किया गया है। व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, यदि वह कानून का उल्लंघन करता है तो उसे भी वही दण्ड मिलेगा, जो देश के एक साधारण नागरिक को मिलता है। अर्थात् विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों का समाज में कोई स्थान नहीं होगा।

15.9.3 राजनीतिक समानता— राजनीतिक समानता का भी मानव के लिए भारी महत्व है। इससे तात्पर्य है कि राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को जाति धर्म, भाषा, क्षेत्र, रंग, वंश, नस्ल आदि के भेदभाव के बिना सभी वयस्क लोगों को मत देने का अधिकार होगा, योग्यतानुसार सार्वजनिक पद ग्रहण कर सकेगा, शासन की आलोचना कर सकेगा, राजनीतिक दल व संगठन का संचालन कर सकेगा।

15.9.4 आर्थिक समानता— आर्थिक समानता से आशय यह है सभी व्यक्तियों को विकास एवं उन्नति के समान अवसर मिले और समाज में आर्थिक विषमता कम से कम रहे। आर्थिक संसाधनों पर कुछ लोगों का एकाधिकार न रहे बल्कि ऐसी व्यवस्था हो जिसमें आर्थिक क्रियाकलापों से समाज के अधिकांश लोगों की भागीदारी हो। राज्य द्वारा लोगों की जीविका उपार्जन का पूरा प्रबन्ध किया जाए और लोगों की मूल-भूत आवश्यकताएँ—रोटी, कपड़ा और मकान व शिक्षा की व्यवस्था की जाये।

15.9.5 अवसर और शिक्षा की समानता— राज्य को चाहिए कि नागरिकों को सब क्षेत्रों में समान अवसर प्रदान करे क्योंकि समान अवसर देने से ही जनता का कल्याण हो सकता है। राज्य की दृष्टि में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए। सभी देश की उन्नति हो सकती है। शिक्षा के क्षेत्र में भी सभी के द्वारा समान रूप से खुले होने चाहिए। ऐसा कोई भी व्यक्ति न बचे जो शिक्षा से वंचित हो। इसीलिए संविधान में अनिवार्य एवं मुक्त शिक्षा की व्यवस्था की गई है।

15.9.6 धार्मिक समानता— देश में रहने वाले सभी धर्मों को मानने वालों के साथ समानता का व्यवहार किया जाना चाहिए और धर्म के आधार पर तमाम भेदभाव निषेद्ध होंगे। धार्मिक समानता में अपने धर्म की मान्यताओं को मानने, प्रचार-प्रसार करने, धार्मिक शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने, धार्मिक वेशभूषा धारण करने आदि की समानता होती है। राज्य द्वारा किसी धर्म विशेष को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। सारांश में, स्वतंत्रता तथा समानता में अन्योन्यात्म्य संबंध है।

15.10 सारांश

उपरोक्त विवेचन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता एवं समानता दोनों का मानवीय जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में इनकी उल्लेखनीय भूमिका होती है। जहाँ स्वतंत्रता हमें कुछ करने की अनुमति तथा सुविधा देने पर बल देती है, वहीं समानता इस बात पर बल देती है कि हमें सभी लोगों को विकास के समान अवसर उपलब्ध करवाने चाहिए। इसीलिए अधिकांश राजनीतिक विचारक इन दोनों को एक-दूसरे के पूरक मानते हैं।

15.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्वतन्त्रता का अर्थ स्पष्ट करते हुए विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करो।
2. स्वतन्त्रता को बढ़ाने वाले कारणों पर प्रकाश डालिए।
3. समानता पर एक निबन्ध लिखो।
4. स्वतन्त्रता व समानता के संबंध बताओ।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. स्वतन्त्रता व कानून एक दूसरे के पूरक हैं, सिद्ध कीजिए।
2. "आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता अधूरी है" स्पष्ट कीजिए।
3. "लोकतंत्र में ही स्वतन्त्रता का विकास सम्भव है।" स्पष्ट कीजिए।
4. राजनीतिक समानता क्या है?
5. भारतीय संविधान में समानता पर किस तरह से बल दिया गया है।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. स्वतन्त्रता का शाब्दिक अर्थ बताओ।
2. "स्वतन्त्रता अतिशासन की विरोधी है।" यह विचार किसका है।
3. मेकनी स्वतन्त्रता को किस रूप में परिभाषित करते हैं?
4. प्राकृतिक स्वतन्त्रता के सयंत्रको के नाम बताओ?
5. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक किसे माना जाता है?
6. संविधान का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
7. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त क्या है?
8. समानता का वास्तविक अर्थ क्या है?

15.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर. सी. अग्रवाल, "राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी ली. नई दिल्ली
2. डा. इकबाल नारायण, "राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त"
4. अनुप चन्द कपूर, "राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त," एस. चन्द एण्ड कम्पनी ली., नई दिल्ली
5. डॉ. मुख्तार अली, "संयुक्त राष्ट्र संघ और मानवाधिकार," राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन विभाग, जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

इकाई-16 : व्यवस्थापिका

संरचना

- 16.1 उद्देश्य
- 16.2 प्रस्तावना
- 16.3 व्यवस्थापिका के कार्य
 - 16.3.1 कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य
 - 16.3.2 कार्यपालिका पर नियन्त्रण
 - 16.3.3 विचार-विमर्शात्मक कार्य
 - 16.3.4 वित्तीय कार्य
 - 16.3.5 न्यायिक कार्य
 - 16.3.6 निर्वाचन सम्बन्धी कार्य
 - 16.3.7 जॉय पड़ताल सम्बन्धी कार्य
 - 16.3.8 संविधान संशोधन सम्बन्धी कार्य
 - 16.3.9 लोकमत का निर्माण
 - 16.3.10 नियन्त्रण मण्डल के रूप में
- 16.4 व्यवस्थापिका का संगठन
 - 16.4.1 एक सदनात्मक व्यवस्थापिका
 - 16.4.2 द्वि सदनात्मक व्यवस्थापिका
 - 16.5 द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क
 - 16.5.1 विवेकपूर्ण विचार के लिए
 - 16.5.2 एक सदन की निरंकुशता पर रोक
 - 16.5.3 विशिष्ट वर्गों एवं हितों का प्रतिनिधित्व
 - 16.5.4 संघात्मक शासन व्यवस्था के लिए अनिवार्य
 - 16.5.5 कार्य भार में कमी
 - 16.5.6 प्रतिभाओं का प्रतिनिधित्व
 - 16.5.7 अपेक्षाकृत शांत वातावरण
- 16.6 व्यवस्थापिका का पतन या अवनाति
 - 16.6.1 कार्यपालिका का वृद्ध कार्यक्षेत्र
 - 16.6.2 प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा
 - 16.6.3 विशेषज्ञ पश्चिदों एवं समितियों का विकास
 - 16.6.4 संचार के साधनों का विकास
 - 16.6.5 अनुशासित दलों का विकास
 - 16.6.6 व्यवस्थापिका पर मंत्रिमण्डल का हावी होना
- 16.7 सारांश
- 16.8 अभ्यास प्रश्नावली
- 16.9 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

16.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य सरकार के एक प्रमुख अंग व्यवस्थापिका के बारे में जानकारी प्रदान करना है। इससे आप जान सकेंगे—

- कानून निर्माण करने वाले अंग के रूप में व्यवस्थापिका की भूमिका,
- कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका किस प्रकार नियंत्रण रखती है,
- व्यवस्थापिका एक सदनीय होनी चाहिए या द्विसदनीय इसमें संबंध में दी गई राय,
- वर्तमान समय में व्यवस्थापिका द्वारा के लिए कौन-सी परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं, उसे जान सकेंगे।

16.2 प्रस्तावना

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में सरकार के तीन अंग—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, जो क्रमशः कानून बनाना, कानूनों को क्रियान्वित करना तथा कानूनों की व्याख्या करने से सम्बन्धी कार्य करती हैं। इन अंगों के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध पाये जाते हैं, यह प्रत्येक देश में अलग-अलग है। जहाँ संयुक्त राज्य अमरीका में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त अपनाते हुए तीनों अंगों को पृथक्-पृथक् कर दिया गया है और नियन्त्रण व सन्तुलन बनाये रखने के लिए इनको इस प्रकार जोड़ा दिया गया है कि वे तानाशाह न बन सके, वहीं भारत व इंग्लैण्ड में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाये जाते हैं।

जहाँ तक व्यवस्थापिका की स्थिति व शक्तियों का प्रश्न है तो 19 वीं शताब्दी में लोकतन्त्र व्यवस्था में चढ़ते ज्वार ने व्यवस्थापिका को राजनीति शक्ति का केन्द्र बना दिया। सी.एफ. स्ट्रॉंग का मत है कि "आधुनिक समय में सरकारों में व्यवस्थापिकाएं लोकतन्त्र के चढ़ते ज्वार के अनुपात में उमरती गयी हैं।" शासन का वास्तविक केन्द्र होने के कारण सब प्रकार के बाहरी नियन्त्रण से मुक्त होने से मनमानी करने लगी। कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा संविधान पर उसका पूर्ण नियन्त्रण रहने लगा, जन इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाली व्यवस्थापिका के नियन्त्रण में ही सरकार के सभी अंग कार्य करने लगे। वह महाभियोग के द्वारा कार्यपालिका व न्यायपालिका के सदस्य को हटाने का अधिकार रखने लगी।

लेकिन संगठित राजनीतिक दलों के कारण व्यवस्थापिकायें राजनीतिक दलों के हितों की पोषक बन गई तथा बहुमत की आड़ में मनमानी करने की स्थिति में आ गई और व्यवस्थापिका के स्थान पर कार्यपालिका की तानाशाही स्थापित होने लगी, तब नियन्त्रण की आवश्यकता महसूस हुई। लेकिन नियन्त्रण स्थापित करने से पूर्व दो बातों का ध्यान रखा गया। व्यवस्थापिका, जो कि जन प्रतिनिधित्व का नेतृत्व करती है, उस पर बाहरी नियन्त्रण रहे, जब तक वह राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए शक्ति का उपयोग करती हैं। 2. नियन्त्रण की व्यवस्था ऐसी हो, जो आवश्यकता पड़ने पर प्रभावी व प्रतिबन्ध बने।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए व्यवस्थापन शक्ति को दो संस्थाओं (दो सदनों में) विभक्त किया गया है। शक्ति का शक्ति पर नियन्त्रण व सन्तुलन बनाने के लिये द्वि सदनात्मक सिद्धान्त अपनाया गया है। इस व्यवस्था में दूसरे सदन को पहले सदन की अपेक्षा कम शक्तियाँ दी गई हैं तथा प्रथम सदन बिना रोक-टोक के कार्य करता रहता है। दुरुपयोग होने पर ही दूसरा सदन प्रतिबंधक के रूप में कार्य करता है। इसके अलावा दो सदनों को देश के बड़े आकार, देश में विविध संघ व्यवस्था, और विभिन्न विचारों का समन्वय करने के लिए आवश्यक समझा जाता है।

विविध देशों की व्यवस्थापिकाएं

विभिन्न देशों में व्यवस्थापिकाओं के नाम निम्नलिखित प्रकार से हैं—

क्र.स.	देश	प्रचलित नाम
1.	भारत	संसद
2.	ब्रिटेन	पार्लियामेन्ट (संसद)
3.	संयुक्त राज्य अमरीका	कांग्रेस
4.	जापान	डियुमा
5.	चीन	राष्ट्रीय जन कांग्रेस
6.	स्विटजरलैण्ड	संघीय सभा
7.	ईरान	मजलिस
8.	नेपाल	राष्ट्रीय पंचायत

16.3 व्यवस्थापिका के कार्य

व्यवस्थापिका के कार्य सभी देशों में समान नहीं होते हैं। यह उस देश के संविधान, प्रशासनिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। यदि किसी राष्ट्र में निरंकुश राजतंत्र या धार्मिक-तंत्र या अधिनायक-तंत्र है तो वहाँ व्यवस्थापिका मात्र एक परामर्श दायी संस्था के रूप में कार्य करेगी है। इसके विपरीत यदि जनतांत्रिक व्यवस्था है तो वहाँ पर व्यवस्थापिका की स्थिति बहुत ही उच्च होती है। जहाँ अधिकात्मक शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका, राष्ट्रपति या शासनाध्यक्ष या कार्यपालिका की प्रत्येक गतिविधि पर ध्यान रखकर उस पर अपना पूरा नियन्त्रण रखती है। वहीं संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका निर्वाचित व्यवस्थापिका पर निर्भर करती है, क्योंकि इस व्यवस्था में कार्यपालिका

व व्यवस्थापिका के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाये जाते हैं अर्थात् कार्यपालिका व्यवस्थापिका में से ही ली जाती है। सामान्यतया मूल रूप से व्यवस्थापिका के कार्यों को हम निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं—

16.3.1 कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य— व्यवस्थापिका को कानून निर्माण करने वाली संस्था के रूप में जाना जाता है। लोकतन्त्र में सभी कानून व्यवस्थापिका द्वारा ही बनाये जाते हैं। वह कानून निर्माण करते समय जनहित का पूरा-पूरा ध्यान रखती है। वह नये कानूनों का निर्माण करती है तथा पुराने कानूनों में वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप संशोधन करती है।

16.3.2 कार्यपालिका पर नियन्त्रण— व्यवस्थापिका का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य, कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखना है। संसदीय व्यवस्था में तो कार्यपालिका व्यवस्थापिका में से ही चुनी जाती है जो सामूहिक रूप से निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। यह सदन उसके विरुद्ध निंदा प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव, कटौती प्रस्ताव तथा अविश्वास प्रस्ताव द्वारा कार्यपालिका को भंग भी कर सकती है। इसी प्रकार अध्यक्षतात्मक पद्धति तो संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रचलित है, वहां पर यद्यपि कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका पूर्णतया पृथक्-पृथक् होती हैं। परन्तु व्यवस्थापिका (सीनेट) का कार्यपालिका पर पूरा नियन्त्रण होता है। राष्ट्रपति द्वारा की जाने वाली नियुक्ति तथा विदेशों से की जाने वाली संधियों तथा समझौतों की पुष्टि सीनेट द्वारा करवाना अनिवार्य होता है। इसके अलावा व्यवस्थापिका राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाकर उसे पदच्युत कर सकती है। लेकिन वहां राष्ट्रपति भी विविध साधनों से व्यवस्थापिका पर नियन्त्रण रखता है।

16.3.3 विचार-विमर्शात्मक कार्य— व्यवस्थापिका एक विचार-विमर्श करने वाली संस्था है। यहां घरेलू वैदेशिक और राजस्व सम्बन्धी नीतियों और कार्यों पर खुलकर विचार होता है। व्यवस्थापिका में उनका समर्थन तथा आलोचना दोनों ही होती है।

16.3.4 वित्तीय कार्य— व्यवस्थापिका राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण एवं नियमन करती है। प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में वह अनुमानित आय-व्यय को स्वीकृत करती है। वह राष्ट्रीय बजट को पारित करती है, जो व्यवस्थापिका (निम्न सदन) में प्रस्तुत किया जाता है। जिसके द्वारा नये कर लगाये जाते हैं तथा पुराने करों को घटाया या बढ़ाया जाता है या उन्हें समाप्त किया जाता है। बिना व्यवस्थापिका की अनुमति के एक पैसा भी खर्च नहीं किया जा सकता है। व्यवस्थापिका, लेखानुदान मांगे भी पारित करती है।

16.3.5 न्यायिक कार्य— कई राष्ट्रों में व्यवस्थापिका, न्यायिक कार्य भी करती है। ब्रिटेन में लार्ड्स ऑफ़ सर्वोच्च न्यायालय के रूप में कार्य करती है। उसके 9 लार्ड सदस्य विभिन्न मुकदमों को सुनते हैं। इसके अलावा भारत व संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यवस्थापिका को राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग चलाने का अधिकार प्राप्त है।

16.3.6 निर्वाचन सम्बन्धी कार्य— व्यवस्थापिका कतिपय निर्वाचन सम्बन्धी कार्यों को भी पूरी करती है। भारत में व्यवस्थापिका राष्ट्रपति व उप राष्ट्रपति का चुनाव करती है। इसके अलावा संसदीय व्यवस्था में प्रधानमंत्री का चयन भी व्यवस्थापिका ही करती है। स्विट्सर्लैंड में संसदीय सभा, मंत्रिपरिषद् के सदस्यों, न्यायाधीशों, चांसलरों व सेनापति का चुनाव भी करती है। पूर्व सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत प्रेसीडियम, मंत्रिपरिषद् तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का चयन करती थी। इसके अलावा भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन में व्यवस्थापिका के सदन अपने-अपने अध्यक्षों व सभाध्यक्षों का चुनाव करते हैं।

16.3.7 जाँच-पड़ताल सम्बन्धी कार्य— विधायिका या व्यवस्थापिका किसी महत्वपूर्ण समस्या के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने या जाँच पड़ताल के लिए समितियों और आयोगों की नियुक्ति करती है। ये आयोग विभिन्न कार्यों की जाँच करते हैं।

16.3.8 संविधान संशोधन सम्बन्धी कार्य— संविधान किसी भी राष्ट्र की आत्मा होता है। उसमें समय-समय पर परिस्थितियों के अनुसार संशोधन किया जाता है। व्यवस्थापिका शक्ति से सम्पन्न होती है। इंग्लैण्ड में साधारण विधेयक एवं संविधान संशोधन में कोई अन्तर नहीं है। व्यवस्थापिका जब चाहे वहां संशोधन कर सकती है। इसके अलावा इंग्लैण्ड में संसद सर्वोच्च है। भारत में भी संविधान संशोधन की शक्ति व्यवस्थापिका में ही निहित है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है तो यहां पर कुछ संविधान संशोधन साधारण बहुमत अर्थात् संसद के उपस्थित सदस्यों के 2/3 बहुमत से तथा सम्पूर्ण सदस्यों के बहुमत से तो कुछ विशिष्ट संविधान संशोधन के लिए विशिष्ट बहुमत की आवश्यकता होती है। जिसमें संसद के 2/3 बहुमत के साथ आधे राज्यों की विधानसभा के बहुमत की आवश्यकता होती है।

16.3.9 लोकमत का निर्माण— विधायिका लोकमत का दर्पण होती है। यह लोकमत का प्रकाशन करती है। विधायिका के सदस्य कार्यपालिका के सम्मुख जनता के कष्टों को रखते हैं। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका की जब बैठक होती है, तब इसका प्रसारण दूरदर्शन, रेडियो तथा समाचार पत्रों में किया जाता है, जिससे आम जनता में जागृति आती है।

16.3.10 नियन्त्रण मण्डल के रूप में कार्य— आजकल सार्वजनिक क्षेत्रों में शासन के कार्यों का विस्तार हो रहा है। अनेक राज्यों में कई महत्वपूर्ण औद्योगिक संस्थानों के प्रशासन को सरकार अपने हाथ में ले लेती है। उन औद्योगिक संस्थानों के कार्यों पर अन्तिम निर्णय और नियन्त्रण विधायिका का ही होता है। ऐसी अवस्था में विधायिका नियन्त्रण मण्डल के रूप में कार्य करती है।

व्यवस्थापिका की उपर्युक्त शक्तियों पर नियन्त्रण करने के लिए द्वि सदानात्मक सिद्धान्त को अपनाया गया है। जहाँ अध्यक्षतात्मक प्रणाली है वहां द्वितीय सदन शक्तिशाली होता है, वहीं संसदीय प्रणाली में निम्न सदन शक्तिशाली होता है। अध्यक्षतात्मक पद्धति में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का पालन होने के कारण द्वितीय सदन शक्तिशाली होता है। वहीं संसदीय व्यवस्था में प्रथम सदन शक्तिशाली होता है क्योंकि इस व्यवस्था में मंत्रिमण्डल सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। संयुक्त राज्य

अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, भारत और स्विटजरलैण्ड के द्वितीय सदन की स्थिति भिन्न प्रकार की पायी जाती हैं। "अमरीकी सीनेट द्वितीय सदन में अद्वितीय है, वह विश्व का सबसे शक्तिशाली द्वितीय सदन है। इसका शक्तिशाली होने का कारण वहाँ की व्यवस्था तथा सदन का संगठन है, जबकि दूसरे सदन की जननी इंग्लैण्ड है, वहाँ ऊपरी सदन लार्ड सभा है, जो द्वितीय सदन ही नहीं है, बल्कि द्वितीय श्रेणी का सदन है। इसके लिए वहाँ की व्यवस्था व उसका संगठन उत्तरदायी है। लार्ड सभा का संगठन लोकसदन की तुलना में विस्तार के बावजूद शक्तिहीन है।" फ्रांस, भारत, स्विट्स में द्वितीय सदन की स्थिति इन दोनों देशों के बीच की व्यवस्था है। स्विट्स में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के साधनों जनमत संग्रह व आरम्भक ने सम्पूर्ण व्यवस्थापिका को पंगु बना दिया है। वहीं भारत व फ्रांस के द्वितीय सदन, राज्य सभा व सीनेट को उनकी निर्वाचन पद्धति ने कमजोर बना डाला है।

16.4 व्यवस्थापिका का संगठन

व्यवस्थापिका का प्रमुख कार्य कानून निर्माण करना है। संगठन की दृष्टि से व्यवस्थापिका को दो भागों में बांटा जा सकता है। 1. एक सदनान्तक व्यवस्थापिका 2. द्वि सदनान्तक व्यवस्थापिका। जहाँ तक व्यवस्थापिका के इन अंगों के इतिहास का प्रश्न है तो यह बहुत प्राचीन माना जाता है। जिसका इतिहास ब्रिटेन की राजनीतिक व्यवस्था से जुड़ा है।

16.4.1 एक सदनान्तक व्यवस्थापिका— जिस राज्य में व्यवस्थापिका का एक ही सदन होता है उसे एक सदनान्तक व्यवस्थापिका कहा जाता है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त व उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक देशों में एक सदनान्तक प्रणाली अपनायी गयी। आज यूरोप के कुछ देशों जैसे— यूनान, बल्गारिया आदि में एक सदनिय विधानमण्डल ही है। एक सदनिय विधायिका के समर्थकों का मुख्य तर्क यह है कि कानून जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति या उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। यह कार्य एक सदन द्वारा ही किया जा सकता है, एक से अधिक द्वारा नहीं किया जा सकता है क्योंकि इच्छा एक होती है अनेक नहीं। एक सदनिय व्यवस्थापिका को इसलिए भी पसंद किया जाता है क्योंकि दूसरे सदन को अनुपयोगी और खर्चीला माना गया है। एक संगठनात्मक व्यवस्थापिका होने के कारण कानून पारित करना तथा संविधान संशोधन करना सरल हो जाता है।

16.4.2 द्वि सदनान्तक व्यवस्थापिका— जिस राज्य की व्यवस्थापिका में दो सदन होते हैं, उस व्यवस्थापिका को द्विसदनान्तक कहते हैं। विश्व के अधिकांश राज्यों में जैसे इंग्लैण्ड, भारत, संयुक्त राज्य अमरीका, जापान, आस्ट्रेलिया कनाडा में व्यवस्थापिका, द्विसदनान्तक ही है। भारत में लोकसभा व राज्य सभा, इंग्लैण्ड में कॉमन सभा व लार्ड सभा, अमरीका में सीनेट और प्रतिनिधि सभा आदि द्वि सदनान्तक व्यवस्थापिका है।

द्विसदनान्तक प्रणाली ऐतिहासिक विकास तथा संयोग का परिणाम है। यह व्यवस्था ब्रिटिश संवैधानिक विकास का परिणाम है। इंग्लैण्ड की संसद, जो सबसे प्राचीन संसद है, संयोग से द्विसदनान्तक हो गयी। अन्य प्रजातान्त्रिक देशों में ब्रिटिश परम्परा का अनुसरण किया गया।

प्रो. लास्की के शब्दों में "यह केवल ऐतिहासिक संयोग की बात है कि इंग्लैण्ड की व्यवस्थापिका द्विसदनान्तक थी और उसी का अनुसरण अन्य देशों ने किया।"

विलोबी ने कहा है कि यदि ब्रिटिश संसद द्विसदनान्तक न होती तो शायद विश्व के अन्य विधान मण्डल भी द्विसदनान्तक नहीं होते। वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश लोकतान्त्रिक देशों में द्विसदनान्तक व्यवस्थापिका पायी जाती है। एक सदन को उच्च सदन कहते हैं तथा दूसरे सदन को निम्न सदन कहा जाता है। उच्च सदन राज्य का प्रतिनिधित्व करता है वहीं दूसरी ओर निम्न सदन जनता का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके सदस्यों का चुनाव देश के समस्त वयस्क नागरिकों द्वारा किया जाता है। निम्न सदन के गठन की यह व्यवस्था सभी लोकतान्त्रिक देशों में पायी जाती है। द्वितीय सदन विशिष्ट वर्गों तथा संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी रचना का कोई निश्चित वैधानिक आधार नहीं है। सभी देशों में अलग-अलग ढंग से इसके सदस्यों का चुनाव किया जाता है। जैसे—इंग्लैण्ड में लार्ड सभा के संगठन का आधार वंश-परम्परा होती है, भारत में राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव राज्य विधान सभाओं द्वारा तथा मनोनयन द्वारा किया जाता है, संयुक्त राज्य अमेरिका में सीनेट के सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। इसी प्रकार इटली, जापान और कनाडा में द्वितीय सदन के सदस्य मनोनीत होते हैं।

16.5 द्विसदनान्तक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क

द्विसदनान्तक व्यवस्थापिका के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

16.5.1 विवेक पूर्ण पुनर्विचार के लिए— उच्च सदन निम्न सदन द्वारा बिना अच्छी तरह सोच-विचार किये जल्दी में पारित विधेयकों पर अंकुश लगाता है। उच्च सदन के होने से विधेयक पर दुबारा विचार करना होता है और इस कार्य में देर लग जाती है। इस बीच उग्र लोगों का जोश ठण्डा हो जाता है और जनता में गम्भीरता पूर्वक कानून के प्रभाव पर विचार किया जा सकता है। इस प्रकार द्विसदन के होने से इतना समय मिल जाता है कि लोग विचार का आदान-प्रदान कर सकें और एक विवेकपूर्ण लोकमत बन सकें। जिस समय अमरीका का संविधान बन रहा था, जेफरसन पेरिस में थे। वे जब लौटकर अमेरीका आये तो उन्होंने देखा कि यहां की व्यवस्थापिका को द्विसदनान्तक बना दिया गया है। वे जार्ज वाशिंगटन के घर गये। सुबह का समय था। दोनों नाश्ता करने लगे। ऐसे में जेफरसन ने वाशिंगटन से पूछा कि कांग्रेस के दो सदन क्यों रखे गये ? संयोगवश इसी समय जेफरसन ने प्याली में से चाय प्लेट में डालना शुरू किया। वाशिंगटन ने पूछा कि आपने चाय प्लेट में क्यों डाली ? जेफरसन ने उत्तर दिया "इसे ठण्डा करने के लिए।" वाशिंगटन बोले "बस इसी तरह हम विधि निर्माण की चाय सीनेट की प्लेट में डालकर ठण्डा करेंगे।"

16.5.2 एक सदन की निरंकुशता पर रोक— द्वितीय सदन प्रथम सदन की निरंकुशता पर रोक लगाने में सफल होता है। यदि द्विसदनान्तक व्यवस्था न की जाए तो प्रथम सदन की तानाशाही स्थापित हो जाएगी और वह अपनी इच्छा के अनुसार कानून बनायेगा, चाहे वे हानिकारक भी क्यों न हो। अतः द्वितीय सदन के सदस्य अपने अनुभव

व योग्यता के द्वारा उचित संशोधन की मांग करते हैं या सलाह देते हैं, जो जनता के लिए काफी महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। गार्नर के शब्दों में "द्वितीय सदन की उपस्थिति स्वतंत्रता की गारंटी व कुछ सीमा तक अत्याचार से सुरक्षा भी है।"

स्टोरी ने लिखा है कि "व्यवस्थापिका के अत्याचारों से बचने का सही उपाय है कि कार्यों का विभाजन कर दिया जाये, स्वार्थ के विरुद्ध, महत्वाकांक्षा के विरुद्ध, दूसरे सदन का वैसा ही गठबंधन एवं प्रभुत्व खड़ा कर दिया जाये।"

16.5.3 विशिष्ट वर्गों एवं हितों का प्रतिनिधित्व— द्वितीय सदन से यह लाभ है कि उसके द्वारा व्यवस्थापिका में अल्पसंख्यक वर्गों, जातियों तथा हितों को प्रतिनिधित्व मिल सकता है। लोकतंत्र में इस बात का भय रहता है कि सामान्य निर्वाचनों में बहुसंख्यक लोग, अल्पसंख्यक वर्गों और जातियों के लोगों को वोट न दे और इस तरह उन्हें प्रतिनिधित्व ही न मिल सके। द्वितीय सदन में निर्वाचन की किसी विशिष्ट प्रणाली द्वारा अथवा नाम निर्देशन के जरिए ऐसे वर्गों और जातियों को प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। अल्पसंख्यक वर्गों को राष्ट्रपति द्वारा द्वितीय सदन में मनोनीत भी किया जा सकता है। द्वितीय सदन संघीय इकाइयों का प्रतिनिधित्व करके इसके हितों को अक्षुण्ण रख सकता है।

16.5.4 संघात्मक शासन व्यवस्था के लिए अनिवार्य— संघीय राज्य में द्वितीय सदन अत्यन्त आवश्यक है। इसमें संघ की सभी इकाइयों की समान अथवा किसी अन्य आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। जिससे वे अपने अधिकारों की रक्षा कर सकें और उनका अस्तित्व खतरे में न पड़े।

16.5.5 कार्यभार में कमी— आज राज्य के कार्यों में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। व्यवस्थापिका के निम्न सदन के कार्य इतने बढ़ गये हैं कि उन्हें अकेले नहीं संभाला जा सकता। उच्च सदन ऐसे कानूनों पर जो विवादास्पद नहीं हैं, विचार करके प्रथम सदन की सहायता करता है। इससे प्रथम सदन का बहुमूल्य समय बच सकता है।

16.5.6 प्रतिभाओं का प्रतिनिधित्व— द्वितीय सदन में ऐसे योग्य विद्वान तथा अनुभवी लोगों को स्थान दिया जा सकता है, जो चुनाव के द्वारा व्यवस्थापिका में नहीं आ सकते। प्रायः देखा जाता है कि प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति गंदे चुनाव प्रचार एवं राजनीति से बचना चाहते हैं। इसीलिए-अनुभवों और योग्य व्यक्तियों को नाम निर्देशित करके द्वितीय सदन में स्थान दे दिया जाता है। उदाहरण के लिए भारतीय राष्ट्रपति, राज्य सभा में कला, विज्ञान, समाज सेवा, पत्रकारिता आदि क्षेत्रों से 12 सदस्यों का मनोनयन करता है। इसके अलावा विभिन्न राजनीतिक दलों से सम्बन्धित अनेक विद्वान, विधि विशेषज्ञ, अर्थ शास्त्री, कूटनीतिज्ञ आदि राज्य सभा के माध्यम से संसद में प्रवेश करके राष्ट्र की सेवा करते हैं।

16.5.7 अपेक्षाकृत शांत वातावरण— प्रथम सदन में उग्र राजनीतिक वातावरण के कारण गरमा-गरम बहस हुआ करती है और कभी-कभी प्रस्तावित बिलों पर शांति के साथ विचार-विनिमय नहीं हो पाता है। द्वितीय सदन में प्रथम सदन की अपेक्षा शांत वातावरण रहता है। विधेयकों पर गम्भीर विचार तथा शांतिपूर्ण मनन का अवसर द्वितीय सदन में ही मिल पाता है। द्वितीय सदन में वाद-विवाद का सार भी ऊंचा रहता है।

16.6 व्यवस्थापिका का पतन या अवनति

वर्तमान समय में यह कहा जाता है कि व्यवस्थापिकाओं का पतन या अवनति हो रही है। लॉर्डब्राइस ने 1925 में अपनी पुस्तक 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज' (Modern Democracies) में सर्वप्रथम इस तथ्य की चर्चा की थी। वस्तुतः किसी-किसी के शब्दों में कहा जा सकता है कि निरपेक्ष दृष्टि से तो व्यवस्थापिका की शक्तियों में वृद्धि हुई है, किन्तु कार्यपालिका के सापेक्ष या मुकाबले में उनकी शक्तियों में कमी हुई है। विधानमण्डलों की अवनति या पतन के कुछ सामान्य कारण निम्नलिखित हैं:—

16.6.1 कार्यपालिका का वृहत् कार्यक्षेत्र— राज्य के सकारात्मक एवं कल्याणकारी स्वरूप से आज कार्यपालिका के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। विधि निर्माण, आर्थिक नियोजन एवं योजनाओं का संचालन—कार्यपालिका का प्रमुख दायित्व बन गया है। राज्य का मुख्य कार्यपालक सर्वोच्च सेनापति होता है। आणविक एवं विनाशक अस्त्र-शस्त्रों के युग में विदेश नीति सम्बन्धी मामलों तथा अन्य परिस्थितियों में शीघ्रविशीघ्र निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार संसदात्मक हो या अध्यक्षतात्मक प्रणाली, कार्यपालिका की शक्तियों में भारी विस्तार होने के कारण व्यवस्थापिका की शक्तियों में उत्तरोत्तर कमी आयी है।

16.6.2 प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा— वर्तमान समय में प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा के अन्तर्गत कार्यपालिकाएँ ही विधान निर्माण का कार्य करने लगी है। व्यवहार में विधानमण्डलों द्वारा सारे कानून या कम से कम सभी महत्वपूर्ण कानून बनाने का कार्य नहीं किया जाता है।

16.6.3 विशेषज्ञ परिषदों एवं समितियों का विकास— वर्तमान समय में कानून निर्माण हेतु विधेयकों का प्रारूप तैयार कराने से लेकर समिति स्तर तक विशेषज्ञों से परामर्श लिया जाता है। कानून के प्रारूप को विशेषज्ञों के परामर्श के पश्चात् विधानमण्डल में अनुमोदन के लिए प्रस्तुत किया जाता है। विधायकों द्वारा संशोधन की मांग को विशेषज्ञों द्वारा गहरी छानबीन की गयी है, इस आधार पर खारिज किया जाता है।

16.6.4 संचार के साधनों का विकास— संचार के साधनों के विकास ने कार्यपालिका अध्यक्ष को जनता के सामने लाकर खड़ा कर दिया है। कार्यपालिका अध्यक्ष द्वारा जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क एवं संवाद स्थापित किया जा सकता है। वर्तमान युग में सैटेलाइट चैनलों के द्वारा कार्यपालिका अध्यक्ष द्वारा जनता से सीधे प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर लोकमत निर्माण का कार्य किया जाता है। अतः विधायिका की भूमिका सीमित होती जा रही है।

16.6.5 अनुशासित दलों का विकास— आधुनिक राजनीतिक विधायिकाओं के प्राधिकार को दलीय राजनीति की भूमिका ने भी कम किया है। एक ओर दल के समर्थन के आधार पर कार्यपालिका व्यवस्थापिका से इच्छित कार्य सम्पादित करवा लेती है, वहीं दूसरी ओर राजनीतिक दल के सदस्य अपने दल के अधिकृत धारा का ही अनुसरण

करते हैं। संसदीय प्रणाली का 'प्रधानमन्त्रीय प्रणाली' तथा अध्यक्षीय शासन व्यवस्था का 'राष्ट्रपतीय प्रणाली' में परिवर्तन के साथ ही विधायिकाओं की शक्तियों में प्रभा मण्डल में भी क्रमशः हास हुआ है।

16.6.6 व्यवस्थापिका पर मन्त्रिमण्डल का हावी होना— व्यवस्थापिका की अवनति का उक्त तत्व केवल संसदीय व्यवस्था में ही होता है। यद्यपि सिद्धान्ततः संसदीय शासन व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल का निर्माण व्यवस्थापिका से होता है तथा वह उसी के प्रति उत्तरदायी होती है। किन्तु, व्यवहार में अपने बहुमत के बल पर मन्त्रिमण्डल विधान मण्डल पर हावी रहता है। व्यवस्थापिका द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पारित कर पदच्युत करने के स्थान पर मन्त्रिमण्डल द्वारा व्यवस्थापिका के लोकप्रिय सदन को विघटित करने की शक्ति का अधिक उपयोग किया जाता है। अतः मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका पर हावी रहती है। प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति का नेतृत्व भी कार्यपालिका को सशक्त बनाता है।

उक्त कारकों के अतिरिक्त ही वर्तमान राजनीति परिस्थितियों में सशक्त नेतृत्व की आवश्यकता, समय-समय पर आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र के संकटों ने व्यवस्थापिका की भूमिका को सीमित किया है तथा कार्यपालिका की शक्तियाँ सुदृढ़ हुई हैं।

16.7 सारांश

यह कहा जा सकता है कि यद्यपि विधानमण्डलों की भूमिका में परिवर्तन हुआ है लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि व्यवस्थापिका का पतन या निधन हो चुका है। विधानमण्डल आज भी लोकतन्त्र का केन्द्र बिन्दु तथा संवाद, विचार-विमर्श का महत्वपूर्ण मंच है। यही मंच है, जहाँ से जन आकांक्षाओं को उठाया जा सकता है।

16.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. व्यवस्थापिका के कार्यों पर प्रकाश डालिए।
2. द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क दीजिए।
3. व्यवस्थापिका के पतन के मूल कारण क्या हैं?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियन्त्रण कैसे स्थापित करती है?
2. व्यवस्थापिका के निर्वाचन सम्बन्धी कार्य बतलाइये।
3. प्रदत्त व्यवस्थापन का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. संघीय व्यवस्था में द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका का क्या महत्व है?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. व्यवस्थापिका का मुख्य कार्य क्या है?
2. अमरीका में व्यवस्थापिका को क्या कहा जाता है?
3. जापान में व्यवस्थापिका को क्या कहा जाता है?
4. द्विसदनीय व्यवस्थापिका का सर्वप्रथम कहाँ से शुरू हुई?

16.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सी.बी.गेना, "तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएँ", विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
2. के.के.मिश्र, "तुलनात्मक शासन एवं राजनीति", प्रगति पब्लिकेशन्स, दिल्ली
3. इकबाल नारायण, "राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त",
4. अनुप कपूर, "राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त", एस.चन्द. एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

इकाई-17 : कार्यपालिका

संरचना

- 17.1 उद्देश्य
- 17.2 प्रस्तावना
- 17.3 कार्यपालिका का अर्थ
- 17.4 कार्यपालिका के प्रकार
 - 17.4.1 नाममात्र व वास्तविक कार्यपालिका
 - 17.4.2 एकल या बहुल कार्यपालिका
 - 17.4.3 राजनीतिक व स्थायी कार्यपालिका
 - 17.4.4 उत्तरदायी एवं अनुत्तरदायी कार्यपालिका
 - 17.4.5 वंशानुगत व निर्वाचित कार्यपालिका
 - 17.4.6 लोकतांत्रिक व सर्वाधिकारवादी कार्यपालिका
 - 17.4.7 संसदीय व अध्यक्षतात्मक कार्यपालिका
- 17.5 कार्यपालिका के कार्य
 - 17.5.1 प्रशासनिक कार्य
 - 17.5.2 कूटनीतिक कार्य
 - 17.5.3 विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य
 - 17.5.4 न्यायिक कार्य
 - 17.5.5 वित्तीय कार्य
 - 17.5.6 सेना सम्बन्धी कार्य
 - 17.5.7 लिखित कार्य
 - 17.5.8 नियुक्ति सम्बन्धी कार्य
- 17.6 सारांश
- 17.7 अभ्यास प्रश्नावली
- 17.8 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

17.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य कार्यपालिका के संबंध में जानकारी उपलब्ध करवाना है। इसके अध्ययन से आप जान सकेंगे—

- कानून को क्रियान्वित करने में कार्यपालिका की भूमिका,
- कार्यपालिका आज किस प्रकार सम्पूर्ण सरकार का रूप लेती जा रही है,
- कार्यपालिका के विभिन्न प्रकार जो विश्व के संविधानों ने अपनाये हैं,
- संसदीय एवं अध्यक्षतात्मक प्रणाली में कार्यपालिका की वस्तुस्थिति,
- कार्यपालिका को शक्तिशाली बनाने में किन परिस्थितियों की भूमिका है।

“केन्द्रीयकरण के प्रादुर्भाव के पश्चात् आधुनिक संविधानों में प्रमुख महत्वपूर्ण बात कार्यपालिका की सम्बन्ध शक्तियों का विकास है।” कार्ल जे फ्रेडरिक

सरकार राज्य का एक आवश्यक अंग है। राज्य एक अमूर्त संस्था है जबकि सरकार मूर्त संस्था है। अतः राज्य स्वयं कार्य न करना, बल्कि सरकार द्वारा ही कार्य सम्पादित किये जाते हैं। सरकार के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि सरकार राज्य का मूर्त रूप है। उसे राज्य की आत्मा कहा जा सकता है।

मुख्य रूप से सरकार के तीन अंग होते हैं, जो अपना पृथक-पृथक कार्य करते हैं—ये अंग हैं—1. व्यवस्थापिका 2. कार्यपालिका 3. न्यायपालिका। व्यवस्थापिका कानून का निर्माण करती है, कार्यपालिका कानून को लागू करती है तथा न्यायपालिका कानूनों की व्याख्या करती है तथा उनका उल्लंघन करने वालों को दण्ड देती है।

कार्यपालिका को सरकार के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार किया जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जहां तक कार्यपालिका की स्थापना के इतिहास का प्रश्न है तो यह ब्रिटिश सम्राट से जुड़ा हुआ है। जब सम्राट अपनी सलाह के लिए कुछ लोगों को नियुक्ति करता था, जो अलग-अलग विषयों के ज्ञाता होते थे। अतः धीरे-धीरे सम्राट उन्हें एक प्रधानमंत्री के नियन्त्रण व निर्देशन में कार्य करने के लिए प्रोत्साहन देने लगा। इस प्रकार कार्यपालिका की स्थापना एक साथ न होकर बल्कि क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप हुई है। गार्नर के मतानुसार "एक व्यापक अर्थ में कार्यपालिका में वे सभी अधिकारी और एजेन्सियां आ जाती हैं, जिनका राज्य के संकल्प को लागू करने से सम्बन्ध है।"

वर्तमान परिवेश में सरकार के तीनों अंगों की भूमिका में मूलभूत परिवर्तन दिखलायी पड़ता है। जहाँ एक तरफ व्यवस्थापिका का ह्रास होता जा रहा है, वहीं दूसरी तरफ कार्यपालिका की शक्तियों में दिन दुगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो रही है। सिद्धान्तः कार्यपालिका, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। लेकिन व्यावहारिक स्थिति कुछ और है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका पर हावी होती जा रही है तथा व्यवस्थापिका की बैठकें बुलाना, स्थगित करना, यहाँ तक व्यवस्थापिका को भंग करने तक का अधिकार आज कार्यपालिका के हाथ में है। इस प्रकार व्यवस्थापिका कार्यपालिका के हाथों की कठपुतली बन कर रह गयी है। ग्रीबज के मतानुसार "कार्यपालिका व्यवहार में हमारे कानून बनाने के तंत्र में पहला सदन बन गई है।"

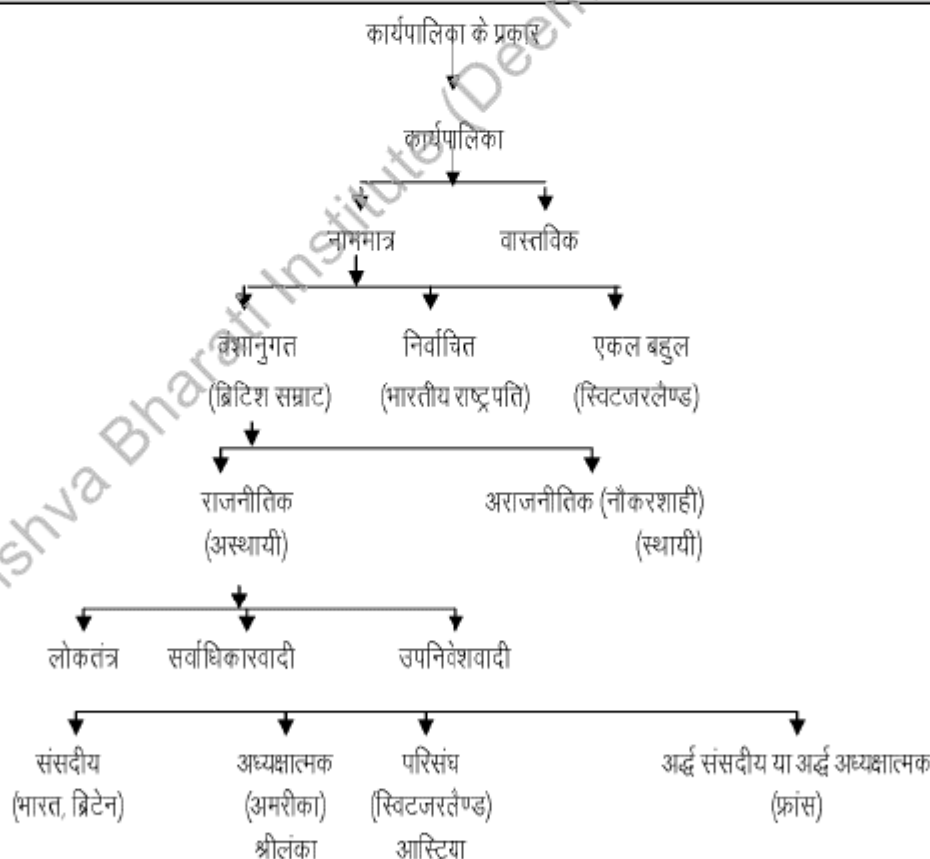
17.3 कार्यपालिका का अर्थ

कार्यपालिका, शासन का वह भाग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाये हुए कानूनों का जालन करता है। कार्यपालिका शासन की वह धुरी है जिसके चारों ओर समस्त प्रशासकीय तंत्र घूमता है।

गिल्क्राइस्ट के शब्दों में "कार्यपालिका सरकार का वह अंग है, जो कानून में अभिव्यक्त जनता की इच्छा का क्रियान्वयन करता है।"

प्रो. गार्नर का कथन है कि "व्यापक और सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका विभाग के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी, राज्य कर्मचारी तथा एजेन्सियां आती हैं, जिनका कार्य राज्य की इच्छा, जिसे व्यवस्थापिका ने निर्धारित कर कानून के रूप में व्यक्त किया है, कार्यरूप में परिणित करना है।"

17.4 कार्यपालिका के प्रकार



उपरोक्त चार्ट के आधार पर कार्यपालिका के निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

1. नाममात्र व वास्तविक कार्यपालिका
3. राजनीति व स्थायी कार्यपालिका
5. वंशानुगत व निर्वाचित कार्यपालिका
7. संसदीय एवं अध्यक्षतात्मक कार्यपालिका
2. एकल या बहुल कार्यपालिका
6. उत्तरदायी एवं अनुत्तरदायी कार्यपालिका
8. लोकतांत्रिक व सर्वाधिकारवादी कार्यपालिका

17.4.1 नाममात्र व वास्तविक कार्यपालिका— संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका दो प्रकार की होती है। एक नाममात्र की कार्यपालिका तथा दूसरी वास्तविक कार्यपालिका। संविधान या परम्परा के अनुसार समस्त शक्तियाँ नाममात्र की कार्यपालिका राष्ट्रपति या सम्राट में निहित होती हैं, परन्तु वास्तव में उन शक्तियों का वास्तविक प्रयोगकर्ता प्रधानमंत्री व उसका मंत्रिमण्डल होता है। (नाममात्र की कार्यपालिका का जो प्रमुख अर्थात् राज्याध्यक्ष होता है, वहीं वास्तविक कार्यपालिका प्रमुख शासनाध्यक्ष होता है।) जैसे—भारत व इंग्लैण्ड का राष्ट्रपति व सम्राट नाममात्र के कार्यपालक हैं। वास्तविक कार्यपालिका प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् होती है जो नाममात्र की कार्यपालिका की शक्तियों का व्यवहार में प्रयोग करती है।

17.4.2 एकल या बहुल कार्यपालिका— कार्यपालिका के दूसरे रूप को एकल या बहुल कार्यपालिका कहा जाता है। एकल कार्यपालिका वह है, जिसके तहत एक व्यक्ति में समस्त कार्यपालिका शक्ति निवास करती है और वही अन्तिम सत्ता होती है। इसके विपरीत बहुल कार्यपालिका, कार्यपालिका का वह रूप है, जिसके तहत कार्यपालिका शक्ति किसी एक व्यक्ति विशेष में निहित न रहकर, बल्कि एक से अधिक में समान रूप से निहित रहती है।

एकल कार्यपालिका का श्रेष्ठ उदाहरण राष्ट्रपति का है, जिसमें अन्तिम रूप से समस्त शक्तियाँ निवास करती हैं तथा वही प्रशासन का प्रमुख होता है। जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति। बहुल कार्यपालिका एक विचित्र व्यवस्था है जो विश्व में स्विटजरलैण्ड है अर्थात् यहां पर कार्यपालिका शक्ति संघीय परिषद् में निहित रहती है। इसके कुल सात सदस्य होते हैं। ये विद्यमान सदस्य समान रूप से अधिकार सम्पन्न होते हैं।

17.4.3 राजनीति में स्थायी कार्यपालिका— आधुनिक व्यवस्था में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि और प्रशिक्षित स्थायी प्रशासक मिलकर काम करते हैं। इनमें से प्रथम को राजनीतिक कार्यपालिका कहते हैं और दूसरे को स्थायी कार्यपालिका। राजनीतिक कार्यपालिका का कार्यकाल निर्वाचन पर निर्भर होता है, जबकि स्थायी कार्यपालिका सरकारी सेवा में अवकाश ग्रहण की आयु तक रहते हैं। स्थायी प्रशासनिक अधिकारी राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया निष्पक्ष रहकर कार्य करते हैं। उनका कार्य राजनीतिक कार्यों में सहयोग देना है। भारत में प्रधानमंत्री व मंत्रिपरिषद् राजनीतिक कार्यपालिका है और आई. ए. एस. और अन्य अधिकारी स्थायी श्रेणी की कार्यपालिका में आते हैं। वास्तविक अर्थों में सम्पूर्ण प्रशासनिक निर्णय एवं नीति का निर्धारण अराजनीतिक (स्थायी) कार्यपालिका ही करती है जो पर्दे के पीछे रहकर प्रशासन के ताने-बाने को संचालित करती है। राजनीतिक कार्यपालिका (मंत्रिमण्डल) प्रशासनिक कार्यों के बारे में अनुभव हीन होते हैं। इसके अलावा हर समय इन पर पद से हटने की अनिश्चिता बनी रहती है। राजनीतिक व अराजनीतिक कार्यपालिका के इन्हीं संबंधों के कारण जब-जब सत्ता परिवर्तन होती है तब-तब अराजनीतिक (प्रशासन) का कार्यपालिका में व्यापक परिवर्तन किया जाता है।

17.4.4 उत्तरदायी एवं अनुत्तरदायी कार्यपालिका— संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के मध्य घनिष्ठ संबंध पाये जाते हैं। अतः कार्यपालिका (मंत्रिमण्डल) व्यवस्थापिका (संसद) के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। अध्यक्षीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती है। इस कारण व्यवस्थापिका अविश्वास द्वारा कार्यपालिका को हटा नहीं सकती है। जबकि संसदीय व्यवस्थापिका अविश्वास प्रस्ताव द्वारा कार्यपालिका को पदच्युत कर सकती है। अध्यक्षतात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका को महाभियोग द्वारा ही अपने पद से हटाया जा सकता है।

17.4.5 वंशानुगत व निर्वाचित कार्यपालिका— यदि किसी राज्य की कार्यपालिका का गठन वंशानुगत आधार पर किया जाता है तो वह वंशानुगत कार्यपालिका कहलाती है जैसे ब्रिटेन का सम्राट। प्रायः राजतन्त्र में वंशानुगत कार्यपालिका पायी जाती है। लोकतन्त्र में कार्यपालिका का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचन किया जाता है। निर्वाचन का तरीका राज्य के संविधान और शासन प्रणाली पर निर्भर रहता है। ऐसे राज्य को गणराज्य कहा जाता है। जैसे भारत व संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का चयन चुनाव द्वारा होता है।

17.4.6 लोकतांत्रिक तथा सर्वाधिकारवादी कार्यपालिका— शासन व्यवस्था के आधार पर भी कार्यपालिका का निर्धारण होता है। लोकतंत्र जिसमें शासन की शक्ति जनता में निहित होती है, उसमें कार्यपालिका का चुनाव जनता एक निश्चित समयावधि के लिए करती है और वह जनता के प्रति उत्तरदायी होकर निर्णय लेती है। वहीं सर्वाधिकारवाद में कार्यपालिका तानाशाहपूर्ण व्यवहार करती है, जो जन भावना को नजर अन्दाज करते हुए निर्णय लेती है। जिसका एक मात्र उद्देश्य है—अपनी सत्ता को मजबूत करना।

17.4.7 संसदीय व अध्यक्षतात्मक कार्यपालिका— सरकार को संचालित करने के लिए सामान्यतया दो प्रकार की व्यवस्था पायी जाती है। प्रथम संसदीय कार्यपालिका जिसमें कार्यपालिका—व्यवस्थापिका के बीच घनिष्ठ संबंध, कार्यपालिका का सामूहिक उत्तरदायित्व, दो प्रकार की कार्यपालिका, कार्यपालिका का नेतृत्व प्रधानमंत्री के हाथों में, गोपनीयता तथा मन्त्रियों का अपने विभागों का अध्यक्ष होना आदि लक्षण पाये जाते हैं। संसदीय कार्यपालिका भारत, ब्रिटेन, आदि देशों में पायी जाती है। द्वितीय अध्यक्षतात्मक, जिसमें कार्यपालिका सरकार के अन्य अंगों से पृथक् होती है, कार्यपालिका का सामूहिक उत्तरदायित्व नहीं होता है, कार्यपालिका का एक ही रूप होता है, वही शक्तियों का वास्तविक प्रयोगकर्ता होती है। इस प्रकार की कार्यपालिका का सर्वोच्च उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका है।

17.5 कार्यपालिका के कार्य

वर्तमान परिदृश्य में जिस प्रकार कार्यपालिका की भूमिका में वृद्धि हो रही है, और व्यवस्थापिका की शक्तियों का हास हो रहा है। आज राज्य का स्वरूप लोक कल्याणकारी है, जिसके कारण व्यवस्थापिका पर भार अत्यधिक बढ़ता जा रहा है, परन्तु व्यवस्थापिका की बैठकें उतनी ही होती हैं, जितनी पहले होती थी। अतः इन परिस्थितियों में व्यवस्थापिका सभी विषयों पर विस्तार पूर्वक चर्चा नहीं कर सकती है। इससे कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि हुई है और कार्यपालिका 'सरकार' शब्द का पर्यायवाची बनता जा रहा है। गेटेल ने कार्यपालिका के पाँच कार्य बताये हैं। सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं में कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि होती जा रही है— 1. कुटनीतिक कार्य 2. प्रशासनिक कार्य 3. सेना सम्बन्धी कार्य 4. व्यवस्था सम्बन्धी कार्य तथा 5. न्याय सम्बन्धी कार्य

कार्यपालिका के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—विश्व की सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं में कार्यपालिका के कार्यों को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

17.5.1 प्रशासनिक कार्य— कार्यपालिका का मुख्य कार्य इस प्रकार प्रशासन करना है कि देश में आन्तरिक शान्ति एवं कानून की व्यवस्था बनी रहे। वह सरकारी विभागों की देखभाल, आन्तरिक शान्ति व्यवस्था सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति और उन्हें पदच्युत करना, कानूनों को लागू करना, आदि कार्य करती है। बाह्य आक्रमणों से देश की सुरक्षा करना भी कार्यपालिका का कार्य है।

17.5.2 कुटनीतिक कार्य— विदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का उत्तरदायित्व भी कार्यपालिका पर ही रहता है। इसके लिए विभिन्न देशों में अपने राजदूत नियुक्त करती है तथा अन्य देशों से आये राजदूतों का स्वागत करती है व उनका परिचय पत्र स्वीकार करती है। प्रत्येक देश की विदेश नीति के कुछ मूलभूत सिद्धान्त होते हैं, परन्तु इनका क्रियान्वयन किस प्रकार होता है, यह कार्यपालिका पर निर्भर करता है। अर्थिक, राजनीतिक तथा सुरक्षात्मक स्थितियों कार्यपालिका द्वारा ही की जाती हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले सम्मेलनों में भी कार्यपालिका ही अपने देश का प्रतिनिधित्व करती है।

17.5.3 विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्य— कार्यपालिका विधि-निर्माण के कार्य में भी अपनी पूरी-पूरी भूमिका का निर्वहण करती है। इन कार्यों का क्षेत्र शासन प्रणाली के स्वरूप पर निर्भर करता है। अधिकांश राज्यों में संसद का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने, विशेष अधिवेशन बुलाने तथा निम्न सदन को भंग करने का अधिकार कार्यपालिका के पास ही है। इसके अतिरिक्त अगर बारीकी से देखा जाए तो हम यह पाते हैं कि वर्तमान समय में व्यवस्थापिका की बैठकों की कार्यसूची तैयार करना, किसी प्रस्ताव पर कितने समय बहस करना आदि का निर्धारण भी कार्यपालिका ही करती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका कार्यपालिका के पूरी तरह अधीन हो गई है। संसदीय शासन प्रणाली वाले देशों में कार्यपालिका ही विधि निर्माण में व्यवस्थापिका का नेतृत्व करती है, क्योंकि किसी भी विधेयक को तैयार करना तथा उसको व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत करना तथा उस विधेयक को पारित करवाने का दायित्व कार्यपालिका का होता है। अध्यक्षीय शासन प्रणाली वाले देशों में भी सीमित रूप से कार्यपालिका विधि निर्माण को प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ अमरीकी राष्ट्रपति कांग्रेस को संदेश भेज सकता है और अपने 'वीटो' या निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है। प्रदत्त व्यवस्थापन के चलते यह भी कार्य उसके हाथों में आ गया है। आज प्रस्तुत किये जाने वाले 90 प्रतिशत विधेयक कार्यपालिका पेश करती है।

17.5.4 न्यायिक कार्य— न्यायिक क्षेत्र में भी कार्यपालिका का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इंग्लैण्ड में तो कार्यपालिका पूरी तरह से न्यायिक कार्य सम्पन्न करती है। यहां की लार्ड सभा की न्याय समिति का अध्यक्ष लार्ड चान्सलर होता है, जो मंत्रिमण्डल (कार्यपालिका) का सदस्य भी होता है जो विभिन्न मुद्दों पर सुनवायी करता है। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका एवं भारत में राष्ट्रपति न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। भारत का राष्ट्रपति मृत्युदण्ड को आजीवन कारावास में बदल सकता है।

17.5.5 वित्तीय कार्य— शासन का वार्षिक आय-व्यय निर्धारित करने का कार्य भी कार्यपालिका द्वारा ही किया जाता है। भारत तथा इंग्लैण्ड में प्रधानमंत्री, वित्तमंत्री से बजट तैयार करवाता है तथा उसे संसद के सम्मुख पेश करवाता है। वही संयुक्त राज्य अमरीका में राष्ट्रपति बजट व्यूरो द्वारा तैयार करवाता है। प्रायः बजट पारित हो जाता है। यदि बजट पारित नहीं होता है तो यह मान लेना चाहिए कि वह सरकार अल्पमत में आ गई है। ऐसी स्थिति में प्रधानमंत्री द्वारा त्यागपत्र देना ही उचित माना जाता है। लेकिन दलीय अनुशासन होने के कारण ऐसा नहीं होता है। कार्यपालिका द्वारा तैयार बजट पारित हो जाता है। अपवाद रूप में ही ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है।

17.5.6 सेना सम्बन्धी कार्य— कार्यपालिका केवल विधायी, वित्त या न्यायिक कार्य ही नहीं करती है बल्कि सेना सम्बन्धी कार्य भी करती है। अमरीका, भारत व इंग्लैण्ड के राष्ट्रपति व राजा सेना के प्रधान सेनाध्यक्ष होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य विभिन्न सेना के पदाधिकारियों की नियुक्ति भी कार्यपालिका द्वारा ही की जाती है।

17.5.7 विविध कार्य— कार्यपालिका के अन्य कार्य हैं—उपाधियों का वितरण करना, राष्ट्रीय आयोजन करना, विदेशियों को नागरिकता के अधिकार प्रदान करना, आदि। कार्यपालिका देश में आपातकाल की भी घोषणा कर सकती है।

17.5.8 नियुक्तियां करना— कार्यपालिका द्वारा ही महत्वपूर्ण पदाधिकारियों, विभिन्न आयोगों के अध्यक्षों व सदस्यों की नियुक्ति की जाती है। जैसे भारत में राष्ट्रपति महान्यायवादी, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक, संघ लोक सेवा आयोग राज भाषा आयोग, अल्पसंख्यक आयोग, अनुसूचित जाति / अनुसूचित जनजाति आयोग आदि के अध्यक्षों व अन्य सदस्यों की नियुक्ति करता है। निर्वाचन आयोग के सदस्यों की नियुक्ति भी कार्यपालिका द्वारा ही की जाती है।

17.6 सारांश

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आज कार्यपालिका की शक्ति में व्यापक वृद्धि हो रही है, जिसका प्रभाव संसदीय एवं अध्यक्षतात्मक दोनों की शासन प्रणालियों में देखा जा सकता है। सिद्धान्त संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति सामूहिक उत्तरदायी होती है लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं क्योंकि बहुमत का शासन होने के कारण तथा बदलती हुई परिस्थितियों के कारण कार्यपालिका की शक्तियां व्यवस्थापिका की शक्तियां ही हैं। इतना ही नहीं सरकार का अर्थ भी कार्यपालिका से लगाया जा रहा है।

17.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. कार्यपालिका के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. कार्यपालिका की शक्तियाँ बतलाइये।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. नाममात्र व वास्तविक कार्यपालिका क्या हैं?
2. राजनीतिक व अराजनीतिक कार्यपालिका का भेद स्पष्ट कीजिए।
3. लोकतांत्रिक व सर्वाधिकारवादी कार्यपालिका में क्या अन्तर है?
4. कार्यपालिका के कूटनीतिक कार्य बतलाइये।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. बहुल कार्यपालिका कहाँ पायी जाती है?
2. बहुल कार्यपालिका का क्या अभिप्राय है?
3. गणराज्य किसे कहते हैं?
4. स्थायी या अराजनीतिक कार्यपालिका में कौन आते हैं?
5. अध्यक्षतात्मक कार्यपालिका का सबसे सुन्दर उदाहरण कौन सा देश है?

17.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. इकबाल नारायण, "राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त"
2. आर. सी. अग्रवाल, "राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त", एस्. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली।
3. सी.बी. रेना, "तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएँ", विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
4. के.के. मिश्र, "तुलनात्मक शासन एवं राजनीति", प्रगति पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

इकाई-18 : न्यायपालिका : संगठन एवं कार्य

संरचना

- 18.1 उद्देश्य
- 18.2 प्रस्तावना
- 18.3 न्यायपालिका का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- 18.4 न्यायपालिका का संगठन
 - 18.4.1 पिरामिड संरचना
 - 18.4.2 उच्चतम न्यायालय में पीठ व्यवस्था
 - 18.4.3 सामान्य व प्रशासकीय न्याय व्यवस्था
 - 18.4.4 विशेषीकृत न्यायालय व्यवस्था
 - 18.4.5 न्यायाधीशों का चयन
 - 18.4.5.1 कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति
 - 18.4.5.2 व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित
 - 18.4.5.3 जनता द्वारा चुनाव
 - 18.4.5.4 न्यायिक लोक सेवा से पदोन्नति
 - 18.4.6 न्यायाधीशों का कार्यकाल
 - 18.4.7 न्यायाधीशों को पद से हटाना
- 18.5 न्यायपालिका के कार्य
 - 18.5.1 कानूनों की व्याख्या
 - 18.5.2 संविधान का संरक्षण
 - 18.5.3 कानूनों का उल्लंघन करने वालों को दण्डित करना
 - 18.5.4 विवादों का निपटारा
 - 18.5.5 मौलिक अधिकारों का रक्षक
 - 18.5.6 केन्द्र-राज्य विवादों का समाधान करना
 - 18.5.7 परामर्श संबंधी कार्य
 - 18.5.8 विविध कार्य
- 18.6 न्यायपालिका की स्वतन्त्रता
 - 18.6.1 न्यायाधीशों का चयन
 - 18.6.2 संवैधानिक दर्जा
 - 18.6.3 योग्यता के आधार पर नियुक्ति
 - 18.6.4 पद की सुरक्षा
 - 18.6.5 निश्चित कालावधि व स्थायी कार्यकाल
 - 18.6.6 सेवा शर्तों में परिवर्तन नहीं
 - 18.6.7 पर्याप्त वेतन
 - 18.6.8 विशेषाधिकार
 - 18.6.9 पृथक्करण पर बल
 - 18.6.10 सेवानिवृत्ति पर वकालत पर रोक
 - 18.6.11 मानहानि का मुकदमा चलाने का अधिकार
- 18.7 सारांश
- 18.8 अभ्यास प्रश्नावली
- 18.9 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

18.1 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य सरकार के अन्य महत्वपूर्ण अंग न्यायपालिका के संबंध में जानकारी हासिल करना है। लोकतांत्रिक व्यवस्था ने न्यायपालिका की भूमिका को और अधिक बढ़ा दिया है। आज न्यायपालिका जनता के अधिकारों की रक्षा करने के साथ-साथ सरकार के अन्य अंगों पर नियंत्रण रखने का कार्य करती है। आज न्यायपालिका पर जनता का विश्वास अन्य अंगों की तुलना में ज्यादा देखा जा सकता है। इस अध्याय के अध्ययन से आप जान सकेंगे—

- लोकतांत्रिक समाज में न्यायपालिका की भूमिका,
- न्यायपालिका का संगठन किस प्रकार किया जाए, जिससे उसकी गरिमा बनी रह सके,
- न्यायपालिका के दायित्व जो आज बढ़ते ही जा रहे हैं,
- न्यायपालिका की स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता को बनाये रखने के लिए जो साधन बताये गए हैं, उनको भी जान सकेंगे।

18.2 प्रस्तावना

किसी भी सम्य समाज की आधारशिला स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका होती है। इसलिए प्रत्येक काल में न्यायपालिका का अपना एक विशेष महत्व रहा है। इस बात का इतिहास समीचीन है कि जब-जब किसी शासन व्यवस्था में न्यायपालिका को कमजोर किया गया है, उसकी स्वतंत्रता व निष्पक्षता को समाप्त करने का प्रयास हुआ है, तब-तब उस व्यवस्था का भविष्य अधकारमय हुआ।

प्राचीन काल में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। इस समय व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की शक्ति सम्राट के हाथ में केन्द्रित होती थी। जो अपनी इच्छानुसार नीति का निर्माण, कार्यान्वयन एवं व्याख्या करते थे, लेकिन कालान्तर में इस अवधारणा को बल मिला कि न्यायपालिका को अन्य अंगों के अनुचित अंकुश से दूर रखा जाए ताकि एक स्वच्छ न्याय व्यवस्था का सूत्रपात किया जा सके। प्राचीन काल में इतनी चेतना नहीं थी कि वे इस न्याय की भावना को उचित ढंग से समझ सकें। माण्टेस्क्यू ने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर न्यायपालिका की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता पर बल दिया।

शासकों की शक्तियों के दुरुपयोग को रोकने के लिए सामान्यतः तीन व्यवस्थाएं अपनायी जाती हैं। प्रथम व्यवस्था, शक्तियों को संविधान द्वारा निर्धारित व सुनिश्चित करने की है, जिससे सरकारें संवैधानिक नियमों के अनुसार ही शक्ति प्रयोग करें। दूसरी व्यवस्था शक्तियों को शक्तियों की नियन्त्रण व सन्तुलन बनाने की है, जिससे रोका जा सके। तीसरी व्यवस्था एक पृथक्, स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की स्थापना करने की है। इनमें से तीसरी व्यवस्था को शक्ति के नियन्त्रण की शक्ति के रूप में देखा जाता है। ब्राइस ने ठीक ही कहा है, “किसी शासन की श्रेष्ठता जाँचने के लिए उसकी न्याय व्यवस्था की निपुणता से बढ़कर और कोई अच्छी कसौटी नहीं है। क्योंकि किसी और चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता है, जितना उसके इस ज्ञान से कि वह निश्चित शीघ्र तथा अपक्षपाती न्याय शासन पर निर्भर रह सकता है। वर्तमान प्रजातान्त्रिक व्यवस्था ने न्यायपालिका के महत्व को और अधिक बढ़ा दिया है, क्योंकि इस व्यवस्था में नागरिक अधिकार सम्पन्न होते हैं, उन्हें शासक की आलोचना करने की छूट होती है। अतः स्वतन्त्र न्यायपालिका न होने की स्थिति में नागरिक अपनी सुविधाओं का लाभ नहीं उठा सकते, क्योंकि शासकों के द्वारा अनुचित हस्तक्षेप किया जाएगा, उस पर अंकुश न्यायपालिका ही लगा सकती है। संधीय स्वरूप वाली व्यवस्था में तो इसका और ज्यादा महत्व है क्योंकि इसमें केन्द्र व राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन किया जाता है। यदि कोई विवाद उत्पन्न हो जाए तो उसका समाधान न्यायपालिका द्वारा ही किया जाता है। इसके अलावा इसमें न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त होती है। जिसके माध्यम से वह व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित किसी कानून एवं कार्यपालिका के किसी आदेश को अवैध घोषित कर सकती है।

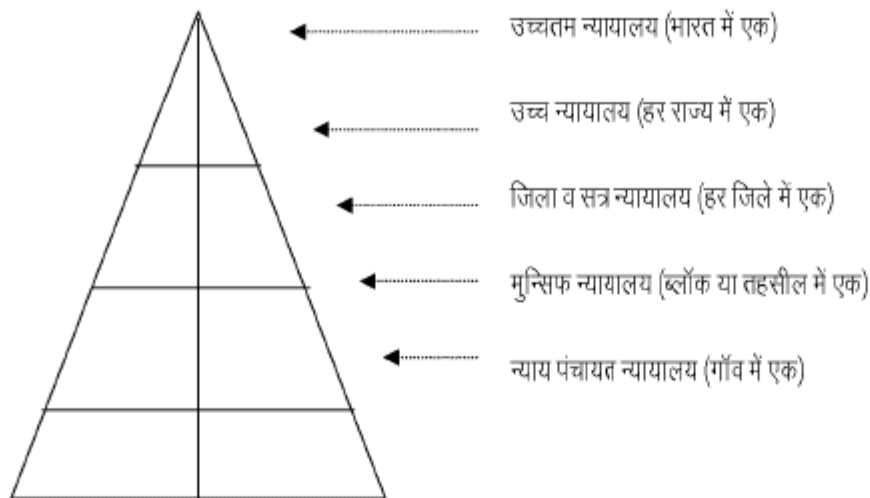
18.3 न्यायपालिका का अर्थ व परिभाषा

साधारण अर्थ में कानूनों की व्यवस्था करने व उनका उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने की संस्थागत व्यवस्था को न्यायपालिका कहा जाता है। यह उन व्यक्तियों का समूह है, जिन्हें कानून के अनुसार समाज के विवादों को हल करने का अधिकार प्राप्त रहता है। इस अर्थ में न्यायपालिका सरकार का एक विशिष्ट अंग है। लास्की ने न्यायपालिका की परिभाषा करते हुए लिखा है कि “एक राज्य की न्यायपालिका, अधिकारियों के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित की जा सकती है, जिनका कार्य, राज्य के किसी कानून विशेष के उल्लंघन या तोड़ने सम्बन्धी शिकायत, जो विभिन्न लोगों के बीच या नागरिकों या राज्य के बीच एक दूसरे के विरुद्ध होती है, का समाधान व फैसला करता है” वाल्टन एच. हेमिल्टन ने कहा है कि न्यायिक प्रक्रिया न्यायाधीशों के द्वारा मुकदमों का निर्णय करने की मानसिक प्रविधि को कहा जाता है।

18.4 न्यायपालिका का संगठन

आधुनिक न्यायपालिकाओं का संगठन, राजनीतिक संस्कृतियों की भिन्नता, राष्ट्र ऐतिहासिक परम्परा, राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति संवैधानिक प्रावधान एवं अन्य परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित किया जाता है। इसलिए विश्व के देशों में न्यायपालिका के संगठन में गम्भीर अन्तर पाया जाता है लेकिन विभिन्नता के बावजूद कुछ ऐसी संगठनात्मक समानताएं हैं, जो हर देश में थोड़ी बहुत मात्रात्मक अन्तरों के साथ पायी जाती हैं। इस प्रकार न्यायपालिका का संगठन निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है—

18.4.1 पिरामिड संरचना— हर देश में न्यायपालिका का संगठन ऐसे रूप में होता है, जिसमें निम्न स्तर पर न्यायालयों की संख्या अधिक होती है और जैसे-जैसे उच्च स्तर पर जाने पर कम होती जाती है अर्थात् न्यायपालिका की संरचना पिरामिड आकृति की होती है।



18.4.2 उच्चतम न्यायालय में पीठ व्यवस्था—लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में न्यायपालिका का संगठन इस तरह से किया जाता है कि नागरिकों को न केवल न्याय मिल सके, अपितु ऐसा न्याय मिले जिसमें मानवीय गलती की कम से कम गुंजाइश रहे। जिस न्यायालय को अन्तिम निर्णय देने का अधिकार होता है, उनमें निर्णय प्रक्रिया का कार्य केवल एक न्यायाधीश द्वारा सम्पन्न होने पर निर्णय मानवीय गलती का शिकार हो सकता है। इससे बचाव का सर्वश्रेष्ठ एवं अन्तिम उपाय उच्चतम न्यायालयों में बेंच (पीठ) व्यवस्था का प्रावधान रहता है। हर न्यायाधीश विचाराधीन मुकदमे में अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखता है। ऐसी स्थिति में पीठ का निर्णय बहुमत के आधार पर होता है। भारत में भी अनेक संवैधानिक एवं अन्य महत्वपूर्ण निर्णयों के लिए पीठ की व्यवस्था की जाती है।

18.4.3 सामान्य और प्रशासकीय न्यायालय व्यवस्था—अनेक राजनीतिक व्यवस्था में नागरिक एवं प्रशासकीय न्यायालयों की अलग-अलग व्यवस्था होती है। नागरिकों के पारस्परिक विवादों के समाधान के लिए नागरिक न्यायालय होते हैं और जनता व सरकार के मामलों के निपटारे के लिए प्रशासकीय न्यायालय होते हैं। ऐसा माना जाता है कि नागरिक, नागरिक के रूप में तथा प्रशासकीय अधिकारी के रूप में अलग-अलग भूमिका में होता है। इस प्रकार की व्यवस्था फ्रांस में पायी जाती है।

18.4.4 विशेषीकृत न्यायालय व्यवस्था—कुछ देशों में न्यायालयों का संगठन विशेषीकरण के आधार पर किया जाता है। जैसे—पश्चिमी जर्मनी में तीन प्रकार के न्यायालय नियमित, प्रशासनिक एवं संवैधानिक न्यायालय पाये जाते थे। कुछ राज्यों में तो दीवानी और फौजदारी मामलों के लिए पृथक-पृथक न्यायालयों की व्यवस्था होती है। उदाहरण के लिए भारत में सामान्य न्यायालय जिले के स्तर पर दो प्रकार के होते हैं। दीवानी मामले केवल दीवानी न्यायालय में सुने जाते हैं। यही बात फौजदारी मामलों के संबंध में है।

18.4.5 न्यायाधीशों का चयन—न्यायपालिका के लिए यह महत्वपूर्ण है कि न्यायाधीशों का चयन किस प्रक्रिया द्वारा किया जाता है। इसको कोई एक सार्वभौम व्यवस्था पर सहमति नहीं है, इसीलिए न्यायाधीशों के चयन की पृथक-पृथक व्यवस्था प्रचलित है।

18.4.5.1 कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति—साधारणतः कार्यपालिका द्वारा ही न्यायाधीश की नियुक्ति करने का ही अधिक प्रचलन है। इस पद्धति के तहत योग्यता के आधार पर नियुक्त को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। क्योंकि इसमें दलगत भावना से ऊपर उठकर राष्ट्रपति नियुक्त करता है। भारत में भी नियुक्ति का यही तरीका प्रचलित है। इस तरीके को पूर्णतया दोषों से मुक्त करने के लिए एक उच्च स्तरीय सलाहकार परिषद् बनायी जा सकती है, जिसमें राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, उपराष्ट्रपति, लोकसभा स्पीकर, लोकसभा व राज्यसभा में प्रतिपक्ष के नेता को शामिल किया जा सकता है।

18.4.5.2 व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन—कुछ राज्यों में न्यायाधीशों का निर्वाचन व्यवस्थापिका के सदस्यों के द्वारा किया जाता है। यह व्यवस्था रूस, अमरीका, स्विटजरलैण्ड, फ्रांस आदि देशों में प्रचलित है। लेकिन इस तरीके के बारे में यह कहा जाता है कि न्यायाधीश पद राजनीतिक दलदल में फँस जाता है और उनके द्वारा दिये गये निर्णय भी राजनीति से प्रेरित होते हैं। न्यायाधीश हमेशा इस बात का ध्यान रखते हैं कि व्यवस्थापिका के बहुमत दल को प्रसन्न रखें।

18.4.5.3 जनता द्वारा चुनाव—लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में शासन के अंगों के चुनाव की व्यवस्था को लोकतंत्र की भावना के अनुरूप माना जाता है। इसलिए कई राज्यों में यह पद्धति प्रचलित है। यह पद्धति सैद्धान्तिक दृष्टि से तो ठीक है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अनेक कठिनाईयां उत्पन्न हो जाती हैं। क्योंकि जनता योग्यता के आधार पर चुनाव नहीं करेगी, बल्कि उसके दल, अभिव्यक्ति की कला, राजनीतिक दल पेंच आदि के आधार पर करती है। लारकी का कहना है कि "एक अच्छा न्यायाधीश बनने के लिए गुणों की जरूरत होती है उनकी पहचान व अच्छे-बुरे में अन्तर व्यापक व बिखरे हुए विविध मतदाताओं द्वारा हो ही नहीं सकता।" इस तरह की पद्धति अमरीका के कुछ राज्यों में, स्विटजरलैण्ड के कुछ कैंटन में प्रचलित है। अधिकांश राज्यों में इस पद्धति को नहीं अपनाया जाता है।

18.4.5.4 न्यायिक लोक सेवा से पदोन्नति—वर्तमान समय में अनेक देशों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए सीधी भर्ती अर्थात् प्रतियोगी परीक्षा द्वारा की जाती है। जिसके लिए कुछ निश्चित योग्यताएं तय की जाती हैं।

18.4.6 न्यायाधीशों का कार्यकाल—न्यायाधीशों का कार्यकाल कितना होना चाहिए? यह प्रश्न अत्यधिक जटिल है। सामान्यतया उच्चतम न्यायालयों में न्यायाधीश अधिक आयु वाले ही होते हैं। जिसके संबंध में यह कहा जाता है कि न्यायाधीश पद के लिए लम्बे अनुभव की आवश्यकता होती है। अतः इस कारण ज्यादा उम्र हो जाती है। अनुभव के आधार पर दिया गया निर्णय भी अच्छा होता है। दूसरी ओर आलोचना करते हुए कहा जाता है कि अधिक उम्र होने से रुढ़िवाद को प्रोत्साहन मिलता है। न्यायाधीशों के कार्यकाल के संबंध में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं—प्रथम के तहत न्यायाधीशों का कार्यकाल निश्चित कर दिया जाता है। यह भारत, बर्मा, पाकिस्तान, श्रीलंका, इन्डोनेशिया जैसे विकासशील देशों में प्रचलित है। भारत में तो 65 वर्ष की आयु या पांच वर्ष तक उच्चतम व उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद पर बने रह सकते हैं। द्वितीय के तहत न्यायाधीशों का कार्यकाल आजीवन होता है। यह व्यवस्था ब्रिटेन, अमरीका, रशियन के देशों सहित अनेक देशों में पायी जाती है।

18.4.7 न्यायाधीशों को पद से हटाना—न्यायाधीशों के निश्चित कार्यकाल के साथ-साथ पद से हटाने की उचित प्रक्रिया होनी चाहिए, ताकि न्यायाधीश पद पर रहते अपनी शक्ति का दुरुपयोग न कर सकें। लेकिन साथ में इस बात का भी ध्यान रखा जाए कि पद से हटाने के नाम पर व्यवस्थापिका या कार्यपालिका दबाव डाल कर उनकी निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित न कर सके। इसके लिए प्रक्रिया को जटिल बनाया जाए ताकि न्यायाधीश को आसानी से पद से न हटाया जा सके। भारत-एवं अमरीका, इंग्लैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देशों में महाभियोग प्रक्रिया द्वारा न्यायाधीशों को पद से हटाया जाता है।

18.5 न्यायपालिका के कार्य

सरकार के प्रमुख अंग के रूप में न्यायपालिका निम्नलिखित कार्य सम्पादित करती है :-

18.5.1 कानूनों की व्याख्या—न्यायालय के सामने अनेक बार ऐसे प्रश्न आते हैं जिनका संबंध कानूनों की व्याख्या से होता है, क्योंकि कई बार कानून का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। इसमें न्यायाधीशों को पूर्ववर्ती मामलों या स्वविवेक के अनुसार उनकी व्याख्या करनी होती है। कानून की व्याख्या कर न्यायालय राजनीतिक व्यवस्था को सम्भावित खतरे से उभार सकता है। इससे कानूनों में निश्चितता तथा स्पष्टता आ जाती है।

18.5.2 संविधान का संरक्षण—संघीय व्यवस्था वाले देशों में उच्चतम न्यायालयों को न्यायिक पुनर्वाचलोकन की शक्ति प्राप्त होती है, जिसके अनुसार न्यायालय संविधान के विरुद्ध होने पर व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित किसी कानून और कार्यपालिका के किसी आदेश को अवैध घोषित कर सकती है। इससे कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका संविधान का हननया अपहरण नहीं कर सकती है।

18.5.3 कानूनों का उल्लंघन करने वालों को दण्डित करना—न्यायपालिका का यह भी प्रमुख कार्य है कि जो लोग कानूनों का उल्लंघन कर विद्यमान व्यवस्था को भंग करते हैं, उनके विरुद्ध यह कठोर दण्डात्मक कार्यवाही करती है। यह अधिकार निचली अदालतों को भी प्राप्त है। लेकिन इनके निर्णयों के विरुद्ध अपील उच्चतर न्यायालय में भी की जा सकती है।

18.5.4 विवादों का समाधान करना—नागरिकों के पारस्परिक विवादों तथा नागरिकों एवं सरकार के बीच विवाद उपस्थित होते रहते हैं। इनके संबंध में भी निर्णय न्यायालय द्वारा दिये जाते हैं। ये निर्णय सभी पक्षों को मान्य होते हैं।

18.5.5 मौलिक अधिकारों का रक्षक—आधुनिक समय में अधिकांश राज्यों के संविधान द्वारा नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं। यदि किसी व्यक्ति, व्यक्ति समूह या राज्य द्वारा मौलिक अधिकारों का हनन किया जाता है तो व्यक्ति न्यायालय का दरवाजा खटखटा सकता है और अपने अधिकारों की रक्षा की अपील कर सकता है और न्यायालय इस क्षेत्र में आवश्यक कदम भी उठाता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32-35 में वर्णित संवैधानिक उपचारों का अधिकार इसी से सम्बन्धित है।

18.5.6 केन्द्र-राज्यों के विवाद का समाधान करना—संघात्मक व्यवस्था में केन्द्र-राज्यों के बीच कार्य-क्षेत्र का स्पष्ट विभाजन किया जाता है। भविष्य में इन विषयों को लेकर कोई विवाद उत्पन्न हो सकता है। अतः ऐसी परिस्थिति से निपटने के लिए सर्वोच्च न्यायालयों को यह अधिकार दिया जाता है कि वह ऐसे विवादों का समाधान करें। इसके अलावा राज्यों के बीच के विवादों की अपील सर्वोच्च न्यायालय में भी की जा सकती है। भारत व अमरीका में सर्वोच्च न्यायालय को यह कार्य प्रदान किया गया है।

18.5.7 परामर्श संबंधी कार्य—भारत के संविधान के अनुच्छेद 143 के अनुसार राष्ट्रपति यदि किसी संवैधानिक विषय पर सर्वोच्च न्यायालय की राय मांगे तो वह दे सकता है, लेकिन ऐसा करने को वह बाध्य नहीं है। भारतीय राष्ट्रपति द्वारा इस शक्ति का प्रयोग अनेक बार किया जा चुका है। राष्ट्रपति ए. पी. जे अब्दुल कलाम ने सर्वोच्च न्यायालय से यह सलाह मांगी कि अनुच्छेद 176 जो यह बताता है कि विधान सभा के दो अधिवेशन में बीच का अन्तर 6 माह से अधिक नहीं होना चाहिए और अनुच्छेद 324, जो चुनाव आयोग एवं उसके स्वतन्त्र निष्पक्ष चुनाव करवाने से सम्बन्धित है, इनमें से किसे महत्व दिया जाए। अन्त में संवैधानिक पीठ ने अनुच्छेद 324 के महत्व के बारे में राय दी। न्यायपालिका को परामर्श संबंधी अधिकार भारत, आस्ट्रेलिया, पनामा, बुल्गारिया, स्वीडन आदि में प्राप्त हैं।

18.5.8 विविध कार्य—न्यायपालिका अन्य अनेक कार्य करती है जैसे —

1. नाबालिग की जायदाद के लिए संरक्षक नियुक्त करना।
2. कम्पनियों में रिसीवर की नियुक्ति करना।

3. विदेशियों की राज्य कृति बनाने के लिए न्यायालय प्रमाण पत्र देता है।
4. न्यायालय अपने अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति सेवा शर्तें तय करने सम्बन्धी कार्य करता है।
5. निर्वाचन सम्बन्धी विवादों का समाधान आदि।

18.6 न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

न्यायपालिका के कार्यों को देखते हुए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इसको स्वतन्त्र बनाए जाए, ताकि व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के दबावों से मुक्त रह सके। न्याय व्यवस्था की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का उचित प्रबन्ध हो। स्वतन्त्र न्यायपालिका के महत्व पर प्रकाश डालते हुए अमरीकी राष्ट्रपति टाफ्ट ने कहा है कि "सभी मामलों में चाहे वे व्यक्ति तथा राज्य के बीच में हो, चाहे अल्पसंख्यक वर्ग और बहुमत के बीच में हों, चाहे आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक दृष्टि से शक्तिशाली और निर्बल के बीच हो, न्यायपालिका को निष्पक्ष रहना चाहिए और बिना किसी भय या पक्ष के निर्णय देने चाहिए।" गार्गन के अनुसार, "यदि न्यायाधीशों में प्रतिभा, सत्यता और निर्णय देने की स्वतन्त्रता न हो, तो न्यायपालिका का सारा ढाँचा खोखला प्रतीत होगा और उस ऊँचे उद्देश्य की सिद्धि नहीं होगी, जिसके लिए उसका निर्माण किया जाता है। इस प्रकार न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाये जा सकते हैं

18.6.1 न्यायाधीशों का चयन— न्यायपालिका की स्वतन्त्रता काफी हद तक न्यायाधीशों की चयन प्रक्रिया पर निर्भर करती है। यदि चयन प्रक्रिया पक्षपात, दलगत भावना, राजनीति से रहित है तो निश्चित ही न्यायाधीश स्वतन्त्रता की उम्मीद पर खरे उतर सकते हैं। चयन के लिए सामान्यतया चार प्रकार की विधियाँ प्रचलित हैं।

1. कार्यपालिका द्वारा चयन।
2. व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन।
3. जनता द्वारा निर्वाचन।
4. न्यायिक लोक सेवा द्वारा चयन।

इनमें से कार्यपालिका द्वारा चयन को सर्वश्रेष्ठ प्रविधि माना जाता है, क्योंकि इसमें उम्मीदवार की योग्यता को महत्व दिया जाता है न कि दलगत भावना या राजनीति को। इसके अलावा अनुभव का भी उचित लाभ उठाया जा सकता है।

18.6.2 संवैधानिक दर्जा— जिस प्रकार सरकार के अन्य अंगों एवं संस्थाओं के बारे में संविधान में स्पष्ट दिशा निर्देश दिये गये हैं। ठीक उसी प्रकार न्यायपालिका के संगठन, शक्तियों व कार्यों का स्पष्ट प्रावधान संविधान में किया जाना चाहिए ताकि उन्हें संवैधानिक दर्जा मिल सके। भारतीय संविधान में इस बात को दृष्टिगत रखते हुए संविधान में न्यायपालिका का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

18.6.3 योग्यता के आधार पर नियुक्ति— न्यायाधीश पद के लिए निश्चित एवं उच्च कीटि की योग्यता होनी चाहिए। योग्यता के मापदण्ड पर खरा उतरने पर ही उसकी नियुक्ति की जाए ताकि अयोग्य व्यक्ति इस गरिमापूर्ण पद पर न पहुँच सके। इसका ध्यान में रखते हुए भारत में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए कम से कम 35 वर्ष आयु, दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों में 5 वर्ष तक न्यायाधीश का अनुभव या 10 वर्ष तक कालात का अनुभव और राष्ट्रपति की नजरों में विधिवेत्ता होना चाहिए आदि।

18.6.4 पद की सुरक्षा— न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीशों की पद की सुरक्षा प्राप्त हो और कार्यपालिका उन्हें इच्छानुसार हटा नहीं सके। यदि न्यायाधीश को पद की सुरक्षा नहीं होगी तो वह कार्यपालिका या व्यवस्थापिका के विरुद्ध कोई निर्णय नहीं दे सकेगा। इसीलिए विश्व के प्रगतिशील राज्यों में यह व्यवस्था की जाती है कि यदि न्यायाधीश अपने पद का दुरुपयोग, भ्रष्ट कार्य, संविधान का उल्लंघन जैसे कार्य करे तो उसे पद से हटा दिया जाए लेकिन इसके लिए महाभियोग जैसी जटिल प्रक्रिया का सहारा लिया जाता है, जो व्यवस्थापिका द्वारा दो तिहाई बहुमत से पारित होने पर ही न्यायाधीश को पद से हटाया जा सकता है। भारत में भी महाभियोग प्रक्रिया द्वारा न्यायाधीशों को हटाया जा सकता है।

18.6.5 निश्चित कालावधि व स्थायी कार्यकाल— न्यायाधीशों की पद पर बने रहने की कालावधि निश्चित व स्थायी होनी चाहिए। यदि उस पर कम समय या अस्थायी कार्यकाल की तलवार लटकती है तो वह निर्णय भी सही नहीं दे पाता और उसके अनुभव के लाभ से भी देश वंचित रह जाता है इसलिए आधुनिक राज्यों में लम्बी पदावधि के साथ नियुक्ति दी जाती है। हेमिल्टन का कहना है कि "न्यायाधीशों का सदाचार पर्यन्त अपने पद पर बने रहने का विषय शासन के प्रयोगों में एक बहुमुल्य सुधार है। किसी भी शासन में कानूनों को निष्पक्ष, स्थायी और उचित रीति से लागू करने का यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।"

18.6.6 सेवा शर्तों में परिवर्तन नहीं— न्यायाधीश जब तक अपने पद पर बना रहता है, तब तक उसकी सेवा शर्तों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए। सेवा शर्तों में परिवर्तन की आड़ में व्यवस्थापिका या कार्यपालिका अनुचित हस्तक्षेप कर निर्णय को प्रभावित कर सकती है। वे न्यायाधीशों पर सेवा शर्तें कम करने का दबाव या बढ़ाने के प्रलोभन में लाकर फैसले को प्रभावित करवा सकते हैं।

18.6.7 पर्याप्त वेतन— हेमिल्टन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "मानव स्वभाव है कि जो व्यक्ति अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्ति सम्पन्न हैं, उसके पास संकल्प शक्ति का भी बड़ा बल होता है। इस तरह न्यायाधीशों को पर्याप्त वेतन मिलना चाहिए। कम वेतन मिलने पर न्यायाधीश भ्रष्ट साधनों का सहारा ले सकते हैं। इसके अलावा ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिए कि पद पर रहते वेतन में अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा। उन्हें समुचित मात्रा में अन्य भत्ते तथा अन्य सुविधाएँ भी प्रदान की जानी चाहिए।

18.6.8 विशेषाधिकार— न्यायाधीशों को विशेषाधिकार दिये जाने चाहिए, ताकि वे अपने दायित्वों का निर्वाह भली भाँति कर सकें। इसके लिए उन्हें किसी भी मुद्दे पर स्वतन्त्र राय देने की छूट हो उसके निर्णय की सार्वजनिक स्तर पर आलोचना नहीं की जाए, आदि। इसके अलावा जीवन जीने की वे तमाम उच्च सुविधाएँ मिलनी चाहिए, जो उसकी पद की गरिमा को और बढ़ाती हों।

18.6.9 न्यायपालिका का पृथक्करण— न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका का व्यवस्थापिका व कार्यपालिका से पृथक्करण के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाना चाहिए। एक व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती कि वही कानून का निर्माण, लागू और उसकी व्याख्या उचित तरीके से कर सकेगा। इसी बात को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में वर्णित राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के अनुच्छेद 50 में इस बात पर बल दिया गया है। इससे न्यायपालिका, कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के दबाव से मुक्त रहकर कार्य कर सकेगी।

18.6.10 सेवानिवृत्ति पर वकालत पर रोक— शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीश को अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत पर रोक होनी चाहिए, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि जिस न्यायालय क्षेत्र में न्यायाधीश के रूप में काम किया है और वहाँ जब वकालत करता है तो न्यायाधीश उस सेवानिवृत्त न्यायाधीश वकील से प्रभावित होकर निर्णय देगा जो न्याय की स्वतन्त्रता के लिए अच्छी बात नहीं है।

18.6.11 मानहानि का मुकदमा चलाने का अधिकार— यदि कोई व्यक्ति तथा संस्था न्यायालय के निर्णय की अवमानना करती है, उसकी सार्वजनिक स्तर पर आलोचना की करती है या न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रचार-प्रसार किया जाता है तो न्यायालय को यह अधिकार होना चाहिए कि वह ऐसा करने वालों के विरुद्ध मानहानि का मामला दायर कर कठोर सजा दे सकता है।

18.7 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि न्यायपालिका सरकार का एक प्रमुख अंग होने के नाते उसके भी अनेक दायित्व हैं, लेकिन उसके दायित्व निर्वाह के मार्ग में अनेक बाधाएँ आ रही हैं, जो सम्य-स्वतन्त्र समाज के लिए शुभ संकेत नहीं हैं। अतः हमें आज न्यायपालिका की स्वतन्त्रता व गरिमा को बनाए रखना होगा लेकिन न्यायपालिका को भी यह ध्यान में रखना होगा कि वह अपनी स्वतन्त्रता की आड़ में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप करने से बचे अथवा उसके औचित्य पर ही सवालिया निशान लगाया जा सकता है। न्यायाधीशों को 'न्यायिक सक्रियता' की आड़ में अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। उसे भी मर्यादित व्यवस्था में न्यायपालिका की सन्तुलित, तथा मर्यादित भूमिका ही उसको सार्थकता प्रदान कर सकती है।

18.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्यायपालिका के महत्व को स्पष्ट करते हुए इसके संगठन पर प्रकाश डालिए।
2. न्यायपालिका के कार्यों पर लेख लिखिए।
3. उन उपायों की व्याख्या करें, जिनसे न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाया जा सकता है?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. न्यायाधीशों की चयन प्रक्रिया बताइए।
2. न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति की स्पष्ट भूमिका क्या है?
3. संघात्मक व्यवस्था में न्यायपालिका की विशेषतः भूमिका क्या है?
4. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के दो प्रमुख तरीके बताइये?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. न्यायाधीशों की नियुक्ति की सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया कौन सी है?
2. उच्चतम न्यायालय में पीठ का क्या महत्व है?
3. भारत में विशेषीकृत न्यायालय किस रूप में पाये जाते हैं?
4. प्रशासनिक न्यायालय किस देश की न्यायपालिका के अंग हैं?
5. भारत में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश का कार्यकाल कितना होता है?
6. भारत में न्यायाधीशों को पद से हटाने की प्रक्रिया क्या कहलाती है?
7. यदि दो राज्यों के बीच विवाद उत्पन्न हो जाए तो उसकी अपील किस न्यायालय में की जाती है?

18.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सी. बी. गेना, "तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ" विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा. लि., नई दिल्ली
2. डी.डी. बसु, "भारत का संविधान" वाधवा प्रकाशन मेरठ
3. के.के. मिश्र, "तुलनात्मक शासन एवं राजनीति," प्रगति पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली

इकाई-19 : राजतन्त्र

संरचना

- 19.1 उद्देश्य
- 19.2 प्रस्तावना
- 19.3 राजतन्त्र का अर्थ
- 19.4 राजतन्त्र के प्रकार
- 19.5 राजतन्त्र के गुण
 - 19.5.1 असम्य तथा अविकसित समाजों के लिए उपयोगी
 - 19.5.2 सर्वांगीण उन्नति में सहायक
 - 19.5.3 शीघ्र निर्णय
 - 19.5.4 युद्ध में कुशल नेतृत्व
 - 19.5.5 अनुभव पर आधारित
 - 19.5.6 नीति की एकरूपता व सरकार में स्थिरता
 - 19.5.7 सामाजिक न्याय में सहायक
 - 19.5.8 शासन में कुशलता व एकता
 - 19.5.9 जनता का ध्यान अपने काम पर
- 19.6 राजतन्त्र के दोष
 - 19.6.1 देश का पतन
 - 19.6.2 वंशानुगत आधार अनुचित
 - 19.6.3 अत्याचार को प्रोत्साहन
 - 19.6.4 नागरिक अधिकारों का कोई स्थान नहीं
 - 19.6.5 लोकतंत्र व स्वशासन का विरोधी
 - 19.6.6 आर्थिक असमानता को प्रोत्साहन
 - 19.6.7 लोककल्याणकारी राज्य के प्रतिकूल
 - 19.6.8 क्रांति की सम्भावनाएं
 - 19.6.9 विश्व शांति के लिए घातक
- 19.7 सारांश
- 19.8 अभ्यास प्रश्नावली
- 19.9 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

19.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य प्रमुख शासन प्रणाली, जिसे अरस्तु ने भी सर्वश्रेष्ठ माना था, उसके बारे में जानकारी उपलब्ध करवाना है।

- राजतंत्र का तात्पर्य क्या है?
- राजतंत्र को श्रेष्ठ प्रणाली के रूप में स्वीकार करने के पीछे मूल कारण क्या है?
- राज्य के विकास में राजतंत्र किस प्रकार औचित्यपूर्ण है?
- वर्तमान समय में इसकी आलोचना किन आधारों पर की जाती है?
- यह भी जान सकेंगे कि अन्य शासन प्रणालियों से यह किस प्रकार भिन्न है?

19.2 प्रस्तावना

शासन व्यवस्था किस प्रकार की हो? उसका आधार क्या हो? यह राजनीति विज्ञान का विवादास्पद प्रसंग है। राजनीति शास्त्री किसी भी शासन के एक प्रकार पर सहमत नहीं हैं। एलेक्जेंडर पोप ने कहा है कि, "शासन के रूपों के लिए मूर्खों को लड़ने दो, जो शासन ठीक प्रकार से चले, वही सर्वश्रेष्ठ शासन हैं।" प्रत्येक शासन व्यवस्था की सफलता या असफलता राज्य के राजनीतिक वातावरण नागरिकों के चरित्र तथा भौगोलिक परिस्थितियों आदि पर निर्भर करती है। इसलिए समय, काल व परिस्थितियों के अनुसार शासन के प्रकार में आमूल-चूल परिवर्तन आते हैं। मानव जाति का इतिहास बताता है कि प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्थाएँ विद्यमान रही हैं और शासन के इन विभिन्न रूपों का मानव जाति के राजनीतिक विकास में विशेष महत्व रहा है, लेकिन ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी शासन के प्रकार का वजूद (वर्चस्व) चिरस्थायी नहीं रहा है। अरस्तू अपनी रचना 'पॉलिटिक्स' में शासन के चक्र को स्पष्ट करते हुए कहता है कि मुख्यतया तीन शासन के प्रकार और तीन ही उनके विकृत रूप पाये जाते हैं। राजतन्त्र-अधिनायक तंत्र, कुलीनतंत्र-धनिकतंत्र, लोकराज्य-लोकतंत्र। वह आगे कहता है कि यह शासन या सरकार के रूपों का चर्चाकरण नहीं है, अपितु शासन के रूपों का परिवर्तन चक्र है।

शासन के प्रकारों में सबसे प्राचीन शासन प्रणाली राजतन्त्र है। अरस्तू द्वारा भी शासन के वर्गीकरण में राजतन्त्र को प्राचीन रूपों में स्वीकार किया गया है। सामाजिक समझौतावादी हॉब्स और लॉक राजतन्त्र को राज्य की उत्पत्ति के साथ जोड़ते हैं और कहते हैं, मानव के समझौते के परिणाम स्वरूप जो सम्प्रभुधारी अस्तित्व में आता है, वह राजतंत्र का ही प्रतीक है अर्थात् वे एक व्यक्ति (राजतन्त्र) में सम्प्रभुता का निवास करवाते हैं और उसे उपयुक्त भी मानते हैं। भारतीय राजनीतिक विचारक मनु और कौटिल्य राजतन्त्र (राजपद) का ही गुण-गान करते हैं। मनु तो यहां तक कहता है कि अराजकता का नाश करने के लिए ईश्वर राजपद (राजतंत्र) को उत्पत्ति करता है।

यदि विश्व के राज्यों की शासन व्यवस्था को दृष्टिगत रखते हुए अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि अधिकांश राज्यों में लम्बे समय तक राजतंत्र का बोलबाला रहा है। 19 वीं शताब्दी राजतंत्र के लिए चरम उत्कर्ष का काल था। राजतंत्र के प्रति लोगों में समर्पण की भावना थी। अनेक राज्यों से तो राजतंत्र को धर्म के साथ जोड़कर देखा गया। इन सबका परिणाम यह हुआ कि राजपद अपनी शक्तियों में इतना मदमस्त हो गया कि वह अपने दायित्वों से विमुख हो गया और तानाशाह बनकर आम जनता के साथ अन्याय, अत्याचार एवं अमानवीय व्यवहार करने लगा। 20 वीं शताब्दी के आते-आते निरंकुश राजतंत्र का पतन हो गया और जहाँ कहीं बचा तो यह सीमित राजतन्त्र के रूप में है।

19.3 राजतन्त्र का अर्थ

सम्प्रभुता की शक्ति का निवास कहाँ हो? अर्थात् सम्प्रभुता किसमें निहित है उसके अनुसार शासन के प्रकार का निर्धारण होता है। यदि सम्प्रभुता एक व्यक्ति में निहित है तो वह राजतंत्र कहलाता है। उस व्यक्ति (राजा) की शक्तियाँ असीमित, सर्वोच्च, सर्वव्यापक एवं अनुत्तरदायी होती हैं। राजा आजीवन पद पर बना रहता है। इसमें उत्तराधिकार पैतृक होता है अर्थात् राजा के मरने के बाद उसका बड़ा पुत्र या उसके अभाव में निकट सम्बन्धी सिंहासन पर बैठता है। गेटेल का विचार है कि, "ऐसी सरकार जिसमें सर्वोच्च तथा अन्तिम सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में हो तो वह राजतंत्र होगा, चाहे उसमें राजा ने अपने पद शक्ति के द्वारा हथिया कर प्राप्त किया हो, या वह चुना गया हो या पैतृक उत्तराधिकार के द्वारा प्राप्त किया हो।" जैलिनके ने राजतन्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "राजतन्त्र ऐसी सरकार होती है जिसमें एक व्यक्ति की भौतिक इच्छा को प्रमुख स्थान प्राप्त हो और इसकी मुख्य विशेषता यह है कि राजा राज्य की सर्वोच्च शक्ति प्रकट करने में समर्थ है।" यदि राजा राज्य का नाम मात्र का प्रमुख हो और सरकार की वास्तविक शक्तियाँ दूसरों के द्वारा प्रयुक्त की जाती हैं तो सरकार वास्तव में राजतंत्र की बजाए कुलीनतंत्र या लोकतंत्र ही है। वास्तव में राजतंत्र तभी विद्यमान रहता है, जबकि राज्य के मुखिया की इच्छा लगातार प्रभावशाली रहती है और अन्त में सरकार के संचालन के सर्वप्रमुख तत्व के रूप में काम करती है।

19.4 राजतन्त्र के प्रकार

राजशक्ति के स्रोत की दृष्टि से राजतंत्र को पैतृक तथा निर्वाचित में बांटा जा सकता है। प्राचीन काल में एवं आधुनिक काल में भी पैतृक राजतन्त्र ही विभिन्न देशों में प्रचलित रहे हैं। कई बार तो ऐसा भी हुआ है कि कोई राजा शुरू में चुना हो और बाद में उसके वंश में उत्तराधिकारी ही पैतृक बन गया हो।

राजतन्त्र को स्वभाव एवं राजा की पद की स्थिति के अनुसार भी दो भागों में बांटा गया है। निरंकुश राजतन्त्र तथा वैधानिक राजतंत्र (सीमित राजतंत्र)। निरंकुश राजतंत्र में राजा के हाथ में सरकार की अन्तिम शक्ति होती है। वह सर्वोच्च सम्प्रभु होता है। उसका आदेश ही कानून होता है। वह अपने कार्य के लिए किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। जनता को उसके विरुद्ध बोलने का भी कोई अधिकार नहीं होता है।

अधिकांशतया राजतंत्र का निरंकुश रूप ही देखने को मिलता था जो वर्तमान में भी इथोपिया, जोर्डन, सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात आदि देशों में पाया जाता है। सीमित राजतन्त्र के तहत तमाम शक्तियाँ तो राजा में निहित होती हैं परन्तु व्यवहार में प्रयोगकर्ता स्वयं राजा न होकर मंत्रिमण्डल या संसद होती है। इस तरह इसमें राजा नाममात्र का प्रमुख होता है और वह सीमित दायरे में रहकर दायित्वों का निर्वहन करता है। सीमित राजतंत्र का स्वरूप वर्तमान में ब्रिटेन, नेपाल, नार्वे, डेनमार्क, स्वीडन, बेल्जियम, हालैण्ड, जापान आदि में पाया जाता है।

19.5 राजतन्त्र के गुण

राजतन्त्र के निम्नलिखित गुण होते हैं –

19.5.1 असम्य तथा अविकसित समाजों के लिए उपयोगी— मानव सम्यता का इतिहास बताता है कि मानव अपने जीवन के प्रारम्भिक दौर में पशुतुल्य, अनुशासनहीन तथा असम्य था। इसलिए उस युग में राजतंत्र ही सर्वश्रेष्ठ शासन था, जो सम्य व विकसित समाज की नींव रख सकता था। हॉब्स भी अपने राज्य उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त में यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं समाज में बदतर स्थिति के निवारण के लिए राजतंत्र उपयुक्त था। जे.एस.मिल ने कहा है कि "असम्य और बर्बर जातियों के शासन के लिए निरंकुश राजतंत्र ही उपयुक्त शासन प्रणाली है। यदि सुधार के उद्देश्य से प्रेरित होकर तथा उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सहायक उपयुक्त साधनों का प्रयोग किया जाय।"

19.5.2 सर्वांगीण उन्नति में सहायक— ह्यूम ने लिखा है कि, "अच्छे राजतंत्र में सम्पत्ति सुरक्षित रहती है, उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन मिलता है, कला की उन्नति होती है और राजाप्रजा में सम्बन्ध इस तरह रहता है जैसे पिता और पुत्र में, यदि राजा अच्छा हो तो लोगों के लाभ के लिए कुछ भी कर सकता है।" भारतीय इतिहास भी इस दावे की पुष्टि करता है क्योंकि चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, हर्ष, अकबर आदि के काल में सर्वांगीण विकास अपनी चरम सीमा पर था। बोसे के अनुसार, "राजतंत्र प्राचीनतम, सबसे अधिक प्रचलित, सर्वोत्तम तथा सबसे अधिक स्वाभाविक शासन का प्रकार है।"

19.5.3 शीघ्र निर्णय— राजतंत्र के बारे में यह कहा जाता है कि एक व्यक्ति में शासन की अन्तिम शक्ति निहित होने के कारण वह किसी भी मुद्दे पर शीघ्र निर्णय ले सकता है क्योंकि उसके निर्णय की आलोचना भी नहीं होती है। इस तरह वह अपने विवेक व परिस्थितियों को ध्यान में रखकर संकट की स्थिति से राज्य को उभारने के लिए अतिशीघ्र निर्णय ले लेता है।

19.5.4 युद्ध में कुशल नेतृत्व— यदि राजा बुद्धिमान तथा वीर हो तो वह युद्ध में अच्छा, कुशल एवं सुदृढ़ नेतृत्व प्रदान कर सकता है और आक्रामकों से देश की रक्षा कर सकता है।

19.5.5 अनुभव पर आधारित— राजतंत्र में राजा आजीवन अपने पद पर बना रहता है। इससे उसे शासन के बारे में व्यापक ज्ञान एवं अनुभव हो जाता है। वह अपने अनुभव और शासन कला के कौशल के चलते प्रशासन पर पकड़ कायम कर लेता है और कमजोर से कमजोर कड़ी से वह वाकिफ होता है। अपने अनुभव से देश को लाभ पहुँचाने का यत्न करता है। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ अनुभव के आधार पर शासकों ने देश की उन्नति में अपना योगदान दिया।

19.5.6 नीति की एकरूपता व सरकार में स्थिरता— किसी भी राज्य का विकास नीतिगत एकरूपता व स्थिर सरकार पर निर्भर करता है। राजतंत्र में राजा लम्बी अवधि तक पद पर बने रहते हैं जिससे वे अपनी नीतियों को ईमानदारी से लागू करवाते हैं। जिसका समुचित लाभ भी मिल जाता है। इसके अलावा इसमें सरकार भी स्थिर रहती है। शीघ्र परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं होती। इसके विपरीत लोकमत में जन प्रतिनिधियों का चुनाव कुछ समय के लिए होता है और उसमें भी उन्हें हमेशा पद का खतरा बना रहता है जिससे न तो नीति की एक रूपता रह पाती है और नित नयी सरकारें बनती व बिगड़ती रहती हैं।

19.5.7 सामाजिक न्याय में सहायक— राजा किसी दल से अपना सम्बन्ध नहीं रखता है और न ही चुनाव व कार्यकाल किसी दल की कृपा पर निर्भर करता है। इसलिए वह निष्पक्ष होकर देश का शासन चलाता है और सब के साथ न्याय करने का प्रयास करता है। तुर्जों के शब्दों में "राजतंत्र शासन मनुष्य के हित और कल्याण की दृष्टि से अधिक उपयुक्त होता है क्योंकि राजा को इससे कोई लाभ नहीं होता कि वह बुरे या अन्यायकारक कानूनों का निर्माण करें या इस प्रकार का शासन करे कि प्रजा के हित में न हो।" फ्रेडरिक के शब्दों में, "राजतंत्र ने सदैव ही निर्धनों के मित्र के रूप में गौरवपूर्ण कार्य किया है।"

19.5.8 शासन में कुशलता व एकता— राजा अपनी प्रशासनिक सुविधा के लिए योग्य, अनुभवी, बुद्धिमान मंत्रियों की नियुक्ति करता, जिन्हें गलती करने का कोई अवसर भी नहीं मिलता, क्योंकि राजा उन्हें तत्काल प्रभाव से पद मुक्त कर सकता है। इसके अलावा सभी मंत्री व अधिकारी एक राजा के आदेश के साथ जुड़े होते हैं और प्रत्येक आदेश की कठोरता के साथ अनुपालना करने की कोशिश करते हैं। इससे प्रशासन में कार्य कुशलता आती है और एकता को प्रोत्साहन भी मिलता है।

19.5.9 जनता का ध्यान अपने काम पर— लोकतंत्र में व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हुए हर समय राजनीति में अपनी टांग अड़ाता रहता है और उनका अपने कार्यों से कोई वास्ता नहीं होता। लेकिन राजतंत्र में ऐसा कुछ नहीं होता, जनता को तो बस अपने कार्यों पर ही ध्यान देना होता है।

सारांश में राजतंत्र अन्य व्यवस्थाओं की तुलना में कम खर्चीली शासन व्यवस्था होती है।

19.6 राजतंत्र के दोष

राजतंत्र के दोष निम्नलिखित उजागर होते हैं —

19.6.1 देश का पतन— यदि किसी राज्य की बागडोर अयोग्य व्यक्ति के हाथ में आ जाए तो देश अवनति के गहरे गर्त की ओर अग्रसर हो जाता है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे मुगल साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता की नीति, जिससे मुगल साम्राज्य की जड़ें हिल गयीं और बाद में जितने भी शासक आये, वे अयोग्य थे।

19.6.2 वंशानुगत आधार अनुचित— राज्य के प्रधान या शासक का पद सबसे उच्च होता है, इसलिए यह पद राज्य के किसी योग्य व्यक्ति को मिलना चाहिए लेकिन राजतंत्र में योग्यता का कोई स्थान नहीं होता, बल्कि वंशानुगत आधार अर्थात् राजा का पुत्र राजा बनता है चाहे वह कितना भी अयोग्य क्यों न हो। लीकॉक ने कहा है कि वंशानुगत राजा की कल्पना उतनी ही बेहूदा है जितनी कि वंशानुगत गणितज्ञ या वंशानुगत कवि की कविता।

19.6.3 अत्याचार को प्रोत्साहन— शक्ति हर व्यक्ति को भ्रष्ट कर देती है। कुछ समय के पश्चात् राजा या उसके उत्तराधिकारी अपने ऊँचे आदर्श से गिर जाते हैं। वे केवल अपने निजी स्वार्थ सिद्धि, विलासितापूर्ण जीवन जीने में व्यस्त रहते हैं, जनता के साथ अन्याय, अत्याचार एवं अमानवीय व्यवहार करने से नहीं चुकते हैं। जनता

की प्रत्येक आवाज को कुचल देते हैं।

19.6.4 नागरिक अधिकारों का कोई स्थान नहीं— नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों को अधिकार प्रदान किया जाए, जिसमें विचार अभिव्यक्ति, स्वतन्त्रता, समानता, धार्मिक उपासना आदि होने चाहिए। इनके बिना व्यक्तित्व व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता, लेकिन राजतंत्र में नागरिक अधिकारों का कोई स्थान नहीं है। जनता द्वारा शासन का विरोध करना दूर की बात, वह इस बारे में सोच ही नहीं सकती है।

19.6.5 लोकतंत्र व स्वशासन का विरोधी— राजतंत्र में तमाम शक्तियाँ राजा में निहित होती हैं और जनता की कोई भूमिका नहीं होती है। गार्नर ने कहा है कि "कोई भी सरकार जो लोकप्रियता पर आधारित नहीं है, जो लोगों में सार्वजनिक कार्यों के प्रति लगन उत्पन्न नहीं कर सकती तथा जो सक्रिय सजग तथा विवेकपूर्ण नागरिक उत्पन्न नहीं करती, आदर्श नहीं कही जा सकती और यह निश्चय है कि ऐसी कोई सरकार, जिसके अन्तर्गत जनता को शासन कार्य में भाग लेने पर किसी भी रूप में प्रतिबन्ध है, इस प्रकार का समूह उत्पन्न नहीं कर सकती है।"

19.6.6 आर्थिक असमानता को प्रोत्साहन— राजतंत्र में यह देखने में आता है कि अमीर और अमीर तथा साधन सम्पन्न बनता जाता है और गरीब और गरीब बन जाता है और अभाव की जिन्दगी जीने को मजबूर होता है क्योंकि राज्य द्वारा असमानता को ख़ाई को दूर करने के कोई प्रयास नहीं किये जाते, बल्कि उसके द्वारा अमीरों जमींदारों, जागीदारों को प्रोत्साहन दिया जाता है जो गरीबों, किसानों व मजदूरों का शोषण करते हैं। ऐसी परिस्थितियाँ बना दी जाती हैं कि कमजोर वर्ग उनके विरुद्ध आवाज तक नहीं उठा सकता। साधन सम्पन्न वर्ग इनसे बेगार लेते हैं, कृषि उत्पादन का बड़ा भाग कर के रूप में ले लेते हैं, साहूकार वस्तु का कम मूल्य देते हैं आदि। इस तरह किसानों व कारीगरों को उनके उत्पादनों का पुराना लाभ नहीं मिल पाता है।

19.6.7 लोककल्याणकारी राज्य के प्रतिकूल— आधुनिक राज्य का स्वरूप एक पुलिस मैन की भाँति सुरक्षात्मक न रहकर कल्याणकारी बन गया है जिसका प्रमुख ध्येय जनता के कष्टों का निवारण करना और जनता के सुख समृद्धि के लिए हर सम्भव कोशिश करना, परन्तु ये सब राजतंत्र में सम्भव नहीं है। राजतंत्र में राज्य का जनता से कोई जुड़ाव नहीं होता है। इसलिए वे अपना ध्यान अपने पद की सुरक्षा के लिए ज्यादा लगाते हैं, न कि लोक कल्याण के क्षेत्र में।

19.6.8 क्रांति की सम्भावनाएं— जब राजा के अन्याय व अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तो जनता ऐसी व्यवस्था से मुक्ति चाहती है। अतः जो अन्तिम विकल्प के रूप में क्रांति का सहारा लेकर राजतंत्र को उखाड़ फेंक देती है। इतिहास बताता है कि अधिकांश राज्यों में राजतंत्र का यही हाल हुआ।

19.6.9 विश्वशांति के लिए घातक— निरंकुश शासक अपनी शक्ति के नशे में इतना खो जाता है कि वह अपने साम्राज्य के विस्तार करने का प्रयास करता है। ऐसा करना वह अपना अधिकार व धर्म दोनों समझता है। लेकिन ये स्थिति विश्व शांति के लिए विनाशकारी है। हिटलर व मुसोलिनी की इसी तानाशाही नीति के कारण विश्व को द्वितीय महायुद्ध का सामना करना पड़ा।

19.7 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजतंत्र को आधुनिक व्यवस्था के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, यद्यपि ब्रिटेन जैसे लोकतांत्रिक देशों में आज भी राजतंत्र के अवशेष विद्यमान हैं, लेकिन वहाँ राजतंत्र सीमित रूप में है। आज जहाँ अधिकार स्वतन्त्रता, समानता, न्याय, विश्वबन्धुत्व जैसी अवधारणाओं के प्रति आस्था बढ़ी है जिनका राजतंत्र में कोई स्थान नहीं है। अब राजतंत्र का भविष्य अन्धकारमय है।

19.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजतंत्र को परिभाषित करते हुए इसके गुणों पर प्रकाश डालिए।
2. आधुनिक समाज के लिए राजतंत्र उपयुक्त नहीं है। सिद्ध कीजिए।

लघुतरात्मक प्रश्न

1. निरंकुश राजतंत्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. सीमित राजतंत्र से आपका क्या आशय है?
3. राजतंत्र सम्य समाज के लिए किस प्रकार उपयोगी है?
4. लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा राजतंत्र में क्यों सम्भव नहीं?

अति लघुतरात्मक प्रश्न

1. गेटेल ने राजतंत्र को कैसे परिभाषित किया गया।
2. "राजतंत्र ने सदैव ही निर्धन के मित्र के रूप में गौरवपूर्ण कार्य किया है" यह मत किसका है?

19.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर.सी. अग्रवाल, "राजनीतिक शास्त्र के सिद्धान्त," एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली,
2. डॉ. नन्दिनी उप्रेती, "राजनीति विज्ञान के मूल आधार," राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
3. मलफर्ड क्यू, सिबली, "राजनीतिक विचार एवं विचार धाराएँ," (अनुवाद) राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
4. ज्ञान सिंह सन्धु, "राजनीति सिद्धान्त," हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
5. आर. सी. अग्रवाल, "राजनीतिक विचार धाराएँ," एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

इकाई-20 अल्पतन्त्र (कुलीन तन्त्र)

संरचना

- 20.1 उद्देश्य
- 20.2 प्रस्तावना
- 20.3 अल्पतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषाएं
- 20.4 अल्पतन्त्र के गुण
 - 20.4.1 योग्य और बुद्धिमान व्यक्तियों का शासन
 - 20.4.2 परम्पराओं की सुरक्षा
 - 20.4.3 स्वामाविक शासन
 - 20.4.4 ऐतिहासिक दृष्टि से उचित
 - 20.4.5 स्थिरता तथा दक्षता
 - 20.4.6 राजतंत्र व प्रजातंत्र के दोषों को दूर करने
 - 20.4.7 परम्परागत अनुभव सुरक्षित रहते हैं
- 20.5 अल्पतन्त्र के दोष
 - 20.5.1 सब कुलीन तंत्र शीघ्र ही पवित्र होकर अल्प जनतंत्र बन जाते हैं
 - 20.5.2 कुलीन तंत्र में साधारण जनता को शासन में भाग लेने से वंचित कर दिया जाता है
 - 20.5.3 योग्य व्यक्तियों के चुनाव की समस्या
 - 20.5.4 इसमें साधारण जनता को राजनीतिक शिक्षा नहीं मिलती है
 - 20.5.5 वंशानुगत नियम सबसे अधिक दोषपूर्ण है
 - 20.5.6 यह रुढ़िवादी है
 - 20.5.7 शासन वर्ग में संघर्ष
 - 20.5.8 धन का अपव्यय
 - 20.5.9 राजनीतिक चेतना का विकास नहीं
 - 20.5.10 वर्ग संघर्ष को बढ़ावा
- 20.6 सारांश
- 20.7 अभ्यास प्रश्नावली
- 20.8 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

20.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य कुलीनतंत्रीय शासन प्रणाली को जानना है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- कुलीनतंत्र पर आधारित शासन किस सीमा तक सफल होता है,
- कुलीनतंत्र में ऐसे कौन-से गुण हैं जो उसकी अच्छाइयों को प्रदर्शित करते हैं,
- कुलीनतंत्र की आलोचनाएँ, जिसके संबंध में यह दावा किया जाता है कि इसे योग्य शासकों के स्थान पर धनिक तंत्र को प्रोत्साहन देती है।

20.2 प्रस्तावना

सम्प्रभुता के निवास की स्थिति से शासन के प्रकार का निर्धारण होता है। यदि सम्प्रभुता एक व्यक्ति में निवास करती है तो राजतन्त्र और जब कुछ व्यक्तियों में निहित होती है तो अल्पतन्त्र या कुलीन तंत्र कहलाता है। अरस्तु अपने शासन या सरकार के परिवर्तन चक्र में यह बताता है कि जब राजतंत्र में विकृति आ जाती है, उसमें बुराइयाँ हावी हो जाती हैं और शासन अपने दायित्वों से विमुख हो जाता है तो कुलीन तंत्र पर आधारित शासन के प्रकार का सूत्रपात होता है।

अल्पतन्त्र एक ऐसी शासन पद्धति है जिसका संचालन थोड़े से व्यक्तियों द्वारा होता है। ये समाज के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति होते हैं जो उच्च सिद्धान्त से प्रेरित होकर लोक सेवा का कार्य सम्पादित करते हैं। शासन कार्यों से जुड़े ये व्यक्ति अपने कार्य के प्रति, समर्पित भाव से कार्य करते हैं। वे योग्य, अनुभवी व कुशल होते हैं जो संकुचित भावना से ऊपर उठकर राज्य सेवा और जनता की भलाई के लिए तत्पर रहकर दायित्वों का निर्वाह करते हैं।

प्लेटों और अरस्तू जैसे राजनीतिक चिन्तकों के द्वारा अल्पतन्त्र का समर्थन किया गया है। प्लेटों अपने आदर्श राज्य की स्थापना में जिस दार्शनिक राजा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। उसमें भी अल्पतन्त्र के लक्षण दिखाई देते हैं। क्योंकि प्लेटो बुद्धिमानों के वर्ग को उच्च वर्ग कहता था और बुद्धिमानों का शासन चाहता था। अरस्तू भी अल्पतन्त्र का अर्थ एक ऐसी शासन व्यवस्था से लेता है जहां इसे समाज के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति चलाते हो।

20.3 अल्पतन्त्र का अर्थ व परिभाषा

अल्पतन्त्र या कुलीन तन्त्र को अंग्रेजी में 'ऐरिस्टोक्रेसी' (Aristocracy) कहा जाता है। ऐरिस्टोक्रेसी ग्रीक भाषा के 'ऐरिस्टोस' तथा 'क्रेटोस' शब्द से बना है जिनका अर्थ क्रमशः श्रेष्ठ और शासन है अर्थात् शब्दात्पत्ति के अनुसार अल्पतन्त्र का अर्थ श्रेष्ठ व्यक्तियों का शासन से है।

गेटल के अनुसार, "अल्पतन्त्र में राजनीतिक शक्ति राज्य की जनता के छोटे से भाग के हाथ में निहित होती है। यह वर्ग जन्म, धर्म, सैनिक, शक्ति शिक्षा अथवा इन सबके संयोग तथा इसी प्रकार के अन्य भेदों पर आधारित होता है।

गानर के मत में "अल्पतन्त्र वह शासन है जिसमें कुछ लोगों के पास राजनीतिक शक्ति होती है।"

जेलिनेक का कहना है कि, "अल्पतन्त्र में शासन श्रेणी आम जनता से बिल्कुल अलग होती थी और साधारण जनता के किसी व्यक्ति के लिए यह सम्भव न था कि वे शासन की श्रेणी में आ सकें।"

20.4 कुलीन तन्त्र के गुण

अल्पतन्त्र या कुलीन तन्त्र के निम्नलिखित गुण हैं –

20.4.1 योग्य और बुद्धिमान व्यक्तियों का शासन- अल्पतन्त्र में शासन अत्यन्त योग्य और बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथ में रहता है। समाज के योग्य व्यक्ति ही केवल शासन चला सकते हैं, साधारण जनता नहीं। इसलिए कारलाइल ने कहा है कि, "यह तुम्हारा बहुत बड़ा सौभाग्य है कि वे बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा शासित किये जाएं।" जे.एस. मिल ने कुलीन तन्त्र के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि, "जो सरकारें इतिहास में कार्य करने में मानसिक रूप से योग्य व शक्तिशाली होने के कारण उल्लेखनीय हैं, वे आमतौर पर अल्पतन्त्र शासन की देन ही हैं।

20.4.2 परम्पराओं की सुरक्षा- लोकतन्त्र में दलीय प्रभाव के कारण कानून शीघ्र बदलते रहते हैं, परन्तु कुलीन तन्त्र पुरानी सामाजिक परम्पराओं को सुरक्षित रखा जाता है और इनमें परिवर्तन तभी किया जाता है जबकि अत्यन्त आवश्यक हो जाए। इस तरह अल्पतन्त्र का परम्पराओं के साथ अदृष्ट रिश्ता होता है।

20.4.3 स्वाभाविक शासन- यह शासन एक स्वाभाविक शासन है। इसका कारण यह है कि इसमें थोड़े से व्यक्तियों का शासन होता है। प्रकृति ने भी समाज के सभी लोगों को समान नहीं बनाया है। कुछ व्यक्तियों को अधिक बुद्धिमान बनाया है तो कुछ को साधारण बुद्धिमान। यह स्वाभाविक है कि अधिक बुद्धिमान व्यक्ति साधारण बुद्धिमान व्यक्तियों पर राज्य करेगा। लोकतन्त्र में तो बुद्धि की कोई कदर नहीं होती इसलिए यह कहा जाता है कि लोकतन्त्र में बुद्धि नहीं सिर गिने जाते हैं।

20.4.4 ऐतिहासिक दृष्टि से उचित- जब मताधिकार बहुत सीमित था, तब राजनीतिक सत्ता थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में होती थी। इस कारण सारी सरकारों अल्प तन्त्रीय होती थी। प्राचीन और मध्य काल में राजा कुछ सामन्तों की सहायता से शासन चलाया करते थे। उनकी सहायता के बिना शासन का संचालन, युद्ध में विजय तथा कानून व व्यवस्थाएं बनाए रखना कठिन हो जाता था। अकबर जैसे शक्तिशाली शासक ने भी मुगल और राजपूत सरदारों को अपने शासन का आधार बनाया।

20.4.5 स्थिरता तथा दक्षता- चूंकि अल्प तन्त्र में शासन कुछ योग्य और निस्वार्थ व्यक्तियों के हाथ में होता है। इसलिए शासन में स्थिरता व दक्षता उत्पन्न हो जाती है।

20.4.6 राजतन्त्र व प्रजा तन्त्र को दोषों को दूर करने वाली- अल्पतन्त्र के पक्ष में यह कहा जाता है कि ये राजतन्त्र व प्रजातन्त्र दोनों के दोषों को दूर कर एक सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था स्थापित कर सकता है। राजतन्त्र में शासन की अन्तिम शक्ति एक व्यक्ति में निहित होती है। जिसके कारण वह निरंकुश व तानाशाह बन कर जनता के साथ मनमानी कर सकता है। इसी तरह प्रजातन्त्र में शासन की शक्ति जनता में निहित होने के कारण चुनाव होते हैं और चुनाव में धन पानी की तरह बहाया जाता है और चुनाव धनवान व्यक्ति ही लड़ सकते हैं। इसके अलावा लोकतन्त्र में भ्रष्टाचार भी चरम सीमा पर होता है। अतः अल्पतन्त्र एक स्वच्छ व्यवस्था का सुत्रपात कर सकती है।

20.4.7 परम्परागत अनुभव सुरक्षित रहते हैं- अल्पतन्त्र का यह भी गुण बताया जाता है कि इसमें परम्परागत अनुभव सुरक्षित रहते हैं। विलियम पिट्ट का सन्दर्भ देते हुए इस विषय में सीले ने लिखा है कि "जो व्यक्ति राजकाज में निपुण व्यक्ति का पुत्र होता है, ऐसे घर में लालन-पालन प्राप्त करता है, उसके विषय में यह समझा जा सकता है कि वह सार्वजनिक संस्थाओं और राजकाज के विषय में इतना ज्ञान प्राप्त कर लेगा जो दूसरों को प्राप्त नहीं हो सकता है।"

20.5 अल्पतन्त्र के दोष

अल्पतंत्र के कतिपय दोष भी उजागर होते हैं, जो निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

20.5.1 सब कुलीनतन्त्र शीघ्र ही पतित होकर अल्पजनतन्त्र बन जाते हैं— इतिहास इस बात का साक्षी है कि कुलीनतन्त्र शीघ्र ही अल्पजनतन्त्र में बदल जाता है क्योंकि जिन थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में शासन होता है, वे अन्त में स्वार्थी बन जाते हैं और उनमें स्वार्थ—सिद्धि के लिए अल्पतन्त्र चलते रहते हैं। इस तरह से शासन में भ्रष्टाचार फैल जाता है।

20.5.2 कुलीनतन्त्र में साधारण जनता को शासन में भाग लेने से वंचित कर दिया जाता है— कुलीनतन्त्र में शासन में केवल थोड़े से व्यक्तियों को भाग लेने की स्वतंत्रता होती है, साधारण जनता का शासन के संचालन में कोई भाग नहीं होता है, इससे आम जनता में बहुत असन्तोष उत्पन्न होता है जो कालान्तर में सामूहिक रोष अथवा क्रान्ति के रूप में प्रकट होता है।

20.5.3 योग्य व्यक्तियों के चुनाव की समस्या— कुलीनतन्त्र में सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि योग्य व्यक्तियों का चयन किस तरह से किया जाये। कुल, धन और जन्म के आधार पर योग्य व्यक्तियों का चुनाव सम्भव नहीं। यह जरूरी नहीं कि अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ या धनवान व्यक्ति योग्य ही हो। प्रायः यह देखा गया है कि धनवानों और जमींदारों के पुत्र अयोग्य होते हैं।

20.5.4 इसमें साधारण जनता को राजनीतिक शिक्षा नहीं मिलती है— इसमें साधारण जनता को शासन से सम्बन्धित नहीं किया जाता है और न ही उन्हें चुनाव में मत देने का अधिकार होता है, इसलिए साधारण जनता को राजनीतिक शिक्षा नहीं मिलती है।

20.5.5 वंशानुगत नियम सबसे अधिक दोषपूर्ण है— कुलीनतन्त्र में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें राजशक्ति बड़े-बड़े सामन्तों के हाथ में आ जाती है। उनकी मृत्यु के पश्चात् वह शक्ति उनके पुत्रों के पास आ जाती है। मुगलों में बड़े-बड़े सरदारों की मृत्यु के पश्चात् प्रायः उनके पुत्रों का वही दर्जा दे दिया जाता था। प्रायः यह देखा जाता है कि योग्य बाप के अयोग्य पुत्र होते हैं, इसलिए पैतृक आधार पर नियुक्ति दोषपूर्ण है।

20.5.6 यह रुढ़िवादी है— कुलीनतन्त्र बहुत रुढ़िवादी होता है और समय के अनुसार नहीं बदलता है, इसलिए राष्ट्र की प्रगति रुक जाती है।

20.5.7 शासन वर्ग में संघर्ष— कुलीनतन्त्र में शासक वर्ग में खूब कलह और संघर्ष होते रहते हैं और उनमें एक-दूसरे के विरुद्ध अल्पतन्त्र चलते रहते हैं। इससे राजनीतिक व्यवस्था का वातावरण दूषित होता है।

20.5.8 धन का अपव्यय— इसमें शान और शौकत अथवा बाहरी दिखावे पर बहुत रूपया खर्च होता है। यह अत्यधिक खर्चीली व्यवस्था है।

20.5.9 राजनीतिक चेतना का विकास नहीं— कुलीनतन्त्र में राजनीतिक चेतना का विकास नहीं होता है क्योंकि साधारण जनता को प्रशासन में भाग लेने से वंचित रखा जाता है।

20.5.10 असमानता के कारण वर्ग-संघर्ष की भावना को बढ़ावा— कुलीनतन्त्र में शासन कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जाता है जो कि शक्ति के नशे में चूर होकर कालान्तर में भ्रष्टाचारी तथा अभिमानी बन जाते हैं। इस प्रकार के शासन में साधारण जनता को शासन में भाग लेने से वंचित कर दिया जाता है जिससे वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा मिलता है। गैटेल के शब्दों में, "सभी कुलीनतन्त्रों में संकुचित मनोवृत्ति एवं जनसाधारण से पृथक्ता की प्रवृत्ति आने लगती है, वे वर्गीय अहंकार और मिथ्यापन की भावना अपना लेते हैं और इतने प्रतिक्रियावादी बन जाते हैं कि प्रकृति को रोकने लगते हैं।"

20.6 सारांश

सभी कुलीनतन्त्र कालान्तर में भ्रष्ट होकर अल्पजनतन्त्र बन जाते हैं और उनमें व्यापक भ्रष्टाचार तथा शक्ति के दुरुपयोग करने जैसे गम्भीर दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसमें साधारण जनता को प्रशासन में भाग लेने से वंचित कर दिया जाता है। फलतः लोग कुलीनतन्त्र के विरुद्ध व्यापक संघर्ष करके इसका बड़ी कठिनाता से अन्त करते हैं और लोकतन्त्र की स्थापना करते हैं। इसलिए आधुनिक काल में भी कुलीनतन्त्र दृष्टिगोचर नहीं होता है और अनेक देशों में लोकतन्त्र ही दिखाई देता है।

20.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अल्पतंत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए, इसके गुण-दोष पर प्रकाश डालिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अल्पतंत्र के कोई तीन गुण बताओं। 2. अल्पतंत्र के कोई तीन दोष बताओं।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अल्पतंत्र का शाब्दिक अर्थ स्पष्ट कीजिए। 2. अल्पतंत्र क्या है?

20.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर. सी. अग्रवाल, "राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

इकाई-21 : लोकतन्त्र

संरचना

- 21.1 उद्देश्य
- 21.2 प्रस्तावना
- 21.3 लोकतन्त्र का विकास
- 21.4 लोकतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- 21.5 लोकतन्त्र के प्रकार
 - 21.5.1 प्रत्यक्ष लोकतन्त्र
 - 21.5.2 अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र
- 21.6 लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्त
 - 21.6.1 स्वतन्त्रता
 - 21.6.2 समानता
 - 21.6.3 विश्व बन्धुत्व
 - 21.6.4 सम्प्रभुता का वास जनता में
 - 21.6.5 मौलिक अधिकार
 - 21.6.6 स्वतन्त्र न्यायपालिका
 - 21.6.7 जनता साध्य व राज्य साधन
 - 21.6.8 लोककल्याणकारी राज्य
 - 21.6.9 संविधानवाद
- 21.7 लोकतन्त्र के गुण
 - 21.7.1 जनहितकारी
 - 21.7.2 व्यक्तित्व का विकास
 - 21.7.3 कुशल प्रशासन
 - 21.7.4 समानता पर आधारित
 - 21.7.5 स्वतन्त्रता को बल मिलता है
 - 21.7.6 सार्वजनिक शिक्षण
 - 21.7.7 मनोविज्ञान के अनुकूल
 - 21.7.8 देशभक्ति का स्रोत
 - 21.7.9 क्रांति से सुरक्षा
 - 21.7.10 विश्वशांति में आस्था
 - 21.7.11 नवीन अनुसंधानों को प्रोत्साहन
 - 21.7.12 प्रेम व सहयोग की भावना पर आधारित
 - 21.7.13 सुधार की दिशा में उपयुक्त

21.8 लोकतन्त्र के दोष

- 21.8.1 मूर्खों का शासन
- 21.8.2 दल प्रणाली का अहितकारी प्रभाव
- 21.8.3 संकुचित भावना को प्रोत्साहन
- 21.8.4 भ्रष्ट शासन व्यवस्था
- 21.8.5 धन व समय का अपव्यय
- 21.8.6 लोकतन्त्र पूंजीपतियों का शासन
- 21.8.7 बहुमत के नाम पर अन्याय
- 21.8.8 अनुत्तरदायी शासन
- 21.8.9 लोकतान्त्रिक समानता एक भ्रम
- 21.8.10 मतदाताओं की उदासीनता
- 21.8.11 राजनीति का व्यवसायीकरण
- 21.8.12 सर्वतोमुखी उन्नति असम्भव
- 21.8.13 युद्ध व संकट काल में कमजोर

21.9 सारांश

21.10 अभ्यास प्रश्नावली

21.11 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

21.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य लोकतान्त्रिक विचारधारा से आपको अवगत करवाना है। इसके अध्ययन से आप जान सकेंगे—

- लोकतन्त्र विश्वशांति एवं अन्तर्राष्ट्रीयवाद का पर्याय है,
- लोकतन्त्र की विकासयात्रा जो उत्तरोत्तर नवीन उपलब्धियां प्राप्त कर रही है,
- लोकतन्त्र के मूल आधार जिनसे आप जान सकेंगे कि शासन में आमजन की भी भागीदारी होती है,
- लोकतन्त्र के गुण जो एक ऐसा वातावरण बनाने में सार्थक हैं, जिनसे वैयक्तिक, समाज तथा राष्ट्र का उत्थान सम्भव हो सकता है,
- इस अध्याय में आपका परिचय उन चुनौतियों से भी होगा जो लोकतन्त्र को कमजोर करने में लगी हुई हैं,
- लोकतन्त्र के विभिन्न दोष भी बताये गए हैं, उनके सम्बन्ध में जानकारी हासिल करेंगे।

21.2 प्रस्तावना

आधुनिक विश्व की शासन व्यवस्थाओं में लोकतन्त्र का प्रचलन है। इस कारण विश्व का प्रत्येक राष्ट्र अपने-आपको लोकतान्त्रिक होने का दावा करता है। इसे एक प्रगतिशील, आत्मनिर्भर, आत्मगौरव बढ़ाने वाली विचारधारा के रूप में स्वीकार किया जाता है। इससे समाज में स्वतन्त्रता, मानवाधिकार, न्याय, समानता आदि को प्रोत्साहन मिलता है। वर्तमान में संयुक्तराज्य अमरीका, इंग्लैण्ड, भारत, श्रीलंका, इजरायल, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया में लोकतन्त्र का प्रचलन है।

21.3 लोकतन्त्र का विकास— लोकतान्त्रिक विचारों का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना राजनीतिक विचारों का इतिहास है। प्राचीन यूनानी विचारकों में हेरोडोटस ने लोकतन्त्र को बहुमत का ऐसा शासन माना था, जिसमें नागरिकों के अधिकारों की समानता हो तथा जिसमें राजनीतिक सत्ताधारी अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायी हों। प्लेटो और अरस्तू के समय यूनान में अनेक राजनीतिक व्यवस्थाएं प्रचलित थी, जिनमें लोकतन्त्र भी प्रमुख थी। प्लेटो ने लोकतन्त्र का घोर विरोध किया, वही अरस्तू ने सीमित लोकतन्त्र का समर्थन किया। यूनान में पुरुष प्रधान लोकतन्त्र था क्योंकि नागरिक के रूप में महिलाओं, बच्चों और दासों को कोई मान्यता नहीं थी। प्राचीन यूनान के अलावा रोम में जुलियस सीजर के उदय तक एक गणतन्त्र था परन्तु उसके बाद राजतन्त्र की स्थापना हुई। आधुनिक युग की शुरुआत पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आन्दोलन से होती है। राजनीतिक तथा सामाजिक चिन्तन का आधार व्यक्ति को बनाया गया और इसके साथ नैतिक मूल्यों, प्राकृतिक अधिकारों, स्वतन्त्रता के विचारों तथा अन्य लोकतान्त्रिक विचारों को बल मिला। इसी दौरान ऐसे अनेक राजनीतिक चिन्तक हुए, जिन्होंने अपने-अपने ढंग से व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं लोकतान्त्रिक मूल्यों का समर्थन किया जिनमें जॉन लॉक, रुसो, बेन्थम, जे.एस. मिल आदि प्रमुख हैं। इन विचारों के विचार अमरीकी (1776) तथा फ्रांसीसी (1789) की क्रान्ति के रूप में व्यावहारिक रूप से लागू हुए। इनसे न केवल

लोकतन्त्र को बल मिला अपितु लोकतन्त्र को विधिवत् शुरुआत और ढांचागत आधार मिला।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक लोकतन्त्र का सम्बन्ध केवल विकसित देशों से था लेकिन इसके पश्चात अनेक विकासशील व पिछड़े देशों ने लोकतन्त्र को अपनाया। जिनमें भारत का नाम प्रमुख है और आज भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश भी है।

वर्तमान समय में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था संक्रमण के दौर से गुजर रही है। एक तरफ जहां लोकतांत्रिक सरकारें सैनिक तानाशाही का शिकार बन रही हैं, दूसरी तरफ अमरीका जैसे लोकतंत्र का रक्षक होने का दावा करने वाले राष्ट्र, युद्ध या आक्रमण के माध्यम से दूसरे राष्ट्र जैसे इराक व अफगानिस्तान में लोकतंत्र की स्थापना का प्रयास कर रहे हैं। लेकिन वह यह भूल जाता है कि पाकिस्तान में परवेज मुशर्रफ तानाशाही का प्रतीक है, जिसे वह हर स्तर पर सहयोग प्रदान कर रहा है। अतः लोकतंत्र को सबल बनाने के लिए दोहरे मापदण्ड त्यागने होंगे। भारतीय उपमहाद्वीप में भी पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश, भुटान तथा बर्मा लोकतंत्र की स्थापना के लिए दम भर रहे हैं। यद्यपि इनमें से कुछ राष्ट्रों में लोकतंत्र स्थापित हुआ लेकिन वह समय-समय पर तानाशाह का शिकार बनता गया।

21.4 लोकतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा- लोकतन्त्र अंग्रेजी भाषा के 'डेमोक्रेसी' का हिन्दी रूपान्तरण है। डेमोक्रेसी ग्रीक भाषा के दो शब्दों डेमोस और क्रेसिया से मिलकर बना है। डेमोस का अर्थ लोक है। वहीं क्रेसिया का अर्थ शक्ति या सत्ता से है। इस प्रकार डेमोक्रेसी का अर्थ लोगों का शासन जिसमें शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित है।

विभिन्न विचारकों ने लोकतन्त्र की निम्नलिखित परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं-

1. हीरोडोटस के अनुसार लोकतन्त्र एक ऐसा शासन है, जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता सम्पूर्ण जाति को प्राप्त हों।
2. अब्राहम लिंकन के मतानुसार, "लोकतन्त्र जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा शासन है।"
3. ब्राड्स का कथन है कि, "प्रजातन्त्र शासन का वह रूप है, जिसमें राज्य के अधिकार किसी विशेष श्रेणी के लोगों के लोगों में नहीं, बल्कि समुचित समाज के लोगों को प्रदान किए जाते हैं।"
4. सीले, "लोकतन्त्र वह शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का भाग है।"
5. डायसी का कहना है कि, "प्रजातन्त्र वह शासन व्यवस्था है, जिसमें राष्ट्र का अधिकतर भाग शासक हों।"
6. ए.बी. हाल के मत में, "प्रजातन्त्र ऐसा राजनीतिक संगठन है, जिस पर प्रजा का नियन्त्रण हों।"
7. गिर्डिंग्स का कहना है कि, "प्रजातन्त्र केवल सरकार का ही रूप नहीं, बल्कि राज्य और समाज का रूप अथवा तीनों का मिश्रण भी है।"
8. मैक्सी का विचार है कि, "बीसवीं सदी में प्रजातन्त्र से तात्पर्य एक राजनीतिक नियम शासन की विधि व समाज के ढांचे से नहीं, बल्कि यह जीवन के उस मार्ग की खोज है, जिसमें मनुष्यों की स्वतन्त्र और ऐच्छिक बुद्धि के आधार पर इनमें एकरूपता और एकीकरण लाया जा सके।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि लोकतन्त्र एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें जन साधारण में शासन की शक्ति निहित होती है, और वह अपने प्रतिनिधि यों के माध्यम से इसका प्रयोग करती है।

21.5 लोकतन्त्र के प्रकार

लोकतन्त्र के दो रूप प्रचलित हैं, जो इस प्रकार हैं:-

21.5.1 प्रत्यक्ष लोकतन्त्र- प्रत्यक्ष लोकतन्त्र, जिसे शुद्ध प्रजातन्त्र भी कहा जाता है। इससे तात्पर्य यह है कि जनता स्वयं अपने कानूनों का निर्माण एक स्थान पर एकत्रित होकर करती है जिसमें प्रतिनिधित्व को कोई स्थान नहीं होता। हर्नशा के अनुसार, "शुद्ध रूप में लोकतन्त्र शासन; वह शासन है जिसमें सम्पूर्ण जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से बिना कार्यवाहकों या प्रतिनिधियों के प्रभुसत्ता का कार्य करती है।" प्राचीन यूनान में लोकतन्त्र का यही रूप प्रचलित था लेकिन आज विशालकाय राष्ट्रीय राज्यों के उदय के कारण ये सम्भव नहीं रहा, परन्तु आज भी स्विटजरलैण्ड के चार कैंटनों (अपनजेल, उरी, उन्टरवाल्डन तथा ग्लारस) में हैं। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के चार तरीके पाये जाते हैं। प्रस्तावधिकार, जनमत संग्रह, लोकमत तथा प्रत्यावर्तन।

21.5.2 अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र- अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र उसे कहा जाता है, जहाँ पर जनता अपनी इच्छानुसार प्रतिनिधियों का चुनाव करती है जो जनहितों को ध्यान में रखकर कानूनों का निर्माण करते हैं। जे.एस. मिल के अनुसार "प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र वह होता है, जिसमें सम्पूर्ण जनता अथवा उसका एक बहुसंख्यक भाग शासन की शक्ति का उपयोग अपने उन प्रतिनिधियों द्वारा करता है जिन्हें वह समय-समय पर चुनता है।" आज संसार के सभी लोकतांत्रिक देशों में यह रूप प्रचलित है और एक निश्चित कालावधि में चुनाव होते हैं जैसे भारत में 5 वर्ष, यू.एस.ए. में 4 वर्ष, ब्रिटेन में 5 वर्ष आदि।

21.6 लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्त

लोकतन्त्र भी सिद्धान्तों की बुनियाद पर टिका हुआ है। इसके मूल सिद्धान्तों को निम्नलिखित शीर्षकों से प्रस्तुत कर सकते हैं—



21.6.1 स्वतन्त्रता— स्वतन्त्रता लोकतन्त्र का मूल आधार है। स्वतन्त्रता के बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता है। इसलिए जितनी स्वतन्त्रता लोकतन्त्र में मिलती है उतनी किसी अन्य व्यवस्था में नहीं। क्योंकि लोकतन्त्र में आलोचना को न केवल सहन किया जाता है, अपितु स्वागत किया जाता है। सरकार यदि जन-हित की अनदेखी करती है, तो जनता को इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि उसका विरोध करे और समय आने पर सत्ता परिवर्तन भी कर दे। इसके अलावा लोकतान्त्रिक व्यवस्था के सफल संचालन के लिए स्वतन्त्रता का होना आवश्यक है ताकि बिना किसी प्रतिबन्ध के जनता राजनीतिक क्रियाकलापों में भाग ले सके। न्यायपालिका को भी स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त होती है, जो अपनी शक्ति का सदुपयोग करते हुए नागरिक अधिकारों एवं संविधान के विरुद्ध बनाये जाने वाले कानूनों को अवैध घोषित कर सकती है। अतः लोकतन्त्र व स्वतन्त्रता का अटूट रिश्ता होता है।

21.6.2 समानता— समानता के बिना स्वतन्त्रता का कोई औचित्य नहीं होता है। इस महत्व को लोकतन्त्र में सम्मानजनक स्थान दिया गया है। समानता से अभिप्राय है:— सभी लोगों को विकास के समान अवसर उपलब्ध करवाना और किसी प्रकार के जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, रंग, नस्ल, लिंग, वर्ग आदि के भेदभावों को निषेध करा देने से है।

लोकतन्त्र में सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समानता पर समान बल दिया जाता है ताकि समाज सर्वांगीण विकास की दिशा में अग्रसर हो सके। अधिकांश लोकतान्त्रिक देशों के संविधानों में समानता की स्थापना हेतु अनेक ठोस कदमों का उल्लेख किया गया है।

21.6.3 विश्वबन्धुत्व— लोकतन्त्र की सफलता काफी हद तक विश्व बन्धुत्व एवं विश्व शांति पर निर्भर करती है। इसलिए लोकतान्त्रिक देशों के नेताओं द्वारा विश्व शांति की स्थापना हेतु हर सम्भव कोशिश की जाती है। 24 अक्टूबर 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई, शस्त्रों की बढ़ती होड़ पर अंकुश लगाने के लिए निशस्त्रीकरण का अभियान चलाया गया, रंगभेद को समाप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास किये गये। मानवाधिकारों को विश्व व्यापी बनाने के लिए सार्वभौम घोषणा की गई आदि। इन सभी की पहल लोकतंत्र में ही सम्भव है।

21.6.4 सम्प्रभुता का अधिवास जनता में— लोकतन्त्र में सम्प्रभुता की अन्तिम शक्ति जनता में निहित रहती है और सरकार अपनी सारी शक्तियां इससे ग्रहण करती है। इसलिए जनता निश्चित समयावधि के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। ये जन प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होकर नीति का निर्धारण करते हैं। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो उसका परिणाम भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए। भारत व ब्रिटेन में प्रति 5 वर्ष और अमरीका में प्रति 4 वर्ष आम चुनाव होते हैं।

21.6.5 मौलिक अधिकार— लोकतन्त्र में जनता को मौलिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं। क्योंकि इनके बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए विश्व के संविधानों द्वारा अपने नागरिकों को मौलिक अधिकारों से सुशोभित किया जाता है। जैसे भारतीय संविधान के भाग 3 के अनुच्छेद 12-35 के मध्य उल्लिखित किये गये हैं।

21.6.6 स्वतन्त्र न्यायपालिका— लोकतन्त्र में मौलिक अधिकार व संविधान की रक्षा का भार न्यायपालिका को सौंपा जाता है। भारत सहित विश्व के अधिकांश लोकतान्त्रिक देशों के द्वारा स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था की गयी है। लोकतंत्र में न्यायपालिका की स्वतंत्रता एवं निष्पक्षता पर इतना ध्यान रखा जाता है कि वह सरकार के अन्य अंग अर्थात् व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के अनुचित नियन्त्रण से मुक्त रहे।

21.6.7 व्यक्ति साध्य, व राज्य साधन— लोकतन्त्र में व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन माना जाता है अर्थात् राज्य व्यक्ति के लिए बना है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। अतः राज्य का यह दायित्व बनता है कि वह व्यक्ति के कल्याण के लिए हर सम्भव प्रयत्न करें। इसका ध्येय ही तत्परता के साथ जनता के कष्टों का निवारण करना है और यदि ऐसा करने में असफल होता है तो जनता को अधिकार है कि वह उसकी आलोचना करें।

21.6.8 लोक कल्याणकारी राज्य— लोकतन्त्र में राज्य का स्वरूप लोक कल्याणकारी होता है। इसमें किसी विशेष वर्ग नहीं बल्कि समूची जनता के हित की तरफ विशेष ध्यान दिया जाता है अर्थात् लोककल्याणकारी राज्य मानव के जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पन्न होने वाली तमाम जनउपयोगी क्रियाओं का संचालन करता है।

21.6.9 संविधान वाद— संविधान वाद से तात्पर्य केवल संविधान होना ही नहीं अपितु संविधान के अनुसार शासन व्यवस्था का संचालन होने से है इसमें सीमित सरकार उत्तरदायी शासन, नागरिक स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका आदि पर बल दिया जाता है। हैरिंगटन के अनुसार लोकतन्त्र की मान्यता है— "विधि का शासन, विधि की सर्वोच्चता व्यक्ति का शासन नहीं और इसमें संविधान के लक्ष्य प्राप्ति के लिए लिखित संविधान।"

21.7 लोकतन्त्र के गुण

यदि लोकतन्त्र की अन्य सभी सरकारों से तुलना की जाए तो स्वतः ज्ञात होता कि यह प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। इसके बुनियादी आधार ऐसे हैं, जो इसको अलग पहचान एवं स्थान प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में डी. टॉकविले ने कहा है कि, "लोकतन्त्र प्रगति अनिवार्य प्रतीत होती है, क्योंकि वह इतिहास में मिलने वाली सबसे एकरूप, प्राचीन एवं स्थायी प्रवृत्ति है।" वस्तुतः लोकतन्त्र को निम्नलिखित कारणों से सर्वश्रेष्ठ माना जाता है:-

21.7.1 जनहितकारी— लोकतन्त्र में शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है। इस कारण जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर संसद और विधान मण्डलों में भेजती है जो जनहित को आधार मानकर, नीति का निर्धारण करते हैं। वे इस बात से भली-भाँति परिचित होते हैं कि वे जनहित की अनदेखी नहीं कर सकते। क्योंकि उन्हें निश्चित कालावधि के पश्चात् पुनः जनता के दरबार में हाजिर होना पड़ता है। इस कारण वे हमेशा जन हित के प्रति सजग रहकर दायित्वों का निर्वाह करते हैं।

21.7.2 व्यक्तित्व का विकास— लोकतन्त्र में उस कार्य को महत्व दिया जाता है, जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास हो सके। नागरिकों को प्रशासनिक क्रियाओं, राजनीतिक गतिविधियों, शासन की आलोचनाओं आदि में भाग लेने का मौका मिलता है। इसके अतिरिक्त राज्य की जनता को विकास के समान अवसर भी मिलते हैं। पिनाक व रिमथ ने आत्म विकास को प्रजातन्त्र का स्तम्भ बताया है।

21.7.3 कुशल प्रशासन— लोकतन्त्र के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि ये अन्य शासन व्यवस्थाओं की तुलना में उच्च कोटि का प्रशासन उपलब्ध करवाता है जो काफी हद तक सत्य है, क्योंकि इसमें जनहित को मद्देनजर रखते हुए प्रशासनिक कार्यों को अतिशीघ्र पारदर्शिता के साथ पूरा किया जाता है और प्रशासन पर जन प्रतिनिधियों का समुचित नियन्त्रण होता है, जो उसे सही दिशा की ओर जाने के लिए प्रेरित करते हैं। गार्नर के शब्दों में, "लोकप्रिय निर्वाचन, दूसरी किसी भी शासन व्यवस्था की अपेक्षा यह शासन अधिक कार्यकुशल होता है।"

21.7.4 समानता पर आधारित— प्रायः यह ऐसा प्रतीत होता है कि लोकतन्त्र के अलावा अन्य शासन व्यवस्थाओं में किसी वर्ग या व्यक्ति या समूह को अधिक महत्व दिया जाता है और राज्य के अधिकांश लोगों की उपेक्षा की जाती है। लेकिन लोकतन्त्र में सम्पूर्ण व्यवस्था समानता पर केन्द्रित होती है। सभी प्रकार के जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र,

रंग, वर्ण, जन्म स्थान, लिंग आदि भेद निषेध होते हैं। समानता की सिद्धि के लिए लोकतान्त्रिक राज्यों द्वारा ठोस प्रयास किये जाते हैं। गैटल ने इस सम्बन्ध में कहा है, "क्योंकि लोकतन्त्र समानता के सामान्य सिद्धान्त पर आधारित है, अतः इसमें न्याय की वृद्धि सम्भव है जो कि राज्य के अस्तित्व के प्रधान लक्ष्यों में से एक है।"

21.7.5 स्वतन्त्रता को बल मिलता है— स्वतन्त्रता भी लोकतन्त्र का आधार स्तम्भ है। यह बात सर्वमान्य है कि इसमें जनता को जितनी स्वतन्त्रता मिलती है, उतनी अन्य किसी रूप में नहीं मिलती है। नागरिक खुलकर शासन की आलोचना कर सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर मत की शक्ति के माध्यम से शासकों को पदच्युत भी कर सकते हैं। नागरिक को विचार, अभिव्यक्ति, भाषण, शिक्षा, संस्कृति, धार्मिक, आर्थिक व राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होती हैं, जिनका प्रयोग वे निर्भीक होकर कर सकते हैं। इसमें केवल स्वतन्त्रताएं ही प्रदान नहीं की जाती, अपितु उनके संरक्षण की समुचित व्यवस्था भी की जाती है ताकि शक्तिशाली व्यक्ति दूसरों व्यक्तियों के साथ खिलवाड़ न कर सके। यदि कोई व्यक्ति, संस्था या सरकार ऐसा करती है तो व्यक्ति न्यायालय की शरण ले सकता है। लिंडसे ने कहा है कि, "लोकतन्त्र में कानून नागरिकों की स्वतन्त्रता के लिए सदैव तत्पर रहते हैं।"

21.7.6 सार्वजनिक शिक्षण— लोकतन्त्र शासन का ही एक प्रकार नहीं है, अपितु वह राज्य, समाज और आर्थिक व्यवस्था का एक प्रकार भी है। अतः स्वभावतः इसके प्रयोग द्वारा जनता को प्रशासनिक, राजनीतिक व सामाजिक सभी प्रकार की शिक्षा प्राप्त होती है। राजतन्त्र व कुलीन तन्त्र में जनता सार्वजनिक कर्तव्यों के प्रति उदासीन रह सकती है लेकिन लोकतन्त्र में मताधिकार और जन-नियन्त्रण के कारण जनता स्वाभाविक रूप से सार्वजनिक मामलों में रुचि लेती है। लोकतन्त्र के इसी गुण को दृष्टि में रखते हुए सी.डी. बर्न्स ने कहा है, "सभी शासन शिक्षा के साधन होते हैं किन्तु सबसे अच्छी शिक्षा स्व शिक्षा है, इसलिए सबसे अच्छा शासन स्वशासन है, जिसे लोकतन्त्र कहते हैं।" गैटल ने लोकतन्त्र को "नागरिकता की शिक्षा देने वाला स्कूल कहा है।"

21.7.7 मनोविज्ञान के अनुकूल— लोकतन्त्र मानव-मनोविज्ञान के अनुकूल है। ऐसा कोई भी शासन नहीं है जिसमें सम्पूर्ण समाज की भागीदारी हो। केवल लोकतन्त्र ही है, जिसमें शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होने के कारण वह शासन पर समुचित नियन्त्रण रखती है। अतः उन्हें मानसिक सन्तुष्टि मिलती है कि हम ही सरकार बनाने वाले और गिराने वाले हैं और शासक भी उनके हितों की अनदेखी नहीं कर सकते। आशीर्वादम लिखते हैं कि, "लोकतन्त्र से सरकार और जनता के बीच एक सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। क्योंकि चुपचाप स्वीकृति देने वाले की बजाए एक सक्रिय सहयोगी बन जाता है।" हाकिंग ने लिखा है कि "लोकतन्त्र चेतन और उपचेतन मन की एकता है।"

21.7.8 देश भक्ति का स्रोत— लोकतन्त्र में शासन के साथ जुड़ाव होने के कारण सरकार व देश, दोनों से एक विशेष लगाव होता है। इससे देशभक्ति की भावना में वृद्धि होती है और व्यक्ति देश के लिए अपना सर्वत्र बलिदान करने को तैयार रहता है। मिल कहते हैं कि, "लोकतन्त्र लोगों की देशभक्ति को बढ़ाता है क्योंकि नागरिक यह अनुभव करते हैं कि सरकार उन्हीं की उत्पत्ति की हुई वस्तु है और अधिकारी स्वामी न होकर सेवक हैं।"

21.7.9 क्रांति से सुरक्षा— लोकतन्त्र के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि इसमें क्रांति की कम से कम सम्भावनाएं रहती हैं क्योंकि इसमें जनमत को ध्यान में रखकर नीति का निर्धारण किया जाता है। सरकार द्वारा किसी वर्ग विशेष की उन्नति के लिए नहीं, अपितु सम्पूर्ण समाज की उन्नति के प्रयास एवं अवसर उपलब्ध करवाए जाते हैं। यदि सरकार जनमत की उपेक्षा करती है और जनहित को नजर अंदाज किया जाता है तो जनता बिना किसी क्रांति के मताधिकार की शक्ति द्वारा सरकार को हटा सकती है। लोकतन्त्र में प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। जिन्हें निश्चित समय के पश्चात् जनता के सम्मुख जाना पड़ता है और अपनी गलत नीति का परिणाम भुगतने के लिए तैयार रहना होता है। इस तरह लोकतन्त्र में बिना किसी रक्तपात, हिंसा या क्रांति के सरकार में परिवर्तन किया जा सकता है। गिलक्राइस्ट के अनुसार "लोकप्रिय शासन सार्वजनिक सहमति का शासन है, अतः स्वभाव से ही वह क्रांतिकारी नहीं हो सकता।"

21.7.10 विश्वशांति में आस्था— यह सिद्ध हो चुका है कि विश्वशांति एवं अन्तर्राष्ट्रीयवाद की अवधारणा केवल लोकतन्त्र में ही फल-फूल सकती है। इतिहास साक्षी है कि विश्व में होने वाले अधिकांश युद्ध या संघर्ष तानाशाही या राजतन्त्र पर आधारित सरकारों के द्वारा थोपे गये थे। प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध इसके उदाहरण हैं। इसके अलावा वर्तमान में भी विश्वशांति को अंग करने वाली ताकतें सैनिक या अधिनायकवादी ही हैं, जो अपने निहित स्वार्थ सिद्धि के लिए विश्वशांति को खतरे में डाल रहे हैं। लोकतन्त्र तो शांति, विश्वबन्धुत्व, सह-अस्तित्व का पाठ पढ़ाता है। इसीलिए लोकतान्त्रिक व्यवस्था वाले देश विश्वशांति एवं मानवता के अग्र दूत के रूप में उभर कर सामने आये हैं। संयुक्त राष्ट्र संग्र जैसी विश्व-संस्था लोकतान्त्रिक मूल्यों पर आधारित होकर इस दिशा में सार्थक कदम उठा रही है व और तो और विश्व के अधिकांश राष्ट्र चाहें तो लोकतान्त्रिक हैं या नहीं वे अपने आपकी लोकतान्त्रिक होने का दावा भी करते हैं। आज विश्व शांति की सख्त जरूरत है और इसके साथ लोकतन्त्र को जोड़कर देखा जा रहा है। इस तरह लोकतन्त्र विश्वशांति का पर्यायवाची बन चुका है।

21.7.11 नवीन अनुसंधानों को प्रोत्साहन— अधिनायक तंत्र, राजतंत्र एवं कुलीन तंत्र में नागरिकों को स्वतन्त्र वातावरण नहीं मिल पाता है। इस कारण अनेक प्रतिभाएं पलायन कर जाती हैं या फिर घुटन भरी जिन्दगी के कारण कुछ करने से पूर्व ही दम तोड़ देती हैं। जबकि लोकतंत्र के वातावरण में स्वतन्त्रता की महक सर्वत्र रहती है प्रत्येक नागरिक को अपनी प्रतिभा प्रदर्शन करने का समान अवसर मिलता है और सरकार के द्वारा भी प्रोत्साहन एवं हर सम्भव सहायता प्रदान की जाती है। मेयो ने कहा है कि, "एक स्वतन्त्र समाज में वैज्ञानिक निकाय की बहुत सम्भावनाएँ हैं।"

21.7.12 प्रेम और सहयोग की भावना पर आधारित— लोकतंत्र एक ऐसा शासन है जो नागरिकों के व्यवहार पर बहुत अधिक जोर देता है और उनके व्यवहार पर प्रभाव भी डालता है। शक्ति पर आधारित तानाशाही शासन लोगों में भय व शक्ति संघर्ष की भावना का विकास करती है, जबकि लोकतंत्र में आपसी सहयोग व प्रेम की भावना

को प्रोत्साहन देता है, जो नागरिकों में नैतिक व मानवीय मूल्यों, त्याग व सहयोग को बल देती हैं।

21.7.13 सुधार की दिशा में उपयुक्त— लोकतंत्र में शासन की बागडोर ऐसे लोगों के हाथ में होती है जो समाज पर अच्छी पकड़ रखते हैं और अधिकांश जनता उनकी बात को स्वीकार करती है। अतः शासक जनता के पूर्ण सहयोग से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में सुधार आसानी से कर सकते हैं। उदाहरण के लिए भारत में पं. नेहरू ने जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया, समाज सुधार हेतु हिन्दू कोड बिल पारित करवाया, सदियों से चली आ रही छुआ-छूत को दूर किया, देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलय करवा कर राष्ट्रीय एकीकरण एवं लोकतन्त्रीकरण किया गया।

21.8 लोकतंत्र के दोष

उपर्युक्त विवेचना से ऐसा आभास होता है कि लोकतंत्र सर्वमान्य एवं सर्वश्रेष्ठ शासन का प्रकार है। लेकिन यह मिथ्या है। यदि ऐसा होता तो राजनीति विज्ञान के पिता व पितामह अरस्तू और प्लेटो लोकतंत्र की आलोचना नहीं करते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि आधुनिक समय लोकतंत्र का है, परन्तु फिर भी इसे दोषों से मुक्त करार नहीं दिया जा सकता। इस के प्रमुख दोष निम्नलिखित रूप से उजागर होते हैं:-

21.8.1 मूर्खों का शासन— लोकतन्त्रीय शासन इस सिद्धान्त पर आधारित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक मत देने का अधिकार होना चाहिए लेकिन योग्यता की दृष्टि से सभी व्यक्ति समान नहीं होते इसीलिए लोकतंत्र के बारे में यह कहा जाता है कि लोकतंत्र में सिर गिने जाते हैं बुद्धि नहीं। कार्लायल ने कहा है कि, "विश्व में एक योग्य व्यक्ति के साथ लगभग 9 मूर्ख होते हैं और सभी को समान राजनीतिक शक्ति देने के परिणाम स्वरूप मूर्खों की सरकार की स्थापना होती है।" जैकी ने "लोकतंत्र को निर्धनतम, अनभिज्ञतम और अयोग्यतम लोगों की सरकार कहा है।" प्लेटो का भी कहना है कि, "जब हमारे जुते फट जाते हैं तो मीची के पास जाते हैं, कपड़े बनाने के लिए दर्जी के पास जाते हैं। अर्थात् छोटे से छोटे कार्य के लिए हम निश्चित योग्यता निर्धारित करते हैं लेकिन शासकों के लिए लोकतंत्र में कोई योग्यता नहीं होती है।

21.8.2 दल प्रणाली का अहितकारी प्रभाव— जनसंख्या विस्तार एवं राज्यों के विशाल भू-भाग के कारण प्रत्यक्ष लोकतंत्र सम्भव नहीं है। इसलिए अप्रत्यक्ष (प्रतिनिधि) लोकतंत्र का सहारा लिया गया है। इस कारण दलीय प्रणाली आवश्यक हो गई है। सिद्धान्ततः दलीय प्रणाली अच्छी होती है लेकिन व्यवहार में इससे जनता योग्य तथा अयोग्य और अच्छे व बुरे दल एवं प्रतिनिधियों की पहचान नहीं कर पाती है। प्रतिनिधियों का झुकाव जनता के प्रति होना है। इसलिए लोकतंत्र को दलतंत्र कहा जाता है।

21.8.3 संकुचित भावना को प्रोत्साहन— आलोचकों का मत है कि लोकतंत्र में राजनीतिक दल एवं राजनेता अपनी स्वार्थ सिद्धि अर्थात् सत्ता सुख की प्राप्ति के लिए जातिवाद, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषावाद जैसी संकुचित भावना को भड़काते हैं। भारत में इनका प्रभाव अधिक है। यहाँ प्रत्येक राजनीतिक दल इनसे ऊपर उठने की बात करता है, लेकिन व्यवहार में स्वयं इनको प्रोत्साहन दे रहा है। इनके कारण लोकतांत्रिक व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लग गया है। सम्पूर्ण समाज की भागीदारी के स्थान पर कुछ विशेष वर्गों की भागीदारी रह गयी।

21.8.4 भ्रष्ट शासन व्यवस्था— लोकतंत्र में भ्रष्टाचार को फूलने-फूलने का मौका मिलता है। व्यवहार में, शासन एक राजनीतिक दल की इच्छानुसार संचालित होता है, इसलिए वह भ्रष्ट हो जाता है। जनप्रतिनिधि खुलकर सार्वजनिक धन का उपयोग अपने और अपने चहेतों को लाभ पहुंचाने के लिए करते हैं। वे लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए भ्रष्ट साधनों को अपनाते हैं। ब्राड्स ने "राजनीति में धन बल" शीर्षक अध्याय में कहा है कि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें निर्वाचकों, विधायकों, प्रशासकीय अधिकारियों और न्यायाधिकारियों तक ने धन के लोभ के सम्मुख सिर झुका दिया। इस प्रकार लोकतंत्र की राजनीतिक गतिविधियाँ भ्रष्टाचार के रंग में रंग चुकी हैं। प्रत्येक व्यक्ति लोकतांत्रिक संस्थाओं में पहुँचकर अधिक से अधिक धन कमाने की महत्वाकांक्षा संजोये हुए हैं। इस तरह लोकतंत्र का व्यावसायीकरण हो गया है। चुनाव के समय उम्मीदवार इस आशा के साथ धन पानी की तरह बहाते हैं कि चुनाव जीतने पर इससे कई गुणा ज्यादा धन भ्रष्ट साधन अपनाकर प्राप्त कर सकते हैं।

21.8.5 धन व समय का अपव्यय— लोकतंत्र में धन व समय का अत्यधिक अपव्यय होता है। जिन कानूनों का निर्माण कुछ समय में ही कर लिया जाना चाहिए, लेकिन जटिल प्रक्रिया के कारण अनावश्यक देरी होती है। इसमें समय के साथ-साथ धन का भी अपव्यय होता है और इससे अनेक बार कानून भी अपनी उपयोगिता खो देता है। इसके अतिरिक्त लोकतंत्र में आये दिन संसद, विधानमण्डलों और स्थानीय निकायों के चुनाव होते हैं, जिनमें उम्मीदवारों के द्वारा धन खर्च किया जाता है। अपितु चुनाव सम्पन्न करने के लिए भी करोड़ों रुपये खर्च करने पड़ते हैं और तमाम प्रशासनिक तंत्र को चुनाव कार्यों में लगा दिया जाता है। इससे राष्ट्रीय विकास कार्य प्रभावित होते हैं।

21.8.6 लोकतंत्र पूंजीपतियों का शासन— चुनाव लड़ने के लिए लाखों रुपये और अनेक संसाधन चाहिए। इसलिए एक आम नागरिक के लिए चुनाव लड़ना तो दूर की बात, बल्कि चुनाव लड़ने के बारे में सोच ही नहीं सकता है। चुनाव धनिक या पूंजीपति ही लड़ सकते हैं या चुनाव के समय विभिन्न दलों और उम्मीदवारों को चन्दा देकर चुनाव एवं उसके बाद नीतिनिर्माण में प्रभाव डालते हैं। पूंजीपति अपने समर्थक दल को प्रचार कर उसके पक्ष में वातावरण बनाने की कोशिश करते हैं। चुनावों में मतों को खरीदा जाता है। इस प्रकार लोकतंत्र जनता का शासन न होकर धनवानों या पूंजीपतियों का शासन होता है।

21.8.7 बहुमत के नाम पर अन्याय— लोकतंत्र में बहुमत के सिद्धान्त पर बल दिया जाता है। लेकिन अनेक बार बहुमत के नाम पर अन्याय व अत्याचार को इस कदर बढ़ाया जाता है कि आम जनता का लोकतांत्रिक व्यवस्था से विश्वास उठ जात है। सत्तारूढ़ दल बहुमत की आड़ में अनुचित कार्य करने से भी नहीं हिचकता है।

21.8.8 अनुत्तरदायी शासन— सिद्धान्ततया लोकतंत्र में जितनी उत्तरदायित्व की भावना पायी जाती है उतनी किसी अन्य व्यवस्था में नहीं पायी जाती, लेकिन व्यवहार

में ऐसा नहीं है। जन प्रतिनिधि चुनाव जितने के पश्चात् जनता का ध्यान रखना भूल जाते हैं और अपनी निहित स्वार्थ-सिद्धि में लग जाते हैं। वे मली भांति जानते हैं कि आगामी चुनाव तो वे धर्म या जाति का कोई खेल-खेलकर जीत जाएंगे। बर्क के अनुसार "प्रजातन्त्र में कोई गलती की जाए तो उस गलती में प्रत्येक भाग इतना छोटा होता है कि मैं किसी को भी उत्तरदायी नहीं ठहरा सकता।" हर्नशा का मत है कि, "सार्वजनिक मामलों में मनुष्य में ऐसी उदासीनता असावधानी तथा मूर्खता का प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति होती है, जिसका प्रदर्शन वे व्यक्तिगत मामलों में कभी नहीं करते हैं।"

21.8.9 लोकतान्त्रिक समानता – एक भ्रम— लोकतंत्र को समानता पर आधारित शासन व्यवस्था कहा जाता है, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है। लोकतंत्र में राजनीतिक शक्ति चुनाव द्वारा प्राप्त होती है और चुनाव कार्य इतना खर्चीला होता है कि साधारण नागरिक चुनाव लड़ने एवं विजय प्राप्त करने की कल्पना तक नहीं कर सकता। इसके अलावा संसद और विधानमण्डल धनिक वर्ग से प्रभावित होकर उनकी इच्छानुसार नीति का निर्माण करते हैं और तो और लोकतन्त्र केवल राजनीतिक समानता पर बल दिया गया है आर्थिक समानता पर नहीं। लेकिन आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक समानता एक मिथ्या एवं दिखावा है। बर्क का मत है कि, "प्रजातान्त्रिक समानता एक भ्रमपूर्ण प्रपंच मात्र है।" अनुपस्थित मतदाता लोकतन्त्र के लिए बड़ी चुनौती है।

21.8.10 मतदाताओं की उदासीनता— लोकतंत्र की सफलता मतदाताओं की सक्रियता पर निर्भर करती है। लेकिन मतदाताओं की उदासीनता सर्वत्र देखने में आती है। मतदाताओं को मतदान के लिए बार-बार प्रेरित करने के बाद भी वे मत देने नहीं पहुँचते और औसतन 50 प्रतिशत ही मतदान होता है। ऐसी स्थिति में लोकतंत्र में जनता की इच्छानुसार प्रतिनिधित्व नहीं होता है। आशीर्वादम लिखते हैं कि, "मतदाताओं की उदासीनता का नतीजा यह होता है कि शक्ति कुछ ऐसे अविवेकी लोगों के हाथ में चली जाती है जो लम्बे-चौड़े वायदों और झुठे-सच्चे तर्कों से जनता को बहलाने और उससे अनुचित लाभ उठाने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं।"

21.8.11 राजनीति का व्यावसायीकरण— लोकतन्त्र में यह उम्मीद की जाती है कि योग्य, कुशल एवं ईमानदार व्यक्ति राजनीति में सक्रियता से भाग लेंगे और अपने अनुभव से राज्य को लाभान्वित करेंगे, लेकिन व्यवहार में स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। ऐसे लोगों की राजनीति में आने की रुचि भी नहीं रहती है और वोटों की राजनीति के चलते वे चुनाव नहीं जीत सकते हैं। राजनीति में ऐसे लोगों का प्रवेश हो गया है, जिन्होंने इस क्षेत्र को पेशेवर बना दिया है और ये भ्रष्ट साधन अपना कर अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाने की चेष्टा करते हैं।

21.8.12 सर्वतोन्मुखी उन्नति असम्भव— लोकतन्त्र में समस्त ध्यान राजनीति पर केन्द्रित हो जाने के कारण साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में उदासीनता व्याप्त हो जाती है। विद्वानों, कलाकारों एवं अन्य प्रतिभाओं को समुचित प्रोत्साहन न मिलने के कारण मानव जीवन का सर्वतोन्मुखी विकास नहीं हो पाता है। बर्न्स के शब्दों में "प्रजातन्त्र जिस सभ्यता को जन्म देता है वह दूषित, साधारण एवं मन्द होती है।"

21.8.13 युद्ध और संकट काल में कमजोर— लोकतान्त्रिक सरकारें प्रायः युद्ध और संकट काल में कमजोर साबित हुई हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में शीघ्र निर्णय नहीं लिया जा सकता है। कोई भी निर्णय लेने से पूर्व सभी पक्षों की राय जानी जाती है और सरकार पर सम्भावित लाभ हानि का आधार मानकर फैसला लेते हैं। परन्तु अनेक बार यह स्थिति राष्ट्रीय एकता, अखण्डता एवं सम्प्रभुता के लिए घातक सिद्ध हो जाती है।

21.9 सारांश

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि लोकतंत्र की व्यापक आलोचनाओं के बावजूद यह सरकार का सर्वश्रेष्ठ प्रकार है जिसको किसी भी स्थिति में नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता है। इसके गुणों के चलते लोकतंत्र की खुशबू दुनिया के अधिकांश देशों में व्याप्त है और अनेक राज्य लोकतान्त्रिक नहीं होते हुए भी लोकतान्त्रिक होने का दावा करते हैं। विभिन्न प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि लोकतन्त्र में ही मानवाधिकार, स्वतन्त्रता, व्यक्ति की गरिमा, समानता की स्थापना की जा सकती है। सरकार जनहित के विरुद्ध कोई भी कदम उठाने से परहेज करती है। ब्राइस ने लिखा है कि "किसी श्रेष्ठ सरकार की कसौटी लोगों की भलाई है और वह सरकार अधिक अच्छी है, जिसमें व्यक्तियों को अपनी भावना प्रकट करने का अवसर व उत्साह मिलता है।"

21.10 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोकतंत्र का अर्थ बताते हुए, गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।

2. लोकतंत्र के मूल सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. लोकतन्त्र की विकास यात्रा पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।
2. 'लोकतन्त्र मानवीय जीवन का आधार बन गया है।' सिद्ध कीजिए।
3. लोकतंत्र के प्रकार बताओ।
4. क्रांति से सुरक्षा लोकतन्त्र किस प्रकार करता है?
5. लोकतंत्र अन्तर्राष्ट्रीयवाद का द्योतक है' सिद्ध कीजिए।
6. भारत के सन्दर्भ में लोकतंत्र की तीन आलोचनाएँ बताओ।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अब्राहम लिंकन ने लोकतंत्र को किन शब्दों में परिभाषित किया है?
2. लोकतन्त्र का शाब्दिक अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. "लोकतन्त्र वह शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति भाग लेता है।" यह विचार किसके है?
4. लोकतन्त्र के आधार बताओ।
5. प्रत्यक्ष लोकतंत्र कहाँ पाया जाता है?

21.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. आशीर्वादम, "राजनीतिशास्त्र"
2. अनुप चन्द कपूर, "राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली
3. ओ. पी. गाबा, "राजनीति विज्ञान के आधार तत्व", मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर

इकाई-22 : तानाशाही

संरचना

- 22.1 उद्देश्य
- 22.2 प्रस्तावना
- 22.3 तानाशाही का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- 22.4 आधुनिक तानाशाही के कारण
 - 22.4.1 संसदीय संस्थाओं के प्रति अविश्वास
 - 22.4.2 वर्साय की संधि
 - 22.4.3 प्रजातन्त्र का नया होना
 - 22.4.4 आत्म निर्भरता की चाहत
 - 22.4.5 आर्थिक संकट
 - 22.4.6 राष्ट्र संघ की असफलता
- 22.5 आधुनिक तानाशाही के लक्षण या विशेषताएं
 - 22.5.1 राज्य की निरंकुशता
 - 22.5.2 लोकतंत्र का विरोध
 - 22.5.3 राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं
 - 22.5.4 मौलिक अधिकार और स्वतन्त्रताओं का स्थगन
 - 22.5.5 व्यक्ति पूजा
 - 22.5.6 हिंसा व शक्ति में विश्वास
 - 22.5.7 जनमत निर्माण के साधनों पर कठोर नियन्त्रण
 - 22.5.8 उग्र राष्ट्रवाद में आस्था
 - 22.5.9 युद्ध एवं औपनिवेशिक विस्तार
 - 22.5.10 धार्मिक स्वतन्त्रता का स्थान नहीं
 - 22.5.11 विरोधी दलों का अस्तित्व नहीं
 - 22.5.12 साम, दाम, दण्ड, भेद पर आधारित
- 22.6 तानाशाही के गुण
 - 22.6.1 सुदृढ़ शासन की स्थापना
 - 22.6.2 स्थिर व कुशल शासन
 - 22.6.3 आर्थिक समृद्धि
 - 22.6.4 आपातकाल के लिए उपयुक्त
 - 22.6.5 समाज सुधार
 - 22.6.6 मितव्ययी
 - 22.6.7 राष्ट्रीय भावना का जागरण
- 22.7 तानाशाही के दोष
 - 22.7.1 नागरिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का अन्त
 - 22.7.2 निरंकुश शासन
 - 22.7.3 अन्तर्राष्ट्रीयवाद का विरोधी
 - 22.7.4 व्यक्ति की उपेक्षा
 - 22.7.5 विद्रोह व क्रांति का अंदेश

22.7.6 योग्य उत्तराधिकारी नहीं छोड़ते

22.7.7 विवेक एवं स्वतः प्रेरणा का अन्त

22.8 सारांश

22.9 अभ्यास प्रश्नावली

22.10 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

22.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य तानाशाही पर आधारित शासन व्यवस्था से अवगत करवाना है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- तानाशाही राज्य सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त पर आधारित होता है,
- आधुनिक काल में तानाशाही व्यवस्था के उद्गम के क्या कारण हैं,
- तानाशाही के प्रमुख लक्षण जान सकेंगे,
- इस विचारधारा को मानवता, स्वतन्त्रता तथा विश्वशांति के लिए घातककारी मना जाता है, अतः आपको इन तत्त्वों को जानने का अवसर मिलेगा,
- तानाशाही की व्यापक आलोचनाओं के बावजूद आज भी विश्व के कई राष्ट्रों ने इसका दामन थाम रखा है, उसे भी जान सकेंगे।

शासन के विभिन्न प्रकारों में तानाशाही व्यवस्थाओं का भी प्रचलन है। यद्यपि राजतन्त्र एवं तानाशाही में एक बुनियादी समानता यह पायी जाती है कि दोनों में सम्प्रभु की शक्ति एक व्यक्ति में निवास करती है और वह बिना किसी के उत्तरदायी रहकर शासन का संचालन करता है, लेकिन राजतन्त्र एवं तानाशाही में शासन के पद ग्रहण करने की विधि को लेकर अन्तर देखा जा सकता है। जहाँ राजतन्त्र में वंशानुक्रम आधार पर पद ग्रहण करने की प्रक्रिया है, वहीं तानाशाही में निर्वाचन, सैनिक योग्यता अथवा एक विशेष राजनीतिक समुदाय के नेता होने के आधार पर व्यक्ति शासन का नेतृत्व करता है। वह जिन शक्तियों का प्रयोग करता है, वे गैर कानूनी होते हैं, जो अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए किसी भी सीमा को लांघ सकते हैं। इतिहास में तानाशाही व्यवस्था के अनेक प्रमाण मिलते हैं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व जर्मनी में हिटलर व इटली में मुसोलिनी तानाशाही के प्रतीक थे। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् साम्यवाद के नाम पर अनेक देशों में साम्यवादी दल की तानाशाही स्थापित हुई। तानाशाही व्यवस्था को हीन भावना से देखा जाता है। इसे मानवता, विश्व शांति एवं अन्तर्राष्ट्रीयवाद के प्रतिकूल माना जाता है। लेकिन फिर भी तानाशाही के आधार पर राज्य में व्याप्त बुराईयों को दूर किया जा सकता है, राष्ट्रीयता की भावना को बल मिलता है। ऐसा माना जाता है कि यह व्यवस्था लम्बे समय तक अपना अस्तित्व बनाये नहीं रख पाती है और कुछ ही समय में जिस गति से स्थापित होती है उसी गति से धराशायी भी हो जाती है। आज भी कुछ देशों में तानाशाही पायी जाती है लेकिन वे अपने आपको तानाशाह स्वीकार नहीं करते हैं। पाकिस्तान में नवाजशरीफ की लोकतांत्रिक सरकार सैनिक तानाशाह जनरल परवेज मुशर्रफ का शिकार बनी जो आज तक कायम है। यद्यपि वहाँ चुनाव हुए हैं, लेकिन वे केवल मजाक बनकर रह गये और शासन की सर्वोच्च शक्ति तो जनरल के हाथ में ही है। बर्मा में भी सैनिक तानाशाह कार्यरत हैं जो लोकतांत्रिक नेताओं को चुनाव जीत जाने के बावजूद सत्ता सौंपने को तैयार नहीं हैं। इन तानाशाहों के कारनामों मानवाधिकारों के विरुद्ध हैं। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दबाव के चलते वे अपने आपको मानवाधिकारों का हितैषी मानते हैं।

तानाशाह शासक अपने आपको ईश्वर का प्रतिनिधि, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक मानता है। अस्तु राज्य वर्गीकरण के सिद्धान्त में तानाशाही (निरंकुश तंत्र) को राजतंत्र का विकृत रूप मानता है। जर्मन आदर्शवादी विचारक हीगल भी तानाशाही का समर्थन कर राज्य की सर्वोच्चता स्थापित करता है। उसी से प्रेरणा पाकर मार्क्स, मुसोलिनी व हिटलर ने अपने व्यावहारिक व कार्यसाधन दर्शन का प्रतिपादन किया। मार्क्स अपने साम्यवाद के सिद्धान्त में पूंजीवाद का नाश करने के लिए सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की बात करता है। हिटलर व मुसोलिनी भी क्रमशः जर्मनी और इटली के प्रभाव को बढ़ाने के लिए तानाशाही का सहारा लेते हैं।

22.3 तानाशाही का अर्थ एवं परिभाषाएँ

तानाशाही के अर्थ की स्पष्ट करने के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिभाषाएं सामने आती हैं—

- 1 फोर्ड के अनुसार, "राज्य के अध्यक्ष द्वारा गैर कानूनी ढंग से सत्ता हथियाना ही तानाशाही है।"
- 2 थ्यूमनेन ने कहा है कि, "तानाशाही से हमारा तात्पर्य एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह के उस शासन से है, जो बलपूर्वक सत्ता पर एकाधिकार कर लेते हैं एवं अनियन्त्रित रूप में उसका प्रयोग करते हैं।"
- 3 सोल्टाऊ का मत है कि, "यह एक व्यक्ति का शासन होता है जो अपने पद को मुख्यतया वंश परम्परा से प्राप्त नहीं करता, अपितु शक्ति या सहमति, सामान्यतया दोनों के संयोग से प्राप्त करता है। उसके पास पूर्ण सम्प्रभुता होनी चाहिए। जिसका प्रयोग वह कानूनों की अपेक्षा मनमाने आदेश जारी करके करे।"
- 4 अल्फ्रेड कॉबन के अनुसार तानाशाही शासन में निम्नलिखित बातें मुख्य रूप से पायी जाती हैं। (1) यह एक व्यक्ति का शासन है। (2) यह शक्ति या सहमति अथवा दोनों पर आधारित होता है। (3) तानाशाह, किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। (4) उसकी शक्तियाँ असीमित होती हैं। (5) तानाशाह का आदेश ही कानून होता है। (6) इस शासन की कोई अवधि निश्चित नहीं होती है।

22.4 आधुनिक तानाशाही के कारण

तानाशाही के भी प्राचीन व आधुनिक रूप में दिखाई देते हैं। प्राचीन तानाशाही उसको कहा जा सकता है, जिसमें सत्ताधारी व्यक्ति सैनिक शक्ति की सर्वोच्चता के आधार पर तानाशाह बन जाते हैं। इतिहास में इससे सम्बन्धित अनेक घटनाएँ विद्यमान हैं। आधुनिक तानाशाही का उत्कर्ष प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् माना जाता है। यद्यपि इस युद्ध को तानाशाही के विरुद्ध और लोकतंत्र के पक्ष में लड़ा जाने वाला कहा गया था। इसके बाद अनेक देशों में लोकतंत्र की स्थापना होती है। लेकिन वह तानाशाही के सामने घुटने टेक देता है। आधुनिक तानाशाही के उत्कर्ष के निम्नलिखित कारण रहे हैं –

22.4.1 संसदीय संस्थाओं के प्रति अविश्वास— प्रथम महायुद्ध की विभीषिका के बाद विश्व जनमानस संसदीय संस्थाओं के प्रति बहुत आकर्षित हुआ और उनकी स्थापना भी की गयी। लेकिन ये उनकी इच्छाओं एवं आकांक्षाओं पर खरी नहीं उतर पाई। सैनिकों में इनके प्रति व्यापक असंतोष उत्पन्न हुआ। क्योंकि युद्ध के दौरान वे अपना बहुत कुछ खो चुके थे। हिटलर जैसे लोगों ने इनकी भावना को और भड़काया और कहा कि संसदीय संस्थाएँ वार्तालाप करने के क्लब मात्र ही हैं। अतः कालान्तर में यही स्थिति तानाशाही के रूप में सामने आती है। इनका पूरा लाम हिटलर व मुसोलिनी ने उठाया और जनमानस को इस कदर प्रभावित किया कि उनका लोकतांत्रिक संस्थाओं से मोह भंग हो गया।

22.4.2 वर्साय की संधि— प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विजेता राष्ट्रों ने पराजित राष्ट्रों के साथ वर्साय की संधि की थी। इसकी शर्तें अत्यन्त कठोर तथा न्याय पर भी आधारित नहीं थी। इसका लाम उठाते हुए इटली में मुसोलिनी व जर्मनी में हिटलर इस संधि के विरुद्ध जनमत का भड़का कर इस संधि को आपमान करार दिया और देश की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः बहाल करने का आह्वान किया। इसके बाद वे स्वयं तानाशाह बन गये।

22.4.3 लोकतंत्र का नया होना— प्रथम महायुद्ध के बाद पोलैण्ड, यूगोस्लाविया आदि देशों में प्रजातंत्र स्थापित किया गया था, लेकिन इन देशों के लिए लोकतंत्र बिल्कुल नया अनुभव था। लोकतांत्रिक परम्पराओं के अभाव के कारण यहाँ तानाशाही शुरू हो जाती है।

22.4.4 आत्मनिर्भरता की चाहत— प्रथम विश्व युद्ध के बाद आर्थिक आत्मनिर्भरता की नीति का प्रतिपादन किया गया और येनकेन प्रकारेण इस दिशा में सार्थक प्रभावी कदम उठाने की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था लेकिन जनता के दिलों-दिमाग में यह बात घर कर गई थी कि इस लक्ष्य को तानाशाही पर आधारित शासन से ही प्राप्त किया जा सकता है।

22.4.5 आर्थिक संकट— 1929ई. में विश्वव्यापी आर्थिक मंदी की मार झेलने लगी। इसके चलते सभी देशों की अर्थ व्यवस्था डाँवाडोल हो गई। अनेक देशों की लोकतांत्रिक सरकारें इससे ऊपर उठने में नकारा सिद्ध हुईं। जिससे तानाशाहों को बढ़ने का अवसर मिला।

22.4.6 राष्ट्र संघ की असफलता— विश्व युद्धों के दुष्परिणामों से निवृत्त हो बचाने के उद्देश्य से राष्ट्र संघ की स्थापना की जाती है लेकिन यह अपनी स्थापना से ही असफलता की ओर अग्रसर हो रहा था। शस्त्रीकरण को छोड़ने छोटें राज्यों में भय उत्पन्न कर दिया था। ऐसी परिस्थितियों में उन्होंने भी सैनिक तानाशाही के मार्ग को अपनाया। इसके अलावा सैनिक तानाशाहों द्वारा विश्व शांति के विरुद्ध कार्य किये जा रहे थे, तब भी राष्ट्र संघ मूकदर्शक बना रहा। राष्ट्रसंघ की असफलता ने तानाशाही को प्रोत्साहित किया।

22.5 आधुनिक तानाशाही के लक्षण या विशेषताएँ

आधुनिक तानाशाही के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। जैसे – सैनिक तानाशाही, साम्यवादी एवं फासिस्ट तानाशाही। यद्यपि इनके सिद्धांतों में बुनियादी अन्तर पाया जाता है लेकिन कुछ समानताएँ भी पाई जाती हैं जो उन्हें तानाशाही के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। तानाशाही की आधारभूत विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है।

22.5.1 राज्य की निरंकुशता— तानाशाही पर आधारित सरकार की शक्तियाँ असीमित होती हैं। जिस पर किसी भी प्रकार का अंकुश या नियन्त्रण भी नहीं होता। नागरिक अधिकारों, सविधान, स्वतन्त्रता व निष्पक्ष न्यायपालिका जैसे लोकतांत्रिक अधिकारों का अभाव होता है। मुसोलिनी के शब्दों में, “सब कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के बाहर कुछ नहीं और राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं।”

22.5.2 लोकतंत्र का विरोध— तानाशाही, लोकतंत्र के विपरीत विचारधारा है, जिसकी स्थापना भी इसके प्रतिविरोधी भावना के कारण हुई है। इसके समर्थकों का कहना है कि राज्य का प्रत्येक नागरिक शासन के बारे में जानकारी नहीं रखता। अतः लोकतंत्र की बात करना मूर्खता है उनकी राय में लोकतंत्र सड़े हुए शव के समान है और संसदीय संस्थाएँ ‘बकवास की दुकानें’ हैं।

22.5.3 राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं— तानाशाही, राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं समझते हैं। उनका मत है कि समाज राज्य पर निर्भर करता है और समाज की प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक व्यक्ति के क्षेत्र को राज्य द्वारा ही नियमित किया जाता है। इसलिए राज्य (सरकार) सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्र को पूर्णतया नियन्त्रित करती है।

22.5.4 मौलिक अधिकार और स्वतन्त्रताओं का स्थगन— तानाशाही में जनता को मौलिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं से वंचित कर दिया जाता है। वे अधिकारों को जनता का हक नहीं समझते, बल्कि राज्य की कृपा समझते हैं। यहाँ केवल वहीं अधिकार होते हैं जिनकी अनुमति राज्य देता है। यह स्थिति सैनिक तानाशाही एवं फासिस्ट दोनों में पायी जाती है। साम्यवादी शासन व्यवस्था में भी संविधान होता है। इसमें मौलिक अधिकारों की घोषणा की जाती है, लेकिन संरक्षण के लिए न्यायपालिका का कोई प्रावधान नहीं होता है।

22.5.5 व्यक्ति पूजा— तानाशाही शासन में नेताओं की पूजा की जाती है, जो राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधे रखती हैं। हिटलर के शब्दों में "नेता दल है और दल ही नेता हैं", फासिस्ट साहित्य में "नेता ही राष्ट्र व जाति का रक्षक हैं", फासिस्टो के नारे में "विश्वास करो", "आज्ञा पालन करो", "संघर्ष करो", "मुसोलिनी सर्वदा ठीक है।"

22.5.6 हिंसा और शक्ति में विश्वास— तानाशाही का आधार शक्ति, हिंसा, बल, प्रयोग, दमन, उपद्रव, व क्रांति होती है। इनका एक मात्र नारा 'शक्ति और क्रांति' ही होता है। तानाशाह शक्ति के बल पर सत्ता हथियाते हैं और शक्ति के बल पर सत्ता में बने रहते हैं। तानाशाही शब्दकोष में शांति, अहिंसा, अन्तर्राष्ट्रीयवाद, पंचशील, सहिष्णुता आदि का कोई स्थान नहीं है।

22.5.7 जनमत निर्माण के साधनों पर कठोर नियन्त्रण— आधुनिक तानाशाही की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें केवल उसी विचारधारा का प्रचार-प्रसार होता है, जिसमें तानाशाह विश्वास करता है। इसलिए जनमत निर्माण के तमाम साधनों समाचार पत्र, टी.वी., रेडियो, पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्य आदि पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होता है। वे ऐसी किसी भी विचारधारा का प्रचार नहीं कर सकते, जो तानाशाही के विरुद्ध हो। ऐसा होने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है।

22.5.8 उग्र राष्ट्रवाद में आस्था— तानाशाही में उग्र राष्ट्रवाद की भावना पाई जाती है। शासक वर्ग जनता में राष्ट्र भक्ति की भावना भड़काकर उसे चरम सीमा तक पहुँचा देते हैं। इसमें अपनी जाति, संस्कृति, देश और उसकी व्यवस्था का गुणगान किया जाता है और दूसरे देशों को तुच्छ व हीन सिद्ध करने की कोशिश की जाती है। ऐसा करने के पीछे मूल उद्देश्य तानाशाह द्वारा अपनी सत्ता को सुदृढ़ता प्रदान करना है ताकि जनता राष्ट्रभक्ति के जोश में उसके वैध या अवैध कदमों को सहर्ष स्वीकार करें। हिटलर व मुसोलिनी ने भी जर्मन व इटली की खोई प्रतिष्ठा को पुनः बहाल करने के लिए राष्ट्रवाद का नारा दिया।

22.5.9 युद्ध और औपनिवेशिक विस्तार— इस बात का इतिहास साक्षी है कि जब-जब विश्व में तानाशाही का बोलबाला हुआ है तब-तब युद्ध एवं औपनिवेशवाद को प्रोत्साहन मिला है। तानाशाह अपनी श्रेष्ठता के नाम पर छोटे व कमजोर देशों को अपना गुलाम बनाता है और युद्ध करना राज्य के लिये महत्वपूर्ण मानता है। इस संबंध में हिटलर का कहना है कि "पुरुष के जीवन में युद्ध का वही स्थान है जो स्त्री के जीवन में मातृत्व का है।" मुसोलिनी ने कहा था, "साम्राज्यवाद जीवन का चिरस्थायी और अक्षुण्ण नियम है। इटली का विस्तार होगा या अन्त।"

22.5.10 धार्मिक स्वतन्त्रता को स्थान नहीं— तानाशाही व्यवस्था वाले राष्ट्रों में या तो धर्म का कोई स्थान नहीं होता, या धार्मिक कट्टरता वाले देशों में एक धर्म विशेष को छोड़कर अन्य किसी धर्म का कोई मूल्य नहीं होता जैसे पाकिस्तान में सैनिक तानाशाह जनरल परवेज मुशर्रफ ने पाक संविधान के स्थान पर इस्लामी कानून लागू करवाने के प्रयास किये। जे.ए. स्पेन्डर ने लिखा है कि, "साम्यवाद ने धर्म को नष्ट करने का प्रयास किया। फासीवाद ने उसे निष्क्रिय एवं निष्प्राण बनाने की कोशिश की परन्तु नाजीवाद ने इसे अपने अधीन बनाने की चेष्टा की।"

22.5.11 विरोधी दल का अस्तित्व नहीं— तानाशाही व्यवस्था में विरोधी दल का अस्तित्व नहीं होता है। यदि कोई प्रकट होने की कोशिश करता है उसे तत्काल प्रभाव से कुचल दिया जाता है। सरकार को यह खतरा रहता है कि विरोधी दल उसके विरुद्ध भावना भड़काकर जन आक्रोश फैला सकता है। तानाशाही में राजनीतिक विरोधियों का जोरदार ढंग से दमन किया जाता है।

22.5.12 साम, दाम, दण्ड, भेद पर आधारित— तानाशाही राज्य अपने हित साधने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद आदि साधनों का खुल्लम-खुल्ला प्रयोग करते हैं। इस राज्य में राज्य के सभी साधन नैतिक हैं और इस क्षेत्र में वह किसी भी प्रकार के मानवीय या नैतिक मूल्यों का ध्यान नहीं देता। सारांश में, तानाशाही को अमानवीय शासन व्यवस्था का नाम दिया जाता है।

22.6 तानाशाही के गुण

यद्यपि आधुनिक समय लोकतन्त्र का है और प्रत्येक देश अपने आपको लोकतान्त्रिक होने का दावा करता है। लेकिन फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जो केवल तानाशाही में पायी जाती हैं, किसी अन्य प्रकार के शासन में नहीं। इस प्रकार हम तानाशाही के गुणों को निम्नलिखित शीर्षकों से प्रस्तुत कर सकते हैं—

22.6.1 सुदृढ़ शासन की स्थापना— तानाशाही का यह प्रमुख गुण है कि इसमें सुदृढ़ एवं स्थायी शासन की स्थापना की जा सकती है। केन्द्र में एक शक्तिशाली शासन की स्थापना होती है। देश में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों का अन्त कर दिया जाता है और पूर्ण एकता स्थापित हो जाती है। ऐसी सरकार राष्ट्रीय एकता को बाधा पहुँचाने वाले कारकों पर तत्काल प्रभाव से शक्ति के बल पर नियन्त्रण स्थापित कर सकती है।

22.6.2 स्थिर व कुशल सरकार— लोकतन्त्र की भाँति तानाशाही में नित नये चुनाव नहीं होते, बल्कि शासक अपने दल अथवा सेना की सहायता से लम्बे अरसे तक सत्ता में बना रहता है। इससे शासन में स्थिरता आती है। तानाशाह ऊँचे पदों पर योग्य व अनुभवी लोगों को नियुक्त करता है। इससे भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, लाल फीताशाही आदि का अन्त हो जाता है। अतः प्रशासन में कार्य कुशलता आती है।

22.6.3 आर्थिक समृद्धि— तानाशाही सरकार आर्थिक सुधारों की योजनाओं को कठोरता के साथ लागू करती है, क्योंकि उसे इस बात का डर नहीं रहता कि इसका विरोध होगा और विरोध होने पर भी दबा दिया जाता है। प्रायः यह भी देखने में आता है कि तानाशाही देशों में हड़ताल, तालाबन्दी, घूसखोरी, जमाखोरी, काला बाजारी तथा तस्करी जैसी महामारियों पर भी नियन्त्रण पा लिया जाता है। भुगतान सन्तुलन बनाये रखने तथा मूल्य व वितरण को ठीक करके आर्थिक ढाँचे को सुधार देते हैं।

22.6.4 आपात काल के लिए उपयुक्त— तानाशाही के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि इसके द्वारा आपातकाल में बड़ी दृढ़ता के साथ मुकाबला किया जा सकता है। शक्ति, एक स्थान पर केन्द्रित होने के कारण उसी का निर्णय अन्तिम व सर्वमान्य होता है। उसे किसी और से स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं होती। इस बारे में निर्णय इतना गोपनीय रखा जाता है कि शत्रु पक्ष को हवा तक नहीं लगती है।

22.6.5 समाज सुधार— तानाशाह देश को युद्ध करने के लिए सामाजिक बुराईयों को दूर करते हैं तथा सामाजिक सुधार पर बल देते हैं। जैसे मुस्तफा कमाल पाशा ने टर्की के सामाजिक ढाँचे में आधारभूत परिवर्तन किये तथा पिछड़ेपन को दूर करने के लिए आधुनिकीकरण पर बल दिया।

22.6.6 मितव्ययी— तानाशाही में सार्वजनिक धन का दुरुपयोग कम होता है क्योंकि न तो शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में लम्बे-चौड़े प्रबन्ध करने पड़ते हैं और न ही चुनाव आदि में धन का अपव्यय होता है। इसके अलावा सरकारी अधिकारी भ्रष्टाचार करने से बचते हैं क्योंकि ऐसा होने पर तत्काल उनके विरुद्ध कार्यवाई की जा सकती है।

22.6.7 राष्ट्रीय भावना का जागरण— राष्ट्रीय भावना का जागरण करने में तानाशाही व्यवस्था का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसमें शासक जनता को जाति, धर्म, संस्कृति एवं राष्ट्रीय गौरव का पाठ पढ़ाकर इस भावना का दीप प्रज्वलित करत है। जिससे राष्ट्रीय भावना को बल मिलता ही है, साथ में जनता अपने तमाम मतभेदों को भुलाकर एक छत के नीचे एकता के साथ खड़ी हो जाती है और जनता इसके नाम पर अपना सर्वत्र न्यौछावर कर देने को तैयार हो जाती है। हिटलर व मुसोलिनी इसके प्रमाण हैं।

22.7 तानाशाही के दोष

यद्यपि तानाशाही व्यवस्था के अपने कुछ विशेष गुण हैं, लेकिन आधुनिक समय में तानाशाही शासन को हीन भावना से देखा जाता है, जो काफी हद तक सत्य भी है। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

22.7.1 नागरिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का अन्त— तानाशाही का सबसे प्रमुख दोष यह है कि इसके द्वारा नागरिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं को न केवल कुचला जाता है अपितु अन्त कर दिया जाता है। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर नागरिकों की आवाज को दबा दिया जाता है, जो एक अच्छी बात नहीं है। क्योंकि ऐसा होने से नागरिक व समाज दोनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

22.7.2 निरंकुश शासन— तानाशाही में निरंकुश शासन को प्रोत्साहन मिलता है। लोगों की शासन संचालन में कोई भागीदारी नहीं होती और शासक भी बिना किसी अंकुश एवं उत्तरदायित्व के कार्य करता है और जन-हित को पूर्णतया नजरअन्दाज करके निर्णय लेते हैं। इससे जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण नहीं मिलता और उदासी छा जाती है।

22.7.3 अन्तर्राष्ट्रीयवाद का विरोधी— आज सम्पूर्ण विश्व अन्तर्राष्ट्रीयवाद की दिशा में अग्रसर हो रहा है। परन्तु तानाशाही शासकों के कारनामों ऐसे होते हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीयवाद, विश्व बन्धुत्व, मानवता, शांति आदि के विरुद्ध हैं। तानाशाह तो अपने निहित स्वार्थों के लिए राष्ट्र को युद्ध में झोंक देता है। इससे देश को हानि होती है और विश्व शांति को धक्का लगता है। इतिहास बताता है कि दोनों विश्व युद्ध तानाशाही ताकतों के कारण ही हुए। जिन्होंने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जिससे मानवता को युद्धों की विभीषिका झेलनी पड़ी। आज भी कुछ तानाशाही शक्तियों के कारण विश्व शान्ति को संकट उपस्थित हो रहा है।

22.7.4 व्यक्ति की उपेक्षा— तानाशाह में व्यक्ति को साध्य एवं राज्य को साधन माना जाता है। उनका मानना है कि राज्य व्यक्ति के लिए नहीं बरन् व्यक्ति राज्य के लिए बना है। अतः उसका दायित्व बनता है कि वह राज्य के प्रत्येक आदेश की अनुपालना करे। इस प्रकार के शासन में व्यक्ति का विकास नहीं हो पाता है और वह दास बनकर रह जाता है।

22.7.5 विद्रोह और क्रांति का अंदेश— तानाशाही में क्रांति एवं विद्रोह का सदैव भय बना रहता है, क्योंकि तानाशाह सब विरोधी विचारधारा को शक्ति के द्वारा कुचल देता है। विरोधी तत्व हमेशा ऐसे अवसर की तलाश में रहते हैं, जिसके माध्यम से अन्याय व अत्याचार एवं शोषण से मुक्ति पा सके। वे भली भाँति जानते हैं कि इसके लिए क्रांति ही एक मात्र सहायक है।

22.7.6 योग्य उत्तराधिकारी नहीं छोड़ते— तानाशाह कभी किसी पर विश्वास नहीं करते और न ही किसी को योग्यता दिखाने का अवसर देते हैं। अतः तानाशाह की मृत्यु के बाद राजनीतिक शून्यता उत्पन्न हो जाती है और योग्य उत्तराधिकारी मिलना एक समस्या बन जाता है।

22.7.7 विवेक एवं स्वतः प्रेरणा का अन्त— तानाशाह लोगों को भौतिक सुख सुविधाएं दे सकता है, किन्तु मानव जीवन का लक्ष्य नहीं। मनुष्य एक भौतिक प्राणी के साथ विवेकशील प्राणी भी है। मानव जीवन को पूर्णतया राज्य के अधीन कर देना, विवेक व स्वतः प्रेरणा का अन्त कर देना है, जो मानव जीवन का बहुमूल्य गुण है।

22.8 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि तानाशाही शासन व्यवस्था अपने विशेष गुणों के बावजूद आधुनिक परिस्थितियों पर खरी नहीं उतरती है, क्योंकि आज का समाज खुला एवं मुक्त रहना चाहता है, जो तानाशाही में सम्भव नहीं। तानाशाह संकीर्ण भावना का सहारा लेकर अपनी सत्ता को सुदृढ़ करता रहता है और जनता के साथ अमानवीय व्यवहार करता है। नागरिकों में हमेशा भय असुरक्षा तथा आतंक की स्थिति व्याप्त रहती है।

22.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. तानाशाही का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके लक्षणों की व्याख्या कीजिए।
2. तानाशाही के गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।
3. आधुनिक तानाशाही के कारण स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. तानाशाही से आपका क्या अभिप्राय है।
2. आधुनिक तानाशाही के दो लक्षण बताओ।
3. तानाशाही लोकतन्त्र के दोषों को किस प्रकार दूर कर सकती है।
4. "तानाशाही अन्तर्राष्ट्रीय वाद के विरुद्ध है", सिद्ध कीजिए।

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. प्राचीन तानाशाही व आधुनिक तानाशाही में प्रमुख अन्तर क्या हैं?
2. साम्यवाद किस प्रकार की तानाशाही की बात करता है?
3. राजतन्त्र व तानाशाही में बुनियादी अन्तर क्या है?
4. तानाशाही तटय का एक प्रमुख कारण बताओ?
5. राष्ट्रवाद की पोषक शासन का कौन सा प्रकार है?

22.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर. सी. अग्रवाल, "राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली
2. मलफर्ड क्यू. सिबली, "राजनीतिक विचार और विचारधाराएँ, (अनुवाद) राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
3. डॉ. नन्दिनी उप्रेती, "राजनीति विज्ञान के मूल आधार, "राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
4. ओ.पी. गाबा, "राजनीति विज्ञान के आधार तत्व", मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर

इकाई-23 : एकात्मक एवं संघात्मक

संरचना

- 23.1 उद्देश्य
- 23.2 प्रस्तावना
- 23.3 एकात्मक शासन की परिभाषाएँ
- 23.4 एकात्मक के लक्षण
 - 23.4.1 शक्तियों का केन्द्रीकरण
 - 23.4.2 एकीकृत नागरिकता
 - 23.4.3 एकल संविधान
 - 23.4.4 एकीकृत न्याय व्यवस्था
- 23.5 एकात्मक के गुण
 - 23.5.1 राष्ट्रीय एकता
 - 23.5.2 संकट काल की स्थिति में सर्वाधिक उपयुक्त
 - 23.5.3 कुशल प्रशासन
 - 23.5.4 अधिक परिवर्तनशील
 - 23.5.5 सरल शासन व्यवस्था
 - 23.5.6 कम खर्चीली
 - 23.5.7 संघर्ष की सम्भावना कम
 - 23.5.8 सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति
- 23.6 एकात्मक के दोष
 - 23.6.1 केन्द्रीय सरकार का निरंकुश बनने का भय
 - 23.6.2 लोकतन्त्र विरोधी
 - 23.6.3 नौकरशाही को प्रोत्साहन
 - 23.6.4 जनता की उदासीनता
 - 23.6.5 बड़े राज्यों के लिए अनुपयोगी
 - 23.6.6 केन्द्र पर अनावश्यक बोझ
- 23.7 सारांश
 - संघात्मक शासन व्यवस्था
- 23.8 संघीय व्यवस्था की परिभाषाएँ
- 23.9 संघात्मक की विशेषताएँ
 - 23.9.1 संविधान की सर्वोच्चता
 - 23.9.2 लिखित संविधान
 - 23.9.3 कठोर संविधान
 - 23.9.4 शक्तियों का विभाजन
 - 23.9.5 स्वतन्त्र-निष्पक्ष न्यायपालिका
 - 23.9.6 दोहरी नागरिकता
 - 23.9.7 उच्च सदन राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला

23.10 संघात्मक व्यवस्था के गुण

- 23.10.1 राष्ट्रीय एकता एवं क्षेत्रीय स्वतन्त्रता का समन्वय
- 23.10.2 स्थानीय स्वशासन के लिए उपयुक्त
- 23.10.3 विविधता वाले देशों के लिए उपयुक्त
- 23.10.4 सार्वजनिक कार्यों के प्रति उत्साह
- 23.10.5 केन्द्र में अनावश्यक भार में कमी
- 23.10.6 प्रशासन में कार्य कुशलता
- 23.10.7 अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठा
- 23.10.8 विश्व संघ की ओर कदम

23.11 संघात्मक व्यवस्था के दोष

- 23.11.1 अकुशल शासन
- 23.11.2 निर्बल सरकार
- 23.11.3 विद्रोह की सम्भावना
- 23.11.4 कठोर संविधान प्रगति में बाधक
- 23.11.5 संकट काल के लिए अनुपयोगी
- 23.11.6 राष्ट्रीय एकता को खतरा
- 23.11.7 संकट की जटिलता
- 23.11.8 उत्तरदायित्व की अनिश्चितता
- 23.11.9 अधिक खर्चीली

23.12 सारांश

23.13 अभ्यास प्रश्नावली

23.14 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

23.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य एकात्मक एवं संघात्मक व्यवस्था के संबंध में जानकारी प्रदान करना है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- एकात्मक तथा संघात्मक प्रणालियाँ किस बुनियाद पर आधारित हैं,
- ये दोनों व्यवस्थाएँ किस प्रकार के राष्ट्र एवं परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हैं,
- प्रशासन की गतिशीलता प्रदान करने में ये व्यवस्थाएँ किस प्रकार सार्थक हो सकती हैं,
- व्यावहारिक स्तर पर विश्व में किस प्रकार से इन्हें अपनाया गया है?

23.2 प्रस्तावना

लोकतंत्र को शासन का सर्वश्रेष्ठ रूप माना जाता है। इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें राज्य व सरकार के सभी तन्त्र पारदर्शिता व गतिशीलता के साथ कार्य करे और जनइच्छाओं एवं आकांक्षाओं पर खरा उतर सके। आधुनिक समय में राज्य का विशाल आकार होने के कारण शासन व्यवस्था के सही संचालन करने के लिए अनेक इकाईयाँ स्थापित की जाती हैं। जब ये इकाईयाँ पूर्णतया केन्द्र पर निर्भर होती हैं तब शासन एकात्मक कहलाता है और जब केन्द्र के साथ-साथ इन इकाईयों को संविधान द्वारा कुछ शक्तियाँ एवं निश्चित विषयों पर कानून बनाने का अवसर दिया जाता है, उसे संघात्मक शासन व्यवस्था कहते हैं। इस प्रकार एकात्मक व्यवस्था के तहत तमाम शक्तियाँ केन्द्र में निहित होती हैं और इकाईयों की स्थिति केन्द्र पर आश्रित होती है। वहीं संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्र व इकाईयों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया जाता है। वेक्टरिंगा के अनुसार, "एकात्मक का तात्पर्य राज्य की शक्ति एक ही केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में केन्द्रित होना है जबकि संघात्मकता का तात्पर्य, राज्य की शक्ति का ऐसी सहयोगी सत्ताओं में विभाजित होना है, जिसमें प्रत्येक अपने क्षेत्र में वैधानिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो।"

23.3 एकात्मक शासन की परिभाषाएँ

एकात्मक शासन को स्पष्ट करने के लिए अनेक विद्वानों ने इसे परिभाषित किया है। जिनमें से कुछ विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं—

1. फाइनर ने लिखा है कि, "एकात्मक राज्य वह है जिसमें समस्त शासन सत्ता एवं शक्ति एक केन्द्र में निहित रहती है और जिनकी इच्छा एवं जिसके अधिकारी समस्त क्षेत्र पर कानूनन सर्वशक्तिमान होते हैं।"
2. डायरी के अनुसार, "एक केन्द्रीय शक्ति के द्वारा सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग किया जाना ही एकात्मक शासन है।"
3. गार्नर के शब्दों में, "यह शासन की वह प्रणाली है जिसमें संविधान केन्द्रीय शासन के एक अथवा एक से अधिक अंगों को पूरी शक्ति प्रदान करता है और इन्हीं से स्थानीय सरकारों को सारी शक्ति तथा अपना अहितत्व प्राप्त होता है।"

इस प्रकार एकात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र की स्थिति सर्वोच्च तथा निर्णायक होती है और राज्य की अन्य इकाइयों की स्थिति पूर्णतः गौण होती है। वर्तमान में इंग्लैण्ड, जापान, बेल्जियम, इटली आदि देशों में यह व्यवस्था पाई जाती है।

23.4 एकात्मक के लक्षण

उपर्युक्त परिभाषा से एकात्मक के लक्षण और आधार स्पष्ट हो जाते हैं, जो निम्नलिखित रूप से हैं।

23.4.1 शक्तियों का केन्द्रीयकरण— एकात्मक शासन प्रणाली में تمام शक्तियाँ केन्द्र में निहित होती हैं। केन्द्र को ये शक्तियाँ संविधान द्वारा प्रदान की जाती हैं। केन्द्र और इकाइयों के बीच शक्ति विभाजन का कोई प्रावधान नहीं होता है, बल्कि प्रशासन सुविधा के लिए कुछ इकाइयाँ स्थापित की जाती हैं। लेकिन वे केन्द्र पर निर्भर रहती हैं।

23.4.2 एकीकृत नागरिकता— एकात्मक में नागरिकों को केवल केन्द्र की ही नागरिकता प्राप्त होती है। इकाइयों की नहीं जैसा कि संघात्मक में पाई जाती है। सारे नागरिक देश के नागरिक भी कहलाते हैं, राज्यों के नहीं।

23.4.3 एकल संविधान— एकात्मक में सम्पूर्ण देश का एक ही संविधान होता है और उसी को आधार मानकर व्यवस्था संचालित होती है। इकाइयों का अपना कोई पृथक संविधान नहीं होता है।

23.4.4 एकीकृत न्याय व्यवस्था— इसमें एकीकृत न्याय व्यवस्था पाई जाती है, जिसके अन्तर्गत केन्द्र व इकाई संयुक्त रूप से आते हैं। इकाइयों की कोई पृथक एकीकृत न्याय व्यवस्था नहीं पाई जाती है।

23.5 एकात्मक के गुण

आधुनिक समय में जिस प्रकार से विकास हो रहा है उसके चलते एकात्मक शासन व्यवस्था के औचित्य को और अधिक स्वीकार जा रहा है। यही कारण है कि संघात्मक व्यवस्था वाले देशों का झुकाव एकात्मक की ओर तीव्र गति से हो रहा है। राज्य को एकता के सूत्र में बांधने के लिए एकात्मक अच्छा माना जाता है। संक्षिप्त में इसके निम्नलिखित गुण हैं—

23.5.1 राष्ट्रीय एकता— एकात्मक शासन, एकता तथा राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है। सारी शक्तियाँ केन्द्र में निहित होती हैं तथा पूरे देश में एक संविधान, एक कानून और एक नीति का अनुसरण किया जाता है। इकहरी नागरिकता के कारण नागरिकों में देश प्रेम त्याग, बलिदान आदि गुणों का विकास होता है जो एक राष्ट्रीय एकता के लिए अहम होते हैं।

23.5.2 संकट की स्थिति में सर्वाधिक उपयुक्त— संकटकालीन स्थिति में एक ऐसी सरकार की व्यवस्था होती है, जो शीघ्र एम्व् जोस निर्णय ले सके। यह तभी संभव है जब सभी शक्तियाँ एक स्थान पर केन्द्रित रहे और वह निर्भीक होकर देशहित में निर्णय ले सकें।

23.5.3 कुशल प्रशासन— एकात्मक शासन में दक्षता, क्षमता और कुशलता बहुत अधिक बढ़ जाती है। सारी व्यवस्था का उत्तरदायित्व केन्द्र पर ही रहता है। शासन का संचालन और नीतियों का निर्धारण एक ही स्थान से होता है। इससे प्रशासन में कुशलता आती है।

23.5.4 अधिक परिवर्तनशील— एकात्मक सरकार में संविधान इतना कठोर नहीं होता जितना संघात्मक में अतः आवश्यकता के अनुसार संविधान में सरलता से संशोधन किया जा सकता है।

23.5.5 सरल शासन व्यवस्था— एकात्मक शासन व्यवस्था काफी सरल होती है। इसमें न तो दोहरी शासन व्यवस्था रहती है और न ही दोहरी नागरिकता रहती है। न ही उत्तरदायित्व का झगड़ा रहता है। समस्त शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार में निहित रहने से प्रशासनिक निर्णय आसानी से हो जाते हैं।

23.5.6 कम खर्चीली— एकात्मक व्यवस्था संघात्मक के मुकाबले कम खर्चीली होती है, क्योंकि संघात्मक की भांति इस प्रणाली में संघ तथा राज्यों की पृथक-पृथक दोहरी शासन व्यवस्था नहीं रहती है। इसमें कम से कम कर्मचारियों की आवश्यकता रहती है। मंत्रियों पर भी व्यय नहीं होता है।

23.5.7 संघर्ष की सम्भावना कम— एकात्मक शासन में केन्द्र और उसकी इकाइयों के बीच संघर्ष की संभावना कम से कम रहती है। सभी इकाइयों केन्द्र के अधीन होती हैं इसलिए सभी को केन्द्र का निर्णय मानना पड़ता है।

23.5.8 सुदृढ़ अन्तराष्ट्रीय स्थिति— अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में भी एकात्मक शासन की स्थिति काफी सुदृढ़ और स्पष्ट रहती है क्योंकि नीति में एकरूपता के कारण केन्द्र

राष्ट्रीय हितों को आधार मानकर अन्तर्राष्ट्रीय स्थिर के महत्वपूर्ण फैसले लेता है।

23.6 एकात्मक के दोष

एकात्मक सरकार के अनेक दोष भी उजागर होते हैं, जिन्हें निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

23.6.1 केन्द्रीय सरकार का निरंकुश बनने का भय— शक्तियों के केन्द्रीयकरण के कारण केन्द्र सरकार अपनी मनमर्जी करने लगती है। जिसकी परिणति आगे चलकर निरंकुशता में बदल जाती है। रेम्जी म्योट ने लिखा “इंग्लैण्ड में मन्त्रिमण्डल की तानाशाही स्थापित हो गई है।”

23.6.2 लोकतन्त्र विरोधी— कुछ विद्वानों का मानना है कि अत्यधिक केन्द्रीयकरण के कारण लोकतन्त्र की सफलता संदिग्ध हो जाती है। लोकतन्त्र की सफलता की प्रथम शर्त विकेन्द्रीकरण है ताकि शासन में अधिक से अधिक लोगों की भागीदारी सुनिश्चित हो सके। इस शासन में विकेन्द्रीकरण के लिए कोई स्थान नहीं होता है।

23.6.3 नौकरशाही को प्रोत्साहन— प्रायः एकात्मक व्यवस्था में लोगों को शासन व्यवस्था में भाग लेने का कम से कम अवसर मिलता है। शासन-शक्ति सरकारी कर्मचारियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप नौकरशाही का शासन स्थापित हो जाता है। यह नौकरशाही जनता का शोषण करती है।

23.6.4 जनता की उदासीनता— एकात्मक सरकार में जनता का सार्वजनिक कार्यों में रुचि कम हो जाती है और वह राज्य कार्यों के प्रति उदासीन रहने लगती है। इस सम्बन्ध में गार्नर ने कहा, “एकात्मक शासन में स्थानीय कार्य-क्षमता का ह्रास होता है, सार्वजनिक कार्यों के प्रति दिलचस्पी कम हो जाती है। स्थानीय शासनों की उपयोगिता घट जाती है और केन्द्रीय नौकरशाही का विकास होता है। यह जन-उदासीनता किसी भी देश के लिए अच्छी नहीं है।”

23.6.5 बड़े राज्यों के लिए अनुपयोगी— बड़े एवम् विविधता वाले देशों के लिए यह आवश्यक है कि शासन में सभी क्षेत्रों के लोगों को उचित प्रतिनिधित्व मिले, जो एकात्मक शासन में संभव नहीं है। इसके अलावा विभिन्न आवश्यकताओं और समस्याओं की ओर केन्द्र का ध्यान नहीं जाता है। अतः इनके समाधान हेतु इकाईयों का प्रभावी होना बहुत आवश्यक होता है।

23.6.6 केन्द्र पर अनावश्यक बोझ— एकात्मक व्यवस्था में केन्द्र के द्वारा ही तगाग निर्णय लिये जाते हैं जिसका प्रभाव यह पड़ता है कि इरागों केन्द्र पर अनावश्यक भार बढ़ जाता है। अधिकांश विषय ऐसे होते हैं जो यदि प्रान्तों को दे दिये जायें तो वे आसानी से दायित्व का निर्वाह कर केन्द्र के भार को कम कर सकते हैं।

23.7 सारांश

एकात्मक व्यवस्था के अवगुणों के बावजूद इसका अपना एक विशेष महत्व है जो संघीय व्यवस्था को भी अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। वर्तमान में सभी रूपों में एकात्मक प्रवृत्ति की ओर रुझान बढ़ रहा है।

संघात्मक व्यवस्था

शासन व्यवस्था का दूसरा रूप हमें संघात्मक व्यवस्था के रूप में दिखाई देता है। जहाँ एकात्मक शासन में सभी शक्तियाँ केन्द्र में निहित होती हैं। वहीं संघात्मक व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन स्पष्ट रूप से होता है। संघ शब्द अंग्रेजी भाषा के फेडरेशन शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है जो लैटिन भाषा के ‘फोएडस’ शब्द से बना जिसका अर्थ होता है सन्धि या समझौता।

23.8 संघात्मक व्यवस्था की परिभाषा

1. डायसी के अनुसार, “संघात्मक राज्य एक ऐसे राजनीतिक उपाय के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता तथा राज्यों के अधिकारों में मूल स्थापित करना है।”
2. गार्नर के अनुसार, “संघात्मक सरकार वह पद्धति है जिसमें समस्त शासकीय शक्ति एक केन्द्रीय सरकार तथा उन विभिन्न राज्यों की सरकारों के बीच विभाजित एवं वितरित रहती है। जिनको मिलाकर संघ बनता है।”
3. फाइनर के शब्दों में “संघीय राज्य वह जिसमें अधिकार वह शक्ति का कुछ भाग स्थानीय क्षेत्रों में निहित हो, वह दूसरा भाग स्थानीय क्षेत्रों के समुदाय द्वारा विचारपूर्वक बनाई गई केन्द्रीय सरकार को दिया जाये।”
4. हैमिल्टन के मतानुसार, “संघ राज्यों का एक ऐसा समुदाय है जो नये राज्य का निर्माण करता है।”

वर्तमान समय में संघात्मक व्यवस्था संयुक्त राज्य अमरीका, भारत, कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया स्विटजरलैण्ड आदि में पाई जाती है।

23.9 संघात्मक की विशेषताएँ

संघात्मक व्यवस्था का निम्नलिखित विशेषताएं सामने आती हैं—

23.9.1 संविधान की सर्वोच्चता— संघीय व्यवस्था की सबसे प्रमुख लक्षण यह है कि इसमें संविधान की सर्वोच्चता होती है। संविधान में जो प्रावधान किये जाते हैं वे अंतिम व सर्वमान्य होते हैं। संविधान द्वारा ही केन्द्र व राज्यों के बीच स्पष्ट विभाजन होता है।

23.9.2 लिखित संविधान— संघात्मक व्यवस्था के लिये लिखित संविधान का होना नितान्त आवश्यक है। इस लिखित संविधान में केन्द्र एवम् अन्य इकाईयों के बीच स्पष्ट शक्ति वितरण उनके अधिकार क्षेत्र एवम् कार्यों का उल्लेख आवश्यक रहता है।

23.9.3 कठोर संविधान— कठोर संविधान का प्रावधान यह है कि संविधान के संशोधन प्रक्रिया में केन्द्र के साथ इकाईयों की भी भागीदारी होती है। जायसी ने लिखा है कि, "संविधान या तो अटल अपरिवर्तनशील होना चाहिए या उसे कोई ऐसी सत्ता ही बदल सके जो सामान्य विधानमण्डलों से ऊँची हो।" संविधान में बार बार परिवर्तन या संशोधन करने की गुंजायश नहीं होना चाहिए।

23.9.4 शक्तियों का विभाजन— संघीय व्यवस्था में केन्द्र एवं इकाईयों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन संविधान द्वारा कर दिया जाता है और दोनों के पृथक-पृथक क्षेत्र स्पष्ट कर दिये जाते हैं। दोनों सामान्य परिस्थितियों में एक-दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करते हैं। इसके लिए संघ सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची बना दी जाती है और अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र या राज्य (इकाईयों) को दे दी जाती हैं। भारत में ऐसी ही व्यवस्था है।

23.9.5 स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष न्यायपालिका— संघीय व्यवस्था में स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका का होना बहुत आवश्यक है, क्योंकि केन्द्र-राज्यों के बीच किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर यही समाधान कर सकती है। इसके अलावा न्यायपालिका नागरिक अधिकारों की रक्षा करती है। इस प्रकार न्यायपालिका संविधान के संरक्षण एवं व्याख्याकार के रूप में दायित्व निर्वाह करती है।

23.9.6 दोहरी नागरिकता— संघात्मक व्यवस्था में लोगों को केन्द्र के साथ-साथ जिस राज्य (इकाई) में निवास करता है वहाँ की भी नागरिकता प्राप्त होती है। इस तरह दोहरी नागरिकता संघ व्यवस्था का प्रमुख लक्षण है। संयुक्त राज्य अमेरिका में दोहरी नागरिकता का सिद्धान्त प्रचलित है।

23.9.7 उच्च सदन राज्यों का प्रतिनिधित्व— संघात्मक व्यवस्था में व्यवस्थापिका द्वि-सदनीय होती है। जहाँ निम्न सदन जनता का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन होता है, वहीं उच्च सदन राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है। यह सदन राज्यों के हितों का संरक्षण करता है। इस सदन को राज्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष निर्णय लेने का अधिकार होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सीनेट तथा भारत में राज्य सभा इसी तरह के सदन हैं।

23.10 संघात्मक व्यवस्था के गुण

वर्तमान समय में संघात्मक व्यवस्था को सर्वत्र उपयुक्त माना जाता है। इसमें व्यक्ति व राज्य के विकास की सर्वोच्च परिस्थितियाँ विद्यमान होती हैं। जे.एस.मिल के अनुसार, "यदि कार्यकुशलता एवं स्थायी व्यवस्था की आवश्यक दशाएँ विद्यमान हो तो दो प्रकार के संगठनों की जितनी अधिक संख्या होगी, संसार के लिए उतना ही अच्छा है।" इस प्रकार संघात्मक व्यवस्था के निम्नलिखित गुण हैं—

23.10.1 राष्ट्रीय एकता एवं क्षेत्रीय स्वायत्तता का समन्वय— इस व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें बहुत सारे छोटे-छोटे राज्य मिलकर एक संघ या राज्य को जन्म देते हैं और अपना स्वयं का स्वतन्त्र अस्तित्व भी सुरक्षित रखते हैं। इस व्यवस्था में राष्ट्रीय एकता व क्षेत्रीय स्वायत्तता का सुन्दर समन्वय है। छोटे-छोटे एवं कमजोर राज्य एकता के सूत्र में बंध जाते हैं और एक शक्तिशाली केन्द्र का निर्माण करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका संघ में 50 राज्यों से बना। इसी तरह भारत का निर्माण 562 देशी रियासतों एवं अन्य क्षेत्रों के मिलन से सम्भव हुआ।

23.10.2 स्थानीय स्वशासन के लिए उपयुक्त— संघीय व्यवस्था में शक्ति के विकेंद्रीकरण की व्यवस्था होती है। इससे स्थानीय स्वशासन एवं लोकतान्त्रिक भावनाओं का विकास होता है। शासन व्यवस्था में अधिक से अधिक लोगों की भागीदारी सुनिश्चित होती है। इसके परिणामस्वरूप जनता में राजनीतिक चेतना आती है और लोगों का मानसिक स्तर ऊँचा होता है तथा व्यक्तित्व में निखार आता है।

23.10.3 विविधता वाले देशों के लिए उपयुक्त— धार्मिक, भाषायी, भौगोलिक, सांस्कृतिक आदि विविधता वाले देशों के लिए यह उपयुक्त व्यवस्था है। पारस्परिक समन्वय से जहाँ एक ओर विभिन्न धर्मों और भाषाओं में समन्वय स्थापित होता है वहीं सांस्कृतिक एकता स्थापित होती है।

23.10.4 सार्वजनिक कार्यों के प्रति उत्साह— जब प्रान्तों एवं अन्य स्थानीय निकायों को पर्याप्त अधिकार प्राप्त होते हैं तो वे स्थानीय समस्याओं का समाधान अपने ही स्तर पर कर लेते हैं। इससे जनता प्रत्येक सार्वजनिक कार्य के प्रति उत्साह रखती है। वे अपनी समस्याओं के बारे में अन्य की अपेक्षा ज्यादा परिचित होती है।

23.10.5 केन्द्र के अनावश्यक भार में कमी— जब सभी विषयों का भार केन्द्र पर रहता है तो केन्द्र अपने दायित्वों का निर्वाह सही ढंग से नहीं कर पाता है। उसका परिणाम यह होता है उसमें अनेक प्रशासनिक बुराईयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र के पास कुछ राष्ट्रीय महत्व में अतिआवश्यक विषय रखे जाते हैं अन्य सभी विषय प्रान्तों को सौंप दिये जाते हैं।

23.10.6 प्रशासन में कार्यकुशलता— जब विषयों का स्पष्ट बंटवारा एवं उत्तरदायित्व तय कर दिया जाता है और केन्द्र पर से अनावश्यक भार कम कर दिया

जाता है तो इसके परिणाम स्वरूप प्रशासन में अधिक कार्य कुशलता आती है। केन्द्र अपना ध्यान अति आवश्यक एवं राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर केन्द्रित करता है और प्रान्त एवं स्थानीय निकाय अपने ही स्तर पर स्थानीय समस्याओं का समाधान कर देते हैं। इससे प्रशासन में पारदर्शिता, कार्यकुशलता एवं दक्षता आती है और जनता का भी शासन के प्रति विश्वास बना रहता है।

23.10.7 अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठा— संघात्मक व्यवस्था का आधार मिलजुल कर एक ऐसी व्यवस्था को जन्म देना है जो एक बड़ी शक्ति के रूप में सबका भला कर सके। एक बड़े राष्ट्र का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभाव रहता है और अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर उसका महत्वपूर्ण स्थान होता है।

23.10.8 विश्वसंघ की ओर एक कदम— छोटे-छोटे राज्यों को विशाल राज्य के रूप में संगठित करके संघ राज्य मानवीय दृष्टिकोण को उदार बनाता है। यदि इस दृष्टिकोण का विकास उत्तरोत्तर होता रहा तो हम यह आशा कर सकते हैं विश्व संघ का निर्माण भी आसानी से अतिशीघ्र किया जा सकता है। जे.एस.मिल ने कहा है कि, "यदि कार्यकुशलता एवं स्थायी संघात्मक व्यवस्था की आवश्यक दशाएं विद्यमान हो, तो इस प्रकार के संगठनों की संख्या जितनी ही अधिक होगी, संसार के लिए उतना ही अच्छा होगा।" वर्तमान में संघीय व्यवस्था को विश्व संघ का सोपान माना जाता है।

23.11 संघात्मक व्यवस्था के दोष

23.11.1 अकुशल शासन— केन्द्र और राज्यों में अलग-अलग सरकारें होने से शासन की कार्य-कुशलता घट जाती है। दोहरी शासन व्यवस्था के कारण एक ओर दक्षता और कुशलता कम होती है, दूसरी ओर निर्णय लेने में अनावश्यक देरी होती है।

23.11.2 निर्बल सरकार— संघात्मक व्यवस्था में एकात्मक की अपेक्षा निर्बल सरकार होती है। विकेंद्रीकरण एवं शक्ति पृथक्करण के कारण सुदृढ़ सरकार स्थापित नहीं की जा सकती है। कमजोर शासन होने के कारण निर्णय की दृढ़ता, एकरूपता और शीघ्रता का अभाव रहता है।

23.11.3 विद्रोह की सम्भावना— इस व्यवस्था में संघीय सरकार और प्रान्तों की सरकारों के बीच संघर्ष और विद्रोह की सम्भावना सदैव बनी रहती है। इस बात का हर समय भय बना रहता है कि ऐसे तत्व कभी भी अवसर पाकर विद्रोह कर राष्ट्रीय एकता, अखण्डता व सम्प्रभुता के समक्ष चुनौती पेश कर सकते हैं।

23.11.4 कठोर संविधान प्रगति में बाधक— प्रायः संघात्मक व्यवस्था में संविधान में संशोधन की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल होती है। जिसका प्रभाव यह होता है कि संविधान में समय एवं आवश्यकतानुसार परिवर्तन आसानी से नहीं किया जा सकता। इससे प्रगति में बाधा उत्पन्न होती है, जो समाज के लिए शुभ संकेत नहीं है।

23.11.5 संकटकाल के लिए अनुपयोगी— संकटकाल में ऐसी सरकार की आवश्यकता होती है जो तत्काल प्रभाव से निर्णय ले सके और देश को ऐसी स्थिति से उभार सके। लेकिन संघात्मक व्यवस्था में केन्द्र व राज्य के हित अलग-अलग होते हैं। इसलिए शासन के निर्णय में शिथिलता आ जाती है। अतः यह व्यवस्था संकटकाल का सफलतापूर्वक मुकाबला नहीं कर सकती है।

23.11.6 राष्ट्रीय एकता का खतरा— संघीय व्यवस्था में कभी-कभी कई अलग-अलग विश्वास और राष्ट्रीय भावना रखने वाले राज्य भी सदस्य होते हैं। उन्हें अपनी स्थानीय भावना के सामने राष्ट्रीय हित गौण नजर आते हैं। मैटल ने लिखा है कि, "संघीय शासन प्रणाली वाले देशों में केन्द्रीय सरकार और प्रादेशिक सरकारों के बीच वैमनस्य का खतरा सदैव बना रहता है। सदैव इस बात की आशंका रहती है कि कोई राज्य विद्रोह न कर बैठा या साम्प्रदायिक तत्व सिर न उठाने लगे।"

23.11.7 संगठन की जटिलता— केन्द्र व राज्यों के बीच संविधान द्वारा शक्तियों का स्पष्ट निर्धारण करने के बावजूद पारस्परिक विवाद बना रहता है। यह मतभेद और विवाद संघ के लिए अहितकर है।

23.11.8 उत्तरदायित्व की अनिश्चितता— एकात्मक शासन में शासन का उत्तरदायित्व सुगमता से स्थापित किया जा सकता है। क्योंकि सभी प्रशासनिक कार्यों के लिए केन्द्र सरकार ही उत्तरदायी होती है। संघीय शासन में विभिन्न प्रशासनिक त्रुटियों के लिए केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारें, दोनों ही एक-दूसरे को उत्तरदायी ठहराती हैं। ऐसी स्थिति में उत्तरदायित्व निश्चित करना बहुत अधिक कठिन हो जाता है।

23.11.9 अधिक खर्चीली— संघात्मक व्यवस्था, एकात्मक व्यवस्था की तुलना में अधिक खर्चीली होती है। वैध शासन होने के कारण प्रशासनिक व्यवस्था के संचालन में भारी व्यय आता है।

23.12 सारांश

सारांश में वर्तमान में सभी संघात्मक व्यवस्थाओं में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, राज्यों का आन्तरिक प्रशासन इत्यादि ने केन्द्र की भूमिका को बढ़ावा दिया है, जो आज उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है।

23.13 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. एकात्मक व्यवस्था का अर्थ स्पष्ट करते हुए, उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. एकात्मक के गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए।
3. संघात्मक का अर्थ स्पष्ट करते हुए, उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
4. संघात्मक के गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. एकात्मक की कोई तीन विशेषताएं बताओ।
2. एकात्मक के कोई तीन गुण बताओ।
3. संघीय व्यवस्था की कोई तीन विशेषताएं बताओ।
4. संघात्मक शासन के कोई तीन दोष बताओ।

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. एकात्मक का अर्थ बताओ।
2. एकात्मक व्यवस्था कहाँ-कहाँ पायी जाती है?
3. संघात्मक का अर्थ बताओ।
4. संघात्मक व्यवस्था कहाँ-कहाँ पायी जाती है?
5. संघात्मक में स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की क्या भूमिका है?
6. संकट काल के लिए किस व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है?

23.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सी.बी.गेना, "तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएं", विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
2. के.के.मिश्र, "तुलनात्मक शासन एवं राजनीति", प्रगति पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
3. आर.सी. अग्रवाल, "विश्व के प्रमुख संविधान", एस.चन्द एण्ड कंपनी, नई दिल्ली।
4. धर्मचन्द जैन— भारत में संघीय व्यवस्था
5. धर्मचन्द जैन—केन्द्र राज्य सम्बन्ध

इकाई-24 : संसदीय एवं अध्यक्षीय

संरचना

24.1 उद्देश्य

24.2 प्रस्तावना

संसदीय शासन

24.3 संसदीय शासन: अर्थ एवं परिभाषा

24.4 संसदीय शासन की विशेषताएं

24.4.1 राज्य का मुखिया नाममात्र की शक्तियों का प्रयोग करता है

24.4.2 नाममात्र एवं वास्तविक कार्यपालिका का भेद

24.4.3 व्यवस्थापिका व कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध

24.4.4 कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता

24.4.5 सामूहिक उत्तरदायित्व

24.4.6 प्रधानमंत्री का नेतृत्व

24.4.7 राजनीतिक सहजातीयता

24.4.8 गोपनीयता

24.4.9 विधानमण्डल का विखण्डन

24.4.10 व्यक्तिगत जिम्मेदारी

24.5 संसदीय शासन के गुण

24.5.1 कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध

24.5.2 उत्तरदायी शासन व्यवस्था

24.5.3 लचीलापन

24.5.4 विरोधी दलों का महत्व

24.5.5 राजनीतिक चेतना

24.5.6 शासन निरंकुश नहीं हो पाता

24.5.7 लोकमत का आदर

24.5.8 शासनाध्यक्ष का निष्पक्ष प्रदर्शन

24.6 संसदीय शासन के दोष

24.6.1 मंत्रिमण्डल की तानाशाही का भय

24.6.2 अस्थिर शासन

24.6.3 शक्तिपृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिकूल

24.6.4 दुर्बल शासन

24.6.5 अनाड़ियों का शासन

24.6.6 संकट काल के लिए उपयुक्त नहीं

24.6.7 नौकरशाही का प्रभाव

24.7 व्यवहार में संसदीय शासन

24.8 संसदीय शासन की सफलता की शर्तें

24.8.1 द्विदलीय व्यवस्था

24.8.2 नियतकालीन चुनाव

24.8.3 सुदृढ़ विपक्ष

24.8.4 स्पीकर की निष्पक्षता

24.8.5 संसदीय सर्वोच्चता

अध्यक्षात्मक शासन

प्रस्तावना

24.9 अध्यक्षीय शासन से अभिप्राय

24.10 अध्यक्षीय शासन की विशेषताएं

24.10.1 शक्तियों का पृथक्करण

24.10.2 कार्यपालिका की सुदृढ़ स्थिति

24.10.3 निश्चित कार्यकाल

24.10.4 वास्तविक मन्त्रिमण्डल नहीं

24.10.5 उत्तरदायित्व का अभाव

24.11 अध्यक्षीय शासन के गुण

24.11.1 स्थायी कार्यपालिका

24.11.2 संकटकाल में उपयुक्त

24.11.3 नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा

24.11.4 दलबन्दी का अभाव

24.11.5 दक्ष शासन

24.11.6 विशाल राष्ट्रों के लिए उपयुक्त

24.12 अध्यक्षीय शासन के दोष

24.12.1 निरंकुशता का भय

24.12.2 शासन में गतिरोध उत्पन्न होता है

24.12.3 कठोर शासन

24.12.4 उत्तरदायित्व की अनिश्चितता

24.12.5 लोकमत के प्रतिकूल

24.12.6 न्यायपालिका का अनुचित हस्तक्षेप

24.13 व्यवहार में अध्यक्षीय शासन

24.14 संसदीय व अध्यक्षीय शासन प्रणालियों की तुलना

24.15 सारांश

24.16 अभ्यास प्रश्नावली

24.17 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

24.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य संसदीय तथा अध्यक्षीय व्यवस्था से अवगत करवाना है। इसमें आप जान सकेंगे—

- संसदीय तथा अध्यक्षीय प्रणाली किसे कहते हैं,
- एक दूसरे की प्रमुख विशेषताओं के बारे में जो एक-दूसरे से भिन्न हैं, जानकारी प्राप्त करेंगे।
- इनकी सफलता की आवश्यक शर्तों एवं परिस्थितियों को जानेंगे,
- व्यवहार में इनका प्रकार किस प्रकार किया जा रहा है,
- इन दोनों प्रणालियों में बुनियादी अन्तर के संबंध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

24.2 प्रस्तावना

सरकार के अंगों के पारस्परिक संबंधों के आधार अध्यक्षात्मक एवं संसदीय व्यवस्था का विविध रूप होता है। यदि कार्यपालिका विधायिका व संसद के प्रति उत्तरदायी है तो यह संसदीय सरकार कहलाती है। इसकी विपरीत अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यपालिका और विधायिका एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहती है। बेजहॉट के शब्दों में, "विधायिका और कार्यपालिका शक्तियों की एक-दूसरे से स्वतन्त्रता अध्यक्षात्मक सरकार का विशिष्ट लक्षण है और इन दोनों का एक-दूसरे से संयोग तथा घनिष्ठता संसदीय सरकार का।" ब्रिटेन, भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, इजरायल आदि देशों में संसदीय शासन-प्रणाली है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली प्रशासन संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस तथा श्रीलंका में है।

संसदात्मक शासन

24.3 संसदात्मक शासन: अर्थ एवं परिभाषा

संसदात्मक शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। इसे उत्तरदायी अथवा मंत्रिमण्डलात्मक सरकार भी कहा जाता है क्योंकि इसमें मन्त्रिमण्डल के पास सरकार की वास्तविक शक्तियां होती हैं और वह संसद के विश्वासपर्यन्त तक अपने पद पर बना रह सकता है। राज्य का अध्यक्ष केवल नाममात्र या दिखावे का अध्यक्ष होता है। विभिन्न विद्वानों ने संसदीय शासन की परिभाषाएँ निम्नलिखित प्रकार से की हैं।

गार्नर— "संसदीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत वास्तविक कार्यपालिका विधानमण्डल या उसके एक सदन के प्रति प्रत्यक्ष तथा कानूनी रूप से और निर्वाचकों के प्रति अन्तिम रूप से, अपनी राजनीतिक नीतियों और कार्यों के लिए उत्तरदायी रहती है, जबकि राज्य का प्रमुख जो नाममात्र की कार्यपालिका होता है, अनुत्तरदायित्व की स्थिति में रहती है।"

गेटेल— "संसदात्मक सरकार उसे कहते हैं, जिसमें प्रधानमन्त्री एवं मन्त्रिपरिषद् से निर्मित वास्तविक कार्यकारिणी अपने सभी कार्यों के लिए कानूनी रूप से व्यवस्थापिक-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होती है।"

24.4 संसदात्मक शासन की विशेषताएं

संसदात्मक शासन के प्रमुख लक्षण अथवा विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

24.4.1 राज्य का मुखिया नाममात्र की शक्तियों का प्रयोग करता है— संसदीय सरकार की मुख्य विशेषता यह है कि संवैधानिक दृष्टि से राज्य के मुखिया के पास बहुत सारी शक्तियां होती हैं, परन्तु व्यवहार में वह उनका प्रयोग बहुत ही कम करता है। व्यवहार राज्य के मुखिया की शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद् द्वारा किया जाता है। इंग्लैण्ड, जापान, भारत के शासनाध्यक्षों—राजा अथवा राष्ट्रपति—की शक्तियां नाममात्र की हैं।

24.4.2 नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका का भेद— इस शासन-प्रणाली में नाममात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका में भेद होता है। राज्य का प्रधान नाममात्र की कार्यपालिका होता है, जबकि वास्तविक कार्यपालिका प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मन्त्रि-परिषद् होती है। इंग्लैण्ड, भारत व जापान में ऐसा ही है।

24.4.3 व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध— संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे से पृथक् न होकर परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं। कार्यपालिका की नियुक्ति व्यवस्थापिका में से ही की जाती है और कार्यपालिका अपने कार्यों और नीतियों के लिए व्यवस्थापिका के ही प्रति उत्तरदायी होती है। भारत, इंग्लैण्ड, जापान आदि संसदीय प्रणाली वाले राज्यों में मन्त्रिमण्डल का निर्माण लोकसदन से होता है और वह लोकसदन के प्रति उत्तरदायी भी रहता है।

24.4.4 कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता— इस शासन-व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल निश्चित नहीं होता है। मन्त्रिपरिषद् उसी समय तक अपने पद पर बनी रह सकती है जब तक उसे व्यवस्थापिका के निम्न सदन का विश्वास प्राप्त हो।

24.4.5 सामूहिक उत्तरदायित्व— संसदीय शासन में वास्तविक कार्यपालिका का निर्माण करने वाले मन्त्री सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। संसदीय शासन का नियम है— "सब एक के लिए एवं एक सबके लिए", और जैसी कहावत है, "वे इकट्ठे ही तैरते या इकट्ठे ही डूबते हैं।" इसका अर्थ यह है कि मन्त्रिमण्डल में जब एक निर्णय हो जाता है, प्रत्येक मन्त्री का कर्तव्य है कि उसका संसद और जनता में समर्थन करे, चाहे वह उस निर्णय से मन्त्रिमण्डल की बैठक में सहमत रहा हो या असहमत। मन्त्रिमण्डल जनता, विधानमण्डल और कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान के सम्मुख एक इकाई के रूप में कार्य करता है।

24.4.6 प्रधानमन्त्री का नेतृत्व— संसदीय शासन में प्रधानमन्त्री संसद का नेता होता है। वह मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला है। प्रो. लास्की के शब्दों में, "वह मन्त्रिमण्डल के निर्माण, जीवन और मरण में केन्द्रीय स्थिति रखता है।" संसद के निम्न सदन में बहुमत दल का नेता होने के कारण वह सदन का भी नेता कहलाता है। इस व्यवस्था में प्रधानमंत्री गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र होता है, और सारी राजनीतिक व्यवस्था उसके इर्द-गिर्द केन्द्रित होती है।

24.4.7 राजनीतिक सजातीयता— इसका यह अर्थ है कि सब मन्त्री मन्त्रिमण्डल में एक टीम की भांति काम करते हैं और जनता के सामने अपने मतभेद प्रकट नहीं

करते। मन्त्री प्रायः एक ही दल से सम्बन्धित होते हैं, परन्तु यदि संयुक्त सरकार हो तो वे एक से भी अधिक दलों से सम्बद्ध हो सकते हैं। इस परिस्थिति में वे निश्चित नीति व कार्यक्रम को तय करके कार्य करते हैं।

24.4.8 गोपनीयता— जब मन्त्री अपना पद सम्भालते हैं, तो उन्हें संविधान के प्रति वफादार होने और सरकार के रहस्यों को गुप्त रखने की शपथ लेनी पड़ती है।

24.4.9 विधानमण्डल का विघटन— संसदीय सरकार में कभी-कभी किसी-किसी मामले पर कार्यपालिका और विधानमण्डल में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। परिस्थिति में मुख्य कार्यपालिका को विधानमण्डल के विघटन का अधिकार होता है ताकि वह उस समय नए चुनाव कराके मतदाताओं का निर्णय प्राप्त कर सके। इंग्लैण्ड तथा भारत में इस अधिकार का प्रयोग हुआ है। भारत में अनेक अवसरों पर राष्ट्रपति ने लोकसभा को समयावधि के पूर्व विघटित किया है।

24.4.10 व्यक्तिगत जिम्मेदारी— जहाँ मन्त्रियों की संसद के प्रति सामूहिक जिम्मेदारी होती है, वहाँ प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग के कार्यों के लिए स्वयं भी जिम्मेदार होता है। संसद के सदस्य उससे प्रश्न पूछ सकते हैं और उसके विभाग की आलोचना भी कर सकते हैं। इंग्लैण्ड, भारत तथा जापान में इस सिद्धान्त का व्यवहार में प्रयोग हुआ है। अपने विभागों की गलतियों के कारण अनेक बार मन्त्रियों ने त्यागपत्र दिए हैं। मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यक्तिगत रूप से प्रधानमंत्री तथा सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

24.5 संसदीय शासन के गुण

संसदात्मक प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं:

24.5.1 कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध— संसदीय शासन का सबसे बड़ा गुण यह है इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में सामंजस्य एवं सहयोग रहता है। इससे शासन में सुगमता रहती है।

मन्त्रिपरिषद् व्यवस्थापिका की समिति के रूप में कार्य करती है। शासन के अंगों में मतैक्य रहने से शासन निर्बाध रूप से चलता रहता है। संघर्ष या गतिरोध-रहित शासन कुशल सिद्ध होता है।

24.5.2 उत्तरदायी शासन-व्यवस्था— इस शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के सदस्यों के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होती है। इस व्यवस्था में, जैसा डायसी ने लिखा है, "मन्त्रिमण्डल को जनता के प्रति अधिक सचेत रहना पड़ता है क्योंकि इस पर ही उसका अस्तित्व निर्भर है।" इस व्यवस्था में अयोग्य कार्यपालिका को एक निश्चित अवधि तक सहन करना आवश्यक नहीं होता। यदि कार्यपालिका संसद का विश्वास खो बैठती है, तो उसे पदच्युत किया जा सकता है। कार्यपालिका संसद के विश्वास पर्यन्त तक ही अपने पद पर बनी रहती है।

24.5.3 लचीलापन— यह शासन-प्रणाली लचीली होती है, इसमें परिस्थिति के अनुसार सरकार को परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसा सम्भव है कि शान्तिकाल में जो सरकार कुशलतापूर्वक देश का संचालन करती हो, यह युद्ध काल में न कर सके। ऐसी व्यवस्था में समयानुकूल सरकार या उसके नेतृत्व में परिवर्तन सम्भव है। आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न दलों का संयुक्त या संविदा या गठबन्धन मन्त्रिमण्डल बनाकर राष्ट्रीय सरकार की भी स्थापना की जा सकती है। सन् 1996 ई. के बाद भारत में इसी तरह के संविदा मन्त्रिमण्डल सत्ता में आये।

24.5.4 विरोधी दलों का महत्व— संसदीय शासन व्यवस्था में विरोधी दलों का महत्व बना रहता है। वे न केवल शासन पर अंकुश रखते हैं बल्कि किसी भी समय शासन बदलने के लिए भी तैयार रहते हैं। शक्तिशाली विरोधी दल के कारण सरकार जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने हेतु सदैव सजग रहती है तथा निरंकुश बनने का दुःसाहस नहीं कर पाती। विपक्ष अपनी स्वनात्मक भूमिका से शासन को लाभान्वित कर सकता है। इंग्लैण्ड में तो विपक्ष छाया मन्त्रिमण्डल के रूप में भी कार्य करता है और यहां तक कहा जाता है प्रधानमंत्री जितना अपनी पत्नी को नहीं जानता, उतना प्रतिपक्ष के नेता को जानता है।

24.5.5 राजनीतिक चेतना— संसदीय शासन में जनता राजनीतिक दृष्टि से जाग्रत होती है। उसे राजनीतिक शिक्षा मिलती है। विभिन्न राजनीतिक दल विरोधी विचारधाराओं को जनता के समुख रखते हैं। संसद में वाद-विवाद होता है तथा विरोधी विचार व्यक्त किए जाते हैं। इससे जनता में राजनीतिक चेतना आती है, उसे हर समस्या के हर पहलू का ज्ञान हो जाता है।

24.5.6 शासन निरंकुश नहीं हो पाता— संसदात्मक शासन प्रणाली एक प्रकार से नियन्त्रित शासन का सिद्धान्त है। इस प्रणाली में कार्यपालिका के ऊपर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण बना रहता है। इस नियन्त्रण का उपयोग व्यवस्थापिका भिन्न-भिन्न तारकों से करती है, जैसे प्रश्न पूछना, निन्दा प्रस्ताव, कार्य स्थगन प्रस्ताव, कटौती प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण, अविश्वास प्रस्ताव आदि।

24.5.7 लोकमत का आदर— इस व्यवस्था में मन्त्री संसद के सदस्य होते हैं और संसद सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं। अतः स्वाभाविक रूप से वे लोकमत का आदर करते हैं।

24.5.8 शासनाध्यक्ष का निष्पक्ष परामर्श— इस शासन-प्रणाली में शासनाध्यक्ष, राजा या राष्ट्रपति का किसी भी राजनीतिक दल से सम्बन्ध नहीं होता। वह निष्पक्ष एवं तटस्थ परामर्शदाता की भांति होता है। वह शासन को संकट के समय उचित परामर्श देता है और यदि शासन कोई गलत कार्य करने लगे तो वह उसे चेतावनी देता है।

यथार्थ में शासनाध्यक्ष सच्चे मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है। इस तरह से शासक अभिभावक, मार्गदर्शक तथा चेतावनी देने वाले की भूमिका का निर्वाह करता है।

24.6 संसदीय शासन के दोष

संसदीय शासन के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं।

24.6.1 मन्त्रिमण्डल की तानाशाही का भय—संसदीय शासन में बहुमत-दल मन्त्रिमण्डल बनाता है। यदि मन्त्रिमण्डल के पीछे संसद का पर्याप्त बहुमत है तो वह मनमानी कर सकता है। प्रधानमंत्री विशेष परिस्थितियों में संसद के निम्न सदन को भंग करवा सकता है। प्रो लॉस्की के शब्दों में, "संसदीय शासन निश्चय ही कार्यपालिका को अत्याचारी बनने का अवसर प्रदान करता है। व्यवस्थापिका केवल निर्णयों को रजिस्टर में दाखिल करने वाला विभाग बन जाती है।" रैम्जे म्योर के शब्दों में, "आजकल का यह अधिनायकत्व पिछली दो पीढ़ियों की अपेक्षा अधिक कठोर है।"

24.6.2 अस्थिर शासन—संसदीय प्रणाली में सरकार को स्थिर बनाने के लिए यह परम आवश्यक है कि सत्तारुढ़ दल के पीछे संसद में काफी बहुमत हो। यदि ऐसा नहीं है, तो शासन की स्थिति अस्थिर बनी रहती है। कभी भी मन्त्रिमण्डल का तख्ता उलट सकता है। उदाहरणार्थ, चतुर्थ आम चुनावों के बाद भारत के अनेक राज्यों में कई बार सरकारें बदलीं। सन् 1989 ई. के बाद केन्द्र में भी अनेक संविदा सरकारें सत्ता में आईं। इस तरह शासन-प्रणाली अस्थायी रहने से कोई भी काम ठीक तरह से नहीं चल सकता।

24.6.3 शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिकूल—इस शासन-प्रणाली में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की शक्तियों को पूर्ण रूप से एकीकरण हो जाता है। इससे सामान्य जनता की स्वतन्त्रता के लिए संकट उत्पन्न हो सकता है। ऐसी व्यवस्था आसानी से स्वेच्छाचारी बन सकती है। माण्टेस्क्यू ने लिखा है कि "यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति या एक ही संस्था में केन्द्रित हो जाएँ तो कोई स्वतन्त्रता नहीं रह सकती क्योंकि इस बात का भय उत्पन्न हो जाता है कि कहीं राजा या सीनेट अत्याचारी कानून बनाए और उन्हें अत्याचारी ढंग से लागू करे।"

24.6.4 दुर्बल शासन—संसदीय शासन में किसी एक व्यक्ति पर शासन की पूर्ण जिम्मेदारी नहीं होती है। प्रधानमंत्री अन्य मन्त्रियों का नेता मात्र ही होता है। उसे भी विभिन्न प्रकार के दबावों में काम करना पड़ता है। अतः शीघ्र एवं प्रभावशाली निर्णय नहीं लिए जा सकते। संविदा सरकारों का नेतृत्व करने वाले प्रधानमंत्रियों की स्थिति और भी कमजोर होती है।

24.6.5 अनादियों का शासन—संसदीय शासन में मन्त्री बनने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति व्यवस्थापिका का सदस्य हो। प्रायः यह देखा गया है कि योग्य, विद्वान और दक्ष व्यक्ति राजनीति के झमेले में नहीं पड़ना चाहते। इसलिए केवल सामान्य स्तर के व्यक्ति ही व्यवस्थापिका के सदस्य बनते हैं। उन्हीं में से मन्त्री बनते हैं। परिणाम यह होता है कि कई मन्त्री तो सर्वथा अयोग्य होते हैं। सिडनी लॉ ने लिखा है, "राजस्व विभाग में क्लर्क प्राप्त करने के लिए एक युवक को गणित की परीक्षा पास करना अनिवार्य है, परन्तु राजस्व विभाग का वित्तमन्त्री कोई भी अर्धेष्ट दुकानदार हो सकता है जो ईटन व आक्सफोर्ड में पढ़ा हुआ अंकगणित भूल चुका हो और दशमलव अंकों को समझने की चेष्टा कर रहा हो।" ऐसे अविशेषज्ञ मन्त्री शासन का कुशलपूर्वक संचालन नहीं कर सकते हैं।

24.6.6 संकट काल के लिए उपयुक्त नहीं—संकट काल में तुरन्त निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। परन्तु संसदीय शासन में मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यों की राय जानने और सर्वसम्मति पैदा करने में बहुत समय बर्बाद हो सकता है। इस प्रकार विलम्ब होने से राष्ट्र की बहुत हानि हो सकती है।

24.6.7 नौकरशाही का प्रभाव—संसदीय शासन में प्रधानमंत्री मन्त्रियों को मन्त्रिमण्डल में उनकी प्रशासनिक योग्यता के आधार पर नहीं बल्कि उनके राजनीतिक प्रभाव को देखकर नियुक्त करता है। मन्त्रियों के पास कई बार ऐसे विभाग आ जाते हैं जिनके बारे में उन्हें कोई ज्ञान नहीं होता। मन्त्री अपने काम में विशेषज्ञ नहीं होते, इसलिए सरकारी काम-काज के लिए उन्हें नौकरशाही पर निर्भर हो जाना पड़ता है। नौकरशाही का अनुचित प्रभाव प्रतिनिधि शासन के लिए घातक सिद्ध होता है।

24.7 व्यवहार में संसदीय शासन

संसदीय शासन के बुनियादी तत्व हैं—राजनीतिक व्यवस्था की सम्पूर्ण शक्तियों का संसद में केन्द्रित रहना, कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति निरन्तर उत्तरदायित्व तथा मन्त्रिमण्डल का विशिष्ट महत्व होना।

ऐसा कहा जाता है कि व्यवहार में संसदीय-शासन का स्वरूप कुछ और होता जा रहा है। अब संसद केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही शक्तियों का केन्द्र रह गई है। भारत और ब्रिटेन जैसे संसदीय प्रणाली वाले राज्यों में संसद की प्रतिष्ठा में पर्याप्त ह्रास हुआ है। संसद के बिलों के हाथ की कठपुतली बनती जा रही है। संसद की सम्प्रभुता एक कानूनी पहेली बन गई है। वह एक 'रबर स्टाम्प' मात्र रह गई है। रैम्जे म्योर ने लिखा है, "मन्त्रिमण्डल की तानाशाही ने संसद की शक्ति तथा सम्मान को बहुत कम कर दिया है।" भारत और ब्रिटेन में कार्यपालिका संसद को भंग कर सकती है। कानून यथार्थ में संसद द्वारा नहीं बनाए जाते, अपितु कैबिनेट के नेतृत्व में बनते हैं। कैबिनेट दलीय बहुमत के आधार पर संसद से जैसा चाहे वैसा बजट पारित करवा लेता है। यथार्थ में कार्यपालिका संसद के प्रति निरन्तर उत्तरदायी भी नहीं कही जा सकती। भारत में सभी इस तथ्य से परिचित हैं कि श्रीमती गांधी ने किस तरह आपातकाल में संसद को अपने नियन्त्रण में रखा था?

ब्रिटेन और भारत में संसद की सम्प्रभुता का स्थान आज मन्त्रिमण्डल की सम्प्रभुता ने ले लिया है। यह मन्त्रिमण्डल की सम्प्रभुता, अन्ततः प्रधानमंत्री की सम्प्रभुता ही

है। आज तो मन्त्रिमण्डल, प्रधानमन्त्री के हाथों की कठपुतली कहा जा सकता है। संसदीय शासन-व्यवस्था वाले देशों में अब शक्ति का केन्द्र प्रधानमन्त्री बन गया है। इसलिए संसदीय शासन-प्रणाली को अब 'प्रधानमन्त्री शासन-प्रणाली' कहा जाता है। अब संसद की सभी शक्तियाँ प्रधानमन्त्री की इच्छा के अनुसार ही प्रयुक्त होती हैं। डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने लिखा है कि "सिद्धान्ततः मन्त्रिमण्डल संसद की एक समिति है, संसद सरकार की जननी है, किन्तु वास्तव में संसद सरकार को नहीं चलाती क्योंकि संसद में सदैव ही सरकारी पक्ष का बहुमत होता है।" यह सत्य है कि कानून बनाने की एवं कर और शुल्क लगाने की सर्वोपरि सत्ता संसद में निहित है, किन्तु वास्तविकता यह है कि विविध अधिनियमों का गर्भाधान और जन्म मन्त्रालयों में होता है, संसद में केवल मन्त्रोच्चारण के साथ उनका उपनयन संस्कार होता है और उन्हें औपचारिक यज्ञोपवीत दे दिया जाता है।" प्रो. जे. डी. सेठी लिखते हैं, "सिद्धान्ततः जब तक संसद की मर्जी हो मन्त्रिमण्डल सत्तारुढ़ रह सकता है, लेकिन व्यवहार में मन्त्रिमण्डल ने संसद के काम और उसके अधिकार अधिकाधिक मात्रा में हथिया लिए हैं और जिसे मन्त्रिमण्डल तानाशाही कहते हैं, उसकी अगवानी की है। भारत में हम एक कदम और आगे बढ़ गए और प्रधानमन्त्री को इजाजत दी गई कि वे मन्त्रिमण्डल तथा संसद दोनों के अधिकार हथिया लें। पं. नेहरु ने अनेक सूक्ष्म तरीकों से ऐसा किया था और श्रीमती गांधी ने बगैर किसी झिझक के।"

इस प्रकार संसदीय शासन-प्रणाली व्यवहार में "प्रधानमन्त्रीय व्यवस्था" में परिवर्तित हो जाती है। व्यवहार में संसद की शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री करता है।

24.8 संसदीय शासन की सफलता की शर्तें

यह सर्वविदित है कि कुछ देशों में संसदीय शासन-प्रणाली सुचारु रूप से चल रही है और कुछ देशों में उसके संचालन में निरन्तर गति अवरोध आ रहे हैं। संसदीय शासन की सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तें आवश्यक हैं—

24.8.1 द्विदलीय व्यवस्था— बहुदलीय व्यवस्था के बजाय द्विदलीय व्यवस्था आवश्यक है ताकि सरकार के निर्माण में आसानी हो। यदि ऐसा न हो तो कम से कम प्रतियोगी दल व्यवस्था होनी चाहिए अर्थात् चुनावों में दलों का मुकाबला बराबरी का हो। इंग्लैण्ड में द्विदलीय और प्रतियोगी दल व्यवस्था है जबकि भारत में ऐसा नहीं है।

24.8.2 नियतकालीन चुनाव— संसदात्मक व्यवस्था में सरकार उत्तरदायी होती है। नियतकालीन चुनाव ही वह माध्यम है जिससे सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया जा सकता है।

24.8.3 सुदृढ़ प्रतिपक्ष— एक सशक्त विरोधी दल संसदीय लोकतन्त्र में अपरिहार्य है। जब बहुमत दल होता है तो एक विरोधी दल भी होना चाहिए जो वैकल्पिक नीतियाँ प्रस्तुत कर सके।

24.8.4 स्पीकर की निष्पक्षता— संसदीय शासन का राजनीतिक खेल संसद के भीतर स्पीकर की देख-रेख में ही खेला जाता है। यदि स्पीकर निष्पक्ष आचरण न करे तो संसदीय व्यवस्था लड़खड़ा जाएगी। एस्कन के अनुसार, "स्पीकर वह कार्यपालक अधिकारी है, जो संसद के नियमों को क्रियान्वित करता है।" यदि स्पीकर निष्पक्ष होकर कार्य न करे तो विरोधी दल का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा, बहुमत दल की चेष्टाचारिता स्थापित हो जाएगी।

24.8.5 संसद की सर्वोच्चता— संसदीय शासन-प्रणाली का केन्द्र-बिन्दु संसद होती है। अतः सरकार के अन्य अंगों—कार्यपालिका और न्यायपालिका—की तुलना में उसकी सर्वोच्चता बनाए रखनी चाहिए। डी.वी. वर्ने ने लिखा है कि "अनेक संसदीय व्यवस्थाएँ इसलिए असफल हो गईं क्योंकि संसद के संघटक अंगों में से किसी ने सर्वोच्चता का दावा किया तथा संसद समग्र रूप में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका से सर्वोच्च नहीं रह सकी।" हम सभी जानते हैं कि फ्रांस में संसदीय प्रणाली 1946 से 1958 तक इसी कारण लड़खड़ाती रही।

अध्यक्षात्मक शासन

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली का समूह संसदीय शासन-प्रणाली से भिन्न सिद्धान्त पर आधारित है। इस शासन-प्रणाली में कार्यपालिका वैधानिक रूप से व्यवस्थापिका से पृथक् होती है, यह न तो उसमें से ली जाती है और न ही उसके प्रति उत्तरदायी होती है। संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस तथा श्रीलंका में इस व्यवस्था का प्रचलन है।

24.9 अध्यक्षीय शासन से अभिप्राय

अध्यक्षात्मक प्रणाली का आधार शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त है। इसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् और स्वतन्त्र होती हैं। बेजहॉट के शब्दों में, "व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शक्तियों की एक-दूसरे से स्वतन्त्रता अध्यक्षीय शासन का ठीक वैसा ही विशिष्ट लक्षण है जैसा उनका संयोजन तथा संयोग मन्त्रिपरिषद् प्रणाली का सुनिश्चित सिद्धान्त है।"

इस शासन-प्रणाली में शासनाध्यक्ष नाममात्र का प्रधान होकर वास्तविक कार्यपालिका होता है। उसकी शक्ति व्यवस्थापिका के विश्वास पर निर्भर नहीं होती तथा एक निश्चित अवधि तक वह अपने पद पर बना रहता है। वह अपनी सहायता के लिए जिन मन्त्रियों की नियुक्ति करता है, वे सब उसके प्रति ही उत्तरदायी होते हैं, न कि व्यवस्थापिका के प्रति। अमरीकी शासन व्यवस्था अध्यक्षीय प्रणाली का श्रेष्ठ उदाहरण है। वहाँ के राष्ट्रपति कार्यपालिका के क्षेत्र में तथा कांग्रेस व्यवस्थापन के क्षेत्र में एक-दूसरे से प्रायः स्वतन्त्र हैं। उन दोनों ही को जनता प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित करती है। राष्ट्रपति अपने राजनीतिक कार्यों एवं नीतियों के लिए कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। उसका कार्य-काल समाप्त होने के पूर्व सामान्यतः उसे पदच्युत नहीं किया जा सकता। केवल कुछ बड़े अपराधों के आधार पर उसे महाभियोग की विशेष प्रक्रिया द्वारा पद से हटाया जा सकता है। महाभियोग अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है और ऐसे अवसर प्रायः आते ही नहीं हैं। अभी तक अमरीका में किसी राष्ट्रपति को महाभियोग की प्रक्रिया से हटाया नहीं जा सका है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा अध्यक्षात्मक शासन की परिभाषाएं निम्नलिखित प्रकार से की गई हैं:

गार्नर—“अध्यक्षात्मक शासन वह व्यवस्था है जिसमें (राज्याध्यक्ष तथा उसके मन्त्रियों सहित) कार्यपालिका अपने कार्यकाल के लिए व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र और अपनी राजनीतिक नीतियों के लिए प्रति उत्तरदायी रहती है।”

गेटेल—“अध्यक्षात्मक शासन वह प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका का प्रधान अपने कार्यकाल और बहुत कुछ सीमा तक, अपनी नीतियों और कार्यों के बारे में विधानमण्डल से स्वतन्त्र होता है।”

24.10 अध्यक्षीय शासन की विशेषताएँ

इस शासन—प्रणाली में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

24.10.1 शक्तियों का पृथक्करण—यह शासन—प्रणाली शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका एक—दूसरे से सर्वथा पृथक् एवं स्वतन्त्र रहती हैं। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते और न उसके प्रति उत्तरदायी ही होते हैं। इस शासन—पद्धति में व्यवस्थापिका का कार्यपालिका पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता है। कानून निर्माण के अपने कार्य में विधायिका भी पूर्णतः स्वतन्त्र रहती है तथा उस पर कार्यपालिका का कोई नियन्त्रण नहीं होता है।

24.10.2 कार्यपालिका की सुदृढ़ स्थिति—इस प्रणाली में शासनाध्यक्ष नाममात्र का प्रधान न होकर वास्तविक कार्यपालिका होता है। वह उन शक्तियों का वास्तविक प्रयोग करता है जो संविधान तथा कानूनों द्वारा उसे प्रदान की जाती हैं।

24.10.3 निश्चित कार्यकाल—इस प्रणाली में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका दोनों का कार्यकाल निश्चित रहता है। जिस प्रकार व्यवस्थापिका कार्यपालिका को उसका कार्यकाल समाप्त होने के पहले हटा नहीं सकती, उसी प्रकार राष्ट्रपति भी विधानमण्डल को विघटित नहीं कर सकती।

24.10.4 वास्तविक मन्त्रिमण्डल नहीं—अध्यक्षात्मक पद्धति में वस्तुतः मन्त्रिमण्डल नहीं होता। सिर्फ राष्ट्रपति को सहायता पहुंचाने तथा सलाह देने के लिए कुछ सचिव होते हैं। रांरादीय प्रणाली की भांति वे एक इकाई या टीम का निर्माण नहीं करते हैं। गन्त्रीगण राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं, उसकी आज्ञानुरार कार्य करते हैं तथा उसकी इच्छापर्यन्त अपने पद पर रहते हैं।

24.10.5 उत्तरदायित्व का अभाव—इस पद्धति में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। विधायिका न तो उससे प्रश्न पूछ सकती है और न उसे अविश्वास—प्रस्ताव द्वारा पदच्युत ही कर सकती है। राष्ट्राध्यक्ष को केवल महाभियोग प्रक्रिया द्वारा हटाया जा सकता है।

24.11 अध्यक्षीय शासन के गुण

अध्यक्षीय शासन के प्रमुख गुण निम्नलिखित प्रकार से हैं:

24.11.1 स्थायी कार्यपालिका—अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका स्थायी होती है। कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए किया जाता है। इस अवधि में उसे साधारणतया अपदस्थ नहीं किया जा सकता।

24.11.2 संकटकाल में उपयुक्त—अध्यक्षीय शासन किसी भी संकटकालीन परिस्थिति का सरलता से सामना कर सकता है क्योंकि महत्वपूर्ण निर्णय एक ही व्यक्ति लेता है। आपात स्थिति आने पर राष्ट्रपति बिना मन्त्रियों के परामर्श की विन्यास किए या बिना संसद का विचार जाने अपिलम्ब राष्ट्रपति में निर्णय ले सकता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, “सम्भवतया यह सत्य है कि अध्यक्षीय प्रणाली युद्ध के समय में अधिक सक्षम होती है।”

24.11.3 नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा—अध्यक्षात्मक शासन—प्रणाली शक्ति—पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षक कहलाती है। शक्तियों का संकेन्द्रण सरकार के किसी एक अंग का निरंकुश बनना सम्भव नहीं है।

24.11.4 दलबन्दी का अभाव—अध्यक्षात्मक प्रणाली में राजनीतिक दलबन्दी का उग्र वातावरण नहीं पाया जाता। इस प्रणाली में चुनावों के बाद विरोधी दल निष्क्रिय हो जाते हैं। फलतः दल प्रणाली से उत्पन्न दोष इस पद्धति में नहीं पाए जाते हैं।

24.11.5 दक्ष शासन—इस शासन पद्धति में मन्त्रियों व महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति का आधार दलबन्दी न होकर कार्यकुशलता होता है। अध्यक्ष देश के विभिन्न क्षेत्रों से प्रतिभाओं को मन्त्रिमण्डल में लेने में स्वतन्त्र होता है। मन्त्रिमण्डल का सदस्य बनने के लिए चुनाव लड़ना आवश्यक नहीं होता। फिर, इस पद्धति में सरकार के प्रत्येक अंग का कार्यक्षेत्र स्वतन्त्र एवं सुनिश्चित होने से शासन में कुशलता आ जाती है।

24.11.6 विशाल राष्ट्रों के लिए उपयुक्त—यह शासन—प्रणाली उन देशों के लिए अधिक उपयुक्त रहती है जिनमें भाषा, संस्कृति, धर्म, आदि के आधार पर विविधता पाई जाती है। ऐसे विविधता वाले देशों में अध्यक्षीय प्रणाली एकता का संचार करती है।

24.12 अध्यक्षीय शासन के दोष

अध्यक्षात्मक प्रणाली के निम्नलिखित दोष सामने आते हैं:

24.12.1 निरंकुशता का भय— अध्यक्षात्मक शासन के निरंकुश होने का भय होता है क्योंकि कार्यपालिका अपनी नीति व कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। कार्यपालिका को महाभियोग के बिना निश्चित अवधि से पूर्व नहीं हटाया जा सकता। महाभियोग को लागू करना सरल नहीं होता।

24.12.2 शासन में गतिरोध उत्पन्न होना— इस शासन पद्धति में कार्यपालिका और विधायिका में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होते। वे एक-दूसरे से पृथक् एवं स्वतन्त्र रहती हैं। यदि कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में अलग-अलग दलों का अस्तित्व है तो प्रतिस्पर्धा और संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस संघर्ष से शासन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है।

24.12.3 कठोर शासन—प्रणाली— यह शासन—प्रणाली अत्यधिक कठोर एवं अनमनीय है। इसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों का कार्यकाल निश्चित रहता है। एक बार चुन लेने पर उन्हें पूरे कार्यकाल तक सहन करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में बेजहाँट ने लिखा है, “आप पहले से ही अपने शासन को स्थिर कर लेते हैं और चाहे वह अनुकूल हो या न हो, चाहे वह ठीक प्रकार से काम करे या न करे, चाहे आप उसे चाहें या न चाहें, कानून के अनुसार आपको उसे कायम रखना होगा।”

24.12.4 उत्तरदायित्व की अनिश्चितता— इस शासन—प्रणाली में शासन व व्यवस्थापन के लिए किसी को उत्तरदायी ठहराना बहुत मुश्किल होता है। शक्ति पृथक्करण के कारण किसी एक शासन में उत्तरदायित्व संकेन्द्रित नहीं होता और कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका एक-दूसरे पर दोष मढ़ते हुए जिम्मेदारी टाल सकती हैं।

24.12.5 लोकमत के प्रतिकूल— यह शासन—प्रणाली लोकमत की सरलता से उपेक्षा कर सकती है। अध्यक्ष का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए होता है और उससे पूर्व सामान्यतः उसे हटाया नहीं जा सकता इस प्रकार लोकमत का शासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

24.12.6 न्यायपालिका का अनुचित हस्तक्षेप— इस शासन—प्रणाली में न्यायपालिका शासन में लगातार हस्तक्षेप करती रहती है। कानूनों की व्याख्या का काम न्यायपालिका का होने के कारण संविधान वही होता है जो न्यायाधीश बतलाते हैं।

24.13 व्यवहार में अध्यक्षीय शासन

अध्यक्षात्मक शासन के सैद्धान्तिक लक्षण हैं— प्रथम कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका का एक-दूसरे से पृथक्त्व एवं हर एक का अनन्य अधिकार क्षेत्र होना। द्वितीय, मन्त्रिमण्डल का राष्ट्रपति के पूर्ण रूप से अधीन रहना। तृतीय, राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति केन्द्र का अभाव रहना, आदि।

वर्तमान में इन सैद्धान्तिक लक्षणों का व्यवहार में कोई महत्व नहीं रह गया है। अमरीकी संविधान में व्यवहारतः पूर्ण शक्ति पृथक्करण नहीं पाया जाता और “नियन्त्रण एवं सन्तुलन” के सिद्धान्त का विकास हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार शासन का एक विभाग दूसरे विभाग पर इस प्रकार नियन्त्रण रखता है कि शक्ति का एक उचित सन्तुलन बन जाता है। उदाहरणार्थ, कांग्रेस पर राष्ट्रपति भी नियन्त्रण रखता है और न्यायपालिका भी। राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा पारित कानून को ‘वीटो’ कर सकता है और सर्वोच्च न्यायालय कांग्रेस तथा राष्ट्रपति के गलत कार्यों को असंवैधानिक घोषित कर रद्द कर सकता है। इसी प्रकार राष्ट्रपति पर भी कांग्रेस का नियन्त्रण है। वह इस पर महाभियोग लगा सकती है। व्यवहार में, आजकल मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति का सेवक न रहकर सहयोगी बन गया है। इस प्रकार अध्यक्षीय व्यवस्था में उसी प्रकार राष्ट्रपति व्यवस्था, की धुरी बनता जा रहा है जिस प्रकार संसदीय प्रणाली में संसद शक्ति केन्द्र के रूप में क्रियाशील है। किसी ने ठीक ही लिखा है कि, “आज अमरीका की राजनीतिक व्यवस्था में राष्ट्रपति का स्थान महत्वपूर्ण ही नहीं हो गया वरन् राष्ट्रपति का पद एक ऐसी धुरी बन गया है जिसके इर्द-गिर्द व्यवस्था व न्यायपालन की शाखाएं घूमने लगी हैं।”

निष्कर्षतः शक्तियों के पृथक्करण की बुराइयों को दूर करने के लिए अब कानूनी क्षेत्र में राष्ट्रपति के नेतृत्व का उदय हो गया है। दलीय प्रथा ने कांग्रेस तथा राष्ट्रपति की नीतियों में मेल-जोल उत्पन्न करने में भी अपना योगदान दिया है। प्रशासन के सम्बन्ध में विकसित परम्पराओं, जैसे ‘सीनेट के सद्भाव या शिष्टाचार’, द्वारा भी पृथक्करण के दोषों व कठिनाइयों को हल करने में मदद मिलती है।

24.14 संसदात्मक व अध्यक्षीय शासन—प्रणालियों की तुलना

संसदात्मक व अध्यक्षीय शासन प्रणालियों के विवेचन से यह प्रकट होता है कि दोनों प्रकार की शासन प्रणालियों में अपनी-अपनी विशेषताएं, गुण तथा दोष निहित हैं। इस अन्तर के बावजूद आज चाहे शासन—प्रणाली संसदीय हो या अध्यक्षीय, सभी कार्यपालिका प्रधान होती जा रही हैं। दोनों ही शासन—प्रणालियों में कार्यपालिका का महत्व और इराकी शक्तियों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। व्यवहार में तो अब संसदीय और अध्यक्षीय प्रणालियों का अन्तर सैद्धान्तिक महत्व का रह गया है। दोनों ही शासन—प्रणालियों में कार्यपालिका सर्वोत्तम हो गई और विधायिका उसका अनुसरण करने वाली संस्था बनकर रह गई है।

संक्षेप में, संसदात्मक और अध्यक्षीय शासन प्रणालियों की तुलना निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है:

संसदात्मक शासन—प्रणाली	अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली
1 इस प्रणाली में कार्यपालिका दो भागों में विभक्त रहती है—नाममात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका।	1 इस प्रणाली में कार्यपालिका की शक्ति एक ही व्यक्ति में निहित रहती है।
2 इस प्रणाली में कार्यपालिका का समय अनिश्चित रहता है। राजनीतिक अस्थिरता रहती है।	2 इस प्रणाली में कार्यपालिका का समय निश्चित रहता है। स्थिरता रहती है।

- | | | | |
|---|--|---|---|
| 3 | इस पद्धति में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। | 3 | इस पद्धति में शासनांगों में शक्ति-पृथक्करण रहता है। |
| 4 | इस पद्धति में मन्त्रियों की स्थिति अधिक महत्वपूर्ण रहती है। | 4 | इस पद्धति में मन्त्रियों की स्थिति दुर्बल रहती है। उनकी स्थिति सचिवों जैसी होती है। |
| 5 | इस प्रणाली में कार्यपालिका विधायिका के निम्न सदन को भंग कर सकती है। | 5 | इस प्रणाली में कार्यपालिका विधायिका को भंग नहीं कर सकती। |
| 6 | संसदात्मक शासन में अधिक उत्तरदायित्व की भावना रहती है। | 6 | अध्यक्षात्मक शासन में अपेक्षाकृत कम उत्तरदायित्व रहता है। |
| 7 | शान्ति काल के लिए संसदीय प्रणाली अधिक उपयुक्त है। | 7 | संकटकाल के लिए अध्यक्षीय प्रणाली अधिक उपयुक्त है। |
| 8 | संसदीय प्रणाली का आधार शक्तियों का संयोग है। | 8 | अध्यक्षात्मक प्रणाली का आधार शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त है। |
| 9 | संसदीय शासन में मन्त्रीगण विधायिका के प्रति उत्तरदायी रहते हैं। | 9 | अध्यक्षीय शासन में मन्त्रीगण राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। |

24.15 सारांश

इस प्रकार सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि संसदीय एवं अध्यक्षीय शासनप्रणाली में समय के अनुसार व्यापक परिवर्तन आ गया है, जो क्रमशः प्रधानमंत्री एवं राष्ट्रपति व्यवस्था में परिवर्तित होकर रह गई है। दोनों को एकदूसरे का विकल्प मानना भूल है, क्योंकि व्यवस्था की सफलता काफी हद तक राज्य की परिस्थितियों पर निर्भर करती है।

24.16 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संसदीय शासन का अर्थ एवं परिभाषा बताते हुए, उसके प्रमुख लक्षणों का उल्लेख कीजिए।
2. संसदीय शासन पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।
3. संसदीय शासन की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें बताओ।
4. अध्यक्षीय शासन का आशय स्पष्ट करते हुए, प्रमुख विशेषताएं बताओ।
5. अध्यक्षीय शासन के गुण-दोष पर प्रकाश डालिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए—
 1. रागूठिक उत्तरदायित्व
 2. गोपनीयता
 3. व्यक्तिगत जिम्मेदारी
 4. संसद की सर्वोच्चता
 5. शक्तियों का पृथक्करण
2. संसदीय शासन की वास्तविक स्थिति का वर्णन कीजिए।
3. संसदीय एवं अध्यक्षीय शासन-प्रणाली की तुलना कीजिए।

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. शासन के संसदात्मक और अध्यक्षीय वर्गीकरण का आधार क्या है?
2. संसदीय शासन प्रणाली को किस नाम से जाना जाता है?
3. संसदीय व्यवस्था में तमाम शक्तियाँ किसमें निहित होती हैं?
4. शक्ति पृथक्करण किस व्यवस्था की विशेषता है?
5. राजनीतिक सहजातीयता क्या है?
6. अध्यक्षीय व्यवस्था में अपेक्षाकृत संविधान कैसा होता है?
7. अध्यक्षीय शासन का अर्थ बताओ।

24.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सी.बी.गेना, "तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएं", विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
2. के.के.मिश्र, "तुलनात्मक शासन एवं राजनीति", प्रगति पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

इकाई-25 : संविधान

संरचना

- 25.1 उद्देश्य
- 25.2 प्रस्तावना
- 25.3 संविधान का अर्थ एवं परिभाषाएं
- 25.4 सर्वश्रेष्ठ संविधान के गुण
 - 25.4.1 स्पष्ट व निश्चित
 - 25.4.2 सूक्ष्मता
 - 25.4.3 व्यापकता
 - 25.4.4 परिवर्तनशीलता
 - 25.4.5 अधिकारों की घोषणा
 - 25.4.6 न्यायपालिका की स्वतन्त्रता
 - 25.4.7 राज्य के नीति निर्देशक तत्व
- 25.5 संविधानों का वर्गीकरण
 - 25.5.1 विकसित व निर्मित संविधान
 - 25.5.2 कानूनी तथा वास्तविक
 - 25.5.3 लिखित व अलिखित संविधान
 - 25.5.4 लचीला व कठोर संविधान
- 25.6 संविधान में संशोधन प्रक्रिया
 - 25.6.1 संयुक्त राज्य अमरीका
 - 25.6.2 इंग्लैण्ड
 - 25.6.3 भारत
 - 25.6.4 फ्रांस
- 25.7 सारांश
- 25.8 अभ्यास प्रश्नावली
- 25.9 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

25.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य संविधान के बारे में जानना है। इसके अध्ययन से आप जान सकेंगे—

- संविधान केवल कानून का संग्रह न होकर राष्ट्र को भविष्य के विकास हेतु मार्गदर्शन का माध्यम होता है,
- सर्वश्रेष्ठ संविधान की आवश्यक शर्तें क्या होनी चाहिए जिससे वह अपने निर्धारित लक्ष्यों को पूरा कर सके।
- सामान्यतया विश्व के विभिन्न संविधानों में किये गये प्रावधानों के बारे में जानेंगे।
- संविधानों के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण किया गया, जो अपने आप में महत्वपूर्ण होते हो।
- किसी संविधान को बदलती हुई परिस्थितियों तथा मांग के अनुसार किस प्रकार ढाला जा सकता है, इस हेतु विश्व के विभिन्न संविधान प्रक्रिया को भी जानने का अवसर प्राप्त होगा।

25.2 प्रस्तावना

संविधान राष्ट्र की आत्मा होती है। जिस प्रकार आत्मा के बिना मानव शरीर का कोई अस्तित्व नहीं होता, ठीक उसी प्रकार संविधान के बिना कोई भी राष्ट्र अपना अस्तित्व बनाये नहीं रख सकता। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक संविधान होता है जो केवल कानूनों का संग्रह न होकर, भविष्य में पथ प्रदर्शन करने वाला होता है, जिसको

आधार मानकर राष्ट्र सफलता के नवीन सोपान प्राप्त कर सकता है। संविधान राष्ट्र का दर्पण होता है, जिसको आधार मानकर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक क्रियाकलापों को जाँचा व परखा जा सकता है। अरस्तू के अनुसार, "संविधान उस जीवन पद्धति का प्रतीक होता है जो किसी राज्य द्वारा अपने लिए अपनायी जाती है।" संविधान में जो भी प्रावधान किये जाते हैं, वे समाज की परिस्थितियों को मद्देनजर रखते हुए होते हैं, अन्यथा सम्पूर्ण संवैधानिक व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है और सम्पूर्ण तन्त्र ढ़ह जाता है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने इस विचार को स्वीकार किया। यद्यपि उन्होंने अनेक प्रावधान विश्व के अन्य देशों के संविधान से ग्रहण किये लेकिन उन्हें वैसा का वैसा स्वीकार न करके भारतीयों के अनुकूल बनाकर स्वीकार किया गया।

किसी राजनीतिक व्यवस्था में संविधान शून्य की स्थिति सम्भव नहीं हो सकती है। जैलिनैक ने कहा है कि, "संविधानहीन राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। संविधान के अभाव में राज्य, राज्य न होकर एक प्रकार की अराजकता होगी।" इस सम्बन्ध में शुल्टज कहते हैं कि, "राज्य कहलाने का अधिकार रखने वाले हर समाज का संविधान अवश्य होना चाहिए अर्थात् ऐसे सिद्धान्तों की सहिता होनी चाहिए, जो सरकार और प्रजा के सम्बन्ध निश्चित करे और जिनके अनुसार राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग करे।"

संविधान के द्वारा राज्य की शासन पद्धति के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन निर्धारण किया जाता है। जैसे भारतीय संविधान में नागरिक अधिकारों, राज्य और नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों, न्याय, धर्म निरपेक्षता, समाजवाद, लोकतन्त्र, गणराज्य आदि को स्पष्ट किया गया है। यह किसी भी देश का बुनियादी आधार होता है।

25.3 संविधान का अर्थ एवं परिभाषाएँ

राजनीति विज्ञान में 'संविधान' से तात्पर्य राज्य के ढाँचे तथा संगठन से होता है। अनेक विद्वानों ने संविधान की परिभाषायें निम्नलिखित की हैं –

1. अरस्तू के अनुसार, "संविधान राज्य के कार्य तथा नागरिकों के अधिकारों को निश्चित करता है।"
2. लार्ड ब्राइस के मतानुसार, "शासन संविधान उन नियमों को कहते हैं, जो सरकार के आकार का निर्णय और उसके प्रति नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों को निश्चित करते हैं।"
3. फाइनर का कहना है कि, "संविधान देश की राजनीतिक संस्थाओं का ब्यौरा है।"
4. ल्यूइस के मत में, "संविधान से अभिप्रायः राज्य के ढाँचे से या राज्य में राज सत्ता के प्रबन्ध तथा वितरण से है।"
5. वुल्जे का कहना है कि, "किसी राज्य का संविधान उन नियमों का संग्रह होता है, जो राज्य की शासन शक्ति, नागरिकों के अधिकारों और सरकार तथा नागरिकों के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या स्पष्ट शब्दों में करते हैं।"
6. लीकॉक की राय में, "किसी राज्य के ढाँचे को उसका शासन विधान कहा जाता है।"
7. आस्टिन ने कहा है कि, संविधान वह है, "जो सर्वोच्च शासन की संरचना को निर्धारित करता है।"

उपर्युक्त बातें विश्व के अधिकांश सर्वश्रेष्ठ संविधानों में पायी जाती हैं। इनके अलावा राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त, मूल कर्तव्य, संकटकाल या आपातकाल से सम्बन्धित प्रावधान, संघ व इकाई सम्बन्ध, स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका, संविधान संशोधन प्रक्रिया आदि।

25.4 सर्वश्रेष्ठ संविधान के गुण

किसी राष्ट्र का संविधान अच्छा या बुरा है, इसका निर्धारण परिस्थितियों के आधार पर किया जा सकता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वही संविधान सर्वश्रेष्ठ है, जो एक देश के लिए उपयुक्त है। अरस्तू का कहना था कि वह संविधान अच्छा है जहाँ शासक निःस्वार्थ भाव से जनता की सेवा करे। पिछले कुछ समय से भारतीय संविधान की श्रेष्ठता पर प्रश्न चिन्ह खड़े किये गये और उसमें व्यापक संशोधन करने के लिए संविधान समीक्षा आयोग का भी गठन किया गया है। लेकिन वास्तविकता यह है कि दोष संविधान में नहीं वरन् उसे लागू करने वालों में हैं। एक सर्वश्रेष्ठ संविधान में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं। प्रतिवेदन भी प्रस्तुत किया है, जिसकी क्रियान्विति होना शेष है।

25.4.1 स्पष्ट व निश्चित— इससे तात्पर्य यह है कि संविधान की प्रत्येक धारा ऐसी सरल भाषा में होनी चाहिए जिसका अर्थ आसानी से समझा जा सके।

25.4.2 सूक्ष्मता— संविधान अधिक लम्बा भी नहीं होना चाहिए। उसमें व्यर्थ और कम महत्व की बातों को शामिल करने से बचना चाहिए और केवल वे ही प्रावधान शामिल किये जाएँ, जो अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इससे शासन और संविधान अन्य जटिलताओं और समस्याओं से बचेगा।

25.4.3 व्यापकता— इसका अर्थ यह है कि संविधान सारे देश में लागू होना चाहिए और इसमें संघीय सरकार के अलावा प्रान्तीय सरकारों के ढाँचे व शक्तियों का उल्लेख होना चाहिए। राज्य व नागरिकों के सम्बन्धों जैसे महत्वपूर्ण प्रावधान शामिल होने चाहिए। इससे निश्चितता की स्थिति बनेगी।

25.4.4 परिवर्तनशीलता— परिवर्तनशीलता ही सर्वश्रेष्ठ संविधान की पहचान है। यदि संविधान में इस तथ्य का अभाव है तो उसमें आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन नहीं किया जा सकता और, ऐसा होने की स्थिति में देश के सम्मुख गम्भीर राजनीतिक संकट पैदा हो सकता है। जैनिंग्स ने लिखा है कि, "संविधान उन्हीं अवस्थाओं में कार्यान्वित नहीं होता, जिनमें उसकी रचना हुई थी अपितु वह शताब्दियों के बाद तक वह रहता है। इसलिए संविधान आवश्यक रूप से ऐसा होना चाहिए जो अपने आपको परिस्थितियों के अनुरूप बदल सके।" ऐसा होने पर उसमें जीवन्तता बनी रहती है।

25.4.5 अधिकारों की घोषणा— एक अच्छे संविधान में नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं। इनका सीधा महत्व नागरिकों के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। इसलिए विश्व के अधिकांश संविधानों में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गयी है। भारत के संविधान के भाग 3 के अनुच्छेद 12-35 के मध्य इनका उल्लेख किया गया है।

25.4.6 न्यायपालिका की स्वतन्त्रता— एक सभ्य समाज का आधार स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका होती है। अतः संविधान में इसकी व्यवस्था होना आवश्यक है। न्यायपालिका को ऐसा बनाया जाए जो कार्यपालिका के अनुचित हस्तक्षेप से दूर रहे ताकि बिना किसी भय के वह नागरिक अधिकारों की रक्षा कर सके। ऐसा होने पर संविधान अवांछनीय हस्तक्षेप से मुक्त रहेगा।

25.4.7 राज्य के नीति निर्देशक तत्व— एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों का प्रावधान संविधान में होना आवश्यक है और यह एक अच्छे संविधान की पहचान भी है। ये सिद्धान्त सरकार के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करते हैं। सरकार से यह उम्मीद की जाती है कि वह इन्हें आधार मानकर नीति का निर्धारण करे। इसीलिए भारतीय संविधान के भाग 4 के अनुच्छेद 36-51 के मध्य इनका प्रावधान किया गया है।

25.5 संविधानों का वर्गीकरण

यदि विश्व में प्रचलित संविधानों के अनेक भेद विद्यमान हैं। वर्गीकरण का मूल आधार संविधान की निर्माण प्रक्रिया, स्वरूप, संशोधन प्रक्रिया, स्थिति हो सकती है। संविधान का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

25.5.1 विकसित व निर्मित संविधान— संविधान किस प्रकार अस्तित्व में आया। इसको लेकर दो प्रक्रिया प्रचलित हैं। प्रथम विकसित, यह वह संविधान होता है जो किसी संविधान सभा द्वारा निर्मित न होकर धीरे-धीरे क्रमिक ढंग से बनता है। अर्थात् वह ऐतिहासिक विकास का परिणाम होता है। इसका मूल आधार समाज में प्रचलित परम्पराएं होती हैं। विकसित संविधान का सर्वोच्च उदाहरण इंग्लैण्ड का संविधान है। जहाँ पहले राजतन्त्र था लेकिन धीरे-धीरे लोकतन्त्र की दिशा में अग्रसर हुआ। द्वितीय, निर्मित संविधान वह होता है जो किसी संविधान सभा द्वारा एक निश्चित समयावधि में बनाया जाता है। इंग्लैण्ड को छोड़कर विश्व में तमाम संविधान 'निर्मित संविधान' की श्रेणी में आते हैं, जिसमें संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस, जापान, भारत आदि हैं। भारतीय संविधान का निर्माण एक संविधान सभा द्वारा हुआ, जिसका प्रथम अधिवेशन 9 दिसम्बर, 1946 को शुरू हुआ था। यह संविधान 26 नवम्बर, 1949 को बनकर तैयार हुआ। इस तरह इसे निर्मित होने में 2 वर्ष 11 माह व 18 दिन का समय लगा। 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ। इसके साथ भारत का लोकतान्त्रिक गणराज्य के रूप में उभरा।

25.5.2 कानूनी तथा वास्तविक— संविधानों के वर्गीकरण का दूसरा प्रमुख आधार कानूनी तथा वास्तविक है। संविधान में लिखित तत्वों को कानूनी संविधान कहते हैं और जब इनमें प्रचलित रूढ़ियों और न्यायालयों के निर्णयों को शामिल किया जाता है तो संविधान के ऐसे सामूहिक रूप को वास्तविक संविधान कहा जाता है।

25.5.3 लिखित और अलिखित संविधान— संविधान के स्वरूप के आधार पर लिखित या अलिखित संविधान के रूप में वर्गीकरण किया जाता है। वास्तव में देखा जाए तो विश्व का कोई भी संविधान न तो पूर्णतया लिखित है और न ही पूर्णतया अलिखित। लिखित होने के बावजूद कई प्रावधान अलिखित एवं परम्पराओं पर आधारित होते हैं और अलिखित होने पर भी कुछ व्यवस्था लिखित रूप से स्थापित हो जाती है। लिखित संविधान से तात्पर्य यह है कि उसके अधिकांश प्रावधानों को लिखित रूप में स्थापित किया जाता है। ऐसा निर्मित संविधानों में होता है। इंग्लैण्ड को छोड़कर विश्व के सभी संविधान लिखित श्रेणी में आते हैं। गार्नर के अनुसार "विकसित और बनाये हुए संविधान में जो अन्तर है, वह बहुत कुछ वहीं है जो लिखित और अलिखित संविधान में है। अलिखित संविधान वह है जिसकी अधिकांश बातें लिखी हुई नहीं होती। उसमें अधिकांश रीति-रिवाज तथा न्यायालयों के निर्णय शामिल होते हैं। इस प्रकार के संविधानों को किसी विशेष समय संविधान सभा द्वारा नहीं बनाया जाता है। अतः संविधान की रचना नहीं विकास होता है।" अलिखित संविधान केवल इंग्लैण्ड का है। यहां भी अब अनेक बातों का लिपिबद्ध करने के प्रयास हो रहे हैं।

25.5.4 लचीला व कठोर संविधान— लचीला और कठोर स्वरूप, संविधान की संशोधन प्रक्रिया को इंगित करता है। लचीले संविधान से अभिप्राय: यह है कि संविधान के किसी भी भाग में संशोधन संसद द्वारा अपने साधारण बहुमत से किया जा सकता है। इंग्लैण्ड का संविधान लचीले संविधान की श्रेणी में आता है। गार्नर के अनुसार, "लचीला संविधान वह है जिसकी साधारण कानून से अधिक शक्ति एवं सत्ता नहीं है। जो साधारण कानून की भांति बदला जा सकता है। चाहे वह प्रलेख या अधिकतर रिवाजों के रूप में हो।" कठोर संविधान उसे कहते हैं, जिसमें संवैधानिक कानून व साधारण कानून में भेद किया जाता है और संविधान के किसी भाग में संशोधन के लिए विशेष एवं जटिल प्रक्रिया का सहारा लिया जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान कठोर संविधान का सर्वोच्च उदाहरण है। कठोर संविधान को परिभाषित करते हुए गार्नर लिखते हैं कि, "जो भिन्न स्रोत से उत्पन्न होता है और पद में साधारण कानून से वैध दृष्टि से कही उच्च है, इसका संशोधन भी किसी भिन्न तरीके से होता है।" भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 में उल्लिखित संशोधन प्रक्रिया में दोनों ही रूप विद्यमान हैं।

25.6 संविधान में संशोधन प्रक्रिया

संविधान में समय, काल, परिस्थितियों एवं आवश्यकता के अनुसार संशोधन होना बहुत आवश्यक होता है। इसके अभाव में संविधान जड़ बनकर राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध हो सकता है और संविधान देश के विकास एवं उन्नति में सहायक बनने के स्थान पर अभिशाप बन जाता है। इसलिए विश्व के प्रत्येक संविधान में संशोधन प्रक्रिया का

स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। यद्यपि संशोधन की अलग-अलग प्रक्रिया देखने को मिलती है। परन्तु मूलतः लचीला व कठोर संविधान के रूप में वर्गीकृत कर दिया जाता है। विश्व के विभिन्न देशों में संविधान की प्रक्रिया का निम्नलिखित रूप से वर्णन किया जा सकता है।

25.6.1 संयुक्त राज्य अमरीका— यह संविधान संशोधन की दृष्टि से विश्व का कठोरतम संविधान है। यहां संशोधन की दो प्रक्रिया पायी जाती हैं। प्रथम के तहत संशोधन तब होता है जब कांग्रेस के दोनों सदन अपने 2/3 बहुमत से पारित कर दे और 3/4 राज्यों के विधानमण्डल की स्वीकृति मिल जाए। द्वितीय के तहत 2/3 राज्यों के विधानमण्डल कांग्रेस से संशोधन के लिए प्रार्थना करे। इसके लिए कांग्रेस एक कन्वेंशन बुलायेगी। कन्वेंशन के सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार द्वारा होता है। लेकिन द्वितीय प्रक्रिया अधिक जटिल होने के कारण प्रथम प्रक्रिया ज्यादा प्रचलित है। यहाँ के संविधान में अब तक 27 संशोधन हो चुके हैं। 228 वर्षों के इतिहास में इतने कम संशोधन होना इसकी कठोर प्रवृत्ति का परिचायक है।

25.6.2 इंग्लैण्ड— संविधान संशोधन की दृष्टि से भी इंग्लैण्ड का संविधान संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के विपरीत है। यहाँ संशोधन के लिए लचीली प्रक्रिया का सहारा लिया जाता है। जिसके तहत संसद अपने साधारण बहुमत से संविधान के किसी भी भाग में संशोधन को स्वीकृति प्रदान कर दे और सम्राट हस्ताक्षर कर दे, तो संशोधन प्रक्रिया पूर्ण मानी जाती है। यहां साधारण कानून तथा संविधान संशोधन प्रणाली में कोई अन्तर नहीं है।

25.6.3 भारत— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 में वर्णित संशोधन प्रक्रिया अमरीका व इंग्लैण्ड के बीच की है अर्थात् भारतीय संविधान लचीला व कठोर दोनों ही हैं, क्योंकि संविधान के अधिकांश भाग में संशोधन संसद अपने साधारण बहुमत से कर सकती है। कुछ भाग में संशोधन के लिए संसद के 2/3 बहुमत की आवश्यकता होती है लेकिन बाकी अनुसूची में संशोधन के लिए संसद के 2/3 बहुमत के साथ-साथ आधे राज्यों की विधानसभाओं के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है। जब यह प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है तब राष्ट्रपति द्वारा हस्ताक्षर करने पर संविधान संशोधन हो जाता है। भारतीय संविधान में अब तक 93 संशोधन हो चुके हैं। इस तरह भारत में राज्यों को संशोधन की पहल करने का अधिकार नहीं है।

25.6.4 फ्रांस— फ्रांस में पंचम गणराज्य के जिस संविधान को 28 सितम्बर, 1988 ई. को अपनाया गया, उसमें संशोधन का तरीका अनुच्छेद 89 में दिया गया है। उसके अनुसार प्रधानमंत्री या सांसद द्वारा संशोधन का सुझाव राष्ट्रपति को देने पर राष्ट्रपति संसद के सम्मुख पेश करता है। जब संसद के दोनों सदन पारित कर देते हैं तो सुझाव पर जनमत संग्रह होता है और बहुमत से पास होने पर संविधान संशोधन हो जाता है।

25.7 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संविधान के महत्व से सभी देश परिचित हैं और वे यह भी जानते हैं कि इसके बिना वे अपना उद्देश्य प्राप्त नहीं कर सकते हैं। संविधानों का पारस्परिक भेद उस देश की राजनीतिक, आर्थिक एवं भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है। संविधान में किसी व्यवस्था को आंख मूंद कर स्वीकार नहीं करते हैं। बल्कि उन्हें अपनी स्थिति के अनुकूल ढालकर सम्मिलित किये जाते हैं।

25.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संविधान को परिभाषित करते हुए श्रेष्ठ संविधान के लक्षण बताओ।
2. संविधान के वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. लचीला व कठोर संविधान से आपका क्या आशय है?
2. भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।
3. अमरीकी संविधान की संशोधन प्रक्रिया का उल्लेख कीजिए।
4. विकसित व निर्मित संविधान का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. संविधान के सम्बन्ध में अरस्तू के क्या विचार हैं?
2. "संविधान देश की राजनीतिक संस्थाओं का ब्यौरा है।" यह मत किसका है।
3. विकसित संविधान किस राष्ट्र का है?
4. भारतीय संविधान कब बनकर तैयार हुआ?
5. किस अनुच्छेद में भारतीय संविधान संशोधन प्रक्रिया का उल्लेख है?

25.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सी.बी. गंगा, "तुलनात्मक राजनीति संस्थाएं", विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
2. आर.सी. अग्रवाल, "राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त", एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली
3. ओ.पी. गाबा, "तुलनात्मक राजनीति की रूपरेखा", नेशनल पब्लिकेशन्स, दिल्ली
4. अनुप कपूर, "राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त", एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

इकाई-26 : राजनीतिक दल एवं दबाव समूह

संरचना

- 26.1 उद्देश्य
- 26.2 प्रस्तावना
- 26.3 राजनीतिक दलों की परिभाषाएं
- 26.4 राजनीतिक दलों का महत्व या कार्य
 - 26.4.1 लोकमत का निर्माण करना
 - 26.4.2 चुनावों में भाग लेना
 - 26.4.3 समाज को निश्चित विचारधारा देना
 - 26.4.4 सरकार का गठन करना
 - 26.4.5 सरकार का ध्यान जनसमस्याओं की ओर आकृष्ट करना
 - 26.4.6 सत्ता पक्ष की तानाशाही पर अंकुश लगाना
 - 26.4.7 शासन के विभिन्न अंगों में तालमेल बढ़ाना
 - 26.4.8 सामाजिक व राजनीतिक सुधार करना
 - 26.4.9 राजनीतिक समस्याओं पर शोध करना
 - 26.4.10 शासन को क्रांति से बचाना
 - 26.4.11 शासन व जनता के बीच कड़ी का काम करना
- दबाव समूह
- 26.5 प्रस्तावना
- 26.6 दबाव समूह: परिभाषा
- 26.7 दबाव समूह के लक्षण
 - 26.7.1 सीमित उद्देश्य
 - 26.7.2 औपचारिक या अनौपचारिक रूप में संगठित
 - 26.7.3 सीमित एवं परस्पर व्यापी सदस्य
 - 26.7.4 संपैधानिक और असंपैधानिक साधनों का प्रयोग
 - 26.7.5 राजनीतिक और प्रशासन में परीक्षा भूमिका
 - 26.7.6 अनिश्चित कार्यकाल
 - 26.7.7 सर्वव्यापक प्रकृति
- 26.8 राजनीतिक दल और दबाव समूह: सम्बन्ध और अन्तर
 - 26.8.1 शासन सत्ता के प्रसंग में अन्तर
 - 26.8.2 उद्देश्य एवं कार्यक्रम का अन्तर
 - 26.8.3 स्वरूप सम्बन्धी अन्तर
 - 26.8.4 आकार तथा सदस्यता की दृष्टि से अन्तर
 - 26.8.5 संगठन सम्बन्धी अन्तर
 - 26.8.6 साधन सम्बन्धी अन्तर
- 26.9 दबाव समूहों का वर्गीकरण
 - 26.9.1 संस्थागत दबाव समूह

- 26.9.2 समुदायात्मक दबाव समूह
- 26.9.3 असमुदायात्मक दबाव समूह
- 26.9.4 प्रदर्शनकारी या अनियमित दबाव समूह
- 26.10 दबाव समूह द्वारा अपनाये गये तरीके या कार्य प्रणाली
 - 26.10.1 लॉबींग
 - 26.10.2 प्रचार व प्रसार के साधन
 - 26.10.3 आंकड़े प्रकाशित करना
 - 26.10.4 गोष्ठियाँ आयोजित करना
 - 26.10.5 रिश्वत, बेईमानी अथवा अन्य उपाय
 - 26.10.6 न्यायालय की शरण लेना
 - 26.10.7 संसद-सदस्यों के मनोनयन में रुचि
- 26.11 दबाव समूहों के कार्य और उनका महत्व तथा उपयोगिता
 - 26.11.1 जनतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के साधन
 - 26.11.2 शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करने वाले संगठनों के रूप में
 - 26.11.3 शासन को प्रभावित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव समूह
 - 26.11.4 सरकार की निरंकुशता को सीमित करना
 - 26.11.5 समाज और शासन में सन्तुलन स्थापित करना
 - 26.11.6 व्यक्ति और सरकार के मध्य संचार के साधन
 - 26.11.7 क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के पूरक
- 26.12 सारांश
- 26.13 अभ्यास प्रश्नावली
- 26.14 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

26.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय में लोकतंत्र को व्यावहारिक रूप देने वाले राजनीतिक दल तथा दबाव समूहों के संबंध में जानकारी प्रदान की जाएगी। इस अध्याय से आप—

- लोकतंत्र के आधार के रूप में राजनीतिक दलों की भूमिका,
- राजनीतिक दलों का परिवर्तित होता महत्त्व तथा बढ़ते हुए कार्यों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे
- इनके द्वारा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु उठाये जाने वाले कदमों के संबंध में,
- दबाव समूह क्या है तथा ये शासन सत्ता को किस प्रकार प्रभावित करते हैं,
- दबाव समूह के प्रमुख लक्षण जिनके आधार पर उन्हें पहचाना जाता है,
- राजनीतिक दल तथा दबाव समूह में पारस्परिक संबंध,
- दबाव समूह द्वारा अपने निहित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अपनाए जाने वाले तरीकों की भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

26.2 प्रस्तावना

राजनीतिक दल लोकतंत्र के लिए अपरिहार्य हैं। ये बहुत सीमा तक हमारे जीवन के महत्वपूर्ण अंग बन चुके हैं। वर्तमान लोकतान्त्रिक व्यवस्था का संचालन राजनीतिक दलों के बिना न केवल कठिन है, अपितु असम्भव है, क्योंकि आज अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र पाया जाता है। जिसमें जनता स्वयं कानून का निर्माण न करके, बल्कि अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से करती है। चुने जाने वाले प्रत्येक प्रतिनिधि का संबंध किसी न किसी राजनीतिक दल से होता है और वह अपने दल की नीतियों व कार्यक्रमों के आधार पर चुनावी मैदान में भाग लेता है। इस प्रकार राजनीतिक दल व्यक्तियों का वह समूह है, जो एक निश्चित कार्यक्रम, विचारधारा पर सहमत होते हो और एक निश्चित लक्ष्य प्राप्त करने के लिए सामूहिक प्रयास करते हों।

वर्तमान में शासन की शक्ति व्यवस्थापिका में निवास करती है, परन्तु वास्तव में इनका निवास स्थान तो राजनीतिक दल है, क्योंकि संसद में बहुमत वाली पार्टी की कार्यपालिका बनती है, जो पूर्णतया दलीय विचारधारा एवं कार्यक्रमों के अनुरूप शासन संचालन करते हैं।

राजनीतिक दल असंख्य मतदाताओं की व्यवस्थित भीड़ के स्थान पर व्यवस्था की सृष्टि करते हैं, जनता का नेतृत्व करने के लिए नेता प्रदान करते हैं और राजनीतिक व्यवस्था का संचालन को संचालन शक्ति प्रदान करते हैं। हरमन फाइनर के शब्दों में दलों के बिना मतदाता ऐसी असम्भव नीतियों का अनुसरण करने लगेंगे, जो उन्हें शक्तिहीन बना देगी या विनाशकारी और जिससे राजनीतिक यंत्र ध्वस्त हो जायेगा। इस प्रकार राजनीतिक दल समाज को एक आधार प्रदान करते हैं। यह समाज के लिए पाठशाला के रूप में भी कार्य करते हैं, जो समय-समय पर आम जनता को राजनीतिक शिक्षा देते हैं और शासन वर्ग के प्रत्येक कदम से आम जनता को अवगत करवाते हैं।

26.3 राजनीतिक दलों की परिभाषा

राजनीतिक दलों से हमारा अभिप्राय: ऐसे व्यक्तियों के समूह से है, जो कतिपय समस्याओं के रूप और उनके समाधान के संबंध में एकमत हैं और जिन्होंने सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मिलकर वैध ढंग से काम करने का निश्चय कर लिया है।

1. न्यूमैन के अनुसार "राजनीतिक दल एक स्वतन्त्र समाज में नागरिकों के उस व्यवस्थित समुदाय को कहते हैं, जो शासन तंत्र को नियन्त्रित करना चाहता है और उनके लिए जन सहमति में भाग लेकर अपने कुछ सदस्यों को सरकारी पदों पर भेजने का प्रयास करता है।"
2. एडमण्ड बर्क के शब्दों में "राजनीतिक दल कुछ लोगों का एक समूह है, जो कुछ सिद्धान्तों पर सहमत होकर अपने संयुक्त प्रयासों द्वारा जन सहमति को आगे बढ़ाने के लिए संगठित रहता है।"
3. लीकॉक के मतानुसार "राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय: ऐसे नागरिकों के समुदाय से है, जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। सार्वजनिक प्रश्नों पर उनके विचार एक जैसे होते हैं और वे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके शासन की शक्ति हथियाना चाहते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कह सकते हैं कि राजनीतिक दल व्यक्तियों का ऐसा समूह, जो सार्वजनिक प्रश्नों पर पूर्णतः नहीं तो कम से कम सामान्य दृष्टिकोण रखते हैं और वैधानिक साधनों के द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हो।

26.4 राजनीतिक दलों का महत्व या कार्य

राजनीतिक दलों का सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं विशेषकर लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में भारी महत्व है, जिसे निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

26.4.1 लोकमत का निर्माण करना— लोकमत वास्तविक अर्थों में लोकतंत्र रुपी नाडी के लिए रक्त का कार्य करते हैं और इसका निर्माता राजनीतिक दल होते हैं, जो समय-समय पर अपने विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से इसका निर्माण करते हैं। वे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं से आम जनता को अवगत कराते हैं।

26.4.2 चुनावों में भाग लेना— हरमन फाइनर के अनुसार राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक या तो नितान्त असहाय हो जायेंगे या उनके द्वारा असम्भव नीतियों को अपनाकर राजनीतिक यंत्र को नष्ट कर दिया जायेगा। राजनीतिक दल चुनावों में भाग लेते हैं। उनके बिना चुनावों का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

26.4.3 समाज को निश्चित विचारधारा देना— राजनीतिक दलों को विचारधाराओं का दलाल कहा जाता है क्योंकि प्रत्येक दल एक विचारधारा के आवरण में लिपटा हुआ होता है। वे अपनी विचारधारा को आधार मानकर जनता के बीच जाते हैं और इसे विभिन्न पहलुओं से अवगत करवाते हैं। अन्ततोगत्वा समाज को विभिन्न विचारधाराओं की जानकारी मिलती है और इस प्रकार राजनीतिक दल एक निश्चित विचारधारा प्रदान करते हैं। जैसे भाजपा को दक्षिणपंथी, साम्यवादी पार्टियों को और कांग्रेस के मध्य मार्गी विचारधारा वामपंथी का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनीतिक दलों के रूप में जाना जाता है।

26.4.4 सरकार का गठन करना— राजनीतिक दलों का प्रमुख उद्देश्य येन केंन प्रकारेण सत्ता प्राप्त करना और इसके लिए वे हर समय प्रयत्नशील रहते हैं। यदि कोई दल इस समय सत्ता में नहीं है तो वह ऐसे अवसरों की तलाश में होता है, जिसका लाभ उठाकर सत्ता प्राप्त की जा सकती है। सत्ता तब प्राप्त होती है, जब उनको व्यवस्थापिका में बहुमत मिलता है। राजनीतिक दल बहुमत प्राप्त करके सरकार का गान करते हैं।

26.4.5 सरकार का ध्यान जन समस्या की ओर दिलाना— राजनीतिक दल सजग पहरी होने के नाते सरकार का ध्यान जन समस्याओं की ओर आकृष्ट करने का निरन्तर प्रयास करते हैं। इसके लिए वे आन्दोलन, प्रदर्शन, हड़ताल, धरना आदि का सहारा लेते हैं।

26.4.6 सत्तापक्ष की तानाशाही पर अंकुश लगाना— सत्ता पक्ष सत्ता की चकाचौंध में अपने दायित्वों को भूल जाता है और तानाशाही का रुख अपनाकर जनहित की अनदेखी करने लगता है, तब ऐसी परिस्थितियों में राजनीतिक दल सत्ता पक्ष का विरोध करके उस पर नियंत्रण स्थापित करते हैं। इसके लिए वे आन्दोलन की राजनीति का सहारा लेते हैं।

26.4.7 शासन के विभिन्न अंगों में समन्वय स्थापित करना— सरकार के तीन अंग होते हैं— व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। इनके बीच समन्वय भी राजनीतिक दल स्थापित करते हैं। जैसे—संसदीय व्यवस्था में व्यवस्थापिकाओं में से ही कार्यपालिका ली जाती है। इसी तरह अध्यक्षात्मक में तीनों अंग एक-दूसरे से जुड़े होते हैं।

26.4.8 सामाजिक व राजनीतिक सुधार— राजनीतिक दल केवल सत्ता प्राप्ति की लालसा नहीं रखते, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक सुधार के दायित्वों को भी पूरा करते हैं। जैसे— कांग्रेस द्वारा स्वाधीनता संग्राम के दौरान अछूतोंदार कार्यक्रम चलाया गया था। इसी प्रकार वर्तमान में राजनीतिक महिला सशक्तिकरण, नशा मुक्ति, नारी कल्याण आदि के लिए कार्यक्रम चलाते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में सुधार के लिए प्रयास करते हैं। इसके लिए वे आमजनता को राजनीतिक मूल्यों से अवगत करवाते हैं और राजनीतिक जागरूकता का संचार करते हैं।

26.4.9 राजनीतिक समस्याओं पर शोध— राजनीतिक दल समय-समय पर उभरने वाली समस्याओं पर शोध कार्य करवाते हैं। जिनका उद्देश्य समाज के दृष्टिकोण को अवगत करना और आमजन की समस्या पर राय जानना ताकि समस्या का शीघ्रतिथी समाधान किया जा सके।

26.4.10 शासन को क्रांति से बचाना— किसी समाज में क्रांति तब होती है, जब उस समाज का सम्पूर्ण व्यवस्थागत ढांचा चरमरा जाए, परन्तु जहाँ राजनीतिक दलों का अस्तित्व हो तो वहाँ क्रांति से बचा जा सकता है। क्योंकि यह दल व्यवस्था में आने वाले दोषों को दूर कर देते हैं, जिससे शासन व्यवस्था का ढांचा सुदृढ़ हो जाता है।

26.4.11 शासन और जनता के बीच कड़ी का काम करना— बार्कर के अनुसार “राजनीतिक दल एक ऐसे पुल का कार्य करते हैं, जिसका एक छोर समाज को छूता है और दूसरा राज्य को। यह एक ऐसी पाइप लाईन है जिसमें विचारधारा राज्य के यन्त्र को तरल बनाकर उसकी पद्धतियों को घुमाती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक दलों के कार्यों की प्रकृति बहुआयामी है और वे विविध प्रकार के कार्यों का सम्पादन करते हैं।

दबाव समूह

26.5 प्रस्तावना

“लोकतान्त्रिक संस्कृति के लिए इससे अधिक घातक और कुछ नहीं हो सकता कि राष्ट्रीय हित की ऐसी अवधारणा को अपनाया जाय, जिसमें विशेष हितों को सौदेबाजी का अवसर देने, अपनी बात कहने और राजनीतिक प्रक्रिया की नीतियों तथा माँगों के प्रवाह में रचनात्मक भूमिका निभाने से वंचित कर दिया गया हो।”

राजनीतिक दल व्यक्ति और शारान के बीच राप्क रूत्र के रूप में कार्य करते रहे हैं। लेकिन बीसवीं सदी की बदलती हुई परिस्थितियों में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन से जुड़े हुए हितों और गतिविधियों ने बहुत अधिक विविधता की स्थिति प्राप्त कर ली है और राजनीतिक दलों के लिए इस बात को नितान्त असम्भव बना दिया कि वे विविध हितों का समुचित प्रतिनिधित्व कर सकें। अतः राज-व्यवस्था में इन हितों और गतिविधियों का उचित दबाव समूहों का अस्तित्व कोई नूतन तथ्य नहीं है। सदैव से, सभी प्रकार के समाज और शासन-व्यवस्थाओं में दबाव समूह विद्यमान रहे हैं। वर्तमान में दबाव समूहों के प्रसंग में नवीन तथ्य केवल यही हैं कि वे राजनीति में एक संस्था के रूप में कार्य करते हैं।

1908 में जब आर्थर बेण्टले का ग्रन्थ प्रोसेस आफ गवर्नमेंट ('Process of Government') प्रकाशित हुआ और तदुपरान्त डेविड बी. टूमैन ने अपने ग्रन्थ गवर्नमेंट प्रोसेस (Government Process) में उस पर सुधार किया, तभी से दबाव समूहों का अध्ययन एक महत्वपूर्ण विषय बन गया है। वी.ओ.के. (जूनियर) के ग्रन्थ Politics, Parties and Pressure Groups का इस प्रसंग में ऐतिहासिक योगदान रहा, जिसके परिणामस्वरूप अनेक विद्वानों ने अध्ययन के इस महत्वपूर्ण क्षेत्र (दबाव समूहों) की ओर देखना प्रारम्भ कर दिया, जिसे प्रो. एस. ई. फाइन्ड ने 'अज्ञात साम्राज्य' (Anonymous Emire) की संज्ञा दी है। प्रारम्भ में संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और इटली, आदि पश्चात्य लोकतन्त्रीय देशों के सम्बन्ध में विपुल साहित्य का प्रकाशन हुआ। तदुपरान्त विकासशील देशों में भी दबाव गुटों की स्थिति का अध्ययन किया गया। इन सभी अध्ययनों में एक बात समान रूप से पायी गयी कि राजनीतिक व्यवस्था और प्रक्रिया में दबाव समूहों की जो भूमिका सौची जाती है, वस्तुतः दबाव समूह उसकी तुलना में बहुत अधिक महत्वपूर्ण भूमिका सम्पादित करते हैं। वर्तमान में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने में भी दबाव समूहों की अहम भूमिका है।

26.6 दबाव समूह: परिभाषा और लक्षण

दबाव समूह विशेष हितों के साथ जुड़े हुए ऐसे शक्ति संगठन होते हैं, जो अपने सदस्यों के हितों की रक्षा हेतु सार्वजनिक नीतियों को प्रभावित करने की चेष्टा करते रहते हैं। दबाव समूहों की कृतिपथ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं:

ओडीगार्ड के अनुसार, “दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है, जिसके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को, विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और प्रशासनिक कार्यों को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि कर सकें।”

मायरन वीनर के शब्दों में “हित या दबाव समूहों से हमारा तात्पर्य शासन के ढोंच के बाहर स्वैच्छिक रूप से संगठित ऐसे समूहों से होता है, जो प्रशासनिक अधिकारियों की नामजदगी और नियुक्ति, विधि निर्माण और सार्वजनिक नीति के क्रियान्वयन को प्रभावित करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।”

प्रो. मदन गोपाल गुप्ता के अनुसार, “दबाव समूह वास्तव में एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह जो प्रशासकीय और विधायी दोनों ही प्रकार के निर्णयकर्ताओं को, सरकार पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण प्राप्त करने की चेष्टा किये बिना ही प्रभावित करना चाहता है, दबाव समूह कहलायेगा।”

26.7 दबाव समूह के लक्षण

दबाव समूह के सम्बन्ध में व्यक्त उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर इसके निम्नलिखित लक्षण सामने आते हैं :

26.7.1 सीमित उद्देश्य— दबाव समूह के एक या कुछ विशेष निश्चित लक्ष्य होते हैं और ये समूह अपनी गतिविधियाँ सामान्यतया इस विशेष लक्ष्य तक सीमित रखते हैं।

26.7.2 औपचारिक या अनौपचारिक रूप में संगठित— दबाव समूह के लिए राजनीतिक दल के समान औपचारिक रूप में संगठित होना आवश्यक नहीं है। ये अर्द्ध-औपचारिक रूप में संगठित हो सकते हैं, या पूर्णतया अनौपचारिक संगठन भी हो सकते हैं जिन्हें सामान्य व्यक्ति असंगठित समूह कहते हैं। उदाहरण के लिए, भारत की वर्तमान राजनीति में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस एक औपचारिक रूप में संगठित दबाव समूह और जाति एक बहुत अधिक शक्तिशाली, लेकिन अनौपचारिक दबाव समूह है।

26.7.3 सीमित एवं परस्पर व्यापी सदस्यता— दबाव समूहों का सामान्यतया वर्गीय हितों से सम्बन्ध होता है और स्वाभाविक रूप से इनकी सदस्यता सीमित ही होती है। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTUC) की सदस्यता मात्र श्रमिक वर्ग को और इण्डियन चैम्बर आफ कामर्स की सदस्यता मात्र व्यापारिक वर्ग को ही प्राप्त रहती है। दबाव समूह की सदस्यता परस्पर व्यापी भी होती है। एक व्यक्ति एक ही समय पर अनेक दबाव समूहों का सदस्य हो सकता है। उदाहरण के लिए, वह जातिगत समूहों, उपभोक्ता समूहों, शिक्षक संघ या श्रमिक संघ का सदस्य हो सकता है।

26.7.4 संवैधानिक और असंवैधानिक साधनों का प्रयोग— विशेष हितों की पूर्ति ही सबसे प्रमुख लक्ष्य होने के कारण दबाव समूह के द्वारा आवश्यकतानुसार उचित और अनुचित, संवैधानिक और असंवैधानिक सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है।

26.7.5 राजनीतिक और प्रशासन में परोक्ष भूमिका— दबाव समूह का शासन पर अधिकार स्थापित करने का कोई लक्ष्य नहीं होता, इसलिए वे राजनीति और प्रशासन में प्रत्यक्ष भूमिका नहीं करते हैं। इस आधार पर कई बार ये समूह अपने आपको गैर-राजनीतिक और गैर-सरकारी संगठन बताते हैं, लेकिन वस्तुतः दबाव समूह राजनीति और प्रशासन से अलग नहीं होते, वे परदे के पीछे रहकर राजनीति, राजनीतिक निर्णयों और प्रशासनिक कार्यों को प्रभावित करने का अनवरत प्रयास करते हैं। ये समूह चुनाव नहीं लड़ते और न ही चुनाव में औपचारिक रूप में उम्मीदवार खड़े करते हैं, किन्तु वे दलों द्वारा चुनाव में उम्मीदवारों के नामांकन को प्रभावित करते हैं तथा अपने हितों के समर्थक उम्मीदवारों को धनराशि तथा अन्य प्रकार से सहयोग देते हैं। वे विधायक नहीं बनना चाहते, परन्तु विधायकों के मतों को प्रभावित करते हैं। अपने हितों की रक्षा के लिए कभी तो उनके द्वारा निश्चित राजनीतिक वफादारी और कभी अस्थिर राजनीतिक वफादारियों का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार दबाव समूह 'राजनीतिक और गैर-राजनीतिक, इन दो स्थितियों के मध्य में स्थित' होते हैं। हैरी एक्सटीन के अनुसार, "दबाव समूहों का राजनीतिक गतिविधियों के आधार पर उनका रूप पूर्णतया अराजनीतिकृत समूह से कम तथा पूर्णतया राजनीतिकृत समूह से अधिक होता है, यह स्थिति वस्तुतः राजनीतिक और अराजनीतिक स्तरों के बीच की गतिविधियों की होती है।" प्रो. जे. सी. जौहरी के अनुसार दबाव समूह राजनीति के साथ लुका-छिपी का खेल खेलते हैं, वे राजनीति में हैं और नहीं भी हैं। वस्तुतः दबाव समूहों की 'अराजनीतिक स्थिति की बात' मात्र सैद्धान्तिक और सतही स्थिति ही है। व्यवहार में दबाव समूह 'राजनीतिक क्रिया अभिमुखी' ही होते हैं। दबाव समूह बिना उत्तरदायित्व वहन किये सत्ता के संघर्ष और सत्ता के लाभों के लिए सचेष्ट रहते हैं, इस कारण कुछ आलोचकों द्वारा इन्हें 'अनुत्तरदायी राजनीतिक दल' भी कहा गया है।

26.7.6 अनिश्चित कार्यकाल— दबाव समूह बनते और समाप्त होते रहते हैं। किसी हित विशेष की पूर्ति के लिए अस्तित्व में आने के कारण हित की पूर्ति के साथ ही इनका समाप्त हो जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक समाज की प्रकृति परिवर्तनशील होती है, अतः एक विशेष दबाव समूह को स्थापना के कुछ समय बाद अनुपयोगी समझकर भी भंग किया जा सकता है।

26.7.7 सर्वव्यापक प्रकृति— दबाव समूह सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं में पाये जाते हैं, यहाँ तक की सर्वाधिकारवादी और स्वेच्छाचारी राज-व्यवस्थाओं में भी इनका अस्तित्व होता है। इनकी सर्वव्यापकता को स्वीकार करते हुए रॉबर्ट सी. बोन लिखते हैं, "दबाव समूह सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में, यहाँ तक कि सर्वाधिकारवादी राज्यों में भी पाये जाते हैं... केवल यह तथ्य कि दबाव समूह साम्यवादी राज्यों में भी होते हैं, इनकी सर्वव्यापकता का प्रमाण है।"

इस सर्वव्यापकता के बावजूद यह वास्तविकता है कि सर्वाधिकारवादी राज्यों में दबाव समूहों की गतिविधियाँ बहुत सीमित होती हैं और सामान्यतया गुप्त रूप से सम्पादित होती हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में दबाव समूह खुले रूप में कार्य करते हैं और उनकी गतिविधियों का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है।

दबाव समूहों का स्वरूप किसी देश विशेष की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों और राजनीतिक विकास की स्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। इनके विकास का एक क्रम होता है और ज्यों-ज्यों समाज अविकसित अवस्था से विकसित अवस्था की ओर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों सामाजिक या साम्प्रदायिक समूहों की तुलना में समुदायात्मक समूहों का विस्तार बढ़ता जाता है।

26.8 राजनीतिक दल और दबाव समूह: सम्बन्ध और अन्तर

राजनीतिक दल और दबाव समूह दोनों ही सामान्यतया संविधानोत्तर तत्व हैं, जो संविधान और शासन द्वारा स्थापित विभिन्न संस्थाओं के प्रेरक तत्व के रूप में कार्य करते हैं। दोनों ही राजनीतिक प्रक्रिया के सुदृढ़ अंग हैं, जो शासन की नीतियों को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल और दबाव समूह यद्यपि कुछ बातों में समान हैं, किन्तु इनमें विभिन्नताएँ भी इतनी महत्वपूर्ण हैं, कि उनका विवेचन करना आवश्यक हो जाता है, इन विभिन्नताओं को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है।

26.8.1 शासन सत्ता के प्रसंग में अन्तर- राजनीतिक दल का सर्वप्रमुख और घोषित उद्देश्य शासन सत्ता पर नियन्त्रण स्थापित करना होता है। अतः वे चुनाव में उम्मीदवार खड़े करते हैं, उन्हें विजयी बनाने का प्रयत्न करते हैं और यदि सम्भव हो तो शासन सत्ता प्राप्त कर सार्वजनिक नीतियों को स्वयं निर्धारित एवं कार्यान्वित करते हैं, लेकिन दबाव समूह शासन सत्ता प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते। वे तो विधेयकों, निर्वाचित पदाधिकारियों, प्रशासनिक अधिकारियों तथा कर्मचारियों पर दबाव डालकर सार्वजनिक नीति और शासन को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल स्वयं अपने लिए सत्ता प्राप्त करना चाहता है, लेकिन दबाव समूह औपचारिक रूप में शासन से बाहर रहकर शासन को प्रभावित करने के प्रयासों में लगे रहते हैं।

26.8.2 उद्देश्य और कार्यक्रम का अन्तर- राजनीतिक दल का सम्बन्ध राष्ट्रीय हित की सभी समस्याओं और प्रश्नों से रहता है, अतः स्वाभाविक रूप से उनका कार्यक्रम बहुत अधिक व्यापक होता है, किन्तु दबाव समूह एक विशेष वर्ग के हितों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं और उनके द्वारा इस वर्ग विशेष के हितों से सम्बन्धित समस्याओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया जाता है। अतः दबाव समूहों का कार्यक्रम अपेक्षाकृत सीमित और संकुचित होता है।

26.8.3 स्वरूप सम्बन्धी अन्तर- विचारधारा और कार्यक्रम की दृष्टि से दबाव समूह राजनीतिक दल की तुलना में अधिक संयुक्त और सजातीय समूह होते हैं। दबाव समूह उन्हीं व्यक्तियों का समूह होता है, जिनके विशेष विषय या मसले के सम्बन्ध में समान हित और समान रुचि होती है। अतः विचारों की यह संगति दबाव समूह को एकता और सजातीयता प्रदान करती और राजनीतिक दृष्टि से प्रभावी बनाती है। लेकिन राजनीतिक दल व्यापक सामाजिक आधार प्रदान करते हैं और राजनीतिक कार्यक्रम पर आधारित होते हैं, उनके उद्देश्य और कार्य बहुरूपी होते हैं। अतः उनमें उस सीमा तक सजातीयता और एकता की स्थिति नहीं होती, जो दबाव समूहों में देखी जाती है।

26.8.4 आकार तथा सदस्यता की दृष्टि से अन्तर- राजनीतिक दल बहुत बड़े संगठन होते हैं जो लाखों तथा भारत, अमेरिका, आदि देशों में करोड़ों मतदाताओं का समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु दबाव समूह आकार तथा सदस्यता की दृष्टि से अपेक्षाकृत बहुत छोटे होते हैं।

सदस्यता की दृष्टि से इनमें एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि दबाव समूह की सदस्यता परस्पर व्यापी होती है। एक व्यक्ति एक ही समय पर अपने विविध हितों के आधार पर अनेक दबाव समूहों की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति एक साथ जातिगत समूह, उपभोक्ता संघ और श्रमिक संघ, आदि का सदस्य बन सकता है। इस प्रकार दबाव समूहों के सदस्यों की स्वतन्त्रता बनी रहती है। इससे विपरीत, कोई व्यक्ति एक समय पर एक ही दल का सदस्य हो सकता है। अतः राजनीतिक दल का सुदृढ़ संगठन होता है और दल के प्रति सदस्यों की भक्ति एकाग्र होती है।

26.8.5 संगठन सम्बन्धी अन्तर- राजनीतिक दल अनिवार्यतया औपचारिक रूप से संगठित होते हैं, किन्तु दबाव समूह औपचारिक रूप से संगठित या असंगठित दोनों ही स्थितियों में हो सकते हैं। अनेक बार शक्तिशाली दबाव समूह भी औपचारिक रूप से असंगठित स्थिति में होते हैं।

26.8.6 साधन सम्बन्धी अन्तर- राजनीतिक दलों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केवल संवैधानिक साधनों को ही अपनायेंगे, लेकिन दबाव समूह के द्वारा आवश्यकतानुसार संवैधानिक और असंवैधानिक, सभी प्रकार के साधन अपनाये जा सकते हैं।

26.9 दबाव समूहों का वर्गीकरण

दबाव समूहों का वर्गीकरण किसी एक नहीं, वरन् अनेक आधारों पर किया जात है और इसी कारण इनका वर्गीकरण करना एक कठिन कार्य हो गया है। सामान्य रूप से यह वर्गीकरण समूहों के लक्ष्य, उनके संगठन की प्रकृति, उनके अस्तित्व की अवधि और कार्यक्षेत्र, आदि के आधार पर किया जाता है। लक्ष्य की दृष्टि से दबाव समूह 'स्वार्थी' और 'लोकार्थी', इन दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। श्रमिक संघ, व्यापारी संघ, आदि वर्ग विशेष के हितों की सन्धान करते हैं, अतः उन्हें 'स्वार्थी समूह' कहा जाता है, दूसरी ओर गौ सेवा संघ, भारत सेवक समाज या नारी कल्याण संघ 'लोकार्थी समूह' कहे जाते हैं। संगठन की दृष्टि से समूहों के दो भेद बताये जाते हैं: औपचारिक और अनौपचारिक। औपचारिक समूह वे होते हैं, जिनके संगठन का कोई विधान और निश्चित कार्य-प्रणाली होती है, विधान और निश्चित कार्य-प्रणाली से रहित समूह अनौपचारिक समूह कहे जाते हैं। अस्तित्व की अवधि की दृष्टि से अल्पकालिक समूह और दीर्घकालिक समूह होते हैं। इसी प्रकार कार्य-क्षेत्र के आधार पर जो समूह अत्यन्त सीमित क्षेत्र में कार्य करते हैं, उन्हें स्थानीय तथा जिनका क्षेत्र अखिल देशीय होता है, उन्हें 'देशव्यापी समूह' कहते हैं।

वर्तमान काल में राजनीति विज्ञान के कुछ विद्वानों द्वारा भी दबाव समूहों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया है, प्रमुखतया दो वर्गीकरण सामने आते हैं:

प्रथम, ब्लौण्डेल का वर्गीकरण और द्वितीय, आमण्ड का वर्गीकरण।

ब्लौण्डेल ने दबाव समूहों का वर्गीकरण उनके निर्माण के प्रेरक तत्वों के आधार पर किया है। उनके अनुसार प्रमुख रूप से दो प्रकार के दबाव समूह होते हैं, प्रथम सामुदायिक दबाव समूह और द्वितीय संचात्मक दबाव समूह। वे समूह जिनकी स्थापना के मूल में व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध होते हैं, सामुदायिक दबाव समूह कहे जाते हैं तथा वे समूह, जिनकी स्थापना के पीछे किसी विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति प्रेरक तत्व होता है, संचात्मक समूह कहे जाते हैं। ब्लौण्डेल ने इनमें से प्रत्येक को पुनः दो रूपों में विभाजित किया है। सामुदायिक समूह के दो रूप हैं: प्रथम संरक्षणात्मक और द्वितीय उत्थानात्मक।

आमण्ड ने इन समूहों को 'हित समूहों' का नाम देते हुए इनकी चारित्रिक विशेषताओं को उनके वर्गीकरण का आधार बनाया है। उनके अनुसार दबाव समूहों के चार प्रकार होते हैं: 1. संस्थात्मक, 2. असंचात्मक, 3. प्रदर्शनात्मक या अनियमित और 4. संचात्मक।

ब्लौण्डेल तथा आमण्ड के वर्गीकरण तथा अन्य बातों के आधार पर दबाव समूहों को मुख्यतया निम्नलिखित चार भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

26.9.1 संस्थानात्मक दबाव समूह— संस्थानात्मक दबाव समूह, राजनीतिक दलों, विधान मण्डलों, सेना, नौकरशाही, इत्यादि में सक्रिय रहते हैं। इनके औपचारिक संगठन होते हैं। ये स्वायत्त रूप से क्रियाशील रहते हैं अथवा विभिन्न संस्थाओं की छत्रछाया में पोषित होते हैं। ये समूह अपने हितों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ अन्य सामाजिक समुदायों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

26.9.2 समुदायात्मक दबाव समूह— समुदायात्मक दबाव समूह हितों की अभिव्यक्ति के विशेषीकृत संघ होते हैं। इनकी मुख्य विशेषता अपने विशिष्ट हितों की पूर्ति करना होता है। इनमें प्रमुख हैं : व्यावसायिक संगठन, कृषक संगठन, श्रमिक संगठन और सरकारी कर्मचारियों के संगठन, आदि।

26.9.3 असमुदायात्मक दबाव समूह— ये वे दबाव समूह हैं, जो धर्म, जाति, रक्त सम्बन्ध अथवा अन्य किसी परम्परागत लक्षण पर आधारित होते हैं। सामान्य बोलचाल में असमुदायात्मक समूहों को परम्परागत और समुदायात्मक समूहों को आधुनिक दबाव समूह कहा जाता है।

26.9.4 प्रदर्शनकारी या अनियमित दबाव समूह— प्रदर्शनकारी समूह वे हैं, जो अपनी माँग को लेकर गैर-संवैधानिक उपायों का प्रयोग करते हुए प्रदर्शन विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही का मार्ग अपनाते हैं। इस प्रकार की कार्यवाही के कई रूप हैं, जैसे जन सभाएँ, गली-कुँचा बैठक, रैली, विरोध दिवस मनावना, हड़ताल, धरना, सत्याग्रह, अनशन, सार्वजनिक सम्पत्ति को हानि पहुँचाना, अग्निदाह, आवागमन अवरुद्ध करना और घेराव, आदि। कभी-कभी इनके द्वारा बड़े पैमाने पर हिंसा, राजनीतिक हत्या, दंगे और अन्य रूपों में आक्रामक रवैया अपना लिया जाता है। इन तरीकों को अपनाकर ये संगठित गुट न केवल अपना असन्तोष व्यक्त करते हैं, वरन् शासन के ढाँचे, नीति और कार्य-संचालन को भी प्रभावित करते हैं।

26.10 दबाव समूह द्वारा अपनाये गये तरीके या कार्य—प्रणाली

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दबाव समूहों द्वारा विभिन्न युक्तियाँ या तरीके अपनाये जाते हैं, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

26.10.1 लॉबींग— लॉबींग का सामान्य अर्थ है, 'विधानमण्डल के सदस्यों को प्रभावित कर उनसे अपने हित में कानूनों का निर्माण करवाना'। लॉबींग में व्यवस्थापिका के अधिवेशन के समय किसी विशेष विधेयकों को विधि में परिणित करवाने या न करवाने में रुचि ली जाती है। इस उद्देश्य से विधायकों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रतिनिधिमण्डल, शिष्टमण्डल, पत्र, तार, टेलीफोन और प्रदर्शन, आदि साधनों को भी अपनाया जाता है। दबाव समूह विशेष रूप से पश्चिमी देशों में इस साधन का उपयोग करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसका महत्व इतना बढ़ गया है कि 'लाबी (गोष्ठी कक्ष) को कभी-कभी विधानमण्डल का तीसरा सदन' कहते हैं। इस कार्य हेतु अनेक समूहों के बड़े कार्यालय होते हैं और उनमें हजारों अधिकारी तथा कर्मचारी कार्य करते रहते हैं। ये लॉबीस्ट तीन प्रकार के कार्य करते हैं, सूचनाएँ प्रसारित करते हैं, अपने नियोजनकर्ता के हितों की रक्षा करते हैं तथा विधियों के राजनीतिक प्रभावों को स्पष्ट करते हैं।

26.10.2 प्रचार व प्रसार के साधन— अपने उद्देश्यों की प्राप्ति करने तथा जनता में अपने पक्ष में सद्भावना का निर्माण करने के लिए विभिन्न दबाव समूह अथवा वर्गीय या आर्थिक हितों के प्रभावशाली संगठन प्रेस, रेडियो, टेलीविजन और सार्वजनिक सम्बन्धों के विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग करते हैं।

26.10.3 आँकड़े प्रकाशित करना— नीति-निर्माताओं के समक्ष अपने पक्ष को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने के लिए दबाव समूह आँकड़े प्रकाशित करते हैं, ताकि अपनी बात को पूरा करवा सकें।

26.10.4 गोष्ठियाँ आयोजित करना— अण्डकल दबाव समूह विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद के लिए गोष्ठियाँ, सेमिनार, तथा भाषण मालाएँ एवं वार्ताएँ आयोजित करते हैं। गोष्ठियों में विधायिका तथा कार्यपालिका के प्रमुख अधिकारियों को आमन्त्रित करते हैं और उन्हें अपने मत से प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

26.10.5 रिश्वत, बेईमानी अथवा अन्य उपाय— अपने उद्देश्यों की रक्षा के लिए दबाव समूह रिश्वत व घूस देने से भी नहीं कतराते हैं। बेईमानी के तरीकों का भी यथासम्भव प्रयोग करते हैं तथा विरुद्ध हितों को अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए बदनाम भी करवा देते हैं। कहीं-कहीं पर तो आवश्यकतानुसार सुरा और सुन्दरी का भी प्रयोग करते हैं। प्रत्येक देश की राजधानी में दबाव समूहों के प्रतिनिधि सक्रिय रूप से क्रियाशील रहते हैं। इन उपायों के प्रयोग में व्यावसायिक दबाव समूह अन्य दबाव समूहों से सदैव आगे रहते हैं।

26.10.6 न्यायालय की शरण— जब दबाव समूह के समस्त प्रयत्नों के बावजूद उनके हितों को आघात पहुँचाने वाला कानून पारित हो जाता है, तब दबाव समूह न्यायालयों में याचिका दायर कर अपने हितों को मनवाने का प्रयास करते हैं, जैसे जब 1969 ई. में 14 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया था, तब बैंकों के संचालकों ने अपने हितों की रक्षा हेतु मौलिक अधिकारों का आश्रय लेकर न्यायालय में इस निर्णय को चुनौती की थी। न्यायपालिका ने इस विधेयक की कतिपय धाराओं को अवैध घोषित कर दिया था।

26.10.7 संसद-सदस्यों के मनोनयन में रुचि— दबाव समूह ऐसे व्यक्तियों के चुनाव में दलीय प्रत्याशी मनोनीत करवाने में सहायता देते हैं, जो आगे चलकर संसद में उनके हितों की अभिवृद्धि कर सकें। ऐसे मनोनीत सदस्य दबाव समूहों के प्रभाव में होते हैं। चुनावों में संसद-सदस्यों को पैसा चाहिए और अनेक बार यह पैसा दबाव समूह उपलब्ध करवाते हैं।

26.11 दबाव समूहों के कार्य और उनका महत्व तथा उपयोगिता

(लोकतान्त्रिक व्यवस्था में दबाव समूहों की भूमिका)

प्रारम्भ में दबाव समूहों को अनैतिक संगठन मानते हुए उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था और जनतन्त्रीय धारणा में दबाव समूहों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। फ्रेडरिक लिखते हैं, "क्या कूड़ा ढोने वाले और क्या राजनीति विज्ञान के गम्भीर छात्र, सभी इन दबाव समूहों को हेय दृष्टि से देखते थे। इन्हें ऐसी पाशविक शक्ति माना जाता था, जो प्रजातन्त्र की आधारशिला को नष्ट करने पर तुली हुई हो।"

किन्तु धीरे-धीरे स्थिति में परिवर्तन आया। राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों का महत्व और मूल्य समझा जाने लगा और उन्हें राजनीतिक जीवन के लिए अनिवार्य माना जाने लगा। वर्तमान में सभी पक्षों द्वारा इस विचार को अपना लिया गया है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में दबाव समूह न केवल आवश्यक वरन् वांछनीय भी हैं।

आज राजनीति के यथार्थवादी अध्ययनकर्ता इस बात पर बल देते हैं कि यदि किसी राज-व्यवस्था को सांगोपांग समझना है तो इन 'गैर-सरकारी एवं अज्ञात संगठनों' (दबाव समूहों) की गतिविधियों का अध्ययन करना न केवल उपयोगी वरन् अपरिहार्य भी है। दबाव समूहों का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है और आज उन्होंने राज-व्यवस्था में उस स्थिति को प्राप्त कर लिया है जिसे प्रो. एस. ई. फाइनर 'अज्ञात साम्राज्य' की संज्ञा देते हैं। थारस्टेन सैलिन और रिचर्ड डी. लम्बर्ट ने इसे 'अनीपचारिक सरकार' कहा है और डी.जी. मैकिन ने इसका नाम 'अदृश्य सरकार' रखा है।

दबाव समूहों के कार्यों की विवेचना और उनकी उपयोगिता तथा महत्व के प्रमुख आधार निम्नवत् हैं :

26.11.1 जनतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के साधन— दबाव समूहों को लोकतन्त्र की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना आवश्यक है, ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके। विभिन्न देशों में दबाव गुट विभिन्न तरीकों से अपनी बात मनवाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। लोकमत को शिक्षित करके, आँकड़े इकट्ठे करके, निर्माताओं के पास आवश्यक सूचनाएँ पहुँचाकर अपने अभीष्ट की प्राप्ति करना, आज जनतांत्रिक प्रक्रिया का अंग बन गया है।

26.11.2 शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव समूह— प्रत्येक देश में सरकार तथा शासन के पास आवश्यक सूचनाएँ पर्याप्त रूप से होनी चाहिए। शासन की सूचनाओं के गैर-सरकारी स्रोतों के रूप में दबाव समूह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दबाव समूह आँकड़े इकट्ठे करते हैं, शोध करते हैं तथा सरकार को अपनी कठिनाइयों से परिचित कराते हैं।

26.11.3 शासन को प्रभावित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव समूह— आजकल दबाव समूहों का अस्तित्व एक ऐसी संस्था के रूप में है जिनके पास इस दृष्टि से काफी शक्ति होती है कि वे स्वार्थ या हित विशेष की रक्षा के लिए सरकारी मशीनरी पर उपयोगी व सफल प्रभाव डाल सकें।

26.11.4 सरकार की निरंकुशता को सीमित करना— प्रत्येक शासन व्यवस्था में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है और समूची शक्तियाँ सरकार के हाथों में केन्द्रित होती जा रही हैं। दबाव समूह अपने साधनों द्वारा सरकारी निरंकुशता को परिसीमित करते हैं।

26.11.5 समाज और शासन में सन्तुलन स्थापित करना— दबाव समूहों के अस्तित्व से एक लाभ यह है कि विभिन्न हितों के बीच सन्तुलन—सा बना रहता है और इस प्रकार कोई भी एकमात्र प्रभावशील सत्ता स्थापित नहीं हो पाती। व्यापारी, श्रमिक, किसान, जातीय समुदाय, स्त्रियाँ और धार्मिक समुदाय, आदि सभी अपने स्वयं के हितों को प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु उनको एक-दूसरे से प्रतियोगिता करने के लिए विवश किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप समाज और शासन में सन्तुलन स्थापित हो जाता है और यह सन्तुलनकर्ता प्रवृत्ति समाज को उस स्थिति से बचाती है, जिसमें कि व्यक्तिगत समुदाय ही सारी शक्ति को हथिया लेते हैं।

26.11.6 व्यक्ति और सरकार के मध्य संचार के साधन— दबाव समूह लोकतान्त्रिक राज-व्यवस्था में व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। ये समूह नागरिक और सरकार के बीच संचार साधन का कार्य करते हैं। रॉडो के अनुसार, "निर्वाचित नेता दबाव समूहों के माध्यम से अपने निर्वाचकों की इच्छा आकांक्षाओं का पता लगा लेते हैं। अतः इन्हें गैर-सरकारी संचार सूत्र कहा जा सकता है।"

26.11.7 क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के पूरक— वर्तमान समय की प्रजातान्त्रिक प्रणाली में सामान्यतया क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली को अपनाया जाता है। क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व सम्प्रदायी और व्यावहारिक होते हुए भी इसकी एक त्रुटि यह है कि कुछ विशेष प्रकार के व्यवसायों या आर्थिक कार्यों में संलग्न व्यक्तियों के हितों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो ही नहीं पाता। ये व्यक्ति अपने हितों की रक्षा और वृद्धि के लिए दबाव गुटों के रूप में संगठित हो सकते हैं।

सारांश में यही कहा जा सकता है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में नेतृत्व के निर्णयों को प्रभावित करने में दबाव समूहों की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका होती है। पाश्चात्य देशों में इनकी स्थिति अधिक प्रभावशाली तथा मुखरित होती है।

26.12 सारांश

उपरोक्त विवेचना के पश्चात् सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक दल तथा दबाव समूह लोकतन्त्र को सुदृढ़ता प्रदान करने में सहायक हैं। इनकी प्रकृति

तथा गतिविधियों से लोकतंत्र की सफलता निर्भर करती है। यद्यपि राजनीतिक दल अधिनायक तंत्र में भी देखे जाते हैं परन्तु उनका स्वरूप भिन्न प्रकार का होता है, जो केवल अपनी स्वार्थ सिद्धि में लगे रहते हैं। दबाव समूहों के माध्यम से जन-समूह अपने हितों को पूरा करने का प्रयास करता है, जिसे शासन के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ता है।

26.13 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक दलों को परिभाषित करते हुए, इनके कार्यों पर प्रकाश डालिए।
2. दबाव समूहों की परिभाषा बताते हुए, उनके लक्षणों का उल्लेख कीजिए।
3. राजनीतिक दल एवं दबाव समूहों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
4. दबाव समूहों के महत्व का उल्लेख कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक दलों के कोई तीन कार्य बताओ।
2. दबाव समूह एवं राजनीतिक दलों में कोई तीन अन्तर बताओ।
3. दबाव समूह अपने उद्देश्य प्राप्त करने के लिए कौन सी कार्य प्रणाली अपनाते हैं?
4. लोकतांत्रिक व्यवस्था की सफलता में दबाव समूह की क्या भूमिका हो सकती है?
5. लॉबींग से आपका क्या अभिप्राय है?
6. दबाव समूह का क्या उद्देश्य है?
7. दबाव समूह व राजनीतिक दलों के पारस्परिक संबंध स्पष्ट कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक दलों से क्या अभिप्राय है?
2. राजनीतिक दलों का प्रमुख उद्देश्य क्या है?
3. फाइनर दबाव समूहों को क्या संज्ञा देते हैं?
4. दबाव समूहों का प्रमुख उद्देश्य क्या है?
5. आमण्ड दबाव समूहों के कितने प्रकार बताते हैं?

26.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. बी.एल. फड़िया, "प्रेसर ग्रुप्स इन इण्डियन पॉलिटिक्स, कैलाश प्रकाशन, भोपाल
2. सी. बी. गेना, "तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएँ" विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
3. जे. सी. जौहरी, "तुलनात्मक शासन एवं राजनीति"

इकाई-27 उपयोगितावाद

संरचना

- 27.1 उद्देश्य
- 27.2 प्रस्तावना
- 27.3 उपयोगितावाद का इतिहास
- 27.4 उपयोगितावाद के प्रमुख विचारक
- 27.5 उपयोगितावाद के सिद्धान्त
 - 27.5.1 उपयोगितावाद सुखवाद पर आधारित है
 - 27.5.2 अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख
 - 27.5.3 राज्य साधन है, साध्य नहीं
 - 27.5.4 राज्य व समाज में अन्तर
 - 27.5.5 सामाजिक सुधारों का समर्थन
 - 27.5.6 संवैधानिक मार्ग में विश्वास
 - 27.5.7 उपयोगितावाद शासन का सिद्धान्त
 - 27.5.8 व्यवहारवादी या समयानुकूल परिवर्तनशील विचारधारा
 - 27.5.9 उपयोगितावाद एक यथार्थवादी दर्शन है
 - 27.5.10 राज्य कृत्रिम संस्था
 - 27.5.11 लोकतंत्र का समर्थन
- 27.6 उपयोगितावाद की आलोचनाएँ
 - 27.6.1 मनुष्य के स्वभाव का गलत अध्ययन
 - 27.6.2 अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित सही नहीं
 - 27.6.3 उपयोगितावाद निम्न कोटि का भौतिकवाद
 - 27.6.4 स्वतन्त्रता व समानता का उचित महत्त्व नहीं
 - 27.6.5 राज्य व सरकार को एक मानना
 - 27.6.6 विश्वव्यापी सुखवाद का सिद्धान्त सही नहीं
 - 27.6.7 अल्पसंख्यकों के हितों को कुचलना
 - 27.6.8 उपयोगितावाद का मनोवैज्ञानिक व नैतिक आधार त्रुटिपूर्ण
 - 27.6.9 उपयोगितावाद समाज को व्यक्तियों की भीड़-भाड़ समझने की भूल करता है
- 27.7 सारांश
- 27.8 अभ्यास प्रश्नावली
- 27.9 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

27.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य उपयोगितावादी विचारधारा को जानना है, जिसका प्रतिपादन बेन्थम के द्वारा किया गया है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- उपयोगितावाद जो अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख पर बल देता है।
- इस विचारधारा का इतिहास जो भारतीय दर्शन से जुड़ा हुआ है।
- उपयोगितावाद के प्रमुख सिद्धान्त जो व्यक्ति के हितों को वरीयता देते हुए शासन, विधि तथा समाज में सुधार की बात करता है।
- इनके अलावा आलोचनाओं को भी जानने का अवसर प्राप्त होगा।

27.2 प्रस्तावना

उपयोगितावाद राजनीति के क्षेत्र में ऐसी विचारधारा है, जो व्यक्ति को केन्द्र मानकर सिद्धान्तों को मूर्त रूप देती है। इसके दृष्टिकोण में मनुष्य एक सुखवादी प्राणी है, जो हमेशा सुखों की ओर तथा दुखों से दूर भागता है। इसलिए राज्य को चाहिए कि वह अपनी नीतियों एवं कार्यक्रमों का निर्धारण इनको ध्यान में रखकर करें।

27.3 उपयोगितावाद का इतिहास

यद्यपि उपयोगितावाद अपने वर्तमान रूप में उन्नीसवीं सदी का ही दर्शन है, किन्तु आचार शास्त्र के एक सिद्धान्त के रूप में इसका सम्बन्ध प्राचीन यूनान की एपीक्यूरियन प्रणाली से माना जा सकता है। एपीक्यूरियन विचार धारा के समर्थक मनुष्य को पूर्ण सुखवादी मानते हैं। पूर्व में प्राचीन भारत के चारवाक विचारकों को इसका प्रवर्तक माना जा सकता है। चारवाक दार्शनिकों की यह प्रसिद्ध उक्ति थी:-

“यानज्जीवेत सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा धत्तं पिवेत्। भम्मी भूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कृतम्।”

17वीं सदी में सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने भी उपयोगितावाद परम्परा का थोड़ा-सा विकास किया। हाब्स ने अपने सामाजिक समझौता में मनोवैज्ञानिक भौतिकवाद के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मनुष्य पशुवत आचरण करने वाला, एक सुखवादी प्राणी है, जिसमें नैतिक भावना का अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार 18वीं सदी में कम्बरलैण्ड भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और राज्य की उपयोगिता के सम्मुख उसने नैतिक अस्तित्व तथा विवेकपूर्ण चेतना आदि सभी तत्वों को गौण माना है।

वर्तमान काल के बुद्धिवादी विकास के साथ-साथ सुखवादी दर्शन राजनीति में पुनः प्रवेश करने लगा। डेविड ह्यूम ने सर्वप्रथम उपयोगितावादी दर्शन का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया। लेस्ली स्टीफेन के अनुसार उपयोगितावाद का जैसा क्रमबद्ध रूप डेविड ह्यूम ने प्रस्तुत किया है, उसने 19 वीं सदी के लेखकों ने नहीं किया है।

27.4 उपयोगितावाद के प्रमुख विचारक

जॉन स्टुअर्ट मिल्, हबेसन, पेले, हॉलबैक और हेल्वियटियरन जैसे विख्यात उपयोगितावादी हुए हैं, परन्तु प्रतिपादक का श्रेय ब्रिटिश विचारक या चिन्तक जेम्स बेन्थम को माना जाता है, यही कारण है कि उपयोगितावाद को बेन्थमवाद भी कहा जाता है।

27.5 उपयोगितावाद के सिद्धान्त

उपयोगितावादी विचारधारा निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित हैं:-

27.5.1 उपयोगितावाद सुखवाद पर आधारित है- उपयोगितावाद का प्रमुख आधार सुखवाद है। सुखवाद के अनुसार मनुष्य हमेशा सुखों की ओर उन्मुख है और दुखों से दूर भागता है। उसके जीवन का प्रमुख उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा सुखों को प्राप्त करना है। इसी से प्रेरणा लेकर उपयोगितावादी मानते हैं कि किसी भी काम का मूल्य इस आधार पर तय किया जाना चाहिए कि उस काम को करने से कितना सुख या दुख मिलता है। जिस काम को करने से सुख मिलता है, वह अच्छा है, वह उपयोगी है और जिस काम को करने से दुख मिलता है, वह बुरा है और अनुपयोगी है। इस प्रकार उपयोगितावादियों के मुताबिक प्रत्येक काम का मापदण्ड सुख व दुख है। इसीलिए व्यक्ति व राज्य को केवल वहीं काम करने चाहिए, जिनको करने से सुख मिलता हो।

27.5.2 अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख- उपयोगितावादियों के अनुसार राज्य के कार्यों का और उसके अधिकारों का मुख्य आधार अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख होना चाहिए। राज्य के द्वारा कौन से काम करने चाहिए, कौन से नहीं करने चाहिए, क्या उचित है क्या अनुचित है इन सब बातों का निर्णय राज्य को इस आधार पर करना चाहिए कि उसके द्वारा ऐश्वर्य करने से ज्यादा से ज्यादा लोगों के सुखों में बढ़ोतरी हो और उनका कल्याण हो। राज्य के द्वारा बनाये गये कानून उसके द्वारा किये गये कार्य राजनैतिक संस्थाये, राजनैतिक नीतियों तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में केवल उपयोगिता ही एकमात्र मापदण्ड का आधार हैं। इन संस्थाओं व कार्यों का एक मात्र औचित्य है। बेन्थम के अनुसार हम राज्य की आज्ञा का पालन भी इसीलिए करते हैं कि “आज्ञापालन के सम्भावित दोष अवज्ञा के सम्भावित लाभों की अपेक्षा कहीं कम है।”

27.5.3 राज्य साधन है, साध्य नहीं- उपयोगितावादियों के अनुसार राज्य अपने आप में कोई साध्य नहीं अपितु साधन है। उपयोगितावादी राज्य को कोई नैतिक संस्था या दैवीय संस्था नहीं मानते, बल्कि उनका मानना है कि राज्य का औचित्य उसकी उपयोगिता है। राज्य का निर्माण व्यक्तियों के द्वारा व्यक्तियों के हितों के लिए किया गया है। इसलिए राज्य व्यक्तियों के लिए है और उसका एक मात्र काम अधिक से अधिक लोगों के हितों में वृद्धि करना है अर्थात् राज्य लोगों की भलाई का एक साधन मात्र है।

27.5.4 राज्य व समाज में अन्तर- उपयोगितावादी राज्य व समाज में अन्तर करते हैं और बतलाते हैं कि राज्य समाज से अलग संस्था है समाज का क्षेत्र राज्य से व्यापक है। समाज प्रमुख है, राज्य गौण है। अतः वे राज्य के अस्तित्व को बनाये रखते हुए चाहते हैं कि व्यक्तियों के जीवन में राज्य को अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रकार उपयोगितावादी राज्य और समाज में अन्तर करते हुए राज्य को समाज के अन्तर्गत स्थित एक संस्था मानते हैं।

27.5.5 सामाजिक सुधारों का समर्थक- उपयोगितावादी विचारधारा एक प्रगतिशील विचारधारा है, यह न केवल राजनीतिक, बल्कि आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में सुधार चाहते हैं। प्रमुख उपयोगितावादी बेन्थम के द्वारा कानून न्याय, दण्ड, जेल, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा इत्यादि में सुधार पर बहुत बल दिया गया है। इन सुधारों पर

बल देने का मूलभूत कारण यह था कि इंग्लैण्ड की तत्कालीन न्याय, दण्ड व कानून आदि की व्यवस्था भ्रष्ट तथा विकृत हो गयी थी। इसीलिए बेन्थम जैसे उपयोगितावादी ने रुढ़िवादिता के परित्याग का उपदेश दिया और उन्होंने समाज हित के आधार पर सामाजिक और आर्थिक सुधार का एक निश्चित कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इस प्रकार समाज सुधार की तीव्र आकांक्षा उपयोगितावाद की अपनी विशेषता है।

27.5.6 संवैधानिक मार्ग में विश्वास— उपयोगितावाद यद्यपि एक प्रगतिशील विचारधारा है और यह दर्शन, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में सुधार करना चाहता है, किन्तु उपयोगितावाद समाज सुधार के लिए किसी हिंसक क्रांति का पक्षधर नहीं है। उदारवादी होने के कारण यह प्रजातन्त्र में दृढ़ विश्वास रखता है। इसके समर्थकों का यह मत है कि जनमत को प्रभावित और व्यक्त करके ही समाज का निम्न वर्ग सरकार को 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित' के अनुसार कार्य करने के लिये बाध्य कर सकता है। शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा वांछित परिवर्तन लाने के पक्ष में होने के कारण यह विचारधारा ब्रिटिश परम्परा के सर्वथा अनुरूप है। डॉ. वेपर के शब्दों में "बेन्थम ने अंग्रेजी जाति की परम्पराओं के अनुरूप इस बात का प्रतिपादन किया कि सुधार क्रांति की अपेक्षा सदैव वांछनीय हैं।" उपयोगिता, संवैधानिक साधनों के माध्यम से ही परिवर्तन लाना चाहता है।

27.5.7 उपयोगितावाद शासन का सिद्धान्त— उपयोगितावाद राज्य की अपेक्षा शासन का सिद्धान्त अधिक है। यह राज्य का विकास कैसे हुआ? राज्य का स्वरूप क्या है अथवा क्या होना चाहिए? आदि बातों पर ध्यान न देकर, केवल इस बात पर अधिक बल देता है कि राज्य को कैसे काम करने चाहिए या उसके क्या उद्देश्य हैं? इस तरह उपयोगितावाद अपना समस्त ध्यान व्यावहारिक शासन व्यवस्था और शासक के कर्तव्यों पर ही केन्द्रित करता है। इस सम्बन्ध में व्यापक सीमासा प्रस्तुत करने के कारण इसे राज्य की अपेक्षा शासन का सिद्धान्त कहा जाता है। उपयोगितावाद के प्रमुख प्रतिपादक बेन्थम के द्वारा दण्ड, न्याय व जेल और शासन आदि के सम्बन्ध में भी विस्तार से विचार व्यक्त किये गये हैं, जिनका उद्देश्य व्यवस्था में व्याप्त दोषों को समाप्त करना और शासन के लोकहित के लिए समर्पित करना।

27.5.8 व्यवहारवादी या समयानुकूल परिवर्तनशील विचारधारा— उपयोगितावाद एक परिवर्तनशील और समय के अनुसार बदलने वाली एक व्यवहारवादी विचारधारा है, इसमें राजनीतिक दर्शन को व्यावहारिक जीवन के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। यह केवल कल्पनाओं या आदर्शों में विश्वास करने वाली विचारधारा नहीं है। इसीलिए इसके द्वारा सामाजिक समझौते के सिद्धान्त, प्राकृतिक कानून व प्राकृतिक अधिकारों इत्यादि का खण्डन किया गया है। उपयोगितावादी विचारधारा कोई कठोर विचारधारा नहीं है। इसके अलावा यह ब्रिटिश संविधान की भांति क्रमिक विकास का परिणाम है। बेन्थम ने उपयोगितावाद को सन्तुलित रूप प्रदान किया है तो ऑस्टिन ने कानूनी रूप जे.एस. मिल ने विभिन्न सुखों में मात्रात्मक भेद के साथ-साथ गुणात्मक भेद को स्वीकार करते हुए इसे 'निम्न कोटि का भौतिकवाद' कहने से बचाया। इस प्रकार उपयोगितावाद परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहा है।

27.5.9 उपयोगितावाद एक यथार्थवादी दर्शन है— उपयोगितावाद की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह यथार्थवादी दर्शन पर आधारित है। यह फलन 19वीं सदी का नितान्त यथार्थवादी आन्दोलन है। अपने यथार्थवाद के कारण ही यह सामाजिक समझौता सिद्धान्त तथा प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त का विरोध करता है। इस सम्बन्ध में रुडोल्फ मैट्स ने ठीक ही कहा है कि "उपयोगितावाद का उद्देश्य विद्यार्थियों के अध्ययन कक्षा तथा कक्षाओं में इतना नहीं हुआ जितना की जीवन की आवश्यकताओं तथा जीवन के लिए प्रतिदिन होने वाले संघर्ष के उतार-चढ़ाव में।" यथार्थवादी होने के कारण ही उपयोगितावादी विचारों के द्वारा आगमनात्मक पद्धति को अपनाया गया है।

27.6 उपयोगितावाद की आलोचनाएँ

उपयोगितावाद मानव जीवन के एक मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन करता है और राज्य व शासन के कार्यों की जाँच करने के लिए एक व्यावहारिक मापदण्ड भी प्रदान करता है, किन्तु राजनीति को केवल एक यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखने के कारण अलोचक इस पर एकाकी तथा मात्र भौतिक विचारधारा होने का आरोप लगाते हैं। 19वीं सदी में आदर्शवादियों द्वारा इसकी बहुत अधिक आलोचनाएँ की गयीं और वर्तमान में समाजवादी इस दर्शन के कटु आलोचक हैं। साधारणतया उपयोगितावाद की आलोचनाओं को निम्नलिखित शीर्षकों से प्रस्तुत कर सकते हैं।

27.6.1 मनुष्य के स्वभाव का गलत अध्ययन— उपयोगितावाद व्यक्ति को ऐसा प्राणी मानता है जो हमेशा सुखों की ओर भागता और दुखों से दूर भागता है। मानव स्वभाव में स्वार्थ पाये जाते हैं उसके साथ-साथ उसमें दया, परोपकार प्रेम, सदभावना, सहयोग इत्यादि भी होता है तथा व्यक्ति द्वारा किये गये तमाम कार्य केवल सुख व दुख से ही प्रेरित नहीं होते, बल्कि उसमें बलिदान, त्याग व देश प्रेम की भी भावना निहित होती है। आलोचकों के द्वारा यह उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है कि सैनिकों का युद्ध में लड़ना कोई स्वार्थ या हित नहीं होता, बल्कि उसमें देश प्रेम, बलिदान व त्याग आदि की भावना निहित होती है। इसीलिए सैनिक युद्ध में लड़ता है। मानव स्वभाव का केवल उपयोगिता के आधार पर चित्रण करना सही नहीं है।

27.6.2 अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित सही नहीं— उपयोगितावादियों के द्वारा अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित की जो बात की गयी है, जो किसी भी राज्य के कार्यों की कसौटी का एक मात्र मापदण्ड है, उसे सही नहीं कहा जा सकता क्योंकि सुखों का सही मापतौल नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त बेन्थम विभिन्न प्रकार के सुखों के केवल मात्रात्मक भेद को दृष्टि में रखता है, गुणात्मक भेद को नहीं। बेन्थम इस अन्तर को भुलाकर एक भारी भूल करता है। जम्स सेथ के शब्दों में "अपनी सरलता तथा स्पष्टता को गम्भीरता तथा दृष्टिकोण की व्यापकता की कीमत पर खरीदता है।"

27.6.3 उपयोगितावाद निम्न कोटि का भौतिकवादी दर्शन— उपयोगितावाद के द्वारा नैतिकता की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया, उसने केवल भौतिक

आनन्द को ही सुख माना है। मानव कल्याण का मुख्य आधार नैतिकता है। यदि हर एक व्यक्ति नैतिकता की उपेक्षा करके केवल अपने ही आनन्द की तरफ ध्यान देगा तो मानव का कल्याण नहीं हो सकता। इसीलिए व्यक्ति को मानव कल्याण और सुख के लिए बहुत से निजी स्वार्थों व आनन्दों को छोड़ना पड़ता है। उपयोगितावाद समाज के सम्मुख नैतिकता का आदर्श प्रस्तुत नहीं करता है।

27.6.4 स्वतन्त्रता व समानता का उचित महत्व नहीं— उपयोगितावादियों की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि यह स्वतन्त्रता व समानता के महत्व को नहीं समझते हैं। उनके मतानुसार कानून का प्रमुख लक्ष्य स्वतन्त्रता व समानता नहीं, अपितु सुरक्षा है। इस तरह वे स्वतन्त्रता व समानता को सुरक्षा के अधीन कर देते हैं। बैन्थम के अनुसार सुख ही एक मात्र कसौटी है और स्वतन्त्रता को उसी कसौटी पर कसा जाना चाहिए। राज्य का लक्ष्य है—“अधिकतम सुख, अधिकतम स्वतन्त्रता व समानता नहीं” आलोचकों के अनुसार उपयोगितावादियों ने स्वतन्त्रता को महत्व नहीं दिया है। बैन्थम द्वारा फ्रेंच क्रांति से पूर्व लोकोपकारी निरंकुश राजा सम्राट फ्रांसिस और रूस की रानी कैथे राइन की जिस प्रकार की प्रशंसा की है, उससे स्वतन्त्रता व समानता के प्रति उदासीनता ही स्पष्ट होती है। बैन्थम का मत है कि स्वतन्त्रता हिंसा से ही प्राप्त की जा सकती है, जो वर्तमान समय से पूर्णतया गलत है।

27.6.5 राज्य व सरकार को एक मानना— उपयोगितावाद की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि वे राज्य व सरकार को एक मान कर बैठे हैं, जो पूर्णतया गलत है। सरकार राज्य का एक तत्व है लेकिन उपयोगितावादियों के समान सरकार को राज्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उपयोगितावादियों के द्वारा उपयोगिता के जिस दर्शन का प्रतिपादन किया गया है, वह सरकार के कार्यों के निर्देशन के लिये है, राज्य के लिये नहीं। इसीलिए उपयोगितावादियों के आलोचक इसे राज्य का दर्शन न कहकर सरकार के व्यावहारिक कार्यों का दर्शन कहते हैं।

27.6.6 विश्वव्यापी सुखवाद का सिद्धान्त सही नहीं— प्रमुख उपयोगितावादी विचारक बैन्थम के द्वारा इस बात को बतलाना कि उपयोगितावाद का सिद्धान्त सम्पूर्ण दुनिया पर समान रूप से लागू होता है जो सत्य से बहुत से परे हैं। क्योंकि सुख व्यक्ति के अनुभव की वस्तु है, साधारण सुख जैसी कोई वस्तु नहीं होती। इसीलिए उपयोगितावादी व्यक्तिगत उपयोगिता को सामाजिक उपयोगिता के साथ एक समझने की भूल करते हैं।

27.6.7 अल्पसंख्यकों के हितों को कुचलना— उपयोगितावाद का प्रमुख सिद्धान्त है, “अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित”। इस प्रकार बैन्थम प्रत्येक व्यक्ति के सुख पर नहीं, वरन् बहुसंख्य वर्ग के आनन्द पर बल देता है। यह बहुसंख्य वर्ग को अवसर प्रदान करता है कि वह अपने आनन्द की प्राप्ति के लिए अल्पसंख्यक वर्ग को कुचले तथा उस पर अत्याचार करें। उपयोगितावादी व्यवस्था में अल्पसंख्यक का सुख बहुसंख्यक के सुख से सदैव दबा रहेगा। हेलेवेल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि उपयोगितावादी व्यवस्थाएँ अल्प संख्या के पास बहुसंख्या के अन्याय और अत्याचार के परिणाम पाने का कोई मार्ग नहीं है। यह बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहित करने वाला तथा स्थायी बनाने वाला है।

27.6.8 उपयोगितावाद मनोवैज्ञानिक व नैतिक आधार पर त्रुटिपूर्ण है— उपयोगितावाद की मनोवैज्ञानिक व नैतिक आधार पर भी आलोचना की जाती है, क्योंकि उपयोगितावादियों ने मनुष्य को सुख की ओर प्रवृत्त रहने वाला प्राणी कहा, जो गलत है, क्योंकि व्यक्ति में दया, करुणा, प्रेम की भी भावना पायी जाती है। इस तरह उपयोगितावादियों ने मानव को पूर्णतया भौतिकवादी बना दिया है। सर्गेट एल मरे लिखता है कि “यदि हम अन्तर्आत्मा को तिलांजली दे दें। जैसा कि बैन्थम ने किया है तो फिर नैतिक अथवा अनैतिक कार्य नाम की कोई चीज नहीं रहती। जब हम वैयक्तिक अन्तःकरण को स्वीकार नहीं करते तो फिर सामूहिक अन्तःकरण भी नहीं हो सकता। फिर अपराधी पर समाज की भर्त्सना का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।”

27.6.9 उपयोगितावाद समाज को व्यक्तियों की भीड़-भाड़ समझने की भूल करता है— उपयोगितावादी समाज का एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति समाज के दूसरे व्यक्तियों से असम्बन्धित रूप में सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार उपयोगितावादी समाज और राज्य का एक सुसंगठित चित्र प्रस्तुत करने की बजाय उसे एक ढीली व्यवस्था के रूप में देखता है। यह आदर्शवाद की भांति समाज को ‘जैविक इकाई’ नहीं मानता, अपितु इसे व्यक्तियों की निरुद्देश्य भीड़ समझता है। जिसके कारण आलोचक इसकी मूल धारणा का विरोध करते हैं। मैक्सी ने लिखा है कि “बैन्थम वैयक्तिक और सामाजिक उपयोगिता के बीच की खाई को पार करने में असमर्थ रहो है।”

27.7 सारांश

यद्यपि उपयोगितावादी दर्शन की व्यापक आलोचनाएँ की गई हैं परन्तु फिर भी इसके महत्व को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। इस विचारधारा ने ऐसे समय अपना प्रभाव दिखाया, जब अधिनायकवादी शक्तियाँ व्यक्ति की गरिमा तथा अधिकारों को कुचलने में लगी हुई थी। इसके आने से व्यक्ति के अधिकारों को तो बल मिला ही, साथ ही साथ न्याय, लोकतंत्र, संवैधानिक सुधार तथा सुख का नारा बुलन्द कर राज्य को इस बात के लिए प्रेरित किया गया कि वह इस सोच का पूरा सम्मान करे। इस तरह लोककल्याण की दिशा में राज्य को अग्रसित होने का अवसर मिला।

27.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. उपयोगितावाद "अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख" पर आधारित है। इस कथन के आधार पर उपयोगितावाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. उपयोगितावाद शासन का सिद्धान्त है, सिद्ध कीजिए।
2. 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' वाक्य को स्पष्ट कीजिए।
3. क्या उपयोगितावाद भौतिकवादी दर्शन है ? सिद्ध कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. उपयोगितावाद का मूल आधार क्या है?
2. उपयोगितावाद का प्रमुख प्रतिपादक किसे माना जाता है?
3. राज्य को आज्ञापालन करने के संबंध में बेन्थम की क्या राय है?
4. उपयोगितावाद का सर्वप्रथम विकास किस देश से हुआ?
5. उपयोगितावाद की तुलना किस भारतीय दर्शन से की जाती है?

27.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पी.डी. शर्मा, "पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास"
2. बी.एल. फड़िया, "पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास" साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
3. एस. पी. वर्मा, "पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास" रस्तौगी पब्लिकेशन्स, मेरठ

इकाई-28 : आदर्शवाद

संरचना

- 28.1 उद्देश्य
- 28.2 प्रस्तावना
- 28.3 प्रमुख आदर्शवादी विचारक
 - 28.3.1 हीगल
 - 28.3.2 टी.एच. ग्रीन
 - 28.3.3 बोसांके
 - 28.3.4 ब्रेडले
- 28.4 आदर्शवाद के सिद्धान्त
 - 28.4.1 राज्य एक नैतिक संस्था है
 - 28.4.2 राज्य साध्य है, साधन नहीं
 - 28.4.3 राज्य का वास्तविक व्यक्तित्व है
 - 28.4.4 राज्य अनिवार्य है
 - 28.4.5 राज्य सर्वशक्तिमान
 - 28.4.6 राज्य व व्यक्ति का आंगिक सम्बन्ध है
 - 28.4.7 राज्य सामान्य इच्छा का प्रतीक है
 - 28.4.8 राज्य स्वतन्त्रता का मूर्त रूप है
 - 28.4.9 राज्य समाज से पृथक नहीं
- 28.5 आदर्शवाद के अनुसार व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध
- 28.6 आदर्शवाद की आलोचनाएँ
 - 28.6.1 आदर्शवाद अव्यावहारिक कल्पनाविचार है
 - 28.6.2 आदर्शवाद बौद्धिक व्यायाम है
 - 28.6.3 आदर्शवाद निरंकुशवाद है
 - 28.6.4 आदर्शवाद व्यक्ति को साधन मानता है
 - 28.6.5 आदर्शवाद राज्य को शरीरधारी ब्रह्म देता है
 - 28.6.6 भौतिकवाद की उपेक्षा
 - 28.6.7 स्वतन्त्रता विरोध दर्शाता है
 - 28.6.8 युद्ध का समर्थन
- 28.7 सारांश
- 28.8 अथवा प्रश्नावली
- 28.9 सन्दर्भ ग्रंथ- सूची

28.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आदर्शवाद के संबंध में जानकारी प्रदान करना है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- आदर्शवाद राज्य की सर्वोच्चता में विश्वास करता है परन्तु इसके भी दो रूप हैं—प्रथम उग्र आदर्शवादी तथा दूसरा उदार आदर्शवादी,
- उदार आदर्शवाद राज्य के साथ-साथ व्यक्ति के हितों पर भी बल देता है,
- आदर्शवाद के प्रमुख सिद्धान्त जान सकेंगे,
- प्रमुख आदर्शवादियों के विचारों से भी परिचित होने का अवसर मिलेगा।

28.2 प्रस्तावना

व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप आदर्शवाद का अभ्युदय हुआ। इसका उदय 18 वीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी में हुआ। आदर्शवाद ने राज्य के महत्व एवं सर्वोच्चता का प्रतिपादन किया। काण्ट, हीगल, ग्रीन, बोसांके और ब्रेडले के राज दर्शन में आदर्शवाद के सिद्धान्त एवं विचार प्रस्फुटित हुए हैं।

आदर्शवाद से अभिप्रायः

‘आदर्शवाद’ शब्द अंग्रेजी के ‘आइडियलिज्म’ शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। ‘आइडियल’ शब्द ‘आइडिया’ शब्द से बना है जिसका अर्थ है ‘विचार’। अतः आइडियल शब्द का वास्तविक अर्थ होता है, विचारगत या विचार सम्बन्धी। पूर्णता विचारजगत् में ही सम्भव है। अतः पूर्णता रखने वाली वस्तु को ‘आदर्श’ कहा जाता है। आदर्शवाद का सम्बन्ध वास्तविक विश्व से न होकर विचारों के आन्तरिक जगत् में पाई जाने वाली पूर्णता से है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में यह विचारधारा इस विश्व में पाये जाने वाले राज्यों की प्रकृति से सन्तुष्ट न होकर एक ऐसे आदर्श राज्य का विवेचन करती है, जो पूर्ण हो। अतः इसे राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त कहते हैं। राजनीतिक आदर्शवाद की सबसे पहली झलक यूनानी दार्शनिकों—प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं में मिलती है।

आदर्शवाद को ‘दार्शनिक सिद्धान्त’ भी कहते हैं, क्योंकि यह राज्य के समग्र रूप का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन करता है। हॉबहाउस ने आदर्शवाद को ‘आध्यात्मिक सिद्धान्त’ कहकर पुकारा है क्योंकि वह राज्य के दृश्यमान भौतिक तत्त्वों पर बल न देकर आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देता है। सी. एम. जोङ ने इसे ‘निरंकुशतावादी सिद्धान्त’ कहा है, क्योंकि यह राज्य को पूर्ण और निरंकुश अधिकार प्रदान करता है। गैटल ने इसे ‘नैतिक सिद्धान्त’ कहा है, क्योंकि यह नैतिकता पर अत्यधिक बल देता है। डॉ. महादेवप्रसाद के अनुसार, आदर्शवाद का अर्थ ‘विचार-वाद’ भी है, अर्थात् किसी वस्तु या संस्था की सर्वांगीण मीमांसा तत्सम्बन्धी विचार ही के दृष्टिकोण से सम्भव है। आदर्शवाद उस दृष्टिकोण का नाम है जो दृश्यजगत् के स्तर पर पाई जाने वाली वास्तविकता या यथार्थता से आगे बढ़कर विवेचनीय वस्तु या विषय के पूर्ण अथवा उत्कृष्टतम स्वरूप का अन्वेषण करता है तथा तदनुसार ही उक्त विषय या वस्तु का विवेचन करता है।’ उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शवाद राज्य की आदर्शवादी परिप्रेक्ष्य में कल्पना प्रस्तुत करता है।

आदर्शवाद का विकास

राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। इसका प्राचीनतम रूप प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं में उपलब्ध होता है। प्लेटो तथा अरस्तू के अनुसार व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य अनिवार्य है। वे राज्य को आन्तरिक तथा आध्यात्मिक सत्ता मानते थे। राज्य के बिना व्यक्तियों को सद्जीवन प्राप्त नहीं हो सकता। अरस्तू राज्य को प्राकृतिक मानता था। उसके अनुसार, कोई व्यक्ति राज्य से पृथक् रहते हुए अपना विकास नहीं कर सकता। रूसो राज्य का आधार ‘सामान्य इच्छा’ मानता है। आधुनिक काल में रूसो, काण्ट, हीगल, ग्रीन, ब्रेडले और बोसांके इस सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक हुए।

जर्मन विद्वान काण्ट नैतिक भावना पर बल देता है। व्यक्ति को नैतिक कार्य करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। राज्य के सभी नियम, परमादेश तथा नैतिक भावना के अनुकूल होने चाहिए। राज्य का निर्माण इसलिए होता है कि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में संघर्ष न हो तथा उनमें सामंजस्य बना रहे। जनता का एक शासक होता है, यह कानून बनाने वाला होता है, जनता के प्रति इसके कोई कर्त्तव्य नहीं होते तथा जनता उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकती है।

हीगल राज्य की सत्ता का प्रबल समर्थक था। वह राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार मानता था। न कि व्यक्तियों का कोरा समूह। हीगल राज्य को एक वास्तविक व्यक्तित्व रखने वाली सत्ता एवं विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मानता था। उसके अनुसार, व्यक्ति राज्य के लिए है, न कि राज्य व्यक्ति के लिए। नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि राज्य की इच्छानुसार अपना जीवन यापन करे। वह राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मानता है। “मनुष्य का सारा मूल्य और महत्व—उसकी समूची आध्यात्मिक सत्ता केवल राज्य में ही सम्भव है।” व्यक्ति राज्य का अंग होने के कारण ही अपना नैतिक महत्व रखता है। राज्य सब प्रकार के कारण ही अपना नैतिक महत्व रखता है। यह सब प्रकार के नैतिक बन्धनों से मुक्त है। उसने राज्य को स्वतन्त्रता की भावना का मूर्त रूप समझा। स्वतन्त्रता का अर्थ राजकीय आदेशों को अपना कर्त्तव्य समझते हुए उनका पालन करना है। व्यक्ति राज्य की इच्छा से अपने को जितना अधिक विलीन करेगा उसकी स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक पूर्ण होगी।

ग्रीन, ब्रेडले और बोसांके, ब्रिटिश उदारवाद से प्रभावित आदर्शवादी हैं। इन पर इंग्लैण्ड की लोकतन्त्रात्मक उदारवादी मान्यताओं का प्रभाव है। इन्होंने राज्य को हीगल की भाँति निरंकुश नहीं बनाया। इन्होंने व्यक्ति को भी साध्य माना। इन्होंने राज्य की तुलना में व्यक्ति के अधिकारों को नगण्य नहीं माना। इन्होंने व्यक्ति को राज्य के विरोध का भी अधिकार दिया है। अंग्रेज दार्शनिकों ने आदर्शवादी सिद्धान्त का सौम्यरूप उपस्थित किया है। किन्तु, वे आदर्शवाद की इस मूल धारणा को स्वीकार करते हैं कि राज्य प्राकृतिक है और उसका आदर्श नैतिक होता है।

28.3 प्रमुख आदर्शवादी विचारक

प्रमुख आदर्शवादी विचारकों का निम्नलिखित रूप से अध्ययन किया जा सकता है—

28.3.1 हीगल— जर्मनी में आदर्शवाद के सिद्धान्त को चरम शिखर पर पहुँचाने वाले हीगल का जन्म सन् 1770 में स्टटगार्ट में हुआ। उसने दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में टाइलबर्ग तथा बर्लिन विश्वविद्यालय में कार्य किया। उसकी उल्लेखनीय कृतियों में ‘अधिकार का दर्शन’ तथा ‘इतिहास का दर्शन’ हैं। उसने प्रशिया की सरकार

का गुणगान किया तथा यह घोषणा की कि यह विश्व में भगवान की अभिव्यक्ति का उत्कृष्टतम रूप है। इसीलिए उसके आलोचकों ने उसे प्रशिया की सरकार का समर्थन करने वाला सरकारी दार्शनिक कहा है।

हीगल के विचार अत्यन्त जटिल तथा क्लिष्ट हैं। उसने स्वयं कहा था कि 'केवल एक ही व्यक्ति ने मेरे सिद्धान्तों का समझा है, यह भी सम्भव है कि उसने भी इन्हें न समझा हो।'

हीगल अद्वैतवादी विचारक है, जो जगत् की सभी वस्तुएं विश्वात्मा से उद्भूत मानता है। उसका दार्शनिक सूत्र है, "जो कुछ वास्तविक या तात्त्विक है वह बुद्धिमय है, और जो कुछ बुद्धिमय है वह वास्तविक है।" विश्वात्मा को हीगल ने पूर्ण विचार अथवा दिव्य मन भी कहा है। उसके अनुसार इस विश्वात्मा का विकास इस विश्व में विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। जड़ जगत् से वनस्पतियों और प्राणियों के रूप में यह प्रकट होती है। यह अपना उच्चतम रूप मानव में प्राप्त करती है। विभिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाएं इसके बाह्य विकास के विभिन्न स्तर हैं। इनमें राज्य सबसे ऊंचा स्थान रखता है, क्योंकि यह अन्य संस्थाओं का नियन्त्रण एवं रक्षा करने वाला है। इसीलिए हीगल राज्य को विश्वात्मा का आर्थिक रूप अथवा भूमंडल पर विद्यमान भगवान मानता है।

इस प्रकार उत्पन्न होने वाले राज्य की हीगल ने कई विशेषताएं बतलाई हैं। पहला, इसका दैवी सत्ता होना है। यह भूमंडल पर दैवी विचार के रूप में अव्यवस्थित है। इसे पृथ्वी पर भगवान अवतरण कहा जा सकता है। दूसरी, विशेषता राज्य का साध्य और व्यक्ति का साधन होना है। चूंकि राज्य इस पृथ्वी पर विश्वात्मा का अंतिम रूप है अतः वह अपने आप में साध्य ही हो सकता है, साधन कभी नहीं बन सकता। हीगल के शब्दों में, "मनुष्य का सारा महत्व और मूल्य उसकी सार्वभौमिक सत्ता केवल राज्य में ही संभव है।" राज्य की तीसरी विशेषता, इसका सब प्रकार के नैतिक बन्धनों से मुक्त होना है। चूंकि राज्य सर्वोच्च संस्था है। अतः इसकी नैतिकता का पाठ पढ़ाने वाली कोई दूसरी सत्ता नहीं हो सकती है। राज्य जो भी कार्य करता है वह सर्वथा न्यायोचित है। राज्य की चौथी विशेषता यह है कि वह अपनी आत्मरक्षा के लिए अन्य राज्यों के साथ कोई भी कार्य करने के लिए सर्वथा स्वतन्त्र है। हीगल राज्य के कल्याण को उच्चतम कानून समझता है। राज्य की पांचवी विशेषता यह है कि यह मनुष्य की स्वतन्त्रता को विकसित करने और बढ़ाने का साधन है। व्यक्ति केवल राज्य में रहते हुए ही पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। इसके बिना मनुष्य पराधीन ही बना रहता है। उसने राज्य को स्वतन्त्रता की भावना का मूर्त रूप समझा है।

28.3.2 प्रमुख आदर्शवादी विचारक : टी एच ग्रीन— थामस हिल ग्रीन अंग्रेजी दार्शनिक हैं। आक्सफोर्ड में प्राध्यापक के रूप में उसने विशेष ख्याति अर्जित की। हीगल के आदर्शवाद का उस पर काफी प्रभाव पड़ा। उसने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का व्यवस्थित प्रतिपादन 'राजनीतिक दायित्व (Political Obligation) के सिद्धान्तों पर व्याख्यान' में किया है। ग्रीन के चिन्तन में आदर्शवाद का सौम्य रूप प्रतिपादित हुआ है। जर्मन दार्शनिकों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी ग्रीन ने व्यक्ति को साध्य माना और राज्य को मानव की उन्नति का साधन माना। इंग्लैण्ड की उदारवादी और लोकतन्त्रात्मक परम्पराओं का ग्रीन के दर्शन पर प्रभाव रहा है। अतः ग्रीन का आदर्शवाद उग्र न होकर संयत और मध्यममार्गी आदर्शवाद कहलाता है।

स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

ग्रीन अपने राजनीतिक चिन्तन का प्रतिपादन 'स्वतन्त्रता' के विचार से करता है। वह अद्वैतवादी है तथा इस विश्व के मूल में एक ही आध्यात्म तत्व मानता है, जिसे उसने 'शाश्वत चैतन्य' का नाम दिया है। वह स्वतन्त्रता को 'शाश्वत चैतन्य' का आवश्यक गुण मानता है। उसके मतानुसार, मानव चेतना या आत्मा स्वतन्त्रता चाहती है। मानव को स्वतन्त्रता न मिले तो फिर उसमें मानवता न रहकर वह अन्य द्वारा संचालित यन्त्र के तुल्य हो जाता है। ग्रीन के शब्दों में, "मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, स्वतन्त्रता में अधिकार निहित है और अधिकार राज्य की मारग है।" स्वतन्त्रता मानव का आवश्यक तत्व है। यह स्वतन्त्रता दो प्रकार की है—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक स्वतन्त्रता आचारशास्त्र का विषय है जिससे अभिप्राय है कि अपनी मनोवृत्तियों को वश में रखना और उनमें से किसी का दास न बन जाना। बाह्य स्वतन्त्रता का अर्थ है ऐसी बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करना, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। ये परिस्थितियां ही अधिकार हैं और इनसे ही स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। राज्य का निर्माण इन अधिकारों की रक्षा के लिए ही हुआ है। डॉ. महादेव प्रसाद के अनुसार, "ग्रीन के राज्य दर्शन का यही सारांश है कि 1. मानव चेतना या प्रकृति स्वतन्त्रता चाहती है 2. स्वतन्त्रता के लिए अधिकार आवश्यक हैं तथा 3. अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।"

ग्रीन के अनुसार, स्वतन्त्रता के दो लक्षण हैं— प्रथम, स्वतन्त्रता का अर्थ एक निश्चित प्रकार के कार्य करना, न कि मनमाने कार्य करना। द्वितीय, स्वतन्त्रता भावात्मक है, न कि नकारात्मक।

निश्चित प्रकार के कार्य करने से अभिप्राय है; ऐसे कार्य करना, जिससे मानव चेतना का विकास हो, सामाजिक उन्नति हो, समाज का तथा व्यक्ति का नैतिक विकास हो। बार्कर के शब्दों में, "अच्छे काम करने की प्रेरणा देने वाली, भली इच्छा के आदेशों का पालन करने की स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वाधीनता हो सकती है।"

भावात्मक स्वतन्त्रता से तात्पर्य है कि स्वतन्त्रता राज्य और समाज के सन्दर्भ में ही प्राप्त हो सकती है। ग्रीन की दृष्टि में आत्म-विकास में और सामाजिक में सहायक होने वाले कार्यों का करना ही स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता का अर्थ हस्तक्षेप का अभाव मात्र नहीं है। व्यक्ति द्वारा अपनी योग्यता तथा गुणों के विकास के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। यदि राज्य शिक्षा की व्यवस्था करता है, औद्योगिक उन्नति हेतु कानून बनाता है, स्वास्थ्यजनक परिस्थितियों के लिए कानून बनाता है तो व्यक्ति

की स्वतन्त्रता के और अधिक अवसर बढ़ जाते हैं। ग्रीन के मतानुसार, राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शोषक नहीं, किन्तु पोषक है। ग्रीन के मत में स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनों का अभाव नहीं है अपितु स्वतन्त्रता का अभिप्रायः ऐसे कार्यों को किये जाने से है, जो हमारी आत्मोन्नति में तथा समाज की उन्नति में सहायक हों। उसके मत में व्यक्ति एवं समाज के विकास के लिए आवश्यक सभी कार्य राज्य को सम्पादित करने चाहिए। राज्य को शिक्षा का प्रसार करना चाहिए, कारखानों में काम के नियम बनाने चाहिए तथा मद्य निषेध करना चाहिए। "उत्तम जीवन की बाधाओं की बाधा के रूप में राज्य को कार्य करना चाहिए।" "राज्य का यह विधानात्मक कार्य नहीं है कि वह अपने नागरिकों को अधिक अच्छा बनाये, उसका निषेधात्मक कार्य उन बाधाओं को दूर करना है जो स्वयं उन्हें आपको अच्छा बनाने से रोकती हैं।" इस प्रकार राज्य का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्ति के विकास की परिस्थितियाँ उत्पन्न करें तथा मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करें। ग्रीन व्यक्तिवादियों के नकारात्मक स्वतन्त्रता-सिद्धान्त को अस्वीकार करता है।

अधिकार सम्बन्धी विचार

ग्रीन के अनुसार, अधिकार समाज द्वारा व्यक्ति को समाज के हित को भली-भांति सम्पादित करने की दृष्टि से दी गई ऐसी सुविधाएं हैं, जिन्हें समाज ने अपने फल्याण की दृष्टि से स्वीकार किया हुआ है। इसके दो लक्षण हैं—प्रथम अधिकारों से व्यक्ति अपने गुणों का विकास करता है, द्वितीय अधिकारों की स्वीकृति समाज द्वारा होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में अधिकार वह व्यक्तिगत मांग हैं, जिसे समाज द्वारा स्वीकृति और संरक्षण प्राप्त हो। वह अधिकारों को प्राकृतिक नहीं मानता। अधिकार मनुष्य को समाज का तथा राज्य का सदस्य होने के कारण मिलते हैं। समाज द्वारा स्वीकृत मांगें ही अधिकार कहलाती हैं।

ग्रीन के अनुसार, "अधिकारों का नैतिक जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अधिकारों के बिना नैतिक जीवन बिताना सम्भव नहीं है। अधिकारों का पालन बलपूर्वक कराया जा सकता है, जबकि नैतिक कर्तव्यों का पालन स्वेच्छापूर्वक ही होना चाहिए। राज्य किसी भी अधिकार को कानूनी रूप प्रदान कर सकता है और अधिकार को कानूनी रूप प्रदान कर सकता है और अनिवार्य रूप से उनका पालन करा सकता है।

राज्य सम्बन्धी विचार

ग्रीन के अनुसार, अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य की सृष्टि हुई है। जिन अधिकारों की रक्षा नहीं की जा सकती, उन्हें अधिकार भी नहीं कहा जा सकता। राज्य मानव-जीवन पर थोपी गई संस्था नहीं है और न ही यह कृत्रिम संस्था है। इसका निर्माण तो मानवीय चेतना की मूल प्रवृत्ति 'स्वतन्त्रता' के आधार पर ही हुआ है। इस प्रकार राज्य का कार्य अधिकारों की रक्षा करना है।

राज्य का वास्तविक आधार इच्छा है, बल नहीं

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि राज्य के निर्माण का आधार क्या है? ग्रीन का कथन है कि राज्य का वास्तविक आधार बल न होकर, इच्छा है। अधिकारों की रक्षा के उद्देश्य से राज्य का प्रादुर्भाव होता है। साधारणतया व्यक्ति अपने अधिकारों के समान ही दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों का भी आदर करता है। परन्तु, कभी-कभी क्रोध, घृणा या स्वार्थ के वशीभूत होकर वह दूसरों के अधिकारों की उपेक्षा भी करने लगता है, किन्तु सबकी यह सार्वजनिक इच्छा होती है कि सभी परिस्थितियों में सभी के अधिकारों की रक्षा करने वाली कोई संस्था होनी चाहिए। इसी सामान्य इच्छा के फलस्वरूप राज्य की सृष्टि होती है।

कभी-कभी राज्य हमारे विरुद्ध बल का प्रयोग करता है पर वह हमारी सबकी इच्छा से ही वैसा करता है, क्योंकि इसी कार्य के लिए हमने उसकी स्थापना की है। जब मानव किसी की सम्पत्ति चुराता है तो वह अपनी आदर्श नैतिक इच्छा तथा समाज की सामान्य इच्छा के प्रतिकूल कार्य करता है। समाज और व्यक्ति की इच्छा यह होती है कि चोरी के कार्य का विरोध किया जाये। जब राज्य पुलिस और न्यायालय द्वारा असामाजिक कार्य को रोकता है, वह शक्ति का नहीं, अपितु समाज की सामान्य इच्छा तथा उस व्यक्ति की आदर्श नैतिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। चोर को दिया जाने वाला दण्ड वस्तुतः उसकी इच्छा का ही परिणाम होता है। रूसों ने ठीक ही कहा कि राज्य हमारे विरुद्ध बल-प्रयोग इस उद्देश्य से करता है कि हम स्वतन्त्र हो सकें।

राज्य के कार्य

राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास करना है। उसका विचार है कि राज्य प्रत्यक्ष रूप से सदजीवन की प्राप्ति अथवा नैतिक उन्नति के लिए कुछ नहीं कर सकता है। अपितु परोक्ष रूप में वह व्यक्तियों की सहायता अवश्य कर सकता है। इस सहायता का रूप यह हो सकता है कि वह मानव के मार्ग से वे सभी बाधाएं हटा दें, जो उसके नैतिक विकास में अवरोध उपस्थित करती हैं। राज्य को अपने कानून और नियम इस प्रकार बनाने चाहिए कि व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाएं दूर हो जाएं। राज्य निरक्षरता, अज्ञान, दूषित भूमि-व्यवस्था, दरिद्रता, मद्यपान की बुराई पर विजय प्राप्त करके नागरिकों की प्रत्यक्ष सहायता कर सकता है। उसका मत है कि राज्य, दबाव डालकर न तो व्यक्तियों को नैतिक बना सकता है और न उनसे नैतिक काम करा सकता है। राज्य का प्रधान कार्य श्रेष्ठ जीवन के मार्ग की बाधाओं का निवारण करना है। बार्कर के अनुसार, "राज्य का सकारात्मक कार्य नहीं है कि वह अपने सदस्यों का नैतिक दृष्टि से अधिक अच्छा बनाए, उसका यह नकारात्मक नैतिक कार्य है कि मनुष्यों की उन बाधाओं को दूर करे, जो उन्हें अधिक अच्छा बनने से रोक रही हैं।" इस प्रकार ग्रीन राज्य के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाता है।

व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार

ग्रीन राज्य को स्वयं साध्य नहीं मानता है। वह व्यक्ति को साध्य मानता है और राज्य उत्तम जीवन की सिद्धि का साधन मात्र है। यदि राज्य उत्तम जीवन के मार्ग में आने

वाली बाधाओं को दूर करता है तो उसके विरोध का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। किन्तु, यदि राज्य ऐसा न करे तो व्यक्ति राज्य का विरोध कर सकता है। किन्तु सामान्य परिस्थितियों में, ग्रीन के अनुसार, व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि राज्य के नियम प्राचीन काल से चले आ रहे हैं तथा वे समाज के हित के लिए हैं। कतिपय विशिष्ट स्थितियों में, ग्रीन के अनुसार व्यक्ति राज्य का विरोध कर सकता है जो निम्नलिखित रूप से हैं— प्रथम, जबकि राज्य के नियम सन्देहपूर्ण हों। द्वितीय, जबकि आन्दोलन के अतिरिक्त अत्याचारपूर्ण कानून का रद्द कराने का अन्य मार्ग न रह गया हो। तृतीय, यदि शासन में स्वार्थ और भ्रष्टाचार फैल जाय। चतुर्थ, राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास के कार्य न करे। पंचम, यदि राज्य अनुचित कानून बनाये। परन्तु राज्य के विरोध के अधिकार पर ग्रीन कुछ प्रतिबन्ध भी लगाता है। प्रथम, राज्य के विरोध के अधिकार पर ठण्डे व शान्तिपूर्ण ढंग से नागरिक को विचार करना चाहिए और खूब सोच-समझकर निर्णय लेना चाहिए। द्वितीय, राज्य के विरोध के प्रश्न पर जनमत को अपने अनुकूल बनाना चाहिए। तृतीय, जब विरोध के लिए आवश्यक शर्त पूरी हो, तभी ऐसा करना चाहिए। इस प्रकार ग्रीन के विचार व्यावहारिक लिये हुए हैं।

ग्रीन के अन्य विचार

ग्रीन के कतिपय महत्वपूर्ण विचार निम्नलिखित हैं—

दण्ड— ग्रीन के अनुसार दण्ड का अभिप्राय समाज-विरोधी शक्तियों का विध्वंस, उत्तम जीवन की बाधाओं का निवारण तथा नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करना है। उसके अनुसार दण्ड का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों की नैतिक इच्छा को स्वतन्त्र बनाये रखना है। अपराधी ने जिस अधिकार का उल्लंघन किया है, उसके महत्व के अनुसार उसे दण्ड मिलना चाहिए। दण्ड का उद्देश्य अपराधी को क्लेश पहुँचाना नहीं है, अपितु अपराध के प्रति लोगों के मन में ऐसा भय उत्पन्न कर देना है, जिससे अपराध में उनकी प्रवृत्ति न हों।

सम्पत्ति— ग्रीन व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए सम्पत्ति का समर्थन करता है। सम्पत्ति स्वतन्त्र जीवन बिताने के अधिकार का सहज परिणाम होती है। ग्रीन के अनुसार, प्रत्येक नागरिक को सम्पत्ति रखने का अधिकार मिलना चाहिए। किन्तु, वह भू-सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार को सीमित करने के पक्ष में था।

राज्य तथा अन्य समुदाय— ग्रीन यह मानता है कि राज्य व्यक्तियों का ही समुदाय नहीं है, अपितु समुदायों का समुदाय है। मानव राज्य का नागरिक होने के साथ-साथ समुदायों का भी सदस्य है। अतः राज्य को समुदायों के अस्तित्व को भी ध्यान में रखना कार्य करना चाहिए। राज्य को समुदायों में सामंजस्य स्थापित करने का कार्य करना चाहिए तथा समुदायों के कार्य नहीं छीनने चाहिए।

युद्ध सम्बन्धी विचार— ग्रीन के अनुसार, राज्य को केवल ऐसे युद्धों में भाग लेना चाहिए जो रक्षात्मक हों। राज्य की नीति आक्रामक नहीं होनी चाहिए। वह युद्ध-विरोधी तथा विश्व-बन्धुत्व का प्रबल समर्थक था। वह अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को मान्यता देता है। यदि राज्य की नीति आक्रामक हो तो वह व्यक्ति को ऐसे राज्य का समर्थन न करने की छूट देता है।

ग्रीन का गूल्यांकन— ग्रीन की रायों बड़ी बेन बह हैं कि उराने आदर्शवाद का परिष्कार और परिगर्जन किया। उराने व्यक्ति को राष्ट्रीय गाना, युद्ध का विरोध किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का समर्थन किया। उसने जर्मन आदर्शवाद को अंग्रेजी वातावरण के अनुकूल बना दिया। उसके दर्शन में आदर्शवाद तथा व्यक्तिवाद का सुन्दर समन्वय मिलता है। उसने राज्य के कार्यों और व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कोई विरोध नहीं माना। बार्कर के शब्दों में, "ग्रीन एक कल्पनाशील आदर्शवादी और गम्भीर यथार्थवादी था।" निष्कर्षतः वह उदार आदर्शवादी था, जिसने जनकल्याणकारी राज्य की धारणा के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

28.3.3 आदर्शवादी विचारक : बोसांके— ग्रीन के सिद्धान्तों का प्रबल प्रचार करने वाला विचारक उसका शिष्य बरनार्ड बोसांके था। उसने अपने गुरु ग्रीन के आदर्शवादी सिद्धान्तों को ग्रहण करते हुए उराने के उदारवाद को तिलाजलि दे दी। इसलिए ग्रीन की अपेक्षा उराने के विचार हीगल के विचारों से अधिक राश्वर्य रखते हैं। बोसांके राज्य को वास्तविक इच्छा का साकार रूप मानने के कारण एक नैतिक विचार मानता है। उसके अनुसार राज्य सामान्य इच्छा का साकार रूप है, जिसमें हमारी वास्तविक इच्छा भी शामिल है। अतः व्यक्ति के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह राज्य के आदेशों का आंख मूंद कर पालन करे, क्योंकि वे उसकी अपनी ही वास्तविक इच्छा के आदेश हैं। बोसांके का यह सिद्धान्त ग्रीन की अपेक्षा हीगल से अधिक समीपता रखता है।

28.3.4 आदर्शवादी विचारक : ब्रेडले— ब्रेडले ब्रिटेन का एक अन्य आदर्शवादी विचारक है, जिसे हीगल के विचारों का उग्र समर्थक माना जाता है। उसने अपने ग्रंथ नैतिक अध्ययन में हीगल की पुस्तकों से लम्बे-लम्बे उद्धरण दिये हैं। हीगल की भांति ब्रेडले राज्य को सर्वशक्तिमान मानता है और जीवन के सभी पहलुओं पर तथा विभिन्न सामाजिक संस्थाओं पर राज्य का पूरा नियन्त्रण स्थापित करता है।

28.4 आदर्शवाद के सिद्धान्त

आदर्शवाद के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

28.4.1 राज्य एक नैतिक संस्था है— आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य को एक ऐसी नैतिक संस्था मानता है जो व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। राज्य में रहकर ही मनुष्य का पूर्ण नैतिक विकास सम्भव है। राज्य के बाहर व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकता है। राज्य में ही व्यक्ति अपनी सर्वतोमुखी उन्नति कर सकता है। बोसांके ने माना कि राज्य के नैतिक विचार का मूर्त रूप बाइबल है।

28.4.2 राज्य साध्य है, साधन नहीं— आदर्शवादियों के अनुसार, राज्य एक साधन नहीं, बल्कि साध्य है। उसकी सत्ता और अधिकार सर्वोपरि हैं। राज्य का अपना

व्यक्तित्व और इच्छा होती है। राज्य प्रमुख हैं और व्यक्ति गौण। राज्य नागरिकों से अपना सर्वस्व बलिदान करने की मांग कर सकता है।

28.4.3 राज्य का वास्तविक व्यक्तित्व है— राज्य का व्यक्तित्व उसके सदस्यों से पृथक और स्वतन्त्र होता है। हीगल ने राज्य को एक ऐसा व्यक्ति माना जिसमें आत्म-चैतन्य नैतिक तत्व होता है, वह एक आत्म ज्ञानी और आत्मानुभवी व्यक्ति है। फिकटे के अनुसार, "राज्य व्यक्तियों का समूह मात्र न होकर उससे अधिक है।"

28.4.4 राज्य अनिवार्य है— आदर्शवाद राज्य को व्यक्ति के लिए अनिवार्य मानता है। राज्य से पृथक व्यक्ति का जीवन सम्भव नहीं है। राज्य के बाहर व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। अरस्तू के अनुसार, "राज्य के बिना व्यक्तियों को सद्जीवन प्राप्त नहीं हो सकता।"

28.4.5 राज्य सर्वशक्तिमान है— आदर्शवादी राज्य को असीम शक्ति को धारण करने वाला मानते थे। हीगल तो राज्य को ईश्वर का अवतार मानता है। राज्य के विरुद्ध व्यक्तियों को कोई अधिकार नहीं है। व्यक्तियों को पूर्ण रूप से राज्य के प्रभुत्व में रहना चाहिए।

28.4.6 राज्य व व्यक्ति का आंगिक सम्बन्ध है— राज्य और व्यक्ति का वहीं सम्बन्ध है, जो शरीर और उसके अंगों का है। राज्य समष्टि है और समष्टि अपने अवयवों से सदैव अधिक बड़ी और महत्वपूर्ण होती है। जिस प्रकार अवयवों की सार्थकता शरीर का अंग बने रहने में है, उसी प्रकार व्यक्ति का सारा महत्व और मूल्य राज्य का अंग बने रहने में है।

28.4.7. राज्य सामान्य इच्छा का प्रतीक है— राज्य की इच्छा सामूहिक भलाई को ध्यान में रखती है। राज्य के द्वारा व्यक्ति की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व किया जाता है। राज्य के द्वारा व्यक्ति की वास्तविक इच्छा और उसकी अन्तर्चेतना अभिव्यक्त होती है। रुसो के अनुसार, यदि व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक, 'सामान्य इच्छा' का पालन नहीं करता तो राज्य को उसे बल पूर्वक आज्ञा पालन करवाना चाहिए। यानी सामान्य इच्छा मानने के लिए बाध्य करना चाहिए। अगर व्यक्ति सामान्य इच्छा के आदेशों का पालन नहीं करेगा तो सामान्य इच्छा का महत्त्व ही समाप्त हो जायेगा।

28.4.8. राज्य स्वतन्त्रता का मूर्त रूप है— आदर्शवाद के अनुसार राज्य की इच्छानुसार कार्य करना ही स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छा के प्रतिकूल राजकीय आदेशों को कर्तव्य समझते हुए उनका पालन करना है। स्वतन्त्रता का उद्देश्य व्यक्ति के विकास के लिए अधिकाधिक अवसर प्रदान करना है और ये अवसर राज्य के द्वारा प्रदान किये जा सकते हैं।

28.4.9. राज्य समाज से पृथक नहीं— कतिपय आदर्शवादी यह मानते हैं कि राज्य और समाज में कोई भेद नहीं है। समाज राज्य से पृथक कोई संस्था नहीं है। यह एक ही संस्था के दो नाम हो सकते हैं। सामाजिक अस्तित्व राज्य पर निर्भर है।

28.5 आदर्शवाद के अनुसार व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध

आदर्शवाद के अनुसार व्यक्ति और राज्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे पर अन्तःनिर्भर हैं और वे इस सम्बन्ध में आंगिक धारणा को स्वीकार करते हैं। राज्य प्रमुख है और व्यक्ति गौण। व्यक्ति का महत्व और मूल्य राज्य में ही है। राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन।

हीगल जैसे आदर्शवादी यह मानते हैं कि राज्य व्यक्ति की आत्मा की ब्राह्म अभिव्यक्ति है। स्ट्रेस के शब्दों में, "हीगल के लिए राज्य स्वयं व्यक्ति ही है।" राज्य व्यक्ति की अपूर्णताओं एवं स्वेच्छाचारिताओं का दमन करके उसके आध्यात्मिक विकास को सम्भव बनाता है। इसी अर्थ में राज्य व्यक्ति से श्रेष्ठ एवं उच्च है। हीगल ने यह घोषणा की थी कि राज्य स्वयं एक साध्य है तथा व्यक्ति एक साधन मात्र है। व्यक्ति की समस्त आकांक्षाएं राज्य में रहकर ही पूरी होती हैं।

ग्रीन सौम्य आदर्शवादी था। उसने व्यक्ति को शक्ति प्रदान करते हुए राज्य को साधन नहीं माना। उसका चरम लक्ष्य व्यक्ति और उसका विकास है, राज्य नहीं। राज्य का कार्य व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायक होता तथा इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। वह राज्य को लोक कल्याण का साधन मानता है। वह कतिपय दशाओं में व्यक्ति को राज्य के विरोध का भी अधिकार देता है। राज्य स्वयं साध्य नहीं। वह राज्य को उत्तम जीवन की सिद्धि का साधन मात्र है। यदि वह इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता, तो फिर नागरिक उसकी आज्ञा का पालन करने को बाध्य नहीं है।

28.6 आदर्शवाद की आलोचनाएँ

आदर्शवाद की अनेक आधारों पर आलोचनाएं की जाती हैं जिन्हें निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

28.6.1 आदर्शवाद अव्यावहारिक कल्पनावेद है— आदर्शवादी जिस राज्य की कल्पना करते हैं, वह काल्पनिक है। कई आदर्शवादी इसे स्वीकार करते हैं कि वस्तु जगत् में इस प्रकार के आदर्श राज्य नहीं होते। प्लेटो ने स्वयं कहा था कि "आदर्श राज्य स्वर्ग में कदाचित् स्थापित हो सके, पृथ्वी पर तो वह कहीं नहीं है।"

28.6.2 आदर्शवाद बौद्धिक व्यायाम है— आदर्शवादियों का राज्य विषयक सम्पूर्ण चिन्तन बुद्धिवाद पर आधारित है। वे राज्य को बुद्धि और इच्छा का परिणाम मानते हैं। आदर्शवाद ने मनोविज्ञान और प्राणीशास्त्र की घोर उपेक्षा की है। वस्तुतः मनुष्य बुद्धि से नहीं, अपितु मनोभावना द्वारा प्रेरित होता है। मनुष्य का अचेतन मन उसके कार्यों पर गहरा प्रभाव डालता है।

28.6.3 आदर्शवाद निरंकुशवाद है— आदर्शवादियों ने राज्य को सर्वोच्च तथा निरंकुश सत्ता बना दिया जिसके परिणामस्वरूप फासिज्म तथा तानाशाही का उदय हुआ।

28.6.4. आदर्शवाद व्यक्ति को साधन मानता है— वस्तुतः राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए, किन्तु आदर्शवादी विचारक व्यक्ति को राज्यरूपी मशीन का पुर्जा बना देते हैं। राज्य और समुदाय अपने-आप में साध्य नहीं हैं। इनका महत्व व्यक्ति की भलाई और कल्याण में ही है।

28.6.5 आदर्शवाद राज्य को शरीरधारी बना देता है— आदर्शवादी राज्य को तुलना एक शरीरधारी से करते हैं। जिसका अपना व्यक्तित्व तथा अपनी इच्छा है। वस्तुतः व्यक्तियों से स्वतन्त्र उसका अस्तित्व तथा व्यक्तित्व नहीं है। जिनसबर्ग के शब्दों में, "व्यक्तियों से पृथक् राज्य का कोई व्यक्तित्व नहीं, कोई स्वार्थ नहीं। व्यक्ति ही राज्य तथा समाज की अन्तिम तथा वास्तविक इकाई हैं।" मैकाइवर के अनुसार, "जिस प्रकार बहुत से घोड़ों के समूह से कोई नवीन उत्कृष्ट घोड़ा नहीं बनता अथवा विद्यार्थियों के संगठित होने से किसी नवीन उत्कृष्ट विद्यार्थी की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार अनेक व्यक्तियों के समुदाय से किसी लोकोत्तर व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।" राज्य तथा व्यक्ति में आधारभूत अन्तर है। व्यक्ति चेतनशील प्राणी है जबकि राज्य अमूर्त संख्या है।

28.6.6. भौतिकवाद की उपेक्षा— आदर्शवाद केवल व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति तक ही सीमित है। यह व्यक्ति के आर्थिक तथा भौतिक हितों की उपेक्षा करता है, जो व्यक्ति की अपरिहार्य आवश्यकताएँ हैं।

28.6.7 स्वतन्त्रता विरोध दर्शन— आदर्शवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी है। राज्य की आज्ञा पालन ही स्वतन्त्रता नहीं है। सच्ची स्वतन्त्रता उसी समय उपलब्ध हो सकती है, जबकि व्यक्ति अपनी अन्तःप्रेरणा से कार्य करे।

28.6.8. युद्ध का समर्थन— आदर्शवादी राज्य को नैतिकता से ऊपर बतलाते हैं। राज्य नैतिक बन्धनों से ऊपर है। वह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के भी बन्धनों से मुक्त है। हीगल के अनुसार, राज्य युद्ध करने के लिए स्वतन्त्र है और उस पर कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू नहीं होता है।

28.7 सारांश

उपर्युक्त दोषों के उपरान्त भी आदर्शवाद की कतिपय महत्वपूर्ण देन हैं। प्रथम, आदर्शवाद राज्य को प्राकृतिक संस्था मानता है। द्वितीय, आदर्शवाद राजनीति का सम्बन्ध आचारशास्त्र के साथ जोड़ता है। तृतीय, आदर्शवाद ने भावात्मक, स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। चतुर्थ, आदर्शवाद व्यक्ति तथा राज्य के बीच अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करता है। राज्य के हित में ही व्यक्ति का हित है। हाबहाऊस ने आदर्शवाद का मूल्यांकन करते हुए लिखा है— "इससे अधिक खतरनाक अन्य कोई सिद्धान्त नहीं बना, जिसने व्यक्ति के अधिकारों की इतनी उपेक्षा की हो और निरंकुशता का इतना खुला समर्थन किया हो।" विलियम जेम्स ने इसे "एक विशुद्ध बौद्धिक सिद्धान्त कहा है।"

28.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आदर्शवाद की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
2. आदर्शवाद के प्रमुख विचारकों के दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
3. एक प्रमुख आदर्शवादी के रूप में टी.एच. ग्रीन के योगदान पर लेख लिखिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आदर्शवाद का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. आदर्शवाद की विकास यात्रा पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।
3. 'आदर्शवाद राज्य को सर्वशक्तिमान मानता है।' सिद्ध कीजिए।
4. हीगल के विचारों पर टिप्पणी लिखिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आदर्शवाद का उद्देश्य कहीं हुआ ?
2. आदर्शवाद के प्रमुख विचारकों के नाम बताओ।
3. आदर्शवाद का शाब्दिक अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. गेटेल आदर्शवाद को किस रूप में देखते हैं ?

28.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सी.पी. शर्मा, शशि प्रभा शर्मा, "आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ", यूनिवर्सल बुक डिपो, ग्वालियर।
2. एस.पी. वर्मा, "पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास", रस्तोगी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

इकाई-29 : समाजवाद

संरचना

- 29.1 उद्देश्य
- 29.2 प्रस्तावना
- 29.3 समाजवाद का इतिहास
- 29.4 समाजवाद की परिभाषाएं
- 29.5 समाजवाद के सिद्धान्त लक्षण व विशेषताएं
 - 29.5.1 पूँजीवाद का उन्मूलन
 - 29.5.2 समानता में विश्वास
 - 29.5.3 व्यक्ति के स्थान पर समाज को महत्व
 - 29.5.4 उत्पादन के साधनों, सम्पत्ति और भूमि का राष्ट्रीयकरण
 - 29.5.5 समाज की आंगिक एकता में विश्वास, प्रतियोगिता का अन्त
 - 29.5.6 राज्य एक सकारात्मक इकाई
 - 29.5.7 राज्य को अधिक से अधिक काम सौंपना
 - 29.5.8 समाजवाद एक प्रजातान्त्रिक विचारधारा
 - 29.5.9 सकारात्मक स्वतन्त्रता का समर्थन
- 29.6 समाजवाद की आलोचनायें या विपक्ष में तर्क
 - 29.6.1 समाजवाद एक सर्वसत्तावाद विचारधारा
 - 29.6.2 राज्य का एकाधिकारवाद
 - 29.6.3 समाज को दो वर्गों में बाँटना
 - 29.6.4 समाजवाद एकपक्षीय विचारधारा
 - 29.6.5 व्यक्तिगत उत्साह का नष्ट होना
 - 29.6.6 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नष्ट होना
 - 29.6.7 नौकरशाही भाई-भतीजावाद व भ्रष्टाचार
 - 29.6.8 उत्पादन की गति मंद होना
 - 29.6.9 समाजवादी व्यवस्था अलोकतान्त्रिक व स्वतन्त्रता विरोधी
 - 29.6.10 प्रतियोगिताओं के बिना उपभोक्ताओं का अहित
 - 29.6.11 समाजवाद भी अन्यायपूर्ण है
 - 29.6.12 समाजवादी व्यवस्था अपव्ययी होगी
 - 29.6.13 समाजवाद में मानव का नैतिक पतन हो जायेगा
- 29.7 समाजवाद के पक्ष में तर्क
 - 29.7.1 समाजवाद पूँजीवाद का विरोध करता है
 - 29.7.2 व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करना
 - 29.7.3 खुली प्रतियोगिता का विरोध
 - 29.7.4 समानता पर आधारित समाज की स्थापना करना
 - 29.7.5 समाज कल्याण पर आधारित
 - 29.7.6 हरामखोर वर्ग का नाश

29.7.7 समाजवादी व्यवस्था, ज्यादा लोकतान्त्रिक व्यवस्था

29.7.8 धन के केन्द्रीयकरण का विरोध

29.7.9 समाजवाद वर्तमान व्यवस्था की बुराइयों का प्रभावशाली चित्रण करता है

29.8 सारांश

29.9 अभ्यास प्रश्नावली

29.10 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

29.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य समाजवादी विचारधारा को जानना है। इसके अध्ययन के पश्चात् निम्न विषयों पर आपकी जिज्ञासा शान्त हो सकेगी—

- यह एक ऐसी विचारधारा है, जो आर्थिक क्षेत्र में राज्य या समाज के नियंत्रण की बात करती है,
- समाजवाद क्या है तथा विभिन्न विद्वानों के द्वारा इसके संबंध में रखे गए दृष्टिकोण को जानेंगे,
- समाजवाद के मूलभूत आधारों को जानेंगे,
- समाजवाद की भी व्यापक आलोचनाएँ की गई हैं, उनसे भी परिचित होंगे,
- उन तथ्यों को जानने का अवसर मिलेगा, जिनसे समाजवादी विचारधारा को वैश्वीक रूप मिला तथा विश्व के कई राष्ट्रों ने स्वीकार किया।

29.2 प्रस्तावना

समाजवाद आधुनिक युग की एक लोकप्रिय विचारधारा रही है। समाजवाद का विकास औद्योगिक क्रांति के पश्चात् हुआ था। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् जिस पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ और पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के तरीका वितरण की प्रणालियों, उद्योगों व व्यापार पर समाज के कुछ थोड़े से लोगों का व्यक्तिगत स्वामित्व स्थापित हो गया और समाज का बहुत बड़ा वर्ग इनसे वंचित हो गया जिसके कारण समाज दो भागों में बंट गया एक मजदूर वर्ग जिसकी संख्या समाज में अधिक थी लेकिन वह असहाय व गरीब या दूसरा पूँजीपति वर्ग जिनकी शक्ति बहुत ही कम थी लेकिन वह अमीर व शक्तिशाली। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्थाएँ अनेक प्रकार की बुराइयों के आ जाने के कारण मजदूरों की हालत बहुत ही खराब हो गयी थी। उन्हें अभावों की जिन्दगी बसर करने के लिए विवश होना पड़ रहा था। उनको उनके परिश्रम का पूरा लाभ नहीं मिल रहा था तथा पूँजीपति वर्ग द्वारा मजदूरों का शोषण किया जा रहा था। इस प्रकार गरीबी व अमीरों की खाई और अधिक बढ़ती जा रही थी अर्थात् गरीब और अधिक गरीब व अमीर और अधिक अमीर होते जा रहे थे। इसलिए कुछ विद्वानों द्वारा निजी सम्पत्ति को समाप्त करके उस पर सम्पूर्ण समाज का नियन्त्रण लगाये जाने की बात कही जाने लगी। इस प्रकार व्यक्तिवादी व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में समाजवादी का विकास हुआ। समाजवादी विचारधारा के दो रूप देखने को मिलते हैं। कल्पनाविहीन समाजवाद जिसके मुख्य विद्वान नायल, बापेद, सेंट साइमन, चार्ल कोरियर और रोबर्ट ओवन वैज्ञानिक समाजवाद के मुख्य प्रतिपादक कार्ल मार्क्स हैं।

29.3 समाजवाद का इतिहास

यद्यपि एक शब्द के रूप में समाजवाद का प्रयोग 1827 ई. में राबर्ट ओवन के विचारों का प्रचार करने के लिए स्थापित पत्रिका 'ओ नाइट कोऑपरेटिव' में व्यक्तिवादी और उदारवादी विचारों के विरुद्ध भावना प्रदर्शित करने के लिए किया गया। उसके बाद 1835 में राबर्ट ओवन की अध्यक्षता में 'सब राष्ट्रों के सब वर्गों के समुदाय' ने समाजवाद और समाजवादी शब्दों का प्रयोग किया। हालाँकि इससे बहुत पहले ओल्ड ट्रिटमेंट, ब्रुक जंजंउमदजद्ध में वर्णित एमोस, होसिया, इसियाह, जेरेमिया आदि प्राचीन यहूदी पैगम्बरों की वाणी से होता है जिन्होंने धनिकों के अत्याचारों की निन्दा कर एक ऐसे न्यायपूर्ण समाज की कल्पना की है जिसमें राजा धनिकों को दण्डित करके निर्धनों के हितों की रक्षा करेगा। प्लेटो ने 417 ई.पू. - 347 ई.पू. से अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य का जो चित्रण किया है, उसमें समाजवाद के बीज ही निहित हैं। इस प्रकार समाजवाद की उत्पत्ति काफी प्राचीन समय से हो गयी थी लेकिन उसको व्यवहारिक रूप 1917 ई. की रूस की बोलशेविक क्रांति के बाद दिया गया।

29.4 समाजवाद की परिभाषाएं

समाजवाद आंग्ल भाषा के 'सोशलिज्म' शब्द का हिन्दी पर्यायवाची है। सोशलिज्म शब्द की उत्पत्ति 'सोशियस' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ होता है 'समाज'। इस प्रकार समाजवाद का सम्बन्ध समाज और उसके सुधार से है। लेकिन वर्तमान समाज में यह सीधा-सादा शब्द समाजवाद इतना अधिक लोकप्रिय बन गया की इसकी परिभाषा देना बड़ा ही कठिन हो गया है, क्योंकि जितने विद्वान हैं उन सबकी अलग-अलग परिभाषा है। अतः हम कुछ प्रमुख परिभाषाएं प्रस्तुत कर सकते हैं।

कोकर के मतानुसार समाजवाद का अभिप्राय सम्पत्ति के सभी आधारभूत साधनों पर नियन्त्रण से है। यह नियन्त्रण समाज के किसी भी एक वर्ग द्वारा न होकर स्वयं समाज के द्वारा होता है और धीरे-धीरे व्यवस्थित ढंग से स्थापित किया जायेगा।

एमाइल का मत है कि समाजवाद का अर्थ, श्रमिकों की एक ऐसी व्यवस्था है, जो पूँजीवादी सम्पत्ति को सामाजिक सम्पत्ति में बदलने के उद्देश्य से राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करेगा।

बट्टेण्ड रसल का कहना है कि समाजवाद को भूमि व सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व का समर्थक बताया है।

रेम्जे मैकडोनल्ड ने कहा है कि साधारण भाषा में समाजवाद की सबसे अधिक अच्छी परिभाषा यही है कि उसका उद्देश्य समाज के आर्थिक व भौतिक साधनों का संगठन करना तथा मानव साधनों द्वारा इसका नियन्त्रण करना है।

29.5 समाजवाद के सिद्धान्त, लक्षण व विशेषताएँ

समाजवादी की उपर्युक्त परिभाषाओं, सिद्धान्तों, लक्षणों तथा विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

29.5.1 पूँजीवाद का उन्मूलन— समाजवाद का प्रमुख सिद्धान्त है पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध करना व उसको समाप्त करवाना समाजवाद की उत्पत्ति है। क्योंकि इसके परिणाम स्वरूप समाज स्पष्ट रूप से दो वर्गों में विभाजित हो गया था। एक मजदूर वर्ग तथा दूसरा पूँजीपति वर्ग, इन समाज के चन्द पूँजीपतियों द्वारा समाज के एक विशाल भाग का शोषण किया जा रहा था जिससे समाज की पूँजी का केन्द्रीकरण इन पूँजीपतियों के पास हो गया था और जिसके परिणामस्वरूप गरीब व अमीरों के बीच आर्थिक विषमता की खाई बढ़ती जा रही थी। इस प्रकार समाजवाद का मूलभूत सिद्धान्त पूँजीवाद को समाप्त करना है। एरिक फ्रॉम ने लिखा है कि व्यक्ति और भी एकाकी व अकेला पड़ गया, वह अपने अधिकार के बाहर ही अतिशय सबल शक्तियों के हाथों का साधन बन गया है, वह एक व्यक्ति बन गया किन्तु एक असमर्थ और असुरक्षित व्यक्ति।

29.5.2 समानता में विश्वास— समाजवाद समाज में व्याप्त घोर असमानता का विरोध करता है समाजवादियों का यह मानना है कि पूँजीवादी व्यवस्था के परिणाम स्वरूप ही समाज में आर्थिक असमानता पैदा हो चुकी है क्योंकि पूँजीपतियों के हाथों में समस्त पूँजी का केन्द्रीकरण हो गया है। अतः पूँजीपति इस व्यवस्था को समाप्त करके एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें न्यूनतम आवश्यकतायें हैं जैसे— रेटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि पूर्ण होने चाहिए और किसी भी व्यक्ति के द्वारा किसी का शोषण नहीं किया जाना चाहिए। इसके सन्दर्भ में महात्मा गाँधी का मत है कि आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता केवल दिखावा मात्र है।

29.5.3 व्यक्ति की बजाय समाज को महत्व— समाजवादी विचारधारा इस बात को मानती है कि समाज का हित किसी एक व्यक्ति के हित से अधिक महत्वपूर्ण होता है और सारे समाज के हितों के लिये व्यक्ति के हित का बलिदान किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा योग्य या शक्तिशाली क्यों न हो उसके हित समाज के हित से ऊँचें नहीं हो सकते। इसीलिये समाजवादी चाहते हैं कि समाज में केवल उन्हीं चीजों का उत्पादन करना चाहिए जिनकी आवश्यकता सारे समाज की होती है न कि किसी एक वर्ग या कुछ थोड़े से लोगों की आवश्यकता के लिए। इसलिए वे उत्पादन व वितरण के साधनों का राष्ट्रीयकरण करना चाहते हैं।

29.5.4 उत्पादन के साधनों, व्यक्तिगत सम्पत्ति और भूमि का राष्ट्रीयकरण— समाजवादी व्यक्तिगत भूमि और व्यक्तिगत सम्पत्ति को पूँजीवादी व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष मानकर उसका विरोध करते हैं। उनका मानना है कि भूमि तो ईश्वर की बनायी हुई है ईश्वर ने इसे मुफ्त में दान में दी है। इसीलिये उसका उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए न होकर सम्पूर्ण समाज के हित में होना चाहिये वे व्यक्तिगत सम्पत्ति को झगड़े का सबसे बड़ा कारण मानते हैं। इसीलिये वे इसे समाप्त करना चाहते हैं। कि निजी सम्पत्ति, निजी भूमि उद्योग व व्यवसाय तथा उत्पादन के साधन इत्यादि सभी पर सम्पूर्ण समाज का नियन्त्रण होना चाहिये और उनका राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिये। समाजवादियों के अनुसार वैयक्तिक उद्योग एक वैयक्तिक लुटमार है और व्यक्तिगत सम्पत्ति को सामाजिक रूप देना श्रेष्ठतर है। ब्लैच फोर्ड के अनुसार भूमि तथा उत्पादन के सभी साधनों को राष्ट्रीय सम्पत्ति बना दो, सारे खेत खानों, जहाजों तथा रेलों को राष्ट्रीय नियन्त्रण में रख दो, फिर बस व्यवहारिक समाजवाद पूरा हो जायेगा।

29.5.5 समाज की आंगिक एकता में विश्वास— समाजवादियों का यह मानना है कि समाज में रहने वाला व्यक्ति कोई अकेला प्राणी नहीं होता क्योंकि वह समाज में रहने वाले अन्य लोगों से उसी प्रकार से जुड़ा हुआ होता है और समाज पर निर्भर रहता है जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग एक दूसरे से जुड़े होते हैं तथा शरीर के किसी भी अंग में होने वाली तकलीफ का असर पूरे शरीर पर पड़ता है। उसी प्रकार से एक व्यक्ति के दुख या सुख का असर पूरे समाज पर पड़ता है। इसीलिये समाजवादी चाहते हैं कि सारे समाज को इकाई मानकर कार्य किया जाना चाहिए।

29.5.6 प्रतियोगिता का अन्त— समाजवाद पूँजीवादी व्यवस्था की सबसे बड़ी बुराई खुली आर्थिक प्रतियोगिता का अन्त करना चाहता है क्योंकि इस व्यवस्था में केवल धनिक वर्ग को ही लाभ होता है। प्रतियोगिता में मजदूर पूँजीपतियों का मुकाबला नहीं कर सकते हैं। इसीलिये उन्हें थोड़े मुल्य पर श्रम बेचना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रतियोगिता में प्रचार, विज्ञापन और अन्य बातों पर अधिक समय व रुपये खर्च कर दिये जाते हैं और ऐसी स्थिति में वह वस्तु महंगी कीमत पर उपभोक्ताओं को मिलती है। इसके अलावा वे इस बात को भी मानते हैं कि बाजार में होने वाली गला तोड़ प्रतियोगिता के सामने मजदूर वर्ग नहीं टिक पाता है। डॉ. हेडन गेस्ट का मत है कि मेरे विचार से समाजवाद का अर्थ स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को प्रतिष्ठित करना है। इस प्रकार समाजवादी खुली प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग पर बल देते हैं।

29.5.7 राज्य एक सकारात्मक इकाई— जहाँ व्यक्तिवादी विचारक राज्य का विरोध करते हुए उसे एक आवश्यक बुराई बताते हैं जबकि समाजवादी राज्य को एक लोककल्याणकारी संस्था मानते हैं और यह बताते हैं कि राज्य का जन्म ही लोगों की भलाई करने के लिए हुआ है और लम्बे समय से राज्य आर्थिक, सामाजिक शिक्षा स्वास्थ्य विज्ञान व संस्कृति के क्षेत्र में लोगों की सेवा करता आ रहा है। यदि कभी-कभी राज्य के द्वारा शक्ति का प्रयोग किया गया तो वह सम्पूर्ण समाज के सामूहिक हित के लिए किया गया। अतः राज्य एक सकारात्मक अछाई है।

29.5.8 राज्य को अधिक से अधिक काम सौंपना— जहाँ एक तरफ व्यक्तिवादी विचारक राज्य को आवश्यक बुराई मानते हुए उसके कार्यों को केवल पुलिस कार्य तक सीमित कर देना चाहते हैं वहीं दूसरी तरफ समाजवादी विचारक राज्य को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाना चाहते हैं। इसके लिए वे उसको अधिक से अधिक कार्य सौंपने के पक्षधर हैं। उनकी यह मान्यता है कि आर्थिक, व्यापारिक, उद्योग, कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य सभी क्षेत्रों में राज्य को काम करना चाहिए, तभी पूँजीवादी व्यवस्था समाप्त होगी और समानता की स्थापना होगी। राज्य के द्वारा सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए। सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। सम्पत्ति का सार्वजनिक हित में प्रयोग करना चाहिए अर्थात् समाजवादी राज्य को अधिक से अधिक काम सौंपना चाहते हैं।

29.5.9 समाजवाद एक प्रजातान्त्रिक विचारधारा— समाजवादी विचारधारा को एक प्रजातान्त्रिक विचारधारा के रूप में स्वीकार किया जाता है। अनेक बार समाजवाद को साम्यवाद का पर्यायवाची माना जाता है, जो नितान्त भ्रमपूर्ण है। पूँजीवाद के विरोध में परस्पर सहमत होते हुए भी समाजवाद और साम्यवाद परस्पर विरोधी विचारधाराएँ हैं। इबन्सटन के शब्दों में 'ये (समाजवाद और साम्यवाद) विचार और जीवन के दो नितान्त विरोधी ढंग हैं, उतने ही विरोधी जितने कि 'उदारवाद और सर्वाधिकारवाद' इन दोनों विचारधाराओं में प्रमुख भेद साधनों के सम्बन्ध में देखा जा सकता है। साम्यवाद पूँजी के अन्त हेतु हिंसक साधनों को अपनाने के पक्ष में है किन्तु समाजवाद वांछित परिवर्तन प्रजातान्त्रिक संवैधानिक साधनों से ही लाने का इच्छुक है। इस प्रकार समाजवाद एक प्रजातान्त्रिक विचारधारा है।

29.5.10 सकारात्मक स्वतन्त्रता का समर्थन— समाजवाद, असीमित स्वतन्त्रता का पक्षधर नहीं है, लेकिन यह सकारात्मक स्वतन्त्रता का समर्थन करता है।

29.6 समाजवाद की आलोचनाएं या विपक्ष में तर्क

व्यक्तिवादी विचारक समाजवाद की कटु आलोचना करते हैं। प्रो.हर्नशा ने तो यहां तक कह दिया कि, "समाजवाद की ओर आकृष्ट होने वाले केवल दो ही वर्ग हैं—एक सनकी वर्ग और दूसरा अपराधी वर्ग।" हालांकि यह कथन सही नहीं है लेकिन फिर भी समाजवाद की निम्नलिखित आलोचनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

29.6.1 समाजवाद एक सर्वसत्तावाद विचारधारा— आलोचकों का यह मत है कि समाजवाद एक सर्वसत्तावादी विचारधारा है। इसका आशय एक ऐसी विचारधारा से है जिसके तहत उत्पादन व वितरण के समस्त साधनों पर राज्य का नियन्त्रण होता है। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था। राज्य की इच्छा पर निर्भर हो जायेगी और उत्पादन तथा वितरण के लिये राज्य अपनी इच्छानुसार कानून बना लेगा। इस प्रकार समाज के अधिक ढोंचे पर पूर्ण दृढ़ नियन्त्रण रखने के कारण समाजवादी राज्य एक 'सर्वसत्तावादी राज्य' होगा।

29.6.2 राज्य का एकाधिकारवाद— आर्थिक क्षेत्र में समाजवाद उत्पादन व वितरण के सभी साधनों पर राज्य का अधिकार चाहता है, जिसके कारण राज्य ही उत्पादक, व्यवस्थापक व वितरक हो जायेगा। आलोचकों का यह मानना है कि खुली प्रतिस्पर्धा के अभाव में मनमानी कीमत पर खराब माल भी लोगों को खरीदना पड़ेगा। जिससे उपभोक्ता को हानि होगी तथा वे अपनी इच्छा के मुताबिक अच्छी से अच्छी वस्तु नहीं खरीद पायेंगे। इस प्रकार आलोचक समाजवादी विचारधारा को एक एकाधिकारवादी विचारधारा कहते हैं।

29.6.3 समाज को दो वर्गों में बाँटना— समाजवाद की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि श्रमिक वर्ग और जिनके हित परस्पर एक-दूसरे से टकराते हैं परिणामस्वरूप पूँजीपतियों व मजदूरों में मेल-मिलाप नहीं हो पाता है और जिससे अये दिन कल-कारखानों में हड़ताल व तालाबन्दी होती रहती है। इस प्रकार समाजवादी विचारधारा से संघर्ष बढ़ने की सम्भावना बनती रहती है। वर्ग संघर्ष के स्थान पर, वर्ग सहयोग अधिक महत्वपूर्ण है जिसकी बात समाजवाद नहीं करता है।

29.6.4 समाजवाद, एकपक्षीय विचारधारा— समाजवाद केवल व्यक्ति के आर्थिक पक्ष को महत्व देता है जबकि वास्तव में मानव केवल भौतिक आवश्यकताओं का ही गुलाम नहीं होता, उसकी कुछ आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी होती हैं जिनका पूरा होना उसके लिये आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त होने से भी कहीं अधिक आवश्यक होता है अर्थात् समाजवाद व्यक्ति के आध्यात्मिक पक्ष को भूल जाता है। इस प्रकार आलोचक समाजवाद को एकपक्षीय विचारधारा कहते हैं।

29.6.5 व्यक्तिगत उत्साह का नष्ट होना— आलोचकों का यह मानना है कि व्यक्ति अपने स्वभाव से ही स्वार्थी होता है और वह उस समय तक कोई भी काम मन लगाकर नहीं करता जब तक कि उसे उससे निजी लाभ न हो। समाजवादी व्यवस्था में सारे काम राज्य द्वारा किये जाते हैं और सभी कर्मचारियों को समान वेतन मिलता है। योग्य व अयोग्य में कोई फर्क नहीं होगा। परिणामस्वरूप निजी लाभ न होने से व्यक्ति को अच्छा काम करने, मेहनत करने व मन लगाकर काम करने की प्रेरणा नहीं मिलती।

29.6.6 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नष्ट होना— समाजवादी राज्य के कार्यों को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहते हैं। वे न केवल राजनैतिक बल्कि आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा व स्वास्थ्य में भी राज्य के हस्तक्षेप की बात करते हैं जिसके कारण लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो जायेगी। व्यक्ति राज्य रूपी मशीन का एक पुर्जा मात्र बन जायेगा।

29.6.7 नौकरशाही भाई-भतीजावाद व भ्रष्टाचार— आलोचकों के अनुसार यदि तमाम कार्य राज्य को सौंप दिये जायेंगे तो उसका आशय होगा कि सभी। कार्य कर्मचारियों द्वारा किये जायेंगे और ऐसी स्थिति में कर्मचारियों की फौज खड़ी हो जायेगी, जिससे नौकरशाही पनपेगी। शासन भ्रष्ट हो जायेगा, प्रशासन में अकुशलता बढ़ेगी। अतः उत्पादन कम होगा। राज्य पर अनावश्यक बोझ पड़ने से आर्थिक स्थिति ढावाडोल हो जायेगी।

29.6.8 उत्पादन की गति मंद होना— पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रत्येक उद्योग के साथ व्यक्ति विशेष की लाभ-हानि का प्रश्न जुड़ा हुआ है। अतः उद्योगपति उत्पादन की मात्रा तथा श्रेष्ठता बढ़ाने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करता है। किन्तु समाजवाद में उत्पादन से होने वाला लाभ किसी एक का न होकर सबका होगा और जैसा कि कहावत

है, 'सबका काम किसी का काम नहीं होता' मानव सुझबुझ से कार्य करे और नवीन उद्योगों में प्रवृत्त हो इस बात की समाजवाद कोई प्रेरणा नहीं देता है। समाजवाद में बुद्धिमानों, परिश्रमियों तथा योग्य व्यक्तियों की स्थिति, मुख्य, आलसी व अयोग्य व्यक्ति ले लेते हैं जिसके परिणामस्वरूप कार्य कुशलता में कमी आ जाती है और उत्पादन की गति मन्द हो जाती है।

29.6.9 समाजवादी व्यवस्था अलोकतान्त्रिक व स्वतन्त्रता विरोधी- हालांकि समाजवाद सैद्धान्तिक रूप से लोकतन्त्र और मानव स्वतन्त्रता का समर्थन अवश्य करता है। लेकिन व्यवहार में ऐसा कुछ भी नहीं प्रतीत होता है। व्यवहार में समाजवाद सभी शक्तियों व कार्य राज्य को सौंपने के पक्षधर है। वह यह चाहता है कि उत्पादन व वितरण के समस्त साधनों पर सरकारी नियन्त्रण हो जिससे समाजवाद के अन्तर्गत स्वाधीनता का अन्त हो जाये। एक चुने हुए स्वामी के शासन के अतिरिक्त वहाँ और कुछ नहीं होगा। श्रमिकों को अपना कार्य करने का आदेश मिलेगा व उनका पालन करेंगे।

29.6.10 प्रतियोगिताओं के बिना उपभोक्ताओं का अहित- समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन तथा वितरण के साधनों का राष्ट्रीयकरण हो जायेगा। जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन व वितरण के समस्त साधनों पर सरकारी नियन्त्रण हो जायेगा तब सरकार अपनी इच्छानुसार किसी वस्तु का निर्माण करेगी तथा वह अपने मनमाने ढंग से मूल्य वसूल करेगी इस तरह से एक आम उपभोक्ता को इससे हानि होगी।

29.6.11 समाजवाद भी अन्यायपूर्ण है- इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पूँजीवादी व्यवस्था अन्यायपूर्ण है लेकिन समाजवाद को भी न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। यदि समाज में एक वर्ग विशेष धनवान बन सका है तो इसका एक बहुत बड़ा कारण यह है कि उसके अपने विवेक और परिश्रम का उचित प्रयोग किया किन्तु समाजवाद उनके द्वारा न्यायपूर्ण ढंग से अर्जित इस सम्पत्ति को छीनना चाहता है जिसे किसी भी आधार पर न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। जैसा कि डेविडसन ने कहा है कि "समाजवाद तो एक लुटेरापन है।"

29.6.12 समाजवादी व्यवस्था अपव्ययी होगी- सामान्य अनुभव यह बतलाता है कि प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक छोटे से कार्य के लिए अनेक कर्मचारी रखे जाते हैं और फिर भी कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो पाता। यदि यही काम निजी क्षेत्र को सौंप दिया जाये तो इसे थोड़े से व्यक्ति कम समय में कुशलतापूर्वक ढंग से कर लेते हैं। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था काफी खर्चीली व्यवस्था है।

29.6.13 समाजवाद में मानव का नैतिक पतन हो जायेगा- आलोचकों के अनुसार समाजवाद का नैतिक स्तर बहुत अधिक निम्न होता है। इस विचारधारा को सत्य, न्याय के प्राकृतिक विचारों से रहित, अवसरवादी और भौतिक विचारधारा कही जा सकती है। समाजवादियों द्वारा पूँजीपतियों व श्रमिकों के बीच किया जाने वाला घृणा और द्वेष का प्रचार, नैतिक पतन का कारण बनता है। यह भी कहा जाता है कि समाजवादी व्यवस्था में राज्य के कार्यक्षेत्र की अधिक वृद्धि हो जाने से व्यक्ति के स्वावलम्बन, आरम्भ और आत्म विश्वास के गुण नष्ट हो जायेंगे।

29.7 समाजवाद के पक्ष में तर्क

समाजवाद के पक्ष में भी कतिपय तर्क दिये जा सकते हैं जिन्हें निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है-

29.7.1 समाजवाद, पूँजीवाद का विरोध करता है- यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के कारण पूँजीवादी व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। यह एक ऐसी विचारधारा है जो समाज की अपेक्षा व्यक्ति के हित को अधिक महत्व देती है। अतः इस व्यवस्था का विरोध करने के लिए ही समाजवादी व्यवस्था का विकास हुआ। यह एक ऐसी व्यवस्था है जो पूँजीवादी या व्यक्तिवादी विचारधारा के बिल्कुल विपरीत है। जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था यह कहती है कि समाज में खुली प्रतियोगिता होनी चाहिए, वहीं दूसरी तरफ समाजवादी विचारधारा सहयोग पर बल देती है। पूँजीवाद उत्पादन व वितरण के समस्त साधनों पर व्यक्ति के नियन्त्रण पर बल देता है। वहीं समाजवाद समाज या राज्य के नियन्त्रण पर बल देता है। उनका इस सन्दर्भ में यह मत है कि जब उत्पादन व वितरण के साधनों पर व्यक्ति का नियन्त्रण हो तब समाज में श्रमिकों का शोषण होगा तथा गरीब व अमीरों की खाई अधिक बढ़ती जायेगी। इस प्रकार समाजवाद पूँजीवाद का विरोध करता है और उसको समाप्त करना चाहता है।

29.7.2 व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करना- समाजवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध करता है तथा वह तो इसको पूर्णतया समाप्त करना चाहता है अर्थात् वह व्यक्तिगत या निजी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करना चाहता है। इसके सन्दर्भ में समाजवादियों की यह धारणा है कि भूमि तो ईश्वर ने बनायी है, जिसको उसने समाज को दी है। इस प्रकार इसका उपयोग एक व्यक्ति के लिए न होकर बल्कि सम्पूर्ण समाज के लिये होना चाहिये। इसके अतिरिक्त समाजवादी विचारक निजी सम्पत्ति को ही अशान्ति व झगड़े का कारण मानते हैं। इस तरह से समाजवादी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करने के पक्षधर हैं।

29.7.3 खुली प्रतियोगिता का विरोध- समाजवाद खुली प्रतियोगिता का घोर विरोध करता है। इसके स्थान पर वह सहयोग की प्रवृत्ति पर बल देता है। खुली प्रतियोगिता के बारे में समाजवाद का यह दृष्टिकोण है कि ऐसा होने से समाज में आर्थिक विषमता बढ़ेगी तथा गरीबी व अमीरी की खाई और अधिक बढ़ेगी क्योंकि प्रतियोगिता के सम्मुख श्रमिक वर्ग टिक नहीं सकेगा। जिसके परिणामस्वरूप समाज के समस्त साधनों पर पूँजीपतियों का एकाधिकार हो जायेगा। समाजवादी यह भी कहते हैं कि खुली प्रतियोगिता से बाहरी दिखावट, विज्ञान आदि में वृद्धि होगी जिससे वस्तुओं का मूल्य असमान होने लग जायेगा। इस प्रकार समाजवाद खुली प्रतियोगिता का विरोध करता है।

29.7.4 समानता पर आधारित समाज की स्थापना करना- समाजवाद समानता पर बल देता है तथा वह समानता अर्थात् भेदभाव रहित समाज की स्थापना की कल्पना करता है। समाजवाद राजनीतिक समानता के साथ ही आर्थिक समानता पर बल देता है। इसके सन्दर्भ में यह कहते हैं कि आर्थिक समानता के अभाव में राजनैतिक समानता केवल दिखावा मात्र है क्योंकि ऐसा होने से व्यक्ति अपनी राजनैतिक समानता व स्वतन्त्रता का उपयोग सही ढंग से नहीं कर पाता है। अतः आर्थिक विकास को समानता

से लागू करने के लिए समाजवादी सभी व्यक्तियों को समान रोजगार देने की बात कहते हैं। इसके साथ-साथ समाजवादी यह भी कहते हैं कि किसी व्यक्ति का दूसरे के द्वारा शोषण न हो। इस प्रकार समाजवाद समानता पर बल देता है।

29.7.5 समाज कल्याण पर आधारित— समावाद समाज कल्याण पर आधारित विचारधारा है। इस विचारधारा के समर्थक विद्वान यह चाहते हैं कि समाज में सभी व्यक्तियों को उन्नति के समान अवसर मिले तथा उनके जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा इत्यादि की आसानी से पूर्ति हो ताकि समाज में बढ़ती हुई आर्थिक असमानता की दूरी को कम किया जा सके।

29.7.6 हरामखोर वर्ग का नाश— समाजवादी दर्शन 'जो काम नहीं करेगा वह खायेगा भी नहीं' के विचार पर आधारित है। इससे स्पष्ट किया गया है कि समाजवाद में स्वयं परिश्रम कर रोजी कमाने वाले वर्ग को ही जीवित रहने का अधिकार होगा और आज की सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान पूँजीपति वर्ग का अन्त हो जायेगा। समाजवाद का यह कार्य पूर्णतया न्यायोचित है।

29.7.7 समाजवादी व्यवस्था ज्यादा लोकतान्त्रिक— राजनैतिक क्षेत्र में समाजवाद जनतन्त्र के प्रति विश्वास व्यक्त करता है क्योंकि राजतन्त्रीय या कुलीनतन्त्रीय व्यवस्था में अनिवार्य रूप से विद्यमान भेद समाजवाद में मान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त समाजवाद उत्पादन पर 'सामूहिक स्वामित्व' व उसकी 'सामूहिक व्यवस्था' का समर्थक है। जो पूर्णतया प्रजातान्त्रिक है। वास्तव में प्रजातन्त्र और समाजवाद परस्पर पूरक हैं जिनमें से एक राजनैतिक समानता का प्रतिपादन करता है तो दूसरा आर्थिक समानता का। लेण्डलर के शब्दों में 'प्रजातान्त्रिक आदर्श का आर्थिक पक्ष वास्तव में समाजवाद ही है।'

29.7.8 धन के केन्द्रीकरण का विरोध— समाजवाद धन के केन्द्रीकरण का विरोध करता है अर्थात् समाजवादी यह नहीं चाहते कि समाज का धन कुछ पूँजीपतियों के पास ही रहे, तथा समाज का एक बड़ा भाग अभाव की जिन्दगी व्यतीत करें। अतः इसके लिए वे उत्पादन व वितरण के सम्बन्ध साधनों राज्य का राष्ट्रीयकरण करना चाहते हैं ताकि पूँजी का विकेन्द्रीकरण हो सके।

29.7.9 समाजवाद वर्तमान व्यवस्था की बुराईयों का प्रभावशाली वर्णन है— समाजवाद वर्तमान व्यवस्था की बुराईयों का स्पष्ट, विस्तृत व प्रभावशाली वर्णन है। समाजवाद पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत निर्धन वर्ग के दुखों और कष्टों का व्यापक वर्णन करता है और नागरिकों को पूँजीवादी व्यवस्था की बुराई दूर करने का संदेश प्रदान करता है। लेवेलिये के मुताबिक समाजवाद ने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की बुराईयों और असमानताओं की ओर ध्यान आकर्षित कर और सभी सहृदय व्यक्तियों में इन बुराईयों को दूर करने की इच्छा उत्पन्न कर एक महान् सेवा प्रदान की है।

29.8 सारांश

जी.डी.एच. कोल का मत है कि समाजवाद एक ऐसी टोपी है, जिसे हर कोई पहन्ना है, इसलिए इसका स्वरूप बिगड़ गया है। यद्यपि यह कथन सत्य है परन्तु समाजवाद को विश्व के अनेक राष्ट्रों ने अपने परिवेश को दृष्टिगत रखते हुए स्वीकार किया है। इस विचारधारा से राज्य के लोककल्याणकारी स्वरूप को प्रोत्साहन मिला, साथ ही साथ राज्य से यह अपेक्षा की गई कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूरा सम्मान करे। इसको अपनाने से राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता एवं समानता को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे समतावादी समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है।

29.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. समाजवाद को परिभाषित करते हुए उसके लक्षण एवं विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. सिद्ध कीजिए कि समाजवाद एक उत्तम व्यवस्था नहीं है। पक्ष में तर्क दीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. सिद्ध कीजिए कि समाजवाद एक प्रजातान्त्रिक विचारधारा है।
2. क्या समाजवाद एक सर्व सत्तावाद विचारधारा है?
3. क्या समाजवाद से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट होती है?
4. सिद्ध कीजिए समाजवादी व्यवस्था एक अपव्ययी व्यवस्था है।

अतिलघुत्तरात्मक

1. समाजवादी विचारधारा के कितने रूप देखने को मिलते हैं?
2. वैज्ञानिक समाजवाद के प्रतिपादक कौन हैं?
3. इबन्स्टीन ने समाजवाद और साम्यवाद में किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया है?
4. समाजवाद समाज में किस प्रकार की असमानता को कम करने पर बल देता है?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. इकबाल नारायण, "राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त"
2. सी.पी. शर्मा / शशि प्रभा शर्मा, "आधुनिक राजनीतिक विचार धारा हैं"

इकाई—30 : साम्यवाद (मार्क्सवाद)

संरचना

- 30.1 उद्देश्य
- 30.2 प्रस्तावना
- 30.3 साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त
 - 30.3.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
 - 30.3.2 इतिहास की आर्थिक व्याख्या
 - 30.3.3 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
 - 30.3.4 वर्ग संघर्ष में विश्वास
 - 30.3.5 पूँजीवाद का विरोध और उसके अन्त की सम्भावना
 - 30.3.6 सर्वहारा वर्ग की तानाशाही में विश्वास
 - 30.3.7 हिंसात्मक क्रांति में विश्वास
 - 30.3.8 प्रजातंत्र का विरोध
 - 30.3.9 धर्म का विरोध
 - 30.3.10 राष्ट्रवाद का विरोध
 - 30.3.11 राज्य का विरोध
 - 30.3.12 शोषण विहिन, वर्ग विहिन एवं राज्य विहिन समाज की स्थापना
 - 30.3.13 वितरण व्यवस्था में विश्वास
 - 30.3.14 मध्यम वर्ग का विरोध
- 30.4 आलोचनाएँ
 - 30.4.1 परिवर्तन का एक मात्र आधार आर्थिक नहीं
 - 30.4.2 केवल श्रम ही उत्पादन का एममात्र साधन नहीं
 - 30.4.3 धर्म की निन्दा सही नहीं
 - 30.4.4 हिंसा का समर्थन उचित नहीं
 - 30.4.5 लोकतन्त्र की आलोचना सही नहीं
 - 30.4.6 वर्ग संघर्ष की धारणा गलत
 - 30.4.7 मध्यम वर्ग का विरोध सही नहीं
 - 30.4.8 राज्य का विरोध गलत
 - 30.4.9 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोध सही नहीं
 - 30.4.10 सर्वहारा वर्ग के नाम पर तानाशाही
 - 30.4.11 वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त अनैतिहासिक
 - 30.4.12 यह विचारधारा आर्थिक विचारों के चारों ओर घूमती है
 - 30.4.13 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त असत्य
 - 30.4.14 पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ अधिपति वर्ग के मध्य ज्यादा अन्तर नहीं होता
 - 30.4.15 वितरण व्यवस्था
 - 30.4.16 राष्ट्रवाद का विरोध गलत
 - 30.4.17 एक दलीय शासन
 - 30.4.18 साम्यवाद में युद्ध पर बल देना सही नहीं

30.4.19 साम्यवाद की भविष्यवादी सही नहीं

30.4.20 साम्यवाद की अप्रासंगिकता

30.5 सारांश

30.6 अभ्यास प्रश्नावली

30.7 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

30.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य मार्क्सवाद को जानना है। इसके अध्ययन से आप जान सकेंगे—

- मार्क्सवाद एक ऐसी विचारधारा है, जो राज्य को शोषणकारी संस्था मानता है,
- मार्क्सवाद का मुख्य लक्ष्य जो वर्गविहीन, राज्य विहीन तथा शोषण विहीन समाज की स्थापना,
- साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त को जानेंगे,
- इस विचारधारा की व्यापक स्तर पर आलोचना की गई है। उसके संबंध में जानकारी प्राप्त होगी तथा आप यह विश्लेषण करने में समर्थ होंगे की इस विचारधारा का आज क्या महत्व रह गया है?

30.2 प्रस्तावना

जब समाज में पूंजीवाद का सर्वत्र वर्चस्व था, उसके परिणामस्वरूप आर्थिक विषमताओं को प्रोत्साहन मिला। समाज पूंजीपति व श्रमिक वर्ग के रूप में खण्डित नजर आने लगा, तमाम आर्थिक संसाधन पूंजीपतियों के हाथों में केन्द्रित हो गये, समाज का बहुसंख्यक वर्ग (श्रमिक) शोषण, अन्याय व अत्याचार का शिकार हो रहा था। अतः पूंजीवाद के एकाधिकार को ध्वस्त करने एवं समता पर आधारित समाज की स्थापना करने के लिए साम्यवादी (मार्क्सवाद) विचारधारा का उदय होता है।

आधुनिक साम्यवाद का प्रतिपादक कार्ल मार्क्स को ही माना जाता है। यद्यपि राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सर्वप्रथम प्लेटो साम्यवाद के विचार प्रस्तुत करते हैं जो परिवार या पत्नियों का साम्यवाद तथा सम्यक्ति का साम्यवाद की व्याख्या करते हैं। लेकिन उनके ये विचार आधुनिक मार्क्सवाद (साम्यवाद) से काफी भिन्न हैं। जहाँ प्लेटो का उद्देश्य दार्शनिक शासक का निर्माण करना और उसे कचन एवं कामिनी के प्रभाव से बचना था, वहीं कार्ल मार्क्स समाज की तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों को आधार मानकर श्रमिकों को पूंजीपतियों के काले कारनामों से मुक्ति दिलाना चाहता था। इसके लिए मार्क्स ने राज्य का विरोध किया और कहा कि राज्य श्रमिकों के शोषण को बढ़ाने में सहायता प्रदान करता है, समय-समय पर कानूनों का निर्माण कर पूंजीपतियों का हित साधता है और राष्ट्रवाद की भावना की आड़ में श्रमिकों को शोषण सहन करने के लिए विवश करता है। इसलिए राज्य एक शोषणकारी संस्था है। अतः आदर्श अवस्था में राज्य का अभाव होगा। मार्क्स राज्य एवं पूंजीपतियों से मुक्ति पाने के लिए मजदूरों को आह्वान करता है कि "दुनिया के मजदूरों तुम एक हो जाओ, तुम्हारे पास कुछ नहीं है खोने के सिवाए बेड़ियों के।" इसके आधार पर विश्व के तमाम मजदूरों ने एक मंच पर लाने का प्रयास कर राष्ट्रवाद का विरोध व अन्तर्राष्ट्रीयवाद का समर्थन करता है।

कार्ल मार्क्स इतिहास की आर्थिक व्याख्या करते हुए कहता है समाज में हमेशा से दो वर्ग रहे हैं और इनके बीच पारस्परिक संघर्ष रहता है। श्रमिक अभाव की जिन्दगी व्यतीत करते हैं। जिसकी परिणति वर्ग संघर्ष के रूप में होती है। जिसमें पूंजीपतियों की पराजय होती है, लेकिन इसके बावजूद पूंजीवाद के अवशेष रहते हैं अतः इसको समूल नष्ट करने के लिए सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी। इसके पश्चात् ही साम्यवाद की आदर्श अवस्था वर्ग विहीन राज्य विहीन और शोषण विहीन समाज की होगी।

कार्ल मार्क्स की रचनाएँ

कार्ल मार्क्स की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं —

1. निर्धनता का दर्शन (The Philosophy of Poverty, 1847)
2. साम्यवादी घोषणा पत्र (The Communist Manifesto, 1848)
3. आर्थिक व्यवस्था की आलोचनाएँ (The Criticism of Political Economic, 1859)
4. मूल्य, कीमत तथा लाभ (Value, Price and Profit, 1867)
5. दास कैपिटल (Das Capital, 1867)
6. फ्रांस का गृह युद्ध (The Civil War of France, 1870-71)

राज्य की स्थिति, शक्तियों, समाज की आर्थिक व्यवस्था इत्यादि के बारे में अनेक प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित हैं। जिनमें से साम्यवाद भी एक महत्वपूर्ण विचारधारा है। साम्यवाद को आधुनिक मार्क्सवाद के रूप में भी जाना जाता है क्योंकि साम्यवाद का पिता या संस्थापक कार्ल मार्क्स को ही माना जाता है। पूंजीवाद के विरोध के कारण

ही साम्यवादी विचारधारा का उद्भव हुआ।

साम्यवादी एक इसी प्रकार की व्यवस्था हैं जो उत्पादन व वितरण के साधनों पर व्यक्ति के नियन्त्रण का विरोध करती हैं तथा इन पर समाज के नियन्त्रण की पक्षधर हैं।

यद्यपि सोवियत संघ में 1917 ई. में साम्यवादी क्रान्ति के बाद मार्क्स के सिद्धान्त को वैसा का वैसा लागू नहीं किया। लेनिन द्वारा इसमें कुछ परिवर्तन किये गये लेकिन साम्यवाद का मूल आधार तो मार्क्स के सिद्धान्त ही हैं। प्रत्येक देश में जहाँ-जहाँ साम्यवाद है वहाँ पर पर्याप्त अन्तर है जैसे भारतीय साम्यवाद या अरबी साम्यवाद, चीनी साम्यवाद आदि। यहां पर क्षेत्र तथा प्रकृति के कारण यह अन्तर हो सकते हैं।

साम्यवाद राज्य एवं वर्गों की अनुपस्थिति तथा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में समता पक्षधर विचारधारा है। साम्यवाद मुख्यतः आर्थिक विचारधारा है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की न्यूनतम आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होनी चाहिए तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करेगा तथा काम के अनुसार पारिश्रमिक प्राप्त करेगा। साम्यवाद समाजवाद का वह विकसित स्वरूप है, जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति आर्थिक शोषण का नहीं, बल्कि जनकल्याण का साधन है।

1. साम्यवाद को परिभाषित करते हुए गैटिल लिखता है कि "साम्यवाद मानव विकास के लिए भौतिकवादी सिद्धान्त पर आधारित एक दर्शन है। जिसका प्रारम्भ कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स से हुआ। इनको लेनिन तथा स्टालिन सहित एक नयी विचारधारा के पैगम्बरों के रूप में सम्मानित किया जाता है, जिनकी मातृत्व प्रेम नहीं, वर्ग संघर्ष और विद्रोह का सिद्धान्त है।"

C.E.M. जोह ने साम्यवाद को एक पद्धति का सिद्धान्त कहा है। उन्हीं के शब्दों में, "साम्यवाद उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जिनके आधार पर समाज की पूंजीवादी व्यवस्था का परिवर्तन साम्यवादी व्यवस्था के रूप में होता है। इसके दो आधारभूत सिद्धान्त हैं, वर्ग युद्ध तथा क्रांति अर्थात् श्रमिक वर्ग द्वारा बलपूर्वक सत्ता प्राप्त करना।"

30.3 साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त

साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

30.3.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी— साम्यवादी मार्क्स के द्वारा बतलाये गये द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास करते हैं और इसके आधार पर बतलाते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था वाद की स्थिति है। जिसमें यह बुराई है कि समाज गरीब व अमीर दो वर्गों में बँट जाता है। परिणामस्वरूप समाज में संघर्ष होता है और प्रतिवाद के रूप में पूंजीवाद की समाप्ति होती है। सम्पत्ति का सामाजीकरण कर दिया जाता है और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित हो जाती है। कुछ समय के पश्चात् इन दोनों स्थितियों के मिलने के बाद प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप संवाद के रूप में साम्यवाद का अवसर आता है। जिसमें नाराज्य होगा न कोई वर्ग और न ही शोषण होगा। साम्यवादी इस सिद्धान्त के द्वारा पूंजीवाद के अन्त की सम्भावना अभिव्यक्त करते हैं।

30.3.2 इतिहास की आर्थिक व्याख्या— साम्यवादियों के द्वारा इस बात का खण्डन किया जाता है कि इतिहास कुछ महान् घटनाओं का परिणाम मात्र है। बल्कि वे इस बात को मानते हैं कि इतिहास की सभी घटनायें आर्थिक अवस्था में होने वाले परिवर्तनों अर्थात् उत्पादन के सम्बन्धों में परिवर्तन का परिणाम हैं। साम्यवादियों के अनुसार सामाजिक जीवन में परिवर्तन ईश्वर की इच्छा या कुछ महापुरुषों के कर्मों का परिणाम मात्र नहीं, बल्कि कुछ निश्चित नियम हैं अर्थात् सामाजिक व्यवस्था उत्पादन की स्थिति और उत्पादन के साधनों पर निर्भर करती है। सामाजिक व्यवस्था पर उस वर्ग का अधिकार रहता है, जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है। वे इतिहास की आर्थिक व्याख्या के द्वारा पूंजीवाद के अन्त तथा साम्यवाद के आगमन की बात कहते हैं। मार्क्स के अनुसार मनुष्य जीवन के समस्त पहलू आर्थिक स्थिति से निर्धारित होते हैं।

30.3.3 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त— साम्यवादी मार्क्स की इस बात को मानते हैं कि किसी भी वस्तु का मूल्य इस बात पर निर्भर होना चाहिए कि उसमें कितना श्रम लगा है, क्योंकि श्रम ही धन के उत्पादन का साधन है। लेकिन वह वस्तु बाजार में काफी ऊँची कीमत पर बेची जाती है और जो मुनाफा होता है जो कि वास्तव में अतिरिक्त मूल्य है उसे पूंजीपति स्वयं हड़प लेते हैं मजदूरों को नहीं देते। माल तैयार करते थे, जो लागत आती है और जिस कीमत पर माल बिकता है। इसमें जो अन्तर होता है जिसे नफा कहा जाता है। साम्यवादी उसे अतिरिक्त मूल्य कहते हैं और यह अतिरिक्त मूल्य यानी की मुनाफा मजदूरों के श्रम का परिणाम है। इसलिये यह मजदूरों को मिलना चाहिए। इसके अलावा साम्यवादी यह मानते हैं कि जब अतिरिक्त मूल्य श्रमिकों को दिया जायेगा तो समाज में श्रमिक वर्ग की आर्थिक हालात अच्छी हो जायेगी और जो गरीब व अमीरों के बीच खाया है वह समाप्त हो जायेगा। मार्क्स के अनुसार "अतिरिक्त मूल्य उन दोनों मूल्यों का अन्तर है जिन्हें एक मजदूर पैदा करता है, तथा प्राप्त करता है।"

30.3.4 वर्ग संघर्ष में विश्वास— साम्यवादी काल मार्क्स के इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं कि मानव जाति में प्रारम्भ से ही दो वर्ग चले आ रहे हैं। एक शोषित और दूसरा शासक अर्थात् एक मजदूर तथा दूसरा पूंजीपति। इनके हित आपस में टकराते हैं, क्योंकि पूंजीपति कम से कम मजदूरी देकर अधिक से अधिक मुनाफा कमाना चाहता है जबकि मजदूर अपने श्रम की कीमत अधिक चाहते हैं। पूंजीपति बिना मेहनत किये विलासितापूर्ण तथा आराम की जिन्दगी जीते हैं जबकि मजदूर दिन-रात कठिन मेहनत के बावजूद भी उन्हें दो वक्त की रोटी नहीं मिलती है। इस प्रकार मार्क्स का यह कहना है कि मजदूर वर्ग अपने शोषण से मुक्ति के लिए संगठित होकर क्रांति करेंगे और इस दौरान पूंजीवाद लगभग नष्ट हो जायेगा।

30.3.5 पूंजीवाद का विरोध और उसके अन्त की सम्भावना— साम्यवादी पूंजीवाद का घोर विरोध करते हैं या हम यह कह दें कि साम्यवाद की उत्पत्ति ही पूंजीवाद के अत्याचारी एवं शोषण के कारण हुई। साम्यवादी इसको शोषणकारी व्यवस्था मानते हैं जिसमें पूंजीवाद मजदूरों का खून चूसता है। वे मार्क्स की इस बात में विश्वास करते हैं कि पूंजीवाद में विनाश के बीज निहित होते हैं। अतिरिक्त मूल्य से प्राप्त मुनाफे के कारण धन का कुछ थोड़े से हाथों में केन्द्रीयकरण होना, मजदूरों की हालात दिन-प्रतिदिन

बिगड़ना, अधिक उत्पादन से बाजार में मंदी आने के परिणामस्वरूप मजदूरों की छंटनी और मजदूरों में बेरोजगारी, कारखानों व मिलों का एक ही नगर में केन्द्रीयकरण के परिणाम स्वरूप मजदूरों में पारस्परिक संगठन व मजदूरों के द्वारा हिंसात्मक क्रांति की जायेगी और यह क्रांति तब तक चलती रहेगी, जब तक पूंजीवाद समाप्त नहीं होता और जब पूंजीवाद समाप्त हो जायेगा, उसके पश्चात् सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी, जो समाज में समानता स्थापित करेगा।

30.3.6 सर्वहारा वर्ग की तानाशाही में विश्वास— साम्यवादी मार्क्स की इस विचारधारा के समर्थक हैं कि जब पूंजीवाद के विरुद्ध मजदूरों द्वारा हिंसात्मक क्रांति की जायेगी और उसके परिणाम स्वरूप पूंजीवाद लगभग समाप्त—सा हो जायेगा। उसके बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कुछ समय के लिए कायम होगी जो कुछ बचे हुए पूंजीवाद के तत्वों को समाप्त करेगी और उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण किया जायेगा ताकि एक वर्ग विहीन, राज्यविहीन तथा शोषण विहीन समाज की स्थापना की जा सके।

30.3.7 हिंसात्मक क्रांति में विश्वास— साम्यवादी इस बात में विश्वास करते हैं कि पूंजीवाद का अन्त और साम्यवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण तरीके से नहीं हो सकती क्योंकि पूंजीपति अपनी इच्छा से शोषण करना बंद नहीं करेंगे और न ही उत्पादन के साधन पर अपना स्वामित्व छोड़ेंगे, बल्कि वे तो अधिक से अधिक मजदूरों का शोषण करने में लगे रहेंगे। इसलिए श्रमिक संगठित होकर पूंजीवाद को समाप्त करने के लिए हिंसात्मक क्रांति करेंगे जिससे ही पूंजीवाद का अन्त होगा और साम्यवादी सत्ता कायम होगी, जिसमें किसी के द्वारा किसी का शोषण नहीं किया जाता है।

30.3.8 लोकतन्त्र का विरोध— साम्यवादी लोकतन्त्र का भी घोर विरोध करते हैं। लोकतन्त्र के सन्दर्भ में उनका यह मानना है कि यह जनता का शासन नहीं है, अपितु पूंजीवादियों का ही शासन है और पूंजीपतियों द्वारा अपने विभिन्न स्वार्थों को पूर्ण करने के लिए लोकतन्त्र की स्थापना की गयी है। साम्यवादी लोकतन्त्र की आलोचना करते हुए यह कहते हैं कि लोकतन्त्र में जो राजनीतिक स्वतन्त्रता व समानता होती है, वह आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना मात्र दिखावा है। क्योंकि पूंजीपति चुनावों के समय मजदूरों तथा गरीबों को कुछ धन देकर उनका वोट खरीद लेते हैं और अपने लोगों को तथा स्वयं आगे चल कर अपने हितों के लिए शोषणकारी कानूनों का निर्माण करते हैं। इस प्रकार साम्यवादियों का मानना है कि आर्थिक समानता लोकतन्त्र से नहीं, अपितु साम्यवाद से ही आ सकती है।

30.3.9 धर्म का विरोध— साम्यवाद का यह भी एक प्रमुख सिद्धान्त है कि वे धर्म का घोर विरोध करते हैं और वे मार्क्स के इस दृष्टिकोण में विश्वास करते हैं कि "धर्म एक अफीम के समान है। वे साम्यवाद के दर्शन को अस्वीकार करते हुए इसको विकास में बाधक तथा शोषणकारी मानते हैं।" धर्म लोगों को सामाजिक, आर्थिक, अन्याय को सहन करने की शिक्षा देकर शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने से रोकता है। साम्यवादी कहते हैं, धर्म हमेशा से ही पूंजीवादियों, तानाशाही शासकों तथा अत्याचारियों का शोषण का साधन रहा है, जिन्होंने हमेशा से ही धर्म के नाम पर गरीबों तथा मजदूरों का शोषण किया। यही कारण है कि जब राजशाही व्यवस्था कायम थी, तब राजाओं एवं शासकों के द्वारा धर्म के नाम पर लोगों पर घोर अत्याचार किये और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधित्व होता है उसकी आज्ञा का उल्लंघन करना, ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करना है। इस प्रकार साम्यवादी धर्म का विरोध करते हुए ईश्वर में अविश्वास व्यक्त करते हैं।

30.3.10 राष्ट्रवाद का विरोध— साम्यवाद का मूलभूत आधार है "राष्ट्रवाद का विरोध करना।" साम्यवादियों के अनुसार राष्ट्र क्या होता है। इसके अतिरिक्त वे यह कहते हैं कि श्रमिकों के लिए कोई भी राष्ट्र की सीमायें नहीं होती हैं। राष्ट्रवाद के नाम पर मजदूरों का शोषण किया जाता है तथा उन्हें अत्याचार सहन करने के लिए विवश किया जाता है। साम्यवादी मार्क्स की इस बात में विश्वास करते हैं कि श्रमिकों का कोई देश नहीं होता। विश्व के तमाम मजदूरों की एक जैसी समस्याएँ होती हैं। इसीलिए उन्होंने यह नारा दिया, "दुनिया के श्रमिकों एक हो जाओ।"

30.3.11 राज्य का विरोध— साम्यवादी केवल धर्म या राष्ट्रवाद का ही विरोध नहीं करते, अपितु वे राज्य का भी विरोध करते हैं। मार्क्स ने, जैसा यह कहा है कि जब क्रांति होगी और उसके बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कायम होती है और इस युग के बाद राज्य विहीन समाज की स्थापना होगी। उस समय राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। राज्य, वर्ग व्यवस्था तथा शोषण का ही पर्यायवाची है। अतः राज्य के होते हुए प्रत्येक वर्ग स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं कर पायेगा। राज्य ने सदैव ही शोषक वर्ग का साथ दिया है। साम्यवादी विचारधारा के अनुसार कुछ समय बाद राज्य स्वतः ही समाप्त हो जायेगा और वास्तविक साम्यवादी समाज का अभ्युदय होगा।

30.3.12 शोषण रहित, वर्ग विहीन और राज्य विहीन समाज की स्थापना— साम्यवादियों का अन्तिम उद्देश्य शोषण रहित, वर्ग विहीन तथा राज्य विहीन समाज की स्थापना करना है। जब पूंजीवाद हिंसात्मक क्रांति के द्वारा समाप्त कर दिया जायेगा तो सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी, उसके द्वारा निजी सम्पत्ति का अन्त, उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण और श्रम की अनिवार्यता को लागू किया जायेगा। परिणामस्वरूप समाज में न तो कोई वर्ग होगा और न ही किसी का शोषण होगा। अतः राज्य की आवश्यकता नहीं होगी और राज्य को समाप्त कर दिया जायेगा तथा समानता पर आधारित वर्ग विहीन, राज्य विहीन और तकनीकी दृष्टि से उन्नत समाज की स्थापना की जायेगी।

30.3.13 वितरण व्यवस्था में विश्वास— साम्यवाद समानता पर आधारित विचारधारा है, जिसके तहत यह माना जाता है कि सभी लोगों को समान रूप से परिश्रम करना होगा और सभी लोगों को समान रूप से आवश्यकता पूर्ति हेतु वस्तुएं दी जायेंगी। वे वितरण व्यवस्था पर राज्य का आधिपत्य स्थापित करते हैं।

30.3.14 मध्यम वर्ग का विरोध— साम्यवादी मध्यम वर्ग का भी विरोध करते हैं। इसके सन्दर्भ में उनका कहना है कि मध्यम वर्ग पूंजीवाद का समर्पित वर्ग है जो कुछ लोग मजदूर आन्दोलनों में भाग लेते हैं वे अपने नेतागिरी के लिए ऐसा करते हैं और जब उन्हें अवसर मिलता है तब वे पूंजीवादियों के साथ हो जाते हैं। इस प्रकार मध्यम वर्ग

के लोगों से बचना चाहिए।

30.4 आलोचनाएँ

यद्यपि साम्यवादी विचारधारा को सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि यह शोषण के विरुद्ध तथा समानता पर आधारित विचारधारा है, जिसमें दमन तथा असमानता का कोई स्थान नहीं है। यह श्रमिकों को संगठित करने तथा पूंजीवाद के शोषण से निकालने की विचारधारा है। इसके परिणामस्वरूप मजदूर वर्ग में जागृति का संचार हुआ है। इसमें धर्म, जाति, अंधविश्वास आदि का कोई स्थान नहीं है। यह समाज श्रम पर आधारित विचारधारा है। साम्यवाद ने यह स्पष्टतया स्वीकार किया है कि आर्थिक समानता एवं स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता केवल दिखावा मात्र है। जो पूर्णतया सच्चाई की कसौटी पर खरी उतरती है। इतना सब होने के बावजूद इसकी आलोचना की जाती है। इस प्रकार हम निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से आलोचनाओं को प्रस्तुत करते हैं।

30.4.1 परिवर्तन का एक मात्र आधार आर्थिक ही नहीं— साम्यवादियों का यह मानना है कि मानव जाति में परिवर्तन या इतिहास की प्रत्येक घटना के पीछे मुख्य कारण केवल आर्थिक होते हैं, जो सही नहीं हैं। सामाजिक जीवन को निर्धारित करने वाली या इतिहास की घटनाएँ अनेक तत्वों, जैसे— धर्म, राष्ट्रीयता, भौगोलिक तत्व, सामाजिक वातावरण इत्यादि से प्रभावित होती हैं। इसलिए केवल आर्थिक आधार पर सभी ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती और न ही इस बात को माना जा सकता है कि राजनैतिक सत्ता का एक मात्र आधार केवल आर्थिक ही है।

30.4.2 केवल श्रम ही उत्पादन का एक मात्र साधन नहीं— साम्यवादी मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में विश्वास करते हुए यह कहते हैं कि श्रम ही उत्पादन का एक मात्र साधन है अर्थात् उनका मानना है जिस वस्तु को बेचने से अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होता है उस पर वास्तविक रूप से पूंजीवादियों का हक न होकर, बल्कि श्रमिकों का अधिकार है जिसको सच्चाई की कसौटी पर खरा नहीं उतारा जा सकता है, क्योंकि उत्पादन के साधन तत्व केवल श्रमिक या मजदूर ही नहीं होते, अपितु अन्य कई महत्वपूर्ण तत्व होते हैं। जिनके ऊपर उत्पादन रूपी समस्त तन्त्र टिका रहता है। जैसे पूंजी, मशीन, संगठन, प्रबन्ध इत्यादि। इन तत्वों की साम्यवादियों द्वारा पूर्णतया उपेक्षा की गयी है।

30.4.3 धर्म की निंदा सही नहीं— साम्यवादी धर्म का खुलम-खुला विरोध करते हुए इसको शोषण का एक स्रोत मानते हैं। उनका यह मानना है कि धर्म व्यक्ति को अन्याय व अत्याचार सहन करने के लिए विवश करता है तथा वे धर्म को एक 'अफीम' के समान मानते हैं। साम्यवादी यह भी कहते हैं कि धनवान तथा शासक वर्ग, धर्म की आड़ में गरीबों के साथ अत्याचार व शोषण करते हैं। लेकिन इसको सही नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि धर्म शोषण, अत्याचार या अन्याय करने का नहीं कहता, बल्कि धर्म तो व्यक्ति में दया, परोपकार तथा सहानुभूति करने को प्रेरित करता है। इसके अतिरिक्त धर्म नैतिक जीवन पर विशेष बल देता है। मानव जीवन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

30.4.4 हिंसा का समर्थन उचित नहीं— साम्यवादी मार्क्स की इस विचारधारा का समर्थन करते हैं कि पूंजीवादी तत्वों को समाप्त करने के लिए हिंसात्मक क्रांति करनी होगी और इस क्रांति के पश्चात् ही साम्यवादी समाज की स्थापना की जायेगी। उनकी यह बात विवेकहीन है। एक अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति हिंसात्मक तरीके से नहीं की जानी चाहिए। हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या अशान्ति की जननी होती है। पूंजीवादी व्यवस्था को एक दम समाप्त करने देना कोई लाभप्रद स्थिति नहीं होती है। श्रमिकों की स्थिति में सुधार तो अहिंसात्मक साधनों से भी किया जा सकता है।

30.4.5 लोकतन्त्र की आलोचना सही नहीं— साम्यवादी लोकतन्त्र प्रणाली का व्यापक विरोध करते हुए यह कहते हैं कि इसकी स्थापना तो पूंजीवादियों के द्वारा अपने निहित विभिन्न उद्देश्यों को पूरा करने के लिए की गयी है। इसके अतिरिक्त वे यह भी कहते हैं, पूंजीपति ही शासन सत्ता की बागडोर सम्भालते हैं। क्योंकि इनके पास बहुत मात्रा में धन होता है, जो मतदाताओं को खरीद कर विजय बनाता है और गरीब व्यक्ति इसके बारे में सोच ही नहीं सकता है। क्योंकि उसके पास खाने के लिए दो वक्त की रोटी नहीं है, वह चुनाव कहाँ से लड़ेगा। लेकिन साम्यवादियों का कहना सही नहीं हो सकता, क्योंकि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लोकतन्त्र ही उपयुक्त प्रणाली है। यह एक ऐसी पद्धति है, जो समानता व स्वतन्त्रता पर आधारित है। इसमें गरीबों, श्रमिकों तथा किसानों को अपनी उन्नति का पर्याप्त अवसर मिलता है।

30.4.6 वर्ग संघर्ष की धारणा गलत— साम्यवादी मार्क्स के उस सिद्धान्त में आस्था रखते हैं कि समाज में हमेशा से ही दो वर्ग रहे हैं, जिनमें से एक शोषित अर्थात् श्रमिक वर्ग तथा दूसरा शोषक वर्ग अर्थात् पूंजीपति। जिनमें हमेशा से ही परस्पर संघर्ष चलता रहा है। क्योंकि दोनों ही वर्गों के पारस्परिक हित टकराते हैं। इस तरह वे वर्ग संघर्ष में आस्था रखते हैं, जो पूर्णतया गलत है। क्योंकि सामाजिक जीवन का आधार वर्गसंघर्ष नहीं! इससे समाज में पारस्परिक एकता की भावना को तिलांजलि दे दी जाती है। समाज की सन्नति के लिए यह आवश्यक है कि पारस्परिक भातृत्व की भावना बना रहे और समाज अपनी प्रगति तीव्र गति से करता रहे।

30.4.7 मध्यम वर्ग का विरोध सही नहीं— साम्यवादी, मध्यम वर्ग का यह कहकर, विरोध करते हैं कि वह पूंजीपतियों का पक्षधर है तथा वे श्रमिकों के साथ मात्र नेतागिरी करने के लिए रहते हैं, जो पूर्णतया सही नहीं है। क्योंकि समाज का एक बहुत बड़ा भाग मध्यम वर्ग का होता है। जिनका सम्बन्ध भी श्रम से होता है। अतः मध्यम वर्ग का विरोध करना ही श्रम का विरोध करना है। यही वर्ग समाज में सन्तुलन बनाने का भी कार्य करता है।

30.4.8 राज्य का विरोध गलत— साम्यवादियों का प्रमुख उद्देश्य राज्यविहिन समाज की स्थापना करना है। उनका इस सन्दर्भ में यह मानना है कि राज्य शोषण का एक साधन है। राज्य की आड़ में शासक व पूंजीपति दोनों ही श्रमिकों के साथ अन्याय तथा अत्याचार करते हैं, जो सही करार नहीं दिया जा सकता। क्योंकि इस बात का

इतिहास साक्षी है कि राज्य व्यक्ति के विकास में सहायक सिद्ध हुआ है। राज्य का निर्माण प्राचीन काल में मानव ने अपनी सुविधा के लिए किया था और वर्तमान में राज्य का लोक कल्याणकारी स्वरूप है। उसने मानव विकास के लिए बहुत कुछ कार्य किये। राज्य विहिन अवस्था अराजकता व की है।

30.4.9 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोध सही नहीं— साम्यवाद की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि यह राज्य को सर्वशक्तिमान बना देता है। जिसमें व्यक्ति को किसी भी प्रकार की कोई भी स्वतन्त्रता नहीं होती है। सरकार के द्वारा व्यक्ति के जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है। इस व्यवस्था में किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं होती है। इसमें जीवन, कला, विज्ञान, साहित्य इत्यादि को साम्यवादी ढाँचे में ढालने का प्रयास किया जाता है। इस तरह साम्यवाद में उत्पादन वितरण के समस्त साधनों पर समाज का नियन्त्रण होता है तथा इसमें व्यक्ति की भागीदारी तो नाम मात्र की होती है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि साम्यवाद में व्यक्ति के हितों को पूर्णतया कुचला जाता है जो अन्याय व अत्याचार से कम नहीं है यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास मार्ग में बाधक है।

30.4.10 सर्वहारा वर्ग के नाम पर तानाशाही— जैसा कि मार्क्स ने कहा कि जब साम्यवादी क्रान्ति होगी, तब उसके बाद समाज में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कायम होगी, जिसके द्वारा पूंजीवादी तत्वों की समाप्ति होगी। साम्यवादी इसी दृष्टिकोण में विश्वास रखते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के नाम पर एक साम्यवादी सरकार का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है जो राष्ट्र तथा समाज के विकास के लिए कभी भी सही सिद्ध नहीं हो सकती। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग के नाम पर तानाशाही की जाती है।

30.4.11 वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त अनैतिहासिक— साम्यवाद द्वारा मुख्य रूप से मान्य वर्ग संघर्ष की विचारधारा ऐतिहासिक क्रांति पर खरी नहीं उतरती। साम्यवादी भी स्वयं इसका ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते हैं। यह सिद्धान्त यथार्थ की अपेक्षा काल्पनिक अधिक है। इसके अतिरिक्त मार्क्स ने जो अन्य घोषणा की हैं, वे भी सत्य सिद्ध नहीं हुई हैं।

30.4.12 यह विचारधारा आर्थिक विचारधारा के चारों ओर घूमती है— मानव जीवन में अनेक पहलू पाये जाते हैं। उनमें से आर्थिक पहलू भी एक है। परन्तु साम्यवाद मात्र आर्थिक पहलू पर ही केन्द्रित रहता है। अतः इसका एक दोष यह भी है कि यह एक पक्षीय तथा अवैज्ञानिक भी है। यह मानव के सामाजिक, आध्यात्मिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक जीवन को भी आर्थिक परिप्रेक्ष्य से देखता है।

30.4.13 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त असत्य है— साम्यवाद की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि प्रत्येक समाज का विकास केवल द्वन्द्वात्मक रूप से ही हुआ है। यह कहना असत्य है इतिहास का स्पष्टतया दो भागों में बांटना अनुचित है। इसके कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं होते। यह निर्धारित करना भी असम्भव है कि किस समाज का वाद-प्रतिवाद संवाद कहाँ प्रारम्भ हुआ व कहाँ समाप्त हुआ।

30.4.14 पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ अधिपति वर्ग के मध्य अन्तर ज्यादा नहीं होता— साम्यवादियों का कहना गलत है कि ज्यों-ज्यों पूंजीवाद का विकास होता है त्यों-त्यों समाज में गरीबों व अमीरों के बीच खाई अधिक गहरी होती जाती है। प्रत्येक पूंजीवादी समाज में श्रमिकों की दशा सुधारने का प्रयास किया जाता है। पूंजीवादी देशों में श्रमिकों का जीवन पहले की अपेक्षा अधिक उन्नत है। उनकी दशा को सुधारने के निरन्तर प्रयत्न किये जा रहे हैं।

30.4.15 वितरण व्यवस्था अव्यावहारिक है— साम्यवाद 'क्षमता' के अनुरूप कार्य तथा आवश्यकता के अनुसार 'ग्रहण' करने की प्रणाली को साम्यवादी समाज समानता का आधार मानते हैं। इस सिद्धान्त को व्यवहारिक आधार पर लागू करना बेहद कठिन है, क्योंकि इसमें व्यक्ति अपनी आवश्यकता की पूर्ति की चिन्ता नहीं करता है और वह कामचोर हो जाता है।

30.4.16 राष्ट्रवाद का विरोध गलत— साम्यवाद, राष्ट्रवाद का विरोध करता है और उसका मानना है कि श्रमिकों का कोई अपना देश या राष्ट्र नहीं होता तथा उनके लिए किसी भी प्रकार की सीमा नहीं होती। उनका यह भी मानना है कि राज्य को समाप्त करके ही सम्पूर्ण विश्व में साम्यवादियों की स्थापना की जा सकती है और इस आधार पर घोषित करते हैं कि "सर्वहारा की कोई भूमि नहीं होती"। इसीलिए काल मार्क्स का कहना है कि "दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ" लेकिन साम्यवाद की यह सब बातें गलत हैं। देश प्रेम तथा राष्ट्रवाद की भावना प्रगति और समृद्धि में सहायक होती है। 'स्टालिन' द्वारा एक देश में साम्यवाद की धारणा भी राष्ट्रवाद की सूचक है। इसी आधार पर रूस व चीन शक्तिशाली देश के रूप में उभरे हैं। अतः साम्यवाद को राष्ट्रवाद के विरुद्ध होना न तो व्यावहारिक है और न ही उपयुक्त है।

30.4.17 एक दलीय शासन— साम्यवाद की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि इसमें सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के नाम पर साम्यवादी दल की प्रभुसत्ता की सर्वोच्चता स्थापित हो जाती है और उसके बाद किसी अन्य दल या संगठन का कोई स्थान नहीं होता। अतः जनता के पास साम्यवादी दल के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं होता, जो लोकतान्त्रिक व्यवस्था के विरुद्ध है। इस प्रकार हम साम्यवाद को लोकतन्त्र विरोधी के साथ-साथ अधिनायकवादी प्रवृत्ति का जनक कह सकते हैं। एक दलीय व्यवस्था के कारण नेतृत्व के हाथों में समस्त शक्तियाँ केन्द्रीत हो जाती हैं और वह तानाशाह बन जाता है। जैसे कि सोवियत रूस के राष्ट्रपति स्टालिन एक तानाशाही शासक से क्या कम थे।

30.4.18 साम्यवाद में युद्ध पर बल देना सही नहीं— साम्यवाद एक युद्धप्रिय विचारधारा है, क्योंकि साम्यवादियों द्वारा अपनी विचारधारा को विश्वव्यापी बनाने के लिए ही अनेक युद्ध किये गये हैं। साम्यवाद में अधिनायकवाद के कारण युद्ध की सम्माननायें ज्यादा ही रहती हैं। चीनी साम्यवाद में तो यह बात विशेष तौर से देखी गयी है। साम्यवाद की यह युद्धप्रिय नीति मानव जाति के लिए अत्यधिक भयावह है। प्रो. केर्यू हण्ट तो साम्यवाद को विश्व की सबसे बड़ी विध्वंसक शक्ति मानते हैं।

30.4.19 साम्यवाद की भविष्यवाणी सही नहीं हुई— साम्यवाद की भविष्यवाणी के अनुरूप न तो पूंजीवादी देशों में साम्यवादी क्रांति हुई और न ही सर्वहारावर्ग की तानाशाही के बाद राज्य का स्वतः लोप हुआ। अमरीका, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि आज भी पूंजीवादी हैं।

30.4.20 साम्यवाद की अप्रसंगिकता— विश्व के अधिकांश देशों पूर्व सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों का पतन हो गया है। वर्तमान में इन देशों में बहुदलीय लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की स्थापना हो चुकी है। यह घटनाक्रम साम्यवाद की अप्रसंगिकता सिद्ध करता है।

30.5 सारांश

सारांश में, आज के उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के युग में साम्यवाद एक असमयिक तथा अप्रसंगिक विचारधारा हो गई है।

30.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।
2. "परिवर्तन का एक मात्र आधार आर्थिक नहीं।" इस कथन के आधार पर मार्क्सवाद की आलोचना कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है?
2. अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
3. धर्म के संबंध में मार्क्सवाद की क्या राय है?
4. "मार्क्सवाद अन्तर्राष्ट्रीयवाद का पौषक है" सिद्ध कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक

1. आधुनिक मार्क्सवाद का प्रवर्तक किसे माना जाता है।
2. कार्ल मार्क्स की कोई दो रचनाओं के नाम लिखें।
3. दास कैपिटल का प्रकाशन कब हुआ था?
4. मार्क्सवाद की आदर्श अवस्था क्या है?

30.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सी.पी. शर्मा/शशि प्रभा शर्मा, "आधुनिक राजनीतिक विचार धारा हैं"
2. एस. पी. वर्मा, "पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास रस्तीगी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
3. अनुप कपूर, "राजनीतिक शास्त्र के मूल सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली
4. इकबाल नारायण, "राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त"

इकाई-31 : लोककल्याणकारी राज्य

संरचना

- 31.1 उद्देश्य
- 31.2 प्रस्तावना
- 31.3 लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा
- 31.4 लोककल्याणकारी राज्य के कार्य
 - 31.4.1 बाहरी आक्रमणों से रक्षा
 - 31.4.2 आन्तरिक शांति-व्यवस्था
 - 31.4.3 न्याय व्यवस्था
 - 31.4.4 सार्वजनिक शिक्षा
 - 31.4.5 सार्वजनिक स्वास्थ्य
 - 31.4.6 उत्पादन में वृद्धि
 - 31.4.7 बेसहारों का सहारा
 - 31.4.8 मनोरंजन का प्रबन्ध
 - 31.4.9 आर्थिक असमानता का अन्त
 - 31.4.10 श्रम-सुधार
 - 31.4.11 विदेश नीति का संचालन
 - 31.4.12 सामाजिक न्याय पर बल
 - 31.4.13 नागरिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था
 - 31.4.14 प्राकृतिक आपदाओं में सहायता
- 31.5 भारत एक लोककल्याणकारी राज्य के रूप में
- 31.6 सारांश
- 31.7 अभ्यास प्रश्नावली
- 31.8 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

31.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य राज्य के लोककल्याणकारी स्वरूप का अध्ययन करना है। इससे आप जान सकेंगे—

- लोककल्याणकारी राज्य किसे कहते हैं?
- इस प्रकार के राज्य के कार्य एवं भूमिका,
- विश्व के विभिन्न राज्यों द्वारा इसे अपनाना,
- भारत के संविधान में इसकी स्थापना हेतु किये गये प्रयास।

31.2 प्रस्तावना

संगठित समाज का बुनियादी आधार ही राज्य होता है इसलिए मनुष्य राज्य में रहना चाहता है। जो उसकी आवश्यकता भी है। राज्य के बिना मनुष्य अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता है। अरस्तु के अनुसार “मनुष्य एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है। जो मनुष्य समाज या राज्य में नहीं रहता वह देवता है या पशु।” राज्य के अभाव में अराजकता को बढ़ावा मिलता है और मनुष्य का जीवन दुश्कर बन जाता है। राज्य के सम्बन्ध में अनेक विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया है। जो उसकी स्थिति, औचित्य एवं दायित्वों की व्याख्या करते हैं। अराजकतावादी इसे अनावश्यक बुराई मानते हैं लेकिन अनेक प्रगतिशील एवं आधुनिक विचारधाराएं राज्य को बहुत अधिक शक्तिशाली बनाने की बात करती हैं। लास्की के अनुसार “राज्य मानवीय आचरण को सन्तुलित करने का एक तरीका है। राज्य ऐसे नियम बनाता है जिससे मनुष्य अपने जीवन को सन्तुलित और नियमित करें।”

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राज्य के सामान्य उद्देश्य क्या हैं? इस संबंध में अरस्तु ने कहा है कि "राज्य मनुष्य जीवन के लिए बना है और सदजीवन के लिए बना रहेगा।" जॉन लॉक के अनुसार राज्य का उद्देश्य "मानव हित" है। बलशली के अनुसार राज्य का उद्देश्य "सार्वजनिक कल्याण" है। गिडिंग्स का कहना है कि "राज्य का उद्देश्य ऐसा वातावरण बनाए रखना है जिसमें सभी प्रजा सर्वोच्च व आत्मनिर्भर जीवन बिता सके।" इस तरह से राज्य का प्रमुख उद्देश्य लोककल्याण है, जिसकी सिद्धि के लिए उसे लगा रहना चाहिए ताकि उसके प्रति आमजन में विश्वास कायम रह सके।

बदलती हुई परिस्थितियों ने राज्य के स्वरूप को प्रभावित किया है। जहाँ एक ओर प्राचीन काल में राज्य का झुकाव लोककल्याण की ओर नहीं था। उसका स्वरूप 'पुलिस राज्य' का था और कालान्तर में राज्य लोककल्याण की दिशा में अग्रसर होने लगा। यह प्रायः लोकतंत्र के विकास से ही सम्भव हुआ। इसलिए लोककल्याणकारी अवधारणा को लोकतंत्र के साथ जोड़कर देखा जाता है। लोकतन्त्र में शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है। इस कारण राज्य (सरकार) लोकहित को नजर अन्दाज नहीं कर सकता और यदि करता है तो उसका परिणाम भुगतना पड़ता है।

इस प्रकार वर्तमान राज्य का स्वरूप लोककल्याणकारी है। इससे तात्पर्य ऐसे राज्य से जिसमें राज्य द्वारा व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पन्न होने वाली समस्त जन उपयोगी क्रियाओं का संचालन किया जाता है।

31.3 लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा

लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा विश्वव्यापी है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् उपनिवेशवाद के चंगुल से मुक्त अनेक देशों ने अपने विकास, उन्नति एवं जन कल्याण को प्रोत्साहन देने के लिए लोकतंत्र एवं लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा को अपनाया। वर्तमान में यह विचार लोकप्रिय है। आज ऐसा दौर आ गया है कि यह अवधारणा अत्यन्त लोकप्रिय बन गयी है। इसलिए अनेक विद्वानों ने इसको परिभाषित किया है, जो इस प्रकार से है—

1. डॉ. अब्राहम ने कहा है कि "कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।"
2. गार्नर के अनुसार, "कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन, राष्ट्रीय धन तथा जीवन के भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक स्तर को विस्तृत करता है।"
3. मैकाइवर के शब्दों में, "राज्य का स्वीकारात्मक तथा नकारात्मक कार्य शासन व्यवस्था को ठीक स्थिति में रखना तथा मानवीय व्यक्तित्व का विकास करना है।"
4. कॉन्ट का कहना है कि, "कल्याणकारी राज्य का अर्थ उस राज्य से है जो अपने नागरिकों के लिए अधिकतम सामाजिक सुविधाएँ प्रदान करे।"
5. जवाहर लाल नेहरू ने अपने कल्याणकारी को परिभाषित करते हुए कहा था, "सब के लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों और गरीबों के बीच का अन्तर मिटाना और जीवन स्तर ऊपर उठाना लोक हितकारी राज्यों का आधारभूत तत्व है।"
6. जी.डी.एच.कोल के मत में "कल्याणकारी राज्य वह है जिसमें प्रत्येक नागरिक को रहन-सहन के निम्नतम स्तर तथा अवसर प्राप्त हो।"
7. हरबर्ट एच.लेमैन के मतानुसार, "कल्याणकारी राज्य वह है जिसमें लोगों को अपनी व्यक्तिगत क्षमताओं का विकास करने का अवसर प्राप्त हो। उन्हें प्रतिभाओं के लिए समुचित पुरस्कार मिले तथा वे भूख, गृहविहीनता तथा जाति, धर्म अथवा रंग एवं भेदभाव के भय से मुक्त होकर सुखी रह सकें।"

इस प्रकार लोककल्याणकारी अवधारणा राज्य के स्वरूप को व्यापक व विस्तृत बना देती है। ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं बचता जिस पर राज्य का नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप न हो। राज्य द्वारा ऐसा करना उसे दायित्व बोध करवाता है। इसके अलावा यह अराजकतावादी, व्यक्तिवादी एवं साम्यवादी विचारधारा की इस धारणा को गलत सिद्ध करती है कि राज्य एक बुराई के रूप में है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं शोषण को बढ़ाने वाला मानते हैं। लोककल्याणकारी अवधारणा राज्य को स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देने वाली एवं शोषण व दमन का नाश करने वाली संस्था के रूप में परिवर्तित करती है।

31.4 लोककल्याणकारी राज्य के कार्य

राज्य के क्या कार्य होंगे चाहिए यह विषय हमेशा विवादोत्पन्न रहा है। व्यक्तिवादी राज्य को कम से कम कार्य देने की बात कर उसे पुलिसमैन बना देते हैं अर्थात् राज्य का मुख्य कार्य सुरक्षा की सुनिश्चित करना है। समाजवादी राज्य को व्यापक कार्य सौंपते हैं और उसे एक लोककल्याणकारी राज्य के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। राज्य का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के हित के साथ जुड़ा होता है। लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा से पूर्व राज्य के कार्य दो भागों—अनिवार्य व ऐच्छिक के रूप में बंटे हुए थे लेकिन, इसके बाद यह भेद समाप्त हो गया। वर्तमान में प्रत्येक कार्य करना राज्य के पास आ गया ताकि लोकहित सम्भव हो सके। लोककल्याणकारी राज्य के कार्य निम्नलिखित हैं—

31.4.1 बाहरी आक्रमणों से रक्षा— राज्य का अनिवार्य कार्य बाहरी आक्रमणों से रक्षा करना होता है। प्राचीन काल से ही राज्य यह कार्य करता आया है। व्यक्ति की यह सोच होती है कि राज्य न केवल आन्तरिक क्षेत्र में सुरक्षा का प्रबन्ध करे अपितु बाहरी स्तर पर भी ऐसा करे। ऐसा करना राज्य का दायित्व एवं औचित्य भी है। इसके लिए राज्य अपनी सशक्त सेना तैयार करता है। आधुनिक समय में भी बाहरी आक्रमणों एवं युद्धों का संकट बना रहता है। प्रत्येक राज्य एक दूसरे के सम्भावित आक्रमण से ऐसे भयभीत है कि वे अपने बजट का अधिकांश भाग युद्ध या सेना संबंधी कार्यों में खर्च कर रहे हैं। इसके चलते राज्यों के बीच हथियारों की होड़ बढ़ती जा रही है। इसके परिणाम स्वरूप सारा विश्व एक बारूद के ढेर में तब्दील हो गया है और न जाने कब एक विनाशी विश्व को युद्ध की विभीषिका में झोंक दे। राज्य यह कहकर हथियारों का जखीरा तैयार कर रहा है कि उसे बाहरी आक्रमणों से खतरा है, लेकिन इससे विश्वशांति कायम नहीं हो सकती। इसके लिए अहिंसक वातावरण बनाना होगा।

31.4.2 आन्तरिक शांति व्यवस्था—राज्य केवल बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा का प्रबन्ध नहीं करता, अपितु आन्तरिक शांति व्यवस्था बनाये रखता है। ऐसे तत्व जो इसको भंग करने का प्रयास करते हैं, उनके प्रयासों को असफल करता है। इसके अभाव में व्यक्ति का जीवन व सम्पत्ति खतरे में पड़ती है साथ ही राज्य का विकास एवं उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। आन्तरिक शांति व्यवस्था बनाए रखने के लिए राज्य पुलिस व गुप्तचर सेना का जाल बिछाता है और उन्हें अत्याधुनिक संसाधन से युक्त बनाता है। आज राज्यों के सामने सबसे प्रबल चुनौती यही है। भारत जैसे राज्य में सीमा पार से जो आतंकवाद को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। उससे हमारी आंतरिक शांति व्यवस्था डगमगा गयी है। आतंकवाद, नस्लवाद, जातिवाद, एवं साम्प्रदायिक हिंसा ने शांति व्यवस्था को तहस-नहस कर दिया है। राज्य का ध्यान एवं संसाधन का उपयोग विकास कार्यों में नहीं हो रहा है। आन्तरिक शांति तथा व्यवस्था को बनाये रखना राज्य के सम्मक्ष गहन चुनौती है।

31.4.3 न्याय व्यवस्था—किसी भी सभ्य समाज की आधारशिला न्याय व्यवस्था होती है। इस बात का इतिहास साक्षी है कि जब-जब किसी राज्य की न्याय व्यवस्था कमजोर एवं पक्षपातपूर्ण हुई है तब-तब राज्य बालू के रेत के घरोंदे के समान इतिहास के पन्नों में समाया है। अतः प्रत्येक राज्य का यह दायित्व बनता है वह स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्याय व्यवस्था का उचित प्रबन्ध करे। जो वास्तविक अपराधी हैं उन्हें कठोर सजा दे। आधुनिक राज्यों में नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। उनके संबंध में भी यही व्यवस्था है कि इनका हनन होने पर नागरिक न्यायालय में अपील कर सकता है। जैसे भारतीय संविधान का अनुच्छेद 32 जो संवैधानिक उपचारों के अधिकार से सम्बन्धित है। वह भी ऐसी व्यवस्था करता है। न्याय न मिलने की स्थिति में व्यक्ति का विकास बहुत हद तक प्रभावित होता है। इसलिए आधुनिक राज्यों में शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत पर बल दिया गया है ताकि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता बनी रह सके।

31.4.4 सार्वजनिक शिक्षा—शिक्षा राज्य का दर्पण होती है। जिससे नागरिकों में न केवल नैतिक व चारित्रिक गुणों का विकास होता है, अपितु राजनीतिक चेतना का विकास एवं नागरिकों को अपने दायित्वों का बोध होता है। आधुनिक युग में राज्य का स्वरूप लोककल्याणकारी होने के कारण राज्य सार्वजनिक शिक्षा का अनिवार्य एवं निशुल्क प्रबंध करता है। 86वें संविधान संशोधन द्वारा प्राथमिक शिक्षा को मूल अधिकार बना दिया गया।

31.4.5 सार्वजनिक स्वास्थ्य—यह पूर्णतया सत्य है कि यदि किसी राज्य में स्वास्थ्य की स्थिति खराब है, लोगों के लिए चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सुविधा का उचित प्रबन्ध नहीं है तो राज्य किसी भी स्थिति में विकास नहीं कर सकता। अतः राज्य के द्वारा स्वास्थ्य स्तर को उच्च बनाने, स्वास्थ्य सेवाओं में गुणात्मक सुधार लाने आम जनता को महामारी या अन्य साध्य व असाध्य बीमारियों से बचाने के लिए हर सम्भव ठोस कदम उठाये जाते हैं।

31.4.6 उत्पादन में वृद्धि—जब राज्य के कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में आशानुकूल अभिवृद्धि होगी तो राज्य सफलता के नये सौपान तय कर सकता है और राज्य के नागरिकों में आत्म निर्भरता, आत्म सम्मान एवं आत्म गौरव की भावना का विकास होता है। उत्पादन कम होने की स्थिति में देश हर क्षेत्र में पतन की ओर अग्रसर होता है। क्योंकि आवश्यकता की वस्तुओं का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन न होने पर विदेशों से आयात करना पड़ता है। जिससे देश का धन विदेशों में चला जाता है और उन देशों पर निर्भरता आ जाती है, जो देश के लिए अनुकूल नहीं होती है। इसलिए हर देश उत्पादन बढ़ाने की हर सम्भव कोशिश करता है। इस हेतु राज्य नवीन अनुसन्धान करवाता है और नवीन साधनों के संबंध में उद्योगों एवं कृषकों को जानकारी उपलब्ध करवाता है। जैसे भारत में कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए हरित क्रांति, दूध उत्पादन में वृद्धि हेतु श्वेत क्रांति आदि कार्यक्रम संचालित किये गए। उत्पादन वृद्धि से ही राष्ट्रीय विकास संभव है।

31.4.7 बेसहारा का सहारा—आधुनिक राज्य का यह दायित्व बनता है कि वह बेसहारा, वृद्ध, अपाहिजों को सहारा प्रदान करे। ये भी समाज के प्रमुख अंग होते हैं। इसके लिए राज्य वृद्धाश्रम, वृद्धावस्था पेंशन, अपाहिजों को रियायतें एवं अन्य अनुकूल सुविधायें उपलब्ध करवाता है। भारत सहित विश्व के अधिकांश राज्य इस क्षेत्र में सहायनीय कार्य कर रहे हैं।

31.4.8 मनोरंजन का प्रबन्ध—व्यक्ति के लिए यह बहुत आवश्यक होता है कि वह अपने दैनिक कार्य के अलावा कुछ राग्य मनोरंजन के लिए व्यतीत करे ताकि उसे मानसिक एवं शारीरिक शांति मिल सके। अतः राज्य को चाहिये कि वह इस क्षेत्र में भी गम्भीरता पूर्वक प्रयास करे। राज्य इस संबंध में पार्क, क्लब, बाग, फिल्म, पुस्तकालय, नाटकगृहों, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय खेलों का आयोजन आदि की व्यवस्था करता है। इसके अलावा राज्य का यह भी दायित्व बनता है कि वह ऐसे मनोरंजन के साधन जिनसे सामाजिक ढांचे पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जैसे जुआगृह, अश्लील साहित्य एवं फिल्म आदि पर रोक लगाता है।

31.4.9 आर्थिक असमानता का अन्त—समाज में जब तक अमीर-गरीब के बीच खाई अधिक गहरी होगी तो राज्य कभी भी उन्नति नहीं कर पायेगा और न ही सामाजिक समरसता स्थापित हो सकेगी। राज्य के आर्थिक संसाधनों पर समाज के कुछ लोगों का नियन्त्रण होने की स्थिति में वे बहुसंख्यक लोगों का शोषण करते हैं और राज्य की अर्थव्यवस्था को अपनी इच्छानुसार संचालित करते हैं। बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग अभाव भरी जिन्दगी व्यतीत करता है जिसे दो वक्त की रोटी भी मुश्किल से नसीब होती है। दूसरी ओर पूँजीपति विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। यह स्थिति समाज के लिए घातक सिद्ध होती है और आगे चलकर असमानता की ज्वाला क्रांति या संघर्ष के रूप में फूटती है। अतः राज्य आर्थिक असमानता को दूर करने के ठोस कदम उठाये। इसके लिए राज्य बड़े उद्योग धन्धों पर अपना नियन्त्रण रखे अर्थव्यवस्था पर उचित नियन्त्रण लगाये और असमानता बढ़ाने वाली प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाये आदि।

31.4.10 श्रम सुधार—पूँजीपतियों के शोषण से श्रमिकों को बचाने के लिए राज्य को ऐसे कानूनों का निर्माण करना चाहिए, जिससे उद्योग धन्धों के संचालन से मिल मालिक, श्रमिकों का आर्थिक शोषण न कर सके। अतः राज्य श्रम सुधार हेतु श्रमिकों का वेतन, कार्य करने के घण्टे, स्वास्थ्य सुधार आदि के लिए उचित दिशा निर्देश पूँजीपतियों का जारी करता है। वर्तमान में राज्य श्रमिकों के कल्याण के लिए विभिन्न कदम उठा रहा है।

31.4.11 विदेश नीति का संचालन— एक राज्य विश्व के अन्य राज्यों से पूर्णतया पृथक् नहीं रह सकता। अतः उसे दूसरे राज्य के साथ मधुर संबंध स्थापित करने के लिए एवं अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अपनी मजबूत पकड़ स्थापित करने के लिए एक व्यवस्थित एवं सुनियोजित विदेश नीति का अनुसरण करना होता है। जिसका प्रमुख आधार राष्ट्रीय हित होता है। अर्थात् एक राज्य अपने हितों से कोई समझौता नहीं करता। वर्तमान विश्व व्यवस्था ने विदेश नीति की प्रासंगिकता एवं औचित्य और अधिक बढ़ा दिया है क्योंकि सम्पूर्ण विश्व एक परिवार के रूप में परिवर्तित हो गया।

31.4.12 सामाजिक न्याय पर बल— सामाजिक न्याय का अर्थ है कि समाज में प्रत्येक निर्धन, पिछड़े वर्ग और अशिक्षितों को धनवान, समृद्ध वर्ग एवं शिक्षितों की भाँति उन्नति के समान अवसर मिले ताकि समाज में व्याप्त विषमताओं को समाप्त किया जा सके। राज्य को चाहिए कि वह इसे समाप्त करने के लिए रचनात्मक प्रयास करे जैसे— पिछड़ों को सरकारी नौकरियों, संसद एवं विधानमण्डलों तथा अन्य जनप्रतिनिधित्व की संस्थाओं में स्थान आरक्षित करे। सामाजिक न्याय के स्थान पर जातिवाद का जहर हावी नहीं होना चाहिए। समाज के दलित तथा कमजोर वर्ग के उत्थान के लिए प्रयास किये जाने चाहिए।

31.4.13 नागरिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था— नागरिकों के बहुमुखी विकास के लिए नागरिक स्वतन्त्रता की उचित व्यवस्था होना आवश्यक होता है। इस बात का इतिहास साक्षी है कि जब-जब नागरिक स्वतन्त्रता का दमन करने का प्रयास किया तब-तब उस राज्य को समाप्त होना पड़ा है। अतः प्रत्येक राज्य द्वारा नागरिक स्वतन्त्रता की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। आधुनिक राज्य अपने अपने संविधानों के माध्यम से नागरिकों को अधिकार एवं स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। जैसे— भारतीय संविधान के भाग-3 के अनुच्छेद 14-35 के अन्तर्गत मौलिक अधिकार हैं। इसी तरह अमरीका में प्रथम दस संविधान संशोधनों द्वारा नागरिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गयी। इसके अलावा इनके हनन को रोकने की भी उचित व्यवस्था भी राज्य द्वारा की जाती है।

31.4.14 प्राकृतिक आपदाओं में सहायता— समय-समय पर प्रकृति मानव की कड़ी परीक्षा लेती रही है और उस पर मुसीबतों का पहाड़ डाल देती है। इनसे मानव के विकास पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति में जीवन ठहर सा जाता है। प्रकृति की यह मार भूकम्प, अकाल, बाढ़ आदि के रूप में देखी जा सकती है। अतः राज्य का यह दायित्व बनता है कि प्राकृतिक आपदाओं के समय हर संभव सहायता उपलब्ध कराये ताकि जनता के कष्टों का निवारण हो सके। वर्तमान समय में राज्य अपने इस दायित्व का निर्वहन भली प्रकार से कर रहा है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोक कल्याणकारी राज्य चहुँमुखी कार्यों का सम्पादन करता है।

31.5 भारत एक लोककल्याणकारी राज्य के रूप में

स्वतन्त्रता के बाद भारत में इसी स्वरूप वाले राज्य की आवश्यकता को स्वीकार किया गया और भारतीय संविधान के भाग 4 के अनुच्छेद 36-51 के मध्य राज्य के नीति निर्देशक तत्वों का उल्लेख किया गया जो राज्य से यह अपेक्षा करते हैं कि राज्य इन्हें आधार मानकर नीति का निर्धारण करे जो निश्चित रूप से जनकल्याण के लिए लाभ प्रद होगी। इन निदेशक तत्वों का विवरण इस प्रकार है:-

31.5.1 आर्थिक सुरक्षा संबंधी निदेशक तत्व

1. समान कार्य के लिए समान वेतन (अनुच्छेद 39)
2. योग्यता अनुसार रोजगार और सार्वजनिक सहायता (अनुच्छेद 41)
3. काम का प्रबन्ध (अनुच्छेद 42)
4. श्रम कल्याण (अनुच्छेद 43)
5. कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन
6. निशुल्क कानूनी सहायता (अनुच्छेद 39ए)
7. श्रमिकों की भागीदारी बढ़ाना (अनुच्छेद 43ए)
8. कृषि व पशुपालन में सुधार (अनुच्छेद 48)

31.5.2 सामाजिक हित और शिक्षा संबंधी निदेशक तत्व

1. समान नागरिक आचार संहिता (अनुच्छेद 44)
2. निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा (अनुच्छेद 45)
3. दलित उन्नति (अनुच्छेद 46)
4. जीवन स्तर ऊँचा उठाना (अनुच्छेद 47)
5. पर्यावरण संरक्षण (अनुच्छेद 48ए)

31.5.3 पंचायतीराज, प्राचीन स्मारकों तथा न्याय संबंधी

1. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण (अनुच्छेद 40)
2. प्राचीन स्मारकों का संरक्षण (अनुच्छेद 49)
3. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (अनुच्छेद 50)

31.5.4 अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा संबंधी (अनुच्छेद 51)— इस प्रकार संविधान में उल्लेखित नीति निर्देशक तत्वों का संबंध मानव जीवन से जुड़े प्रत्येक पहलु से है। जिन्हें उचित संरक्षण प्रदान कर एवं ठोस रणनीति अपनाकर लागू करने पर वास्तविक अर्थों में एक लोककल्याणकारी राज्य रूपी वटवृक्ष विकसित हो सकता है। स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में भारत सरकार ने लोककल्याणकारी प्रावधानों को लागू करने की दिशा में गंभीर प्रयास किये हैं, लेकिन इस दिशा में अभी भी बहुत कुछ करना शेष है। ज़िम्मेदारीकरण तथा वैश्वीकरण की प्रक्रिया लोक-कल्याणकारी राज्य की प्रकृति को प्रभावित कर रही है।

31.6 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लोककल्याणकारी अवधारणा ने राज्य को व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। ऐसे राज्य में तत्परता के साथ जन-समस्याओं का समाधान किया जाता है तथा राज्य की प्रत्येक नीति का आधार भी लोककल्याण होता है। इसमें लोकतंत्र तथा समाजवाद दोनों का मिश्रित रूप देखा जा सकता है।

31.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए इसके कार्य की समीक्षा कीजिए।

लघुतरात्मक प्रश्न

1. लोककल्याणकारी राज्य से आपका क्या अभिप्राय है?
2. लोककल्याणकारी राज्य की कसौटी पर भारत कितना खरा उतरता है?
3. भारतीय संविधान में लोककल्याणकारी राज्य के किये गये प्रावधान बताइए।
4. "लोकतंत्र एवं लोककल्याण एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं" सिद्ध कीजिए।

अतिलघुतरात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान में नीति निर्देशक तत्व शामिल करने का मूल उद्देश्य क्या है?
2. गिडिंग्स राज्य का क्या उद्देश्य मानते हैं?
3. जवाहर लाल नेहरू ने लोककल्याणकारी राज्य का किस प्रकार परिभाषित किया है?
4. समान कार्य के लिए समान वेतन का प्रावधान संविधान के कौन से अनुच्छेद में है?
5. समान नागरिक आचार संहिता का प्रावधान संविधान के कौन से अनुच्छेद में है?

31.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर.सी. अग्रवाल, "राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त" एस.चन्द्र एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली
2. डॉ. ओ.पी. गाबा "राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा" नेशनल पब्लिकेशन, नई दिल्ली

इकाई-32 : गाँधीवाद एवं सर्वोदय

संरचना

- 32.1 उद्देश्य
- 32.2 प्रस्तावना
- 32.3 जीवन परिचय
- 32.4 गाँधीवाद के आदर्श राज्य सम्बन्धी विचार
 - 32.4.1 शासन का लोकतांत्रिक स्वरूप
 - 32.4.2 सत्ता का विकेन्द्रीकरण
 - 32.4.3 आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण
 - 32.4.4 अहिंसात्मक समाज
 - 32.4.5 नागरिक अधिकारों पर आधारित
 - 32.4.6 निजी सम्पत्ति का अस्तित्व
 - 32.4.7 श्रम की अनिवार्यता
 - 32.4.8 वर्ण व्यवस्था
 - 32.4.9 अस्पृश्यता का अन्त
 - 32.4.10 धर्म निरपेक्ष समाज
 - 32.4.11 गौ वध निषेध
 - 32.4.12 मद्य निषेध
 - 32.4.13 निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा
 - 32.4.14 पुलिस व सेना सम्बन्धी विचार
 - 32.4.15 पंचायत पर आधारित न्याय व्यवस्था
 - 32.4.16 लोककल्याणकारी राज्य
- 32.5 महात्मा गाँधी के आर्थिक विचार
 - 32.5.1 पूँजीवाद का विरोध
 - 32.5.2 औद्योगिकीकरण का विरोध
 - 32.5.3 कुटीर उद्योगों का समर्थन
 - 32.5.4 अपरिग्रह का सिद्धान्त
 - 32.5.5 वर्ग सहयोग पर बल
 - 32.5.6 संरक्षण या ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त
- 32.6 महात्मा गाँधी के सामाजिक विचार
 - 32.6.1 अस्पृश्यता का निवारण
 - 32.6.2 वर्ण व्यवस्था का समर्थन
 - 32.6.3 नारी सुधार
 - 32.6.4 बुनियादी शिक्षा
 - 32.6.5 अहिंसा पर आधारित समाज

सर्वोदय

- 32.7 प्रस्तावना
- 32.8 सर्वोदय की परिभाषा
- 32.9 सर्वोदय का विकास
- 32.10 सर्वोदय के मुख्य सिद्धान्त
 - 32.10.1 राज्य संस्था का विरोध
 - 32.10.2 विकेन्द्रीकृत समाज
 - 32.10.3 दलविहीन प्रजातन्त्र
 - 32.10.4 आर्थिक और सामाजिक सिद्धान्त
- 32.11 सर्वोदय के साधन
- 32.12 सर्वोदय और साम्यवाद
- 32.13 सर्वोदय का मूल्यांकन
- 32.14 सारांश
- 32.15 अभ्यास प्रश्नावली
- 32.16 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

32.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य गांधीवाद तथा सर्वोदय से संबंधित विचारों को जानना है, जो समाज व मनुष्य के कल्याण को केन्द्रित मानते हुए प्रतिपादित की गई है, जिनको व्यवहार में अपनाने से समाज अपने बुनियादी तथा जटिल समस्याओं से मुक्ति पा सकता है। इस अध्याय के अध्ययन से आप जान सकेंगे—

- महात्मा गांधी की राम राज्य की अवधारणा जो लोकतंत्र, मानवीय स्वतन्त्रता, विकेन्द्रीकरण, न्याय तथा समतावाद पर आधारित है।
- गांधीजी अहिंसा पर आधारित राज्य का समर्थन करते हैं,
- गांधीजी के आर्थिक विचार जो ट्रस्टीशिप, कुटीर उद्योग के प्रोत्साहन पर आधारित हैं।
- सामाजिक विचार जो न्याय, नारी गरिमा, समानता आदि पर आधारित हैं,
- सर्वोदय की अवधारणा तथा उससे जुड़े विचारों को जानने का अवसर प्राप्त होगा, जो आज भी प्रासंगिक है तथा मानवता को सही दिशा देने में सक्षम है।

गांधीवाद

32.2 प्रस्तावना

मोहनदास करमचन्द गाँधी का नाम विश्व के उन महानतम व्यक्तियों में आता है जिन्होंने सत्य अहिंसा के आधार पर राजनैतिक चेतना जागृत करने का प्रयास किया। यद्यपि स्वयं महात्मा गाँधी का कहना था कि उनका उद्देश्य किसी नए वाद या विचारधारा को जन्म देना नहीं है। लेकिन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों एवं धार्मिक व ऐतिहासिक घटनाओं को आधार मानकर उन्होंने भारतीय समाज को इन पर चलने की प्रेरणा प्रदान की। महात्मा गाँधी के विचार आज भी अपनी प्रासंगिकता लिए हुए हैं। इसलिए जहाँ कहीं भी युद्ध या हिंसा या अन्तराष्ट्रीय समस्या की बात आती है तब गाँधी के विचार प्रासंगिक बन जाते हैं। आज जिस गति से हमारा युवा और समाज गर्त (खड्डें) की ओर जा रहा है, उसे सही दिशा प्रदान करने में गाँधीजी के मूल्य सार्थक सिद्ध हो सकते हैं। इनसे व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं चरित्रिक निर्माण में सहायता मिलती है और एक आदर्श समाज की स्थापना संभव हो सकती है।

महात्मा गाँधी ने 1915 ई. के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया और सर्वप्रथम चम्पारन आन्दोलन का नेतृत्व किया। ये एक ऐसा समय था, जिसमें अंग्रेजों के प्रति जनक्रोध अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था और उग्रवादी एवं क्रान्तिकारी आन्दोलन का आविर्भाव हो चुका था।

जिनका गाँधीजी ने विरोध किया और सत्य और अहिंसा पर आधारित आन्दोलन करने की प्रेरणा प्रदान की। वे कांग्रेस के साथ आजीवन जुड़े रहे और उसके कार्यक्रमों एवं संगठन को वैचारिक आधार प्रदान किया। बैलगाँव अधिवेशन में प्रथम एवं अंतिम बार कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। अंग्रेजों के विरुद्ध जन-जागृति लाने के लिए उन्होंने असहयोग आन्दोलन (1920), सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930), भारत छोड़ो आन्दोलन (1942), आदि का नेतृत्व किया और ब्रिटिश शासन को हिला के रख दिया।

गाँधी ने आर्थिक विचारों को स्पष्ट करते हुए यह कहा कि समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता को दूर करना होगा। इसके लिए उन्होंने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का समर्थन किया और कहा कि जमींदारों और पूँजीपतियों के पास आवश्यकता से अधिक धन है तो उन्हें चाहिए कि वे इन्हें समाज को प्रदान कर दें।

सामाजिक क्षेत्र में गाँधीजी ने समाज में व्याप्त बुराईयों के प्रति आगाह किया और छुआ-छूत, दलितों के साथ अन्याय, जातीय बन्धन आदि को भारतीय समाज की एकता के लिए अनुचित माना। समाज के एक बड़े वर्ग, जिसके लिए गाँधीजी ने 'हरिजन' शब्द काम में लिया है, उसकी स्थिति ठीक नहीं थी। अतः उन्होंने अपने विचारों एवं राजनीतिक भाषणों में सुधार लाने की बात कही।

इसलिए स्वतंत्रता के बाद भारत में जितने भी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में प्रयास और सुधार किए, उनमें उनके विचारों की स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी गाँधीजी के आदर्शों को सहर्ष स्वीकारा जाता है। यह धारणा विश्व-व्यापी बन गई है कि हिंसा से किसी भी समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। गांधी जी के विचार वर्तमान समय में भी सामयिक तथा प्रासंगिक हैं।

32.3 जीवन परिचय

गाँधीजी का पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गाँधी था। उनका जन्म 2 अक्टूबर, 1869 ई. को गुजरात के काठियावाड़ क्षेत्र के पोरबंदर नामक स्थान पर हुआ। उनकी मृत्यु 30 जनवरी, 1948 ई. को नई दिल्ली में नाथूराम गोडसे द्वारा गोली चलाने से हुई। गाँधीजी का विवाह सन् 1843 में कस्तूरबाई से हुआ। गाँधीजी के पिता श्री करमचन्द गाँधी काठियावाड़ की छोटी रियासत के दीवान थे। पारिवारिक परम्पराओं के अनुरूप गाँधीजी का जीवन पवित्र और सादगी भरा था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा पोरबंदर में ही पूर्ण हुई, परन्तु बाद में वे अध्ययन करने इंग्लैण्ड चले गये। इंग्लैण्ड जाते समय जैन साधु बेचरजी से तीन प्रतिज्ञा ली कि मैं मदिरा, परायी-औरत और माँस को नहीं छुऊँगा। इनका पालन गाँधीजी ने अंतिम समय तक किया।

इंग्लैण्ड में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वकालत करने दक्षिणी अफ्रीका गये। वहाँ की राजनीतिक स्थिति का गाँधीजी पर व्यापक प्रभाव पड़ा, क्योंकि वहाँ रंगभेद के नाम पर मूल अफ्रीकी लोगों का शोषण किया जा रहा था। अतः उन्होंने अपना ध्यान औपनिवेशिक, साम्राज्यवादी एवं रंगभेदी सरकार के विरुद्ध अभियान चलाने की ओर केन्द्रित किया। यही से गाँधीजी का राजनीतिक क्षेत्र में विधिवत प्रवेश हुआ। यहाँ पर वे सत्य एवं अहिंसा के आधार पर अंग्रेजों के प्रति असहयोग की नीति का अनुसरण करते हैं और अफ्रीकी समाज को रंगभेद से मुक्त होने के लिए प्रेरित करते हैं। 1915 ई. में गाँधीजी पुनः भारत लौट इस समय भारत में उग्रवादी व क्रान्तिकारी गतिविधियाँ अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। कांग्रेस के द्वारा भी अंग्रेजों के विरुद्ध आन्दोलन किया जा रहा था लेकिन इन सभी प्रयासों से महात्मा गाँधी सहमत नहीं थे। वे भारत आकर कांग्रेस के साथ जुड़ते हैं और उसे एक वैचारिक आधार प्रदान करते हैं।

1920 ई. में गाँधीजी ने असहयोग आन्दोलन चलाया, जिसका प्रभाव सम्पूर्ण भारतवर्ष में देखा गया। 1924 ई. के बैलगाँव अधिवेशन में गाँधीजी प्रथम एवं अंतिम बार कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1942 ई. में भारत छोड़ो आन्दोलन चलाया और उसमें 'करो या मरो' का नारा दिया। जब 1946 ई. में माऊण्टबेटन योजना प्रस्तुत की, जिसमें यद्यपि भारत की स्वतन्त्रता का प्रावधान था। लेकिन, विभाजित भारत की स्वतन्त्रता का, जिसका गाँधीजी ने विरोध किया और कहा "भारत का विभाजन मेरी लाश पर होगा।" स्वतंत्रता के पश्चात् जिस गति से सम्पूर्ण भारत साम्राज्याधिकारता की आग में जल रहा था, उससे गाँधीजी बहुत विचित्र हुए। इसीलिए अन्त में, उन्हें खण्डित भारत स्वीकार करना पड़ा।

32.4 गाँधीजी के राज्य सम्बन्धी विचार

महात्मा गाँधी ने अपने राजनीतिक विचारों में आदर्श राज्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार प्रस्तुत किये हैं। वे रामराज्य की कल्पना करते हैं। उनका मानना है कि राज्य का अस्तित्व जनहित के लिए है तो उसे इस उद्देश्य पर खरा खतरेना चाहिए। गाँधीजी के आदर्श राज्य के दो रूप देखने को मिलते हैं। प्रथम पूर्ण आदर्श राज्य, जो राज्य विहीन समाज की कल्पना करता है। उनके इस विचार में मार्क्सवाद की छाया स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। द्वितीय, अर्द्ध आदर्श राज्य जो अहिंसात्मक समाज व्यवस्था पर आधारित है। उनका यह विचार व्यवहार पर आधारित है, क्योंकि समाज में कुछ ऐसे असामाजिक तत्व होते हैं जो व्यवस्था की धज्जियाँ उड़ाने में पीछे नहीं रहते। अतः परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राज्य के अस्तित्व को स्वीकार किया और राज्य को लोककल्याण पर बल देने के निर्देश दिये।

गाँधीजी का आदर्श राज्य लोकतांत्रिक मूल्यों एवं विकेन्द्रीकरण की अवधारणा पर आधारित है। उनका कहना था कि लोकतंत्र शासन का सर्वोच्च रूप होता है। लेकिन विकेन्द्रीकरण के बिना इसकी सफलता संदिग्ध है। जब तक शासन में स्थानीय लोगों की अधिक से अधिक सहभागिता सुनिश्चित नहीं होगी, तब तक आदर्श राज्य का सपना साकार नहीं हो सकता।

गाँधीजी के राज्य संबंधी विचारों को भारतीय संविधान एवं राजनीतिक व्यवस्था में सम्मानजनक स्थान दिया गया है जैसे अनु. 17 अस्पृश्यता निवारण, अनु. 12 से 35 मौलिक अधिकार, अनु. 29 धर्म निरपेक्ष समाज, अनु. 36 से 51 लोक कल्याणकारी स्वरूप, अनु. 42 लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण आदि। इनके अलावा आर्थिक असमानता दूर करने के प्रयास, पुलिस प्रबंध में सुधार, शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने के प्रयास, 73 व 74 वे संविधान संशोधन द्वारा पंचायती राज व स्थानीय निकाय को सुदृढ़ बनाना आदि।

गाँधीजी धर्म और राजनीति के अटूट रिश्तों पर विचार रखते हुए मानते हैं कि धर्म और राजनीति एक सिक्के के दो पहलू हैं। लेकिन राजनीतिक स्वार्थ के लिए धर्म का प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि इससे समाज विघटन को प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार गाँधीजी के आदर्श राज्य संबंधी विचार निम्नलिखित हैं—

32.4.1 शासन का लोकतांत्रिक स्वरूप— महात्मा गांधी के आदर्श राज्य का प्रथम आधार लोकतंत्र पर आधारित संस्था है, क्योंकि लोकतंत्र में ही शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होने के कारण सरकार तानाशाह नहीं बन सकती और जनहित की अनदेखी भी नहीं कर सकती। अतः आदर्श राज्य लोकतांत्रिक मान्यताओं एवं मूल्यों पर आधारित होना चाहिए।

32.4.2 सत्ता का विकेन्द्रीकरण— केवल लोकतंत्र स्थापना करने से सरकार का स्वरूप लोकतांत्रिक नहीं हो सकता। इसके लिए सत्ता के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता होती है, ताकि लोकतंत्र की संस्थाओं का जाल गाँव-गाँव और दाणी-दाणी फैलाया जा सके और लोकतंत्र में स्थानीय लोगों की भागीदारी अधिक से अधिक सुनिश्चित की जा सके। इसीलिए महात्मा गाँधी ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के औचित्य को स्वीकार किया। गाँधीजी के इन्हीं सपनों को साकार करने के लिए 1957 ई. में बलवन्तराय मेहता समिति का गठन किया गया। इसी की सिफारिश के आधार पर 2 अक्टूबर 1959 ई. को राजस्थान के नागौर जिले में पंचायती राज संस्थाओं का श्रीगणेश किया गया। इन संस्थाओं को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयास किये जा रहे हैं। इसी कड़ी में 73 व 74 वां संविधान संशोधन किया गया।

32.4.3 आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण— गाँधीजी ने राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ आर्थिक विकेन्द्रीकरण पर भी बल दिया है। उनका कहना था कि आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता या समानता अधूरी है। अतः समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता को दूर करना होगा इसके लिए ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का अनुसरण करने की आवश्यकता पर बल दिया। वे कहते थे कि मैं मशीनों का विरोधी नहीं हूँ लेकिन इनके नाम पर बेरोजगारी को नहीं बढ़ाया जाये। भारत को आर्थिक शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए एकमात्र तरीका है—गांवों को आत्मनिर्भर बनाना। इसके लिए घरेलू एवं कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देना होगा। स्वदेशी के प्रति जागरूकता होगी।

32.4.4 अहिंसात्मक समाज— गाँधीजी अपने आदर्श राज्य को अहिंसात्मक समाज के रूप में स्वीकार करते हैं। गाँधीजी के इस आदर्श राज्य में राज्य का अस्तित्व रहेगा। राज्य के पास कुछ बाध्यकारी शक्तियाँ होंगी। जैसे— पुलिस, सेना, जेल, न्यायालय आदि। जिसके माध्यम से वह मनुष्य की असंख्य प्रवृत्तियों पर अंकुश लगायेगा, फिर भी राज्य इस दृष्टि से अहिंसात्मक होगा, जिसमें सत्ता का प्रयोग जनता के उत्पीड़न व अत्याचार के लिए नहीं, वरन् कल्याण व हित के लिए होगा।

32.4.5 नागरिक अधिकारों पर आधारित— अधिकारों का संबंध व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के साथ जुड़ा हुआ होता है। इसलिए मानव हमेशा से ही अधिकार प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहा है। गाँधीजी अपने आदर्श राज्य को नागरिक अधिकारों पर आधारित बनाना चाहते थे। उनके दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान के भाग 3 अनु 12 से 35 में इनका उल्लेख किया गया है।

32.4.6 निजी सम्पत्ति का अस्तित्व— गाँधीजी आर्थिक विकेन्द्रीकरण की बात करते हैं, जिसमें ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के माध्यम से आर्थिक असमानता दूर करने के समर्थक हैं, लेकिन वे कार्लमार्क्स की भांति सम्पत्ति के अस्तित्व को नहीं नकारते हैं। उनका कहना था कि व्यक्ति के पास सम्पत्ति इतनी होनी चाहिए जिससे उनकी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। सम्पत्ति संकलन करने की प्रवृत्ति अनेक बुराइयों को जन्म देती है।

32.4.7 श्रम की अनिवार्यता— महात्मा गाँधी ने अपने आदर्श राज्य के संबंध में यह बतलाया है कि राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए श्रम करना आवश्यक होगा ताकि वे स्वयं अपना भरण पोषण भली-भांति कर सकें। साथ में समाज भी आत्मनिर्भरता की दिशा में अग्रसर हो सके। वे मानसिक श्रम के साथ-साथ शारीरिक श्रम पर अधिक बल देते थे। वे कहा करते थे कि जो व्यक्ति केवल मानसिक श्रम करते हैं, उन्हें प्रतिदिन कुछ समय शारीरिक श्रम के लिए निकालना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि समाज में काम से दिल चुराने की प्रवृत्ति पर अंकुश लग सकेगा।

32.4.8 वर्ण व्यवस्था— गाँधीजी के अनुसार वर्ण व्यवस्था हमारी सभ्यता की पहचान है, जिसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था का सफल संचालन करना है। इसका आधार धर्म होना चाहिए। कार्य नहीं, लेकिन दोषपूर्ण व्यवस्थाओं के कारण वर्ण-व्यवस्था पर जातीय बन्धन हावी हो गये हैं, जिसके कारण समाज में अनेक प्रकार की बुराइयों को बल मिला है। सभ्य कहलाने वाला समाज असभ्यता का प्रतीक बनकर रह गया है। अतः आदर्श राज्य में वर्ण व्यवस्था पर बल दिया जाना चाहिए।

32.4.9 अस्पृश्यता का अन्त— वर्ण व्यवस्था का आधार कार्य हो जाने के कारण भारतीय समाज में जातिवाद का घिनौना खेल शुरू हो गया था। सम्पूर्ण समाज खण्डित नजर आ रहा था। शूद्र वर्ण के लोगों के साथ छुआछूत जैसी अमानवीय प्रवृत्तियाँ पनपती जा रही थी। जिसके परिणामस्वरूप समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग अभाव भरी जिन्दगी व्यतीत कर रहा था। अतः गाँधीजी ने अपने आदर्श राज्य में छुआछूत निषेध की घोषणा की और इसके संबंध में अनेक लेख अपने समाचार पत्र 'हरिजन' में प्रकाशित किये। इन्हीं विचारों को आधार मानकर भारतीय संविधान के अनु. 17 में अस्पृश्यता निवारण की विधिवत् घोषणा की गई। इसके अलावा अस्पृश्यता से ग्रस्त लोगों के लिए गाँधीजी ने हरिजन शब्द का प्रयोग किया।

32.4.10 धर्म निरपेक्ष समाज— यद्यपि महात्मा गाँधी धर्म और राजनीति के अटूट संबंध को स्वीकार करते थे। लेकिन भारत जैसे विविधता वाले राज्य में धर्म प्रधान राज्य संभव नहीं था। इसलिए उन्होंने धर्म निरपेक्ष राज्य के औचित्य को स्वीकार किया। जिसका अभिप्रायः एक ऐसे राज्य से है, जिसका कोई विशेष धर्म नहीं होगा और न ही धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव किया जायेगा। आदर्श राज्य के इस विचार को स्वतंत्र भारत ने स्वीकार किया है और इसके संबंध में अनेक प्रावधान संविधान में किये गये हैं। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है।

32.4.11 गौ वध निषेध— गाँधीजी गाय के धार्मिक व आर्थिक दोनों के ही महत्व से परिचित थे। उनका कहना था कि गाय के पालन-पोषण के आधार पर एक व्यक्ति अपने परिवार की जीविका संचालित कर सकता है। इसके अलावा हिन्दू धर्म व संस्कृति में भी गाय को पवित्र माना गया है। अतः आदर्श राज्य में गौ वध पर पूर्ण प्रतिबन्ध होगा।

32.4.12 मद्य निषेध— मद्य के सेवन से व्यक्ति का चारित्रिक व नैतिक पतन होता है। अतः आदर्श राज्य में मद्य निषेध नीति का अनुसरण किया जायेगा। मद्य निषेध को गाँधीजी अपरिहार्य मानते हैं।

32.4.13 निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा— गाँधीजी के अनुसार व्यक्ति के नैतिक व चारित्रिक गुणों का विकास करने के लिए शिक्षा का होना बहुत आवश्यक है। लेकिन उस समय भारतीय समाज में अशिक्षा व अज्ञानता व्याप्त थी। अतः गाँधीजी यह मानते थे कि उनके आदर्श राज्य में प्राथमिक शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था होगी, ताकि समाज का कोई भी नागरिक शिक्षा से वंचित न रह सके। गाँधीजी के इसी विचार को ध्यान में रखते हुए राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिये निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान किया गया है। 86वें संविधान संशोधन द्वारा प्राथमिक शिक्षा को मूल अधिकार के रूप में स्थान दिया गया है।

32.4.14 पुलिस व सेना संबंधी विचार— गाँधीजी अपने आदर्श राज्य में पुलिस के औचित्य को स्वीकार करते हैं लेकिन सेना को नहीं। उनके अनुसार समाज में व्याप्त असामाजिक तत्वों पर नियन्त्रण लगाने के लिए पुलिस का होना अनिवार्य है। लेकिन पुलिस का आधार अहिंसा होगी। वह जनता के सेवक के रूप में तत्परता के साथ दायित्व निर्वाह करेंगे। विश्व में स्थायी शांति कायम हो जायेगी तब सेना का कोई महत्व नहीं रहेगा। लेकिन फिर भी आवश्यकता के लिए शान्ति सेना स्थापित की जा सकती है।

32.4.15 पंचायत पर आधारित न्याय व्यवस्था— पंचायतों को और अधिक शक्ति बनाने के लिए गाँधीजी अपने आदर्श राज्य में न्याय संबंधी अधिकार पंचायतों को देने पर बल देते हैं, ताकि लोगों को सस्ता व शीघ्र न्याय सुलभ हो सके।

32.4.16 लोककल्याणकारी राज्य— गाँधीजी का आदर्श राज्य पूर्णतः लोककल्याण की अवधारणा पर आधारित है, जिसके अन्तर्गत राज्य हर समय जनता के कष्टों का निवारण करने का प्रयास करेगा और जनहित का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं होगा जो राज्य की सीमा से परे होगा।

सारांश

इस प्रकार गाँधीजी का आदर्श राज्य संबंधी विचार कोरी कल्पनाओं पर आधारित न होकर यथार्थ व वास्तविकता पर आधारित है। जिन्हें आधार मानकर निश्चित तौर पर प्रत्येक राज्य विकास और उन्नति के नवीन सौपान तय कर सकता है और ऐसा राज्य भी अपने उद्देश्य पर खरा उत्तर सकता है। इसीलिए गाँधीजी के इन विचारों को भारतीय संविधान में स्थान दिया गया है। नीति निर्देशक तत्वों का उद्देश्य ही राम राज्य की स्थापना करना है।

32.5 महात्मा गाँधी के आर्थिक विचार

आर्थिक आयामों का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज के उत्थान के साथ जुड़ा हुआ है। जब तक समाज आर्थिक दृष्टि से प्रभावशाली नहीं होगा और अनेक प्रकार की आर्थिक समस्याएं व्याप्त होंगी तो समाज के सामने विकास और उन्नति की अनेक चुनौतियाँ उत्पन्न सकती हैं। इसलिए राजनीतिक चिन्तकों के द्वारा सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों के साथ-साथ आर्थिक विचारों पर बल दिया गया है।

गाँधीजी ने अपने राजनीतिक चिन्तन में आर्थिक सुधार की व्यापक योजना प्रस्तुत की। उस समय अंग्रेजों की दमनकारी एवं शोषणकारी नीतियों के चलते भारतीय समाज की आर्थिक दरिद्रता स्पष्ट रूप से झलक रही थी। चारों ओर आर्थिक असमानता, भूखमरी, अन्याय, शोषण, बेरोजगारी का साम्राज्य व्याप्त था। औद्योगिकीकरण के कारण भारतीय कुटीर उद्योग चौपट हो चुके थे। भारत में उत्पन्न होने वाला अधिकांश कच्चा माल इंग्लैण्ड भेज दिया जाता था, जिसका प्रतिकूल प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ा।

अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में गाँधीजी का विचार था कि सच्चा अर्थशास्त्र नैतिकता के नियमों के प्रतिकूल हो ही नहीं सकता। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय चाहता है। वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कितना भी कमजोर क्यों न हो, का सामाजिक हित चाहता है और अच्छे जीवन के लिए यह आवश्यक भी है। गाँधीजी के ये विचार यथार्थ व व्यवहार पर आधारित हैं, जिन्हें अपनाकर कोई भी राज्य अपना उत्कर्ष कर सकता है।

गाँधीजी के आर्थिक विचार निम्नलिखित हैं—

32.5.1 पूंजीवाद का विरोध— गाँधीजी आर्थिक क्षेत्र में प्रचलित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विरोध करते हैं और समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना पर बल देते हैं। उनका कहना था कि पूंजीपति, अर्थव्यवस्था का संचालन केवल अपने लाभ के लिए ही करते हैं जिनका सामाजिक हित से कोई सरोकार नहीं। वे उद्योगों का मशीनीकरण करके बेकारी बढ़ाते हैं और श्रमिकों का और उपभोक्ता का शोषण करते हैं। अर्थव्यवस्था पर उनका एकाधिकार होने के कारण वे वस्तुओं का मूल्य एवं स्तर अपनी मनमर्जी से तय करते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि समाज में आर्थिक विषमता बढ़ती ही जाती है।

32.5.2 औद्योगिकीकरण का विरोध— गांधी जी औद्योगिक क्रांति और इसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न केन्द्रीय कृत अर्थव्यवस्था का विरोध किया। उनका कहना था कि औद्योगिकीकरण की इस प्रवृत्ति ने साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया है। क्योंकि औद्योगिकीकरण से राष्ट्रों को अपनी अर्थव्यवस्था संचालित करने के लिए बड़ी मात्रा में कच्चे माल और तैयार माल बेचने के लिए विशाल मण्डी की आवश्यकता होती है। अतः इसके लिए वे इस प्रकार की नीति का अनुसरण करते हैं, जो नैतिकता के विरुद्ध है। गाँधीजी बड़ी मशीनों को मानवता के लिए अभिशाप मानते थे, क्योंकि इससे समाज में घृणा, स्पर्धा व स्वार्थ को बढ़ावा मिलता है और इससे मानव समाज का शारीरिक व नैतिक पतन भी होता है। इसके कारण समाज के अधिकांश संसाधन कुछ लोगों के हाथ में आ जाते हैं तथा समाज का बहुसंख्यक वर्ग अभाव की जिंदगी व्यतीत करता है।

32.5.3 कुटीर उद्योगों का समर्थन— गाँधीजी के अनुसार भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार कुटीर उद्योग हैं, क्योंकि ये भारत को आत्मनिर्भर बनाते हैं और गांवों में स्वावलम्बन की भावना विकसित करते हैं। अतः जिस गति से मशीनीकरण किया जा रहा है वह हमारे लिए अनुचित है। अंग्रेजों की दोषपूर्ण नीतियों के कारण हमारे यह उद्योग पतन के कगार पर पहुँच चुके हैं। उनके अनुसार भारत में जब तक राजनीतिक व सामाजिक चेतना नहीं आएगी, तब तक हम आर्थिक क्षेत्र में स्वदेश और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन नहीं दें सकेंगे। गाँधीजी का कहना था कि किसी भी देश की अर्थव्यवस्था काफ़ी सीमा तक उसकी जलवायु एवं प्राकृतिक स्थिति पर निर्भर करती है। अतः इस दृष्टि से कुटीर उद्योग उचित हैं।

32.5.4 अपरिग्रह का सिद्धान्त— इससे तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अपनी आवश्यकता के अनुसार सम्पत्ति या धन रखना चाहिए। गाँधीजी का कहना था कि भारतीय समाज में जो आर्थिक विषमता बढ़ रही है, आर्थिक संसाधनों पर समाज के कुछ लोगों का नियंत्रण स्थापित हो गया है, उसका मूल कारण मानव में अत्यधिक सम्पत्ति संकलन करने की भावना है। अतः अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन स्तर को ऊपर उठाने के अपरिग्रह के सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए।

32.5.5 वर्ग सहयोग पर बल— गाँधीजी अपने आर्थिक विचारों में वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्ग सहयोग की अवधारणा में विश्वास करते थे। उनका कबना था कि पूँजीपति और श्रमिकों के हित परस्पर विरोधी नहीं हो सकते। यदि इनमें पारस्परिक सहयोग एवं सामूहिक प्रयत्न किए जाएं तो अर्थव्यवस्था को उच्च शिखर पर पहुँचाया जा सकता है। उनके अनुसार पूँजीपतियों को समाप्त नहीं, अपितु उनकी शक्तियों को कम करना है।

32.5.6 संरक्षण या ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त— गाँधीजी के आर्थिक विचारों की बुनियाद ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त पर आधारित है। उनका मानना है कि समाज में आर्थिक समानता लाने के लिए पूँजीपतियों एवं जमींदारों के पास जो अनावश्यक धन व भूमि है, उसको उनसे प्राप्त कर उन्हें सामाजिक संरक्षण नियुक्त कर दिया जाए तथा इसका उपयोग वे लोग करें, जो निर्धन हैं तथा यहाँ सम्पत्ति प्राप्त करने के साधन साम्यवाद पर आधारित न होकर सत्य व अहिंसा पर आधारित होंगे।

सारांश

अतः कहा जा सकता है कि गाँधीजी के विचार उच्च स्तर के हैं, जिनको आधार मानकर प्रत्येक राज्य अपनी अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बना सकता है। इसलिए गाँधीजी के इन विचारों को आधार मानकर भारत अर्थव्यवस्था का संचालन कर रहा है। उनके ये विचार यथार्थ व व्यवहार पर आधारित हैं।

32.6 महात्मा गाँधी के सामाजिक विचार

गाँधीजी का ध्यान भारतीय समाज की उन बुराइयों की तरफ गया जिनके कारण सम्पूर्ण समाज की जड़ें खोखली हो चुकी थी। यद्यपि भारतीय समाज और संस्कृति की गणना विश्व के महानतम समाजों एवं संस्कृतियों में की जाती थी, लेकिन इस पर स्वस्थ परम्पराओं के स्थान पर सामाजिक बुराइयाँ हावी हो गई थी। समाज को संगठित एवं व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए वैदिक एवं आर्यों के काल में अनेक व्यवस्थाएँ और परम्पराएँ स्थापित की गई थी।

20 वीं सदी का पूर्वार्द्ध भारतीय समाज के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण था। क्योंकि महात्मा गाँधी ने समाज को बुराइयों से मुक्त करने का बीड़ा उठाया। यद्यपि गाँधीजी से पूर्व अनेक समाज सुधारक हुए। जिन्होंने इस दिशा में सार्थक पहलें भी कीं। लेकिन गाँधीजी के प्रयास यथार्थ पर आधारित होने के कारण उनके विचारों का सकारात्मक प्रभाव पड़ा। उस समय समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था और कथित तौर पर अपने आपको उच्च जाति का दावा करने वाले लोग निम्न जातियों के लोगों के साथ अस्पृश्यता, शोषण, अन्याय व शोचनपूर्ण व्यवहार जैसे अमानवीय व्यवहार कर रहे थे। जिससे समाज विखण्डित नजर आ रहा था। अतः गाँधीजी ने राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने के लिए समाज सुधार पर बल दिया और कहा कि जब तक समाज में एकता का अभाव रहेगा, तब तक हम गुलामी की जंजीरों से मुक्त नहीं हो सकते। गाँधीजी के प्रमुख सामाजिक विचार निम्नलिखित हैं—

32.6.1 अस्पृश्यता का निवारण— गाँधीजी ने भारतीय समाज में व्याप्त छुआछूत का विरोध किया और ये कहा कि इससे हमारा समाज पतन की ओर अग्रसर हो रहा है यह भारतीय समाज का गम्भीर दोष है। इससे सम्पूर्ण समाज कलकित हो रहा है। उन्होंने कहा कि यह एक ऐसा रोग है जो समस्त समाज को नष्ट कर देगा। वे अछूतों को आर्थिक व राजनीतिक अधिकार दिलाने के पक्ष में थे। उनके द्वारा इस बात पर बल दिया गया कि अछूतों को हिन्दू मंदिरों, कुओं तथा सार्वजनिक स्थलों पर प्रवेश दिया जाय, ताकि उनमें आत्म-सम्मान एवं आत्म-गौरव की भावना विकसित हो सके। गाँधीजी ने सर्वप्रथम अछूतों के लिए "हरिजन" शब्द का प्रयोग किया तथा इनके सुधार हेतु व्यापक योजना प्रस्तुत की। गाँधीजी के विचारों को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में अस्पृश्यता निवारण अनु. 17 में उल्लेख किया गया है।

32.6.2 वर्ण व्यवस्था का समर्थन— वर्ण व्यवस्था को भारतीय समाज का आधार माना जाता है लेकिन वर्ण व्यवस्था जो कर्म और धर्म पर आधारित हुआ करती थी। वह कार्यों पर आधारित हो गई। जिसके परिणामस्वरूप समाज में जाति बन्धन हावी हो गए और समाज खण्डित नजर आने लगा। प्राचीन काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र बनाने के पीछे उद्देश्य समाज का सफल संचालन करना था। लेकिन दोषपूर्ण व्यवस्था के चलते वर्ण व्यवस्था प्रदूषित हो गई। अतः गाँधीजी ने सामाजिक विचारों में वर्ण व्यवस्था के औचित्य को स्वीकार किया।

32.6.3 नारी सुधार— नारी को अर्द्धांगिनी माना जाता है। प्राचीन भारतीय समाज और हिन्दू धर्म की मान्यताओं में नारी का महत्वपूर्ण स्थान हुआ करता था। लेकिन बदलती हुई परिस्थितियों के कारण नारी की स्थिति नाजुक होती गई। अतः 19 वीं, 20 वीं शताब्दी में अनेक समाज सुधारक आगे आए। जिनमें राजाराममोहन राय तथा बाद में गाँधीजी का नाम प्रमुख है। उनका कहना था कि नारी किसी भी दृष्टि से पुरुषों से होन नहीं होती। उसके प्रति अन्याय व अपमान नहीं होना चाहिए। उनका कथन था कि

यदि सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता, नैतिकता आदि जीवन के सर्वोच्च गुणों की दृष्टि से विचार किया जाए तो नारी पुरुषों से श्रेष्ठ हैं। गाँधीजी ने पर्दा प्रथा, बाल विवाह, बहुपत्नी विवाह, बेमेल विवाह, दहेज प्रथा आदि का विरोध किया। लेकिन गाँधीजी महिलाओं की आर्थिक स्वतन्त्रता के समर्थक नहीं थे। उनका कहना था कि वह केवल अपने पारिवारिक दायित्व का पालन करें। घर से बाहर निकलकर आर्थिक गतिविधियों में भाग न लें।

32.6.4 बुनियादी शिक्षा— गाँधीजी का कहना था कि शिक्षा का उद्देश्य मानव के शरीर, आत्मा और मस्तिष्क का समन्वित विकास करना है। लेकिन इस दृष्टि से भारत में अंग्रेजों के द्वारा प्रचलित शिक्षा उचित नहीं थी। उनका कहना था कि यह शिक्षा पद्धति हमारे युवाओं में शारीरिक, बौद्धिक एवं आत्मिक उन्नति नहीं कर सकती। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में सुधार लाने के लिए व्यापक योजना प्रस्तुत की जो इस प्रकार हैं—

1. शिक्षा के अन्तर्गत विद्यार्थियों को कोई न कोई दस्तकारी सिखाई जाए, ताकि उनमें आत्मनिर्भरता की भावना का विकास हो।
2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।
3. अनिवार्य व निःशुल्क शिक्षा
4. शिक्षा का स्तर व्यक्तियों के चारित्रिक निर्माण करने वाला होना चाहिए।

32.6.5 अहिंसा पर आधारित समाज— गाँधीजी के सामाजिक विचारों में उनके समाज की बुनियाद अहिंसा पर टिकी हुई है। इसलिए वे अपने आदर्श राज्यों को अहिंसात्मक समाज कहकर पुकारते हैं। उनका मानना था कि सभी समस्याओं की जड़ मनुष्य की हिंसात्मक प्रवृत्ति है। अतः समाज में हिंसा के किसी भी रूप को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

निष्कर्ष— इस प्रकार गाँधीजी के सामाजिक विचार निश्चित तौर पर भारतीय समाज के लिए लाभकारी हैं। इनसे समाज-प्रगति के पथ पर निरंतर आगे बढ़ सकता है। गाँधीजी के विचार वर्तमान उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के युग में सामयिक तथा प्रासंगिक हैं।

सर्वोदय

32.7 प्रस्तावना

‘सर्वोदय’ गाँधीवाद का ही संशोधित रूप है। गाँधीजी ने जो राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक विचार प्रकट किये थे, उन्हें देश की परतंत्रता के कारण व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका। गाँधीजी की हत्या के पश्चात्, उनके सहयोगी विनोबा भावे ने बदले हुए परिस्थितियों में गाँधीजी के विचारों को व्यावहारिक रूप देने के उद्देश्य से ‘सर्वोदय समाज’ की स्थापना की है।

प्रो. जे. पी. सूद ने लिखा है कि “सर्वोदय समाज में विषमता का स्थान समानता ले लेगी, प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग आ जायेगा और घृणा—संघर्ष के स्थान पर प्रेम व सद्भावना का साम्राज्य होगा।”

32.8 सर्वोदय की परिभाषाएँ

सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ है, सर्व + उदय = सभी का उदय। दादा धर्माधिकारी के अनुसार, “सबका उदय, सबका उत्कर्ष, सबका विकास ही सर्वोदय है।” वे आगे कहते हैं: “सर्वोदय ऐसे वर्ग—विहीन, जाति विहीन तथा शोषण-विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति व समूह को अपने सर्वांगीण विकास के साधन और अवसर मिलेंगे। ऐसी क्रान्ति अहिंसा एवं सत्य द्वारा ही सम्भव है। सर्वोदय इसी का प्रतिपादन करता है।” श्रीशंकर राव देव के अनुसार, “अहिंसा एवं सत्य के आधार पर स्थापित वर्ग—विहीन तथा जाति—विहीन और जिसमें किसी का कोई भी शोषण नहीं कर सकता और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपना सर्वांगीण विकास करने का अवसर तथा साधन प्राप्त हो सकते हैं। ऐसे समाज की स्थापना करना, सर्वोदय समाज का साध्य है।”

आचार्य विनोबा भावे ने सर्वोदय के अर्थ व उद्देश्य के सम्बन्ध में लिखा है कि “सर्वोदय कुछ लोगों का अथवा बहुत से लोगों या अधिकतम लोगों का उत्थान नहीं चाहता है। हम अधिकतम के अधिक सुख से सन्तुष्ट नहीं हैं। हम तो केवल एक की या सबकी, ऊँचे और नीचे, सबल और निर्बल की, बुद्धिमान और बुद्धिहीन की भलाई से सन्तुष्ट नहीं हो सकते हैं। हम केवल सभी सन्तुष्ट हो सकते हैं जब सभी की भलाई हो। सर्वोदय शब्द से इस उच्च और सर्वव्यापी भावना का बोध होता है।” सर्वोदय की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि वह बेन्थम के उपयोगितावाद से सर्वथा भिन्न है। उपयोगितावाद 51 प्रतिशत लोगों के हित के लिए 49 प्रतिशत लोगों के हितों का बलिदान करने को तैयार है। इसके विपरीत सर्वोदय तो प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण चाहता है।

सर्वोदयी विचारधारा की यह मान्यता है कि इस दुखी संसार में सभी का उत्थान करना है, यहाँ तक धनिक वर्ग का भी, जो कि नैतिक व आध्यात्मिक दृष्टि से गिरे हुए हैं और असंख्यक लोगों का शोषण करते हैं। इस संदर्भ में विनोबा जी का यह कथन उल्लेखनीय है कि “धनी लोग पहले से ही बहुत गिरे हुए हैं और गरीब लोग कभी उठे ही नहीं हैं। परिणाम यह है कि दोनों को ही उठाना है।” इस प्रकार विनोबा जी चाहते हैं कि ग़नवान लोग अपनी अपार सम्पत्ति से अपनी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का परित्याग कर दें तो वे ऊपर उठ सकेंगे। जिससे गरीब लोगों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेंगी। इस प्रकार से दोनों वर्गों को नैतिक व आध्यात्मिक दृष्टि से आगे बढ़ने का

अवसर मिल सकेगा।

32.9 सर्वोदय का विकास

सर्वोदय का सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त नहीं है। भारतीय तथा विश्व के प्राचीन ग्रन्थों व धार्मिक ग्रन्थों में यह विचार मिलता है। भारतीय सभ्यता व संस्कृति तो विश्व को सदैव से ही सत्य, हिंसा और प्रेम का सन्देश देती रही है। भारतीय मनीषियों ने प्रारम्भ से ही यह विचार दिया है कि विश्व का कल्याण किसी विशेष देश या विशेष वर्ग के कल्याण में नहीं, वरन् सबके कल्याण में है। ग्रीस के स्टोइक के दार्शनिकों ने भी इसी प्रकार के सन्देश दिये हैं।

परन्तु आधुनिक रूप में सर्वोदय की विचारधारा गाँधीजी की देन है। 'सर्वोदय' शब्द का प्रयोग स्वयं गाँधी जी ने किया था। इस दिशा में उन पर अंग्रेज साहित्यकार जॉ रस्किन की पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' का विशेष प्रभाव पड़ा। इस पुस्तक से तीन महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं—

1. वह आर्थिक व्यवस्था उत्तम है, जिसमें सभी को लाभ पहुँचे।
2. एक वकील के कार्य और नाई के कार्य का मूल्य समान है, कारण यह है कि प्रत्येक को अपने कार्यानुसार जीविका अर्जित करने का अधिकार है।
3. श्रमिक (खेतीहर और हस्त-शिल्पी) का जीवन ही सच्चा जीवन है।

गाँधीजी ने स्वयं अपनी आत्मकथा में इस पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा है कि "जिस पुस्तक ने मेरे जीवन में तुरन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन कराया, वह तो रस्किन की 'अन्टु दिस लास्ट' ही थी। उसे हाथ में लेने के बाद मैं छोड़ न सका। उसने मुझे पकड़ लिया। ट्रेन में मैंने उसे पढ़ डाला। घर पहुँचने पर मुझे सारी रात नींद नहीं आई। पुस्तक में बताये गये विचार तुरन्त अमल में लाने का मैंने इरादा किया।" गाँधी जी ने इस पुस्तक का गुजराती में अनुवाद किया और उसे 'सर्वोदय' का नाम दिया, क्योंकि रस्किन की रचना का उद्देश्य भी सबके उदय से ही था। 1938 में गाँधी सेवा संघ की ओर से जो नासिक पत्रिका प्रकाशित हुई, उसका नाम भी 'सर्वोदय' रखा गया।

काका कालेलकर ने गाँधी जी की पुस्तक 'सर्वोदय' के अनुवाद के आमुख में लिखा है कि "रस्किन ने जो कुछ भी लिखा, समस्त विश्व के लिए लिखा, परन्तु गाँधी जी ही उसके अनुसार चल सके। उन्होंने रस्किन से प्रेरणा पाकर 'सर्वोदय' में जो कुछ लिखा, समस्त विश्व के लिए लिखा, परन्तु गाँधीजी का विश्वास था कि शेष देश उसके अनुसार चलें या न चलें, हिन्दुस्तान तो चलेगा ही और यदि एक भी राष्ट्र नीति की राह पर चलेगा तो इसका प्रभाव सारी मानव जाति पर अवश्य ही होगा।" स्पष्ट है कि सर्वोदयी विचारधारा विश्व का कल्याण चाहती है। गाँधी जी के अनेक शिष्यों ने उनके जीवनकाल में ही इस विचारधारा का चिन्तन किया और उसे कार्यरूप में परिणित करने का प्रयास प्रारम्भ किया है जो कि अभी भी जारी है। गाँधीजी के इन शिष्यों में आचार्य विनोबा भावे, श्री जयप्रकाश नारायण, दादा धर्माधिकारी, काका कालेलकर तथा आचार्य कृपलानी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

सर्वोदय के आधार

सर्वोदय के आदर्श को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसके लिए व्यक्ति को कुछ आदर्शों पर चलना होगा, जिन्हें कि सर्वोदय के आधार कहा गया है। सर्वोदय का पहला आधार इन्द्रिय निग्रह है। सर्वोदयी विचारधारा यह मानती है कि मानव के दुर्गुणों को नष्ट किया जा सकता है। इन्द्रिय निग्रह के द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जैसे दुर्गुणों से छुटकारा पाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में विनोबा जी ने कहा है कि "बुरी आदतों के कारण संयम रखना कठिन होता है, नहीं तो यह साधारण—सी बात है। जो बात कछुआ जानता है, उसे मनुष्य क्यों नहीं जानेगा? जहाँ खतरा हो, वहाँ इन्द्रियों को समेट लेना और जहाँ नहीं है, उन्हें खुला छोड़ देना कछुआ जानता है। मनुष्य के लिए यह कोई कठिन बात नहीं है कि जितनी भूख है उतना खाना, पास लगने पर पानी पीना, परन्तु न तो अधिक खाना और न अधिक सोना। क्या ये कठिन बातें हैं, जिनके लिए हमको अभ्यास करना पड़े? परन्तु गलत शिक्षा दी जाती है, इसीलिए यह भारी तपस्या मालूम होती है। सर्वोदयी विचार में यह तत्व मुख्य है कि अपने मन को वश में रखना चाहिए, इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना चाहिए।"

सर्वोदय का एक अन्य आदर्श भये समाज का निर्माण करना है। सर्वोदयी विचारधारा के अनुसार वर्तमान सामाजिक व्यवस्था अनेक प्रकार से दोषपूर्ण है। समाज के लोगों में परस्पर कितना विरोध है और इस कारण समाज में कितने संघ बने हुए हैं, इस सम्बन्ध में विनोबा जी ने लिखा है कि "अब एक ही कमी है और वह है, अखिल भारतीय बाप-संघ और अखिल भारतीय बच्चा-संघ।" वर्तमान लोकतंत्र और निर्वाचनों की गिन्दा करते हुए विनोबा जी ने कहा है कि "यह जो निर्वाचन होते हैं, उसका अपना पृथक धर्म विचार है। उसके तीन सिद्धान्त हैं। आत्म स्तुति, परनिन्दा और झूठा-भाषण।" विनोबा जी ने यह भी कहा है कि, "यह जो अल्प संख्या व बहु संख्या का विचार चला है उसका बहुत भयंकर परिणाम हो रहा है। इससे करोड़ों रुपया खर्च हो रहा है। इसमें गरीबों को कोई स्थान नहीं है। जाति भेद तो अब इतना बढ़ गया है कि साम्यवादियों में जो चीज नहीं थी, उनमें भी वह आ गई है। कितनी भयानक बात है कि जिस जाति भेद पर राजाराम मोहन राय से लेकर गाँधी जी तक निरन्तर प्रहार होता रहा है और जो मरने की तैयारी में था, वही इस निर्वाचन के कारण अल्पसंख्या और बहुसंख्या के कारण बढ़ रहा है। इसे "लोकतंत्र" का वरदान समझिये। इसलिए हमको एक नये सिरे से रचना करनी होगी, नया समाजशास्त्र बनाना होगा। जैसा शिक्षण शास्त्र होता है, वैसा समाजशास्त्र बनता है। इसलिए शिक्षण शास्त्र में भी परिवर्तन करना होगा।"

सर्वोदय का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना करना है जो सत्य और अहिंसा पर आधारित हो। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक श्रम करे। ऐसे समाज में कृषि को बहुत अधिक महत्ता दी गई है। विनोबा जी ने यहाँ तक कहा है कि 'हमारा प्रधानमंत्री भी चार घण्टे खेती करेगा और चार घण्टे दूसरा काम करेगा।' इस प्रकार की व्यवस्था से समाज में भोजन की कमी नहीं रहेगी। परन्तु इस सम्बन्ध में सर्वोदयी विचारधारा रुढ़िवाद का समर्थन नहीं करती है। सर्वोदयी विचारधारा तो आधुनिक विज्ञान की प्रगति

का भी प्रयोग सबके उदय के लिए करना चाहती है। विनोबा जी के ही शब्दों में, "हम चाहते हैं कि विज्ञान खूब बढ़े, परन्तु हम यह भी चाहते हैं कि उसका ठीक ढंग से उपयोग करने की बुद्धि हममें हो। अग्नि का उपयोग हम अवश्य कर सकते हैं, परन्तु अग्नि का उपयोग रसोई बनाने में किया जाये, किसी के मकान में आग लगाने के लिए न किया जाय। ... विज्ञान की शादी यदि हिंसा के साथ होगी तो मानव का सर्वनाश होगा। इसलिए विज्ञान के साथ अहिंसा की ही शादी होनी चाहिए। अहिंसा और विज्ञान के संयोग से पृथ्वी पर स्वर्ग उत्तर आयेगा।"

सर्वोदयी विचारधारा का एक अन्य आधार राज्य का उन्मूलन है। सर्वोदयी विचारधारा में राज्य का विरोध इसलिए किया जाता है कि वह हिंसा और दमन की प्रवृत्तियों का द्योतक है और वह अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए, प्रशासनिक यन्त्रों के लिए जनता पर भारी कर का दबाव डालता है। सर्वोदयी विचारक सरकार के बढ़ते हुए कार्यों से भी नाराज हैं। विनोबा जी ने कहा है कि, "जहाँ तक व्यक्तियों का सम्बन्ध है, प्रत्येक को मन व इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने का ज्ञान होना चाहिए। समाज में एक दूसरे के हितों के साथ एक दूसरे के हितों का विरोध नहीं है। यह समझकर समाज की रचना करनी होगी। सरकार की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, यह समझकर उसके क्षय का प्रारम्भ आज से ही करना होगा।"

32.10 सर्वोदय के मुख्य सिद्धान्त

सर्वोदय एक गांधीवादी विचारधारा है। इसके मुख्य सिद्धान्तों को निम्नलिखित रूपसे रखा जा सकता है—

32.10.1 राज्य संस्था का विरोध— गाँधी जी राज्य को हिंसा पर आधारित मानते थे और अराजकतावादियों की भांति ही राज्य के आलोचक थे, फिर भी वे यह स्वीकार करते थे कि राज्य विहीन समाज की स्थापना इस पृथ्वी पर सम्भव नहीं है। सर्वोदयी विचारक यहाँ गाँधी जी से सहमत नहीं हैं और अराजकतावादियों की भांति राज्य को पूर्णतया नष्ट कर देना चाहते हैं। कारण यह है कि राज्य के होते हुए सर्वोदयी समाज की स्थापना नहीं हो सकती। गाँधी जी के अनुसार सत्ता का विकेंद्रीकरण कर देने से लोकतन्त्र में तीन दोष आ जाते हैं — 1. अधिकारों का दुरुपयोग, 2. अराजकता का मय, और 3. भ्रष्टाचार। राज्य संस्था को समाप्त कर देने पर ही ये दोष दूर हो सकते हैं और दण्ड निरपेक्ष समाज की स्थापना हो सकती है। दादा धर्माधिकारी के अनुसार, "दण्ड निरपेक्ष राज्य का अर्थ है कि दण्ड कहीं नहीं रहेगा, सत्ता का या सुव्यवस्था का अधिष्ठान दण्ड नहीं होगा, वरन् लोक-सम्पत्ति होगी।

32.10.2 विकेंद्रीकृत समाज— सर्वोदयी विचारकों ने ऐसे समाज की कल्पना की है जिसमें प्रत्येक ग्राम, सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाई हो। ग्राम पंचायत से जन-जीवन का संगठन प्रारम्भ हो। इसके ऊपर क्रमशः थाना पंचायतें, जिला पंचायतें, प्रादेशिक पंचायतें तथा राष्ट्रीय पंचायतें होंगी।

32.10.3 दल विहीन प्रजातन्त्र— सर्वोदयी विचारक वर्तमान दल प्रणाली की भी आलोचना करते हैं। उनका मत है कि निर्वाचनों के समय दल झूठे-झूठे वायदे तथा प्रचार करके वोट प्राप्त करते हैं, वे वोटों को खरीदते हैं। इस प्रकार राज्य शक्ति स्वार्थी लोगों के हाथों में चली जाती है। सर्वोदयी नेता दल-विहीन प्रजातन्त्र स्थापित करना चाहते हैं। विनोबा जी के अनुसार, निर्वाचनों के स्थान पर 'मनाव' की व्यवस्था हो। इसका आशय यह है कि उम्मीदवार स्वयं वोट न मांगे, वरन् मतदाता जिसे सर्वाधिक योग्य समझें, उसे निर्वाचित कर लें। यह दलविहीन प्रणाली का नवीन रूप है।

32.10.4 आर्थिक और सामाजिक सिद्धान्त— सर्वोदय के आर्थिक सिद्धान्त भी गाँधी वाद पर आधारित हैं। विनोबा जी भी आर्थिक समानता पर बल देते हैं। समानता का क्या अर्थ है, इसे उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है: "समानता का यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक के पास पाँच एकड़ भूमि होनी चाहिए, एक ही प्रकार के मकान और उतने ही गज कपड़ा होना चाहिए। हम यही चाहते हैं कि हवा, पानी और जमीन जैसी वस्तुएँ, जो जीवन के लिए आवश्यक हैं, सभी को समान रूप से उपलब्ध होनी चाहिए। जब ये वस्तुएँ सभी को पर्याप्त मात्रा में मिल जाती हैं तो शेष बची हुई में से कोई अधिक ले लेगा तो भी दूसरों को ईर्ष्या नहीं होगी।"

विनोबा जी ने एक प्रसंग में कहा है कि "दूसरों की आवश्यकताओं का ध्यान रखो और अपनी ऐसी आवश्यकता न रखो, जिससे कि दूसरों को कष्ट होता हो।"

सर्वोदयी विचारधारा औद्योगिकीकरण का तो स्वागत करती है, परन्तु केवल ऐसा औद्योगिकीकरण, जिससे करोड़ों लोग बेकार न हो जायें। इस सन्दर्भ में गाँधी जी ने कहा था कि, "मैं ऐसी मशीन का स्वागत करूँगा, जो झोपड़ी में रहने वाले करोड़ों सजोव लोगों के बोझ को हल्का कर दे, परन्तु करोड़ों श्रमिकों के स्थान पर निर्जीव मशीन को स्थान कदापि नहीं दिया जा सकता है।"

गाँधी जी की ही भांति सर्वोदयी भी मशीनों व भारी-उद्योगों की स्थापना के विरुद्ध है। उनके अनुसार, मशीनों से न केवल बेरोजगारी फैलती है वरन् वे व्यक्ति की सृजनशक्ति व कलात्मक प्रवृत्तियों को नष्ट करती हैं। दादा धर्माधिकारी ने कहा है: "विज्ञान परिस्थिति में परिवर्तन कर सकता है, परन्तु जिसे भावरूप मूल्यों की स्थापना कहते हैं, वह विज्ञान से नहीं हो सकती है।

गाँधी जी ने जिस ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसे कुछ संशोधनों के साथ सर्वोदयी विचारकों ने स्वीकार कर लिया है। विनोबा जी का सुझाव है कि किसी भी व्यक्ति को स्वयं को पूंजी का स्वामी नहीं समझना चाहिए। सभी सम्पत्ति ईश्वर की समझनी चाहिए। दादा धर्माधिकारी लिखते हैं: "अपरिग्रह की वृत्ति का अर्थ यह है कि अपनी आवश्यकता की वस्तु भी जो मैं रखता हूँ, वह अपने स्वामित्व के लिए नहीं रखता। अपनी आवश्यकता की वस्तु तो रखता हूँ, परन्तु आवश्यकता की वस्तु पर मेरा अपना स्वामित्व नहीं।" सरल शब्दों में, सर्वोदयी विचारधारा के अनुसार जिनके पास अधिक पूंजी है, उन्हें अपनी सम्पत्ति त्याग देनी चाहिए। इस प्रकार सर्वोदय, साम्यवाद के

निकट पहुँच जाता है।

32.11 सर्वोदय साधन— विनोबा जी के शब्दों में “सर्वोदय की मान्यता है— ‘जो तोड़ूँ काँटा बुँदों, ताहि बो तु फूल।’ पत्थर का जवाब पत्थर से देने में कौनसी क्रान्ति है? क्रान्ति है दुश्मन को गले लगाने में, क्रान्ति है अत्याचारी को क्षमा करने में, क्रान्ति है गिरे हुए को ऊपर उठाने में और इस क्रान्ति का साधन है— हृदय परिवर्तन, जीवन शुद्धि, साधन—शुद्धि और प्रेम का अधिकतम विस्तार।”

स्पष्ट है कि सर्वोदय विचारधारा गाँधीजी के साध्य और साधनों की श्रेष्ठता के सिद्धान्त में विश्वास करती है। हम पहले पृष्ठों में सर्वोदय के आधार नामक शीर्षक के अन्तर्गत देख चुके हैं कि सर्वोदय के साधन किस प्रकार के हैं।

सर्वोदयी विचारधारा में भी गाँधीवाद की भाँति हिंसा, क्रान्ति और वर्ग संघर्ष को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। इस विचारधारा के अनुसार भी हिंसा पर अहिंसा द्वारा विजय प्राप्त करनी चाहिए। इसके अनुसार भी पाप से घृणा करनी चाहिए, पापी से नहीं। सर्वोदय के अनुसार, जब तक लोगों के हृदय नहीं जीते जाते हैं, स्थायी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए सर्वोदय, हिंसा व बल—प्रयोग के स्थान पर भूदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान, आदि नवीन साधनों का समर्थन करता है।

भूदान

सर्वोदयी विचारधारा में आर्थिक असमानता को दूर करने का एक महत्वपूर्ण साधन भूदान है, जिसे विनोबा जी ने ‘भूदान यज्ञ’ का नाम दिया है। साधारण शब्दों में, तो इसका अर्थ यही है कि जिनके पास आवश्यकता से अधिक भूमि है, वह उसमें से भूमिहीनों को स्वेच्छा से भूमिदान कर दें। परन्तु भूमिदान करने से भी अधिक ‘भूदान यज्ञ’ का उद्देश्य लोगों के हृदयों को बदलना है जिससे कि वे स्वयं ही यह अनुभव करने लगें कि इस भूमि पर हमारा अधिकार ही नहीं है।

श्री जयप्रकाशनारायण ने भूदान के सम्बन्ध में कहा है कि “आर्थिक व सामाजिक क्रान्ति लाने का यह एक गाँधीवादी ढंग, एक नई जीवन विधि का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप और एक नया सामाजिक दर्शन है। यह एक नवीन मानवता और एक नवीन सभ्यता का श्रीगणेश है।” आचार्य विनोबा भावे ने ‘भूदान—आन्दोलन’ की महत्ता के सम्बन्ध में कहा है कि, “यदि तुम्हारी भावना में परिवर्तन आ जाये और तुम स्वेच्छा से अपने से कम भाग्यशाली भाइयों में भूमि को एक लालची की तरह नहीं, वरन् इस तरह जैसे एक पिता अपने पुत्र को देता है, बाँटने लगे, यदि तुम उनकी सेवा करने व उनके सुख व दुख के भागी बनने लगे, तो हमारे सभी वर्तमान दोष समाप्त हो जायेंगे। विनोबाजी के प्रयासों लोगों ने बड़ी मात्रा में अपनी भूमि, भूमिहीनों को दान में दी।

32.12 सर्वोदय और साम्यवाद

पिछले पृष्ठों में हमने गाँधीवाद व साम्यवाद का तुलनात्मक विवेचन किया है। गाँधीवाद व सर्वोदय में विशेष अन्तर नहीं है, इसलिए सर्वोदय और साम्यवाद की तुलना करते समय उन्हीं बातों को ध्यान में रखना है। सर्वोदय व साम्यवाद में कुछ समानताएँ हैं, जैसे दोनों ही विचारधारा गीढ़ा व शोषण का उन्मूलन चाहती हैं। दोनों का लक्ष्य राज्य विहीन समाज की स्थापना करना है, परन्तु सर्वोदय के साधन गाँधीवाद की भाँति साम्यवाद से भिन्न हैं। सर्वोदय, मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं करता है। सर्वोदयी दर्शन में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का कोई स्थान नहीं है।

32.13 सर्वोदय का मूल्यांकन

सर्वोदयी विचारधारा, निःसन्देह बहुत उत्तम है। यदि बिना रक्तपात व हिंसा के अर्थिक समानता स्थापित हो सके, बल प्रयोग का नामोनिशान मिट जाये, स्वार्थ की भावना मिट जाय, तो इससे अधिक अच्छाई और क्या हो सकती है। परन्तु प्रश्न तो व्यावहारिकता का है। क्या भूदान आन्दोलनों से मनुष्य का हृदय परिवर्तित किया जा सकता है? मनुष्य की स्वार्थ भावनाओं का क्या पूर्णतया विनाश सम्भव है? क्या राज्य—विहीन समाज व दल—विहीन प्रजातन्त्र स्थापित किया जा सकता है? अब तक के मानव—इतिहास को देखते हुए यह सब अव्यावहारिक प्रतीत होता है। मानव में दैवीय गुणों की अभिव्यक्ति कठिन प्रयास से होती है। परन्तु उसमें दानवीय गुण सरलता से प्रवेश कर जाते हैं। विश्व से संकीर्णता, ईर्ष्या, हिंसा को समाप्त कर देना कोई सरल कार्य नहीं है। आज भी विश्व के अनेक देश अहिंसा और शान्ति की दृष्टि से अविकसित हैं। शक्तिशाली निर्बलों का शोषण कर रहे हैं। लोगों व राष्ट्रों में पारस्परिक विश्वास का इतना अभाव है कि कोई दूसरे का अहिंसक रहने का विश्वास नहीं कर सकता। सर्वोदयी विचारधारा के आलोचक इसे एक काल्पनिक तथा अथार्थवादी विचारधारा कहकर इसकी आलोचना करते हैं। उनका विचार है कि इन सिद्धान्तों के व्यवहार में क्रियान्वित नहीं किया जा सकता है।

हम विनोबा जी के इस सन्देश को उद्धृत कर सकते हैं, जिसमें विश्व के सभी लोगों का कल्याण निहित है, “इस छोटी सी जिन्दगी में हम कसौटी पर हैं। यह विश्व एक सराय है। जो कुछ थोड़े दिनों तक हमको यहाँ रहना है, उनमें सबकी सेवा और सबका प्रेम प्राप्त करना चाहिए। जिन्होंने इस जगत् में आकर पैसा कमाया, परन्तु प्रेम गँवाया, उन्होंने कुछ भी नहीं कमाया। जिन्होंने ज्ञान प्राप्त किया, परन्तु जो सबका प्रेम प्राप्त न कर सके, उन्होंने कुछ भी प्राप्त नहीं किया। जिन्होंने शक्ति अर्जित की, परन्तु प्रेम का सम्पादन नहीं किया, उन्होंने कुछ भी प्राप्त नहीं किया। इसलिए भाइयों! सबसे प्रेम करो और सबका प्रेम प्राप्त करो, यही सर्वोदय समाज का सन्देश है।

32.14 सारांश

अन्त में हम कह सकते हैं कि अनेक आलोचनाओं के बावजूद भी, सर्वोदय विचारधारा का महत्त्व बरकरार है। इसे लागू करने पर एक अहिंसक समाज की संरचना की

जा सकती है।

32.15 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. गाँधीजी के विचारों की प्रासंगिकता को सिद्ध कीजिए।
2. गाँधीजी के आदर्श राज्य (रामराज्य) संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।
3. गाँधीजी के प्रमुख आर्थिक विचार क्या हैं ?
4. सर्वोदय का अर्थ स्पष्ट करते हुए, प्रमुख सिद्धान्त स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—
 1. सत्ता का विकेंद्रीकरण
 2. अहिंसात्मक समाज
 3. वर्ण व्यवस्था
 4. अस्पृश्यता का अन्त
2. गाँधीजी के सामाजिक विचारों पर संक्षिप्त नोट लिखिए।
3. अपरिग्रह का सिद्धान्त क्या है ?
4. ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त क्या है ?
5. दल विहिन प्रजातन्त्र के संबंध में सर्वोदय के विचार बताओ।
6. सर्वोदय का प्रमुख उद्देश्य क्या है ?
7. रामराज्य की स्थापना की दिशा में भारत में क्या संवैधानिक प्रयास हुए हैं ?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. महात्मा गांधी का राजनीति में विधिवत् प्रवेश कहां से हुआ।
2. गाँधीजी प्रथम व अन्तिम बार कांग्रेस के कौन से अधिवेशन में अध्यक्ष बने ?
3. गाँधीजी पुजीवाद का विरोध क्यों करते थे ?
4. गाँधीजी के आर्थिक विचारों का प्रमुख उद्देश्य क्या है ?
5. सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ स्पष्ट कीजिए।
6. दल विहिन प्रजातंत्र के विचार का प्रतिपादक किसे माना जाता है ?

32.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वी.पी. वार्मा, "भारतीय राजनीतिक चिन्तक"
2. आर. सी. अग्रवाल, "राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

इकाई-33 : राजनीतिक विचारधाराएं—अणुव्रत समाज की संरचना

संरचना

- 33.1 उद्देश्य
- 33.2 प्रस्तावना
- 33.3 अणुव्रत का अर्थ
- 33.4 अणुव्रत की आचार संहिता
- 33.5 अणुव्रत का दर्शन
- 33.6 अणुव्रत के निदेशक तत्व
- 33.7 अणुव्रत के लक्ष्य
 - 33.7.1 बाहरी आक्रमणों से रक्षा
 - 33.7.2 नैतिक जागरण
 - 33.7.3 आत्मबल को बढ़ाना
 - 33.7.4 चरित्र निर्माण
 - 33.7.5 आत्म संयम की प्रेरणा
 - 33.7.6 शांति व एकता
 - 33.7.7 अहिंसक समाज की संरचना
 - 33.7.8 धार्मिक सहिष्णुता पर बल
 - 33.7.9 अपरिग्रह को प्रोत्साहन
 - 33.7.10 स्वस्थ लोकतांत्रिक मूल्यों का उत्थान
 - 33.7.11 सामाजिक कुरीतियों से मुक्ति
 - 33.7.12 नशा मुक्त जीवन जीने की प्रेरणा
 - 33.7.13 पर्यावरण जागरूकता
 - 33.7.14 छुआछूत निषेध
- 33.8 आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार अणुव्रत जीवन शैली
 - 33.8.1 जीवन की समग्रता : चार आयाम
 - 33.8.2 अणुव्रत का सम्यक दर्शन
 - 33.8.3 समानता
 - 33.8.4 सापेक्ष व्यवहार और चिन्तन
 - 33.8.5 श्रम : प्रमुख तत्व
 - 33.8.6 जहां शोषण वहां समस्या
 - 33.8.7 कर्तव्य का विकास
 - 33.8.8 अनर्थ हिंसा
 - 33.8.9 वासना का दास न बनें
 - 33.8.10 संयम ही जीवन है
 - 33.8.11 अनेकांत मूल आधार
- 33.9 अणुव्रत एवं वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था
- 33.10 सारांश
- 33.11 प्रश्नवली

33.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य अणुव्रत समाज की रूपरेखा का अध्ययन करना है, जो एक ऐसी योजना है जो राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में मददगार सिद्ध हो सकती है। इस अध्याय से आप जानेंगे—

- अणुव्रत का अर्थ क्या है?
- अणुव्रत जैसे नैतिक आन्दोलन से राष्ट्रीय चरित्र का विकास होगा, साथ ही साथ मनुष्य को एक ऐसा जीवन जीने की प्रेरणा मिलेगी जो सादगीपूर्ण होगा,
- अणुव्रत के लक्ष्यों को जान पाओगे जो लोकतांत्रिक मूल्यों, अहिंसा पर आधारित समाज, सहिष्णुता आदि को प्रोत्साहन देता है,
- अणुव्रत आन्दोलन को आगे बढ़ाने में आचार्य तुलसी के पश्चात् आचार्यश्री महाप्रज्ञ की भूमिका को जाने सकेंगे।
- अणुव्रत को अपनाने से हम वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को सुधार सकते हैं, जो दिशाभ्रमित हो चुकी है,
- यह एक ऐसा आन्दोलन है, जो आपसी भाइचारे, पर्यावरण संरक्षण, व्यक्ति के बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करता है।

33.2 प्रस्तावना

अणुव्रत दर्शन मानवीय समाज की आधारशिला है। इससे एक ऐसे आदर्श समाज की स्थापना की जा सकती है जो अपने-आपमें परिपूर्ण हो। इससे व्यक्ति के वैयक्तिक एवं यात्रिक मूल्यों का न केवल विकास होता है, अपितु मनुष्य की जीवन शैली निर्धारित की जा सकती है। आज के इस भागदौड़ के जीवन में जिसमें मानव केवल अपने स्वार्थ सिद्धि में लगा है, जिससे समाज एवं मानवता से कोई नहीं है, जो अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए हिंसा, असत्य छलकपट, झूठ ब्रह्मदानी आदि का सहारा लेने से परहेज नहीं करते, मनुष्य का यह व्यवहार पशुतुल्य है। मनुष्य एक-दूसरे के प्रति दया, करुणा, वात्सल्य या प्रेम के भाव रखने के स्थान पर क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा जैसे भाव रख रहा है। धन की प्रधानता बढ़ती ही जा रही है। इस कारण धन के आधार पर मानवीय संबंध निर्धारित हो रहे हैं। परिणामस्वरूप समाज के प्रत्येक मनुष्य में धन कमाने की होड़ मची हुई है। चाहे उसे कितना भी गलत रास्ता अख्तियार करना क्यों न पड़े। मनुष्य की यह प्रवृत्ति शोषण दमन व अन्याय को प्रोत्साहन दे रही है। श्रम करने वाले को उचित पारिश्रमिक नहीं मिल रहा है। इससे समाज में आर्थिक विषमताओं की खाई और अधिक बढ़ रही है। मालिक सोचता है कि श्रमिक ईमानदारी से काम नहीं करते और श्रमिकों के जेहन में यह बात है कि मालिक उनका शोषण कर रहा है। यह स्थिति समाज के लिए भयावह है। इसकी परिणति अन्तिम रूप से हिंसा या क्रांति के तौर पर होती है जो समाज को विनाश की राह पर ले जाती है। किन्तु अणुव्रत समाज को शोषण विहीन समाज की दिशा में ले जाता है। इस तरह अणुव्रत मनुष्य के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

33.3 अणुव्रत का अर्थ— अणुव्रत, 'अणु' और 'व्रत' इन दो शब्दों से बना है। अणु का अर्थ छोटा और व्रत का अर्थ संकल्प अर्थात् अणुव्रत छोटे-छोटे नियम या संकल्प। अणुव्रत छोटे-छोटे नियमों या संकल्पों का पालन पर बल देता है।

देश की स्वतंत्रता समय जहाँ देश के चहुँमुखी विकास की योजनाएँ तैयार हो रही थी, वहीं आचार्य श्री तुलसी ने राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण के लिए 2 मार्च, 1949 को सरदार शहर में अणुव्रत आन्दोलन का शंखनाद किया। एक नैतिक आन्दोलन का सूत्रपात कर आचार्य तुलसी ने देश में एक नैतिक तथा चारित्रिक आन्दोलन का सूत्रपात किया। आचार्य श्री तुलसी लगभग पच्चास वर्षों तक जन-जन में अणुव्रत के नियमों का प्रचार प्रसार करते रहे। इतिहास की प्रमुख घटना मानी गयी। आचार्य श्री तुलसी के बाद वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ इस आन्दोलन को गति दे रहे हैं। इस आन्दोलन ने मनुष्य को नैतिक एवं संयमपूर्ण जीवन जीने के लिए अणुव्रत की एक आचार संहिता प्रदान की।

33.4 अणुव्रत आचार संहिता

अणुव्रत आचार संहिता निम्नलिखित है—

1. मैं किसी भी निष्प्राण प्राणी का एक संकल्पपूर्वक वध नहीं करूँगा।
 - आत्म-हत्या नहीं करूँगा।
 - भ्रूण-हत्या नहीं करूँगा।
2. मैं आक्रमण नहीं करूँगा।
 - आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूँगा।
 - विश्व शांति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूँगा।
3. मैं हिंसात्मक एवं तोड़-फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूँगा।
4. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूँगा।
 - जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूँगा।

- अस्पृश्यता नहीं मानूंगा।
- 5. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूंगा।
 - साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊंगा।
- 6. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूंगा।
 - अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि नहीं पहुंचाऊंगा।
 - छलना पूर्ण व्यवहार नहीं करूंगा।
- 7. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा का निर्धारण करूंगा।
- 8. मैं चुनाव के संबंध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
- 9. मैं सामाजिक कुरतियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।
- 10. मैं व्यसन-मुक्त जीवन जीऊंगा।
 - मादक तथा नशीले पदार्थों: शराब, गांजा, चरस, हिरोइन, भांग, तंबाकू आदि का सेवन नहीं करूंगा।
- 11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा।
 - हरे वृक्ष नहीं काटूंगा।
 - पानी का अपव्यय नहीं करूंगा।

33.5 अणुव्रत का दर्शन

मानव सम्यता में सब कुछ परिवर्तनशील ही नहीं होता, कुछ शाश्वत भी होता है। प्रकृति शाश्वत है। मानव की प्रकृति भी शाश्वत है। उसकी प्रकृति में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि तत्व होते हैं। मानव में अच्छाई नहीं है, बुराई भी नहीं है। ये सब चिरकालीन हैं, केवल इनका रूप बदलता है। पदार्थ बदलते हैं, प्रकृति बदलती है फिर मनुष्य क्यों नहीं बदलता? अणुव्रत बदलने का दर्शन है। अणुव्रत चाहता है कि मनुष्य अपनी प्रकृति का निरोक्षण करे, उसे समझे और उसमें परिवर्तन लाने के लिए स्वतः प्रयास करें।

हिंसा कोई नई समस्या नहीं है। हजारों वर्ष पहले भी हिंसा होती थी। यह वर्तमान में भी होती है। वह जीवन के साथ जुड़ी हुई है। इसलिए सब लोग अहिंसा का जीवन जी सकें, यह सम्भव नहीं है। एक रास्ता पूर्ण अहिंसा का है। दूसरा रास्ता पूर्ण हिंसा का है। पूर्ण हिंसा व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए घातक है। भगवान महावीर ने एक रास्ता सुझाया कि "पूर्ण हिंसा न छोड़ सको तो कम से कम मनुष्य, पशु आदि को संकल्प पूर्वक मत मारो।" अणुव्रत की भाषा ही यही है। इसकी भावना व्यापक है। उसके अनुसार किसी छोटे से छोटे प्राणी की अनावश्यक हिंसा न की जाए। स्वस्थ समाज रचना और पर्यावरण की दृष्टि से यह बहुत महत्वपूर्ण है।

हिंसा व्यक्ति में होती है। उसका विस्फोट होता है—सामाजिक क्षेत्र में। मानव स्वभाव में हिंसा बीज विद्यमान है। इसीलिए कोई निमित्त मिलता है और हिंसा फूट पड़ती है। उपद्रव और तोड़फोड़ मूलक प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं। हिंसा के विविध रूप हैं। उसका एक भयावह रूप है घृणा। उसे पल्लवन देने वाला रूप है अहंकार। मानव में घृणा और अहंकार के तत्व नहीं होते तो मानव जाति विभक्त नहीं होती। वर्ण और जाति के आधार पर ऊँच-नीच व छुआछूत की भावना नहीं पनपती। यह दुर्भाग्य की बात है कि सूर्य उगा प्रकाश देने के लिए और वह भी अंधकार लगाने लग जाए तो यह चिन्ता की बात है। धर्म का उदय हुआ है हिंसा को मिटाने एवं सम्य समाज की स्थापना करने के लिए लेकिन यही धर्म हिंसा का सबब बन जाए तो समाज की क्या दुर्दशा होगी उसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। धर्म, जीवन का सर्वोपरि तत्व है जो नीचे दब कर रह गया है और साम्प्रदायिक कट्टरता हावी हो गयी। इसी कारण धर्म के नाम पर हिंसा को बढ़ावा मिला। यदि भारतीय समाज को देखा जाए तो उसमें साम्प्रदायिकता का जहर इतना घुल चुका है कि विभिन्न धर्मों के बीच दीवार खड़ी हो गयी है। सौहार्द व भाई-चारे की भावना का दम निकल गया है। चारों ओर साम्प्रदायिकता की आग की लपटें दिखाई दे रही हैं। जिसकी भेंट प्रति वर्ष हजारों बेगुनाह लोग चढ़ते हैं। अनेक माताओं की गोद खाली होती हैं। अनेक बहनों की मांग का सिन्दूर उजड़ता है। बच्चे अनाथ होते हैं। नैतिकता शून्य धर्म ने धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा दिया है। धर्म गौण हो गया, साम्प्रदायिकता मुख्य हो गई। अपेक्षा यह है कि धर्म मुख्य रहे और सम्प्रदाय गौण हों। इस सन्दर्भ में अणुव्रत आन्दोलन ने एक नया दृष्टिकोण दिया। उसने सम्प्रदाय मुक्त, धर्म की अवधारणा दी। अणुव्रत केवल धर्म है, वह सम्प्रदाय नहीं, किसी सम्प्रदाय से जुड़ा हुआ भी नहीं है। यह जैन, बौद्ध, इस्लाम और ईसाई धर्म की तरह नहीं है। इस दृष्टि से इसे मानव धर्म कहा जा सकता है। धर्म और नैतिकता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु नैतिकताविहीन धर्म को मान्यता मिल गई है। इससे अनेक प्रकार की समस्याएं पैदा हो रही हैं।

उपासना, धर्माश्रय का माध्यम है। धार्मिक बनने वालों ने उपासना को प्रधान बना दिया और धर्म को गौण कर दिया। उपासना के केन्द्र संघर्ष के केन्द्र बन गए हैं, जिन्हें लेकर नित नये संघर्ष व हिंसा देखी जा सकती है। समाज के कुछ स्वार्थी तत्व ऐसा अपने उद्देश्य पूर्ति के लिए करते हैं। अणुव्रत ने उपासना को दूसरा व चरित्र को प्रथम स्थान दिया है।

सामाजिक जीवन और शिक्षण जगत् में भी संयम उपेक्षा हो रही है। फलस्वरूप मादक वस्तुओं का सेवन एवं अन्य सामाजिक कुरीतियाँ अपने पांव प्रसार रही हैं। विद्यार्थी

को प्रारम्भ से ही प्रायोगिक रूप में 'संयमः खुल जीवनम्' यह घोष सीखा दिया जाए और सामाजिक जीवन में उसे प्रतिष्ठित कर दिया जाए तो उन्हें नवीन दिशा एवं नवीन आयाम मिल सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में जीवन विज्ञान के प्रयोग को सम्मिलित करने का यही उद्देश्य है। जीवन विज्ञान शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक शिक्षा प्रदान करता है।

हिंसा का एक नया रूप विकसित हो गया है – चुनाव के दंगल में होने वाला अनैतिक आचरण। चुनाव में दलों एवं उम्मीदवारों के द्वारा विजयश्री प्राप्त करने के लिए हिंसा, हत्या, फर्जी मतदान, बूथ कब्जा, चुनाव में धन-बल का बढ़ता दुरुपयोग आदि का सहारा लिया जा रहा है। इसके अलावा राजनीति में आपराधिक तत्वों का बोलबाला प्रवेश हो गया है। राजनेता भ्रष्टाचार व घुसखोरी अपना कर व्यवस्था के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। इस प्रकार लोकतन्त्र की रीढ़ चुनाव होता है और रीढ़ ही बीमार हो जाए तो स्वस्थ लोकतन्त्र की कल्पना किस आधार पर की जा सकती है।

बीसवीं शताब्दी समाजवादी अवधारणा की शताब्दी रही। इस शताब्दी ने समाजवाद की अवधारणा को उदात्त किया है फलस्वरूप सभी दिशाओं से स्वस्थ समाज रचना की कल्पना सामने आ रही है। अणुव्रत का दृष्टिकोण मुख्य रूप से व्यक्ति निर्माण अथवा व्यक्ति के चरित्र निर्माण का है। समाज संरचना का संकल्प उसके साथ उत्तरखण्ड के रूप में है।

किसी भी प्रवृत्ति, कार्यक्रम, संस्था, समाज अथवा राष्ट्र का संचालन करने वाला व्यक्ति होता है। उस व्यक्ति का चरित्र निर्माण न हो तो अच्छी से अच्छी व्यवस्था भी लड़खड़ा जाती है। व्यक्ति के चरित्र निर्माण का प्रयत्न बुनियादी सच्चाई है। अणुव्रत इस सच्चाई को सामने रखकर चल रहा है। उसकी घोषणा है – "सुधरे व्यक्ति, समाज, व्यक्ति से, राष्ट्र स्वयं सुधरेगा।" व्यक्ति के सुधार से समाज का सुधार सम्भव है। समाज सुधरेगा की यात्रा राष्ट्र सुधार की दिशा में आगे बढ़ती है। समाज और राष्ट्र के निर्माण का सपना पूरी तरह से व्यक्ति निर्माण पर टिका हुआ है। व्यक्ति का चरित्र निर्माण अणुव्रत दर्शन का मूल आधार है।

33.6 अणुव्रत के निदेशक तत्व

- 1 दूसरों के अस्तित्व के प्रति संवेदनशीलता।
- 2 मानवीय एकता।
- 3 सह अस्तित्व की भावना।
- 4 साम्प्रदायिक सद्भाव।
- 5 अहिंसात्मक प्रतिरोध।
- 6 व्यक्तिगत संग्रह और भोगोपभोग की सीमा।
- 7 व्यवहार में प्रामाणिकता।
- 8 साधन शुद्धि में आस्था।
- 9 अभय, तटस्थता और सत्य निष्ठा।

अणुव्रत के निदेशक तत्वों का संबंध व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र से है जिन्हें आधार मानकर व्यक्ति अपना चारित्रिक निर्माण तो कर सकता है, अपितु इनसे मानव मात्र के प्रति सेवा व त्याग के भाव, हिंसा से दूरी, वैध साधनों में विश्वास भी बढ़ता है। समाज के लिए ये तत्व निर्देश करते हैं कि सामाजिक समरसता कैसे बनी रहे? सभी वर्गों में पारस्परिक सौहार्द को भावना बढ़ाये, ऐसी प्रवृत्तियों में अंकुश लगाये जो समाज में एकाधिकार को प्रोत्साहन देती हों, जिससे असमानता बढ़ने का खतरा रहता हो। राष्ट्रों के लिए भी अणुव्रत बहुत बड़ी हिदायत देता है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय शांति-व्यवस्था को बढ़ावा दें। अपनी संकुचित धारणा से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानवता के बारे में सोचे ताकि मानवता को युद्धों की विभीषिका से बचाया जा सके। अणुव्रत के निदेशक तत्वों को अनेक राष्ट्रों ने अपनी विदेश नीति में सम्मान पूर्वक स्थान दिया है। जैसे भारत की विदेश नीति में सह अस्तित्व, मानवीय एकता एवं अहिंसा को स्वीकार किया गया है और इसी को आधार मानकर पंचशील का सिद्धान्त जारी किया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे विश्व संस्था भी इन्हीं निदेशक तत्वों की बुनियाद पर टिकी हुई है।

33.7 अणुव्रत के लक्ष्य

अणुव्रत आन्दोलन व्यापक लक्ष्य लिये हुए है। इससे व्यक्ति का चारित्रिक एवं नैतिक विकास होता ही है, साथ में समाज को एक नवीन दिशा मिलती है। अणुव्रत के निम्नलिखित लक्षण हैं –

33.7.1 नैतिक जागरण— डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार अणुव्रत का लक्ष्य नैतिक जागरण और जन साधारण को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना है। यह प्रयास अपने आप में ही इतना महत्वपूर्ण है कि इसका सभी को स्वागत करना चाहिए। आज के युग में जबकि मानव अपनी भौतिक उन्नति से चकावौंध होता दिखाई दे रहा है और जीवन के नैतिक व आध्यात्मिक तत्वों की अवहेलना कर रहा है, वहां ऐसे आन्दोलनों के द्वारा ही मानव अपने सन्तुलन को बनाए रख सकता है और भौतिकवाद के विनाशकारी परिणामों से बचने की आशा कर सकता है।

33.7.2 आत्मबल को बढ़ाना— डॉ. एस. राधाकृष्णन के मतानुसार हम ऐसे युग में रह रहे हैं, जब हमारी जीवात्मा सोयी हुई है, आत्मबल का अकाल है और सुरती का राज्य है। हमारे युवक तेजी से भौतिकवाद की ओर झुकते चले जा रहे हैं। इस समय किसी भी ऐसे आन्दोलन का स्वागत हो सकता है जो आत्म बल की ओर ले जाने वाला

हो। इस समय 'अणुव्रत आन्दोलन' ही एक ऐसा आन्दोलन है, जो इस कार्य को कर रहा है। यह काम ऐसा है कि इसको सब तरफ से बढ़ावा मिलना चाहिए।

33.7.3 चरित्र निर्माण— पं. जवाहर लाल नेहरू का कहना है कि हमें अपने देश का मकान बनाना है तो उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। बुनियाद यदि रेत की होगी तो पानी आते ही रेत बह जाएगी मकान भी ढह जाएगा। गहरी बुनियाद चरित्र की होती है। देश में बड़े-बड़े काम करने हैं। उसके लिए मजबूत दिल-दिमाग और अपने को काबू रखने की शक्ति होनी चाहिए। ये बातें हमें सीखनी हैं। इन सबकी बुनियाद 'चरित्र' है। कितना अच्छा काम अणुव्रत आन्दोलन में हो रहा है। मेरे विचार से इस काम में जितनी तरक्की हो, उतना ही अच्छा है। मैं चाहता हूँ, अणुव्रत आन्दोलन का जो काम हो रहा है, वह पूरी तरह से सफल हो। इस प्रकार यह आन्दोलन चरित्र निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है।

33.7.4 आत्म-संयम की प्रेरणा— व्यक्ति का आत्म संयमी होना उसके व्यक्तित्व के लिए उतना आवश्यक है जितना मछली के लिए जल। आत्म संयम की भावना मानव में मानव मात्र के प्रति त्याग बलिदान, समर्पण, तत्परता, सहयोग, प्रेम, करुणा, दया, विनम्रता आदि सिखाती है। यह व्यक्ति के चरित्र निर्माण की प्रथम सीढ़ी है। यही कारण है कि व्यक्ति की जीवन रूपी माला में आत्म-संयम अनमोल मोती है। सभी धर्मों में इसका वही स्थान है जो अहिंसा का है। लेकिन आज मानव आत्म-संयम से दूर भागता नजर आ रहा है। इसके परिणामस्वरूप समाज में अनेक बुराईयाँ हावी हो गईं। अतः अणुव्रत आन्दोलन समाज को आत्म-संयम की दिशा में आगे बढ़ाने का हर सम्भव प्रयास कर रहा है। 'संयमः खलु जीवनम्' इसका आदर्श वाक्य है।

33.7.5 शांति व एकता— मानव समाज जो शांति व एकता का प्रतीक है। मानव में भी इन विचारों का होना नितान्त आवश्यक है। लेकिन भाग-दौड़ भरी जिन्दगी ने मानव को हिंसक, स्वार्थी रक्त पिपासु बना दिया है। वह हमेशा केवल अपनी परमार्थ इच्छाओं की पूर्ति में लगा रहता है। समाज की इच्छाओं से कोई वास्ता नहीं है। यही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर देखी जा सकती है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी पकड़ कायम करने के लिए हथियारों की होड़ में लगा हुआ है। इसके कारण विश्व शांति पर प्रतिकूल प्रभाव तो पड़ा ही, साथ में विश्व बारूद के ढेर में तब्दील हो गया है। आग की चिनगारी मानव सभ्यता व संस्कृति को नष्ट कर सकती है। अतः अणुव्रत आन्दोलन शांति व एकता का पाठ पढ़ाता है।

33.7.6 अहिंसक समाज की संरचना— अहिंसा पर सभी धर्म बल देते हैं। इससे तात्पर्य किसी प्राणी मात्र को शारीरिक ठेस पहुँचाना ही नहीं है, अपितु उसे मन, वचन, कर्म से ही ठेस पहुँचाना नहीं है। हिंसा की प्रवृत्ति समाज और व्यक्ति दोनों को गहरे गर्त की ओर धकेलती है। जिसकी परिणति समाज के पतन के रूप में होती है। इसलिए अहिंसा को व्यक्ति व समाज के लिए ठेस चढ़ाना माना गया है। आज के इस दौर में अहिंसा पर हिंसा हावी हो गई है। झगड़ों और होने वाले झगड़े, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष भी इसी के नतीजे हैं। विश्व स्तर पर अहिंसा के औचित्य को स्वीकारा जा रहा है। अणुव्रत अहिंसा पर आधारित समाज की संरचना करता है और इसके लिये भी व्यापक व्यूह रचना भी प्रस्तुत करता है। इस समाज में हिंसा के किसी भी रूप का कोई स्थान नहीं है। जबकि इसे प्रतिकार के रूप में देखा जाता है और प्राणी मात्र की सेवा करने को सबसे बड़ा धर्म माना जाता है। अणुव्रत आन्दोलन का यह प्रयास निश्चित रूप से भटके हुए समाज को एक दिशा प्रदान कर सकता है और ऐसे समाज का श्रीगणेश कर सकता है जिसमें सर्वतः अहिंसा की खुशबू आती हो।

33.7.7 धार्मिक सहिष्णुता पर बल— भारत जैसे विविधता वाले देश में जहाँ अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। अतः इनके बीच सहिष्णुता का होना नितान्त आवश्यक है। यदि पारस्परिक असहिष्णुता, संघर्ष, टकराव आदि की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो ऐसा समाज नरक के समान बनकर रह जाता है। भारतीय समाज में धार्मिक सहिष्णुता बहुत आवश्यक है क्योंकि यहाँ साम्प्रदायिकता का जहर इस कदर घुल गया है, जिससे हमारी एकता, अखण्डता एवं सम्प्रभुता पर प्रश्न चिह्न लग रहे हैं। साम्प्रदायिकता की आग में हजारों बेगुनाह लोग भेंट हो चुके हैं और खरबों की सम्पत्ति स्वाहा हो गई है। आज भी नित नये साम्प्रदायिक दंगों का जहर देखा जा सकता है। अणुव्रत आन्दोलन समाज में धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहन देने का प्रयास करता है। जो लोगों में प्रेम, करुणा, दया की भावना बढ़ाता है और लोगों को साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाने की प्रेरणा देता है और प्रतिज्ञा दिलाता है। अणुव्रत के ये प्रयास सराहनीय हैं।

33.7.8 अपरिग्रह को प्रोत्साहन— अणुव्रत आन्दोलन का एक प्रमुख लक्ष्य अपरिग्रह को प्रोत्साहन देना है। अपरिग्रह से तात्पर्य है, अनावश्यक वस्तुओं, सम्पत्ति या धन आदि का संकलन नहीं करना। केवल इतनी मात्रा में रखना, ताकि आवश्यकताओं की पूर्ति करने में आसानी रहे। अपरिग्रह की प्रवृत्ति न होने पर समाज में असमानता, शोषण, दमन व अन्याय जैसी बुराईयों को जन्म मिलता है। वर्तमान समाज में जो आर्थिक असमानता एवं गरीब-अमीर के बीच की बड़ती हुई खाई दिखाई पड़ रही है उसका मूलभूत कारण अपरिग्रह की अवधारणा का न होना है। दुर्भाग्यवश समाज का हर व्यक्ति अपने भविष्य एवं सुख साधनों को आधार मानकर अधिक से अधिक संचय कर रहा है। लेकिन अणुव्रत इस दिशा में सार्थक प्रयास कर रहा है, जिसके आधार पर न्याय व समानता पर आधारित समाज का सपना साकार हो सकता है।

33.7.9 स्वस्थ लोकतांत्रिक मूल्यों का उत्थान— लोकतन्त्र की नींव स्वस्थ एवं नैतिक मूल्यों पर टिकी हुई होती है। यदि लोकतंत्र में स्वस्थ मूल्यों के स्थान पर बुराईयाँ हावी हो जाए तो यह समझ लेना चाहिए कि इसका पतन अवश्यभावी है। फर्जी मतदान, मतदान केन्द्रों पर कब्जा, अनैतिक तरीकों से मतदान प्रक्रिया प्रभावित करना, राजनीति का अपराधीकरण, राजनीति का व्यवसायीकरण, भ्रष्टाचार आदि लोकतंत्र के लिए घातक हैं। लेकिन अणुव्रत इनसे दूर रहने का प्रयास करता है। इसका तो लक्ष्य है लोकतंत्र की सफलता के नवीनतम सौपान प्राप्त करवाना और लोगों को इस प्रकार की बुराईयों से दूर रहने की सलाह देना। भारत जैसे लोकतांत्रिक राज्य में अणुव्रत का अभियान स्थिति में सुधार ला सकता है।

33.7.10 सामाजिक कुरीतियों से मुक्ति— अणुव्रत का लक्ष्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जो विभिन्न प्रकार की कुरीतियों से पूर्णतया मुक्त हो, अर्थात् बाल विवाह, दहेज, सती प्रथा, विधवा विवाह निषेध, बेमेल विवाह, नारी उत्पीड़न आदि का खात्मा हो और एक ऐसे समाज की तस्वीर उभरे, जिसमें स्वस्थ मान्यताओं का अस्तित्व

रहें और समाज अपनी सर्वश्रेष्ठता का ऐसा उत्तम उदाहरण पेश करे जिसे विश्व सम्मानपूर्वक से देखें।

33.7.11 नशा मुक्त जीवन जीने की प्रेरणा— अणुव्रत में नशे का कोई स्थान नहीं है और यह नशे के प्रत्येक रूप का विरोध करता है। इसका प्रमुख लक्ष्य ही नशामुक्त समाज का सपना है। इसकी सोच यह है कि नशे की लत व्यक्ति का चारित्रिक एवं नैतिक पतन तो करती ही है, साथ ही में समाज को गहरे गर्त में धकेल देती है, समाज हर क्षेत्र में पिछड़ जाता है। इसीलिए अणुव्रत शराब, गांजा, चरस, हिरोइन, भांग तम्बाकू आदि के सेवन का स्पष्ट निषेध करता है।

33.7.12 पर्यावरण जागरूकता— वर्तमान में पर्यावरण पर जो खतरे के बादल मंडरा रहे हैं, उसके कारण मानव सभ्यता व संस्कृति खतरे के गहरे भंवर में फंसी जा रही है। अणुव्रत इस बारे में भी समाधान प्रस्तुत करता है। उसका लक्ष्य पर्यावरण के प्रति आम व्यक्ति में जागरूकता लाना है। इसके लिए लोगों को अधिक से अधिक मात्रा में हरे पेड़ लगाने एवं पेड़ नहीं काटने और जहरीली व हानिकारक गैसों का प्रयोग न करने की सलाह दे रहा है तथा लोगों को दूषित पर्यावरण के सम्भावित खतरों के प्रति चेतावनी दे रहा है।

33.7.13 छुआछूत निषेध— भारतीय समाज में पिछली कुछ सदियों से छुआछूत की प्रवृत्ति व्याप्त है। समाज में कथित तौर पर अपने आप को उच्च वर्ग का होने का दावा करने वाले लोग इसको बढ़ा रहे हैं। लेकिन अणुव्रत छुआछूत को एक अमानवीय प्रवृत्ति करार देते हुए इसको समाज की एकता के लिए घातक मानता है और इसके पूर्ण उन्मूलन का प्रयास करता है। अणुव्रत मानवीय एकता में विश्वास करता है।

33.8 आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार अणुव्रत जीवन शैली— वर्तमान जीवन शैली असंतुलित है। वह काम और अर्थ से अधिक प्रभावित है तथा इसमें धर्म और कर्म उपेक्षित हो रहे हैं। उसी का परिणाम है—स्वार्थ का एकछत्र साम्राज्य। सामाजिक चेतना और सहकारिता की वृत्ति को बढ़ाने का स्वर मुखर हो रहा है किन्तु दिये के तले अंधेरा है। व्यक्तिगत स्वार्थ अधिक पनप रहा है। धर्म की चेतना का संतुलित विकास होता तो स्वार्थ इतना निरंकुश नहीं होता। जहाँ अर्थ इतना प्रधान हो गया है कि उसके लिए व्यक्ति करणीय और अकरणीय की भेद रेखा को भुला चुका है। मानवीय सम्बन्धों की मधुरिमा, अम्लता में बदल गई है। करुणा का स्त्रोत सूखता जा रहा है। क्रूरता ने सब दिशाओं में अपने पैर पसार लिये हैं। परिणामस्वरूप पारिवारिक कलह बढ़ी है। समर्थ के द्वारा असमर्थ का शोषण हो रहा है। मालिक और कर्मचारियों के संबंधों में तनाव व्याप्त है। मानव का स्तर इतना नीचे चला गया है कि वह जघन्य से जघन्य अपराध करने में भी संकोच नहीं करता। अर्थ की प्रधानता है, यहां सब कुछ हो सकता है, कुछ भी असंभव नहीं है। स्वार्थ ने अर्थ प्रधान दृष्टिकोण का निर्माण किया है अथवा अर्थ प्रधान दृष्टिकोण ने स्वार्थ का निर्माण किया है, इसकी खोज करनी होगी और अणुव्रत की संतुलित जीवन शैली को अपनाकर ही इसमें परिवर्तन लाया जा सकता है।

33.8.1 जीवन की समग्रता—चार आयाम— मानव जीवन की समग्रता को चार आयामों में देखा जा सकता है—कामना का जीवन, अर्थ का जीवन, धर्म का जीवन तथा मोक्ष का जीवन। इन चारों आयामों में जीने वाला सामाजिक प्राणी समग्रता का जीवन जीता है। वह कोरा धार्मिक नहीं है, सामाजिक भी है। वह कोरा सामाजिक नहीं है, धार्मिक भी है। उसे दोनों क्षेत्रों में काम करना होता है। उसके लिए अपेक्षित है—धार्मिक चेतना के साथ सामाजिक चेतना का विकास और सामाजिक चेतना के साथ धार्मिक चेतना का विकास। यह है जीवन का संतुलित विकास। प्राचीन आचार्यों ने काम, अर्थ, धर्म, और मोक्ष की सीमा का निर्धारण किया है। समग्रता की दृष्टि से वह बहुत सार्थक है। काम की सीमा है—वह अर्थ को बाधित न करे। अर्थ की सीमा है—वह काम को बाधित न करे। अर्थ और काम की सीमा है—वे धर्म को बाधित न करें। धर्म की सीमा है—वह काम और अर्थ को बाधित न करें। सामाजिक प्राणी इन चारों को सापेक्षता से ही स्वस्थ और संतुलित जीवन जी सकता है।

33.8.2 अणुव्रत का सम्यक् दर्शन— प्रश्न है—अणुव्रत का तत्त्व ज्ञान क्या है? इस संदर्भ में पदार्थ और चेतना—इन दो बातों को समझना होगा। यदि दृष्टिकोण में पदार्थ प्रधान है और चेतना गौण है तो उसका परिणाम होगा—मानसिक तनाव, अपराध, हिंसा, अशांति, आतंक आदि। पदार्थ प्रधान और चेतना गौण, यह अणुव्रत तत्त्वज्ञान का मिथ्या दर्शन। आज की सभी समस्याओं का कारण पदार्थ को प्रधान मान लेना है। जमीन के छोटे से भू-भाग के लिए दो भाई लड़ते हैं, रूपयों के लिए मुकदमें लड़ते हैं, ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि उन्होंने पदार्थ को प्रधान मान लिया, चेतना पर आवरण डाल दिया। जहां दृष्टिकोण पदार्थमय होता है, वहां संघर्ष होता है, विवाद कलह तथा नाना प्रकार की समस्याएं पैदा होती हैं।

अणुव्रत का सम्यक् दर्शन है—जहां चेतना प्रधान और पदार्थ गौण होता है, वहां समस्या का समाधान है। चेतना शुद्ध रहे, पवित्र रहे, यह दृष्टिकोण प्रमुख होगा तो मानसिक शांति बढ़ेगी, अपराध कम होंगे, हिंसा कम।

अणुव्रत के साथ जुड़ा हुआ दर्शन है—व्यक्तिगत स्वामित्व न हो, स्वार्थ का विलीनीकरण हो जाए। अणुव्रत ज्ञान का सम्यक् दर्शन है—स्वार्थ और पदार्थ का सामंजस्य। व्यक्तिगत स्वामित्व व्यक्ति की एक मौलिक मनोवृत्ति है। अणुव्रत के संदर्भ में स्वार्थ को परमार्थ की भूमिका तक ले जाए और उसे विस्तार देकर पदार्थ के साथ जोड़ दे। चेतना को इतना व्यापक बना लो कि वह एक है, यदि यह दृष्टिकोण बन गया तो बुराई के लिए अवसर नहीं रहेगा। जैन दर्शन में आत्म तुला की बात कही गई। सबको अपने समान समझो ये स्वार्थ से परमार्थ की ओर ले जाने वाले तत्त्व हैं, पर इन दर्शनों के प्रति प्रीति पैदा नहीं है। क्या यह प्रश्न कभी मन में भी उभरता है? यदि इनके प्रति श्रद्धा गहरी हो जाए तो क्या किसी के प्रति अप्रिय व्यवहार हो सकता है? इस नई दृष्टि का निर्माण होगा, तो सृष्टि का निर्माण अपने आप हो जाएगा। व्यक्तित्व के निर्माण का यही रहस्य सूत्र है। ज्ञान का सार है आचार—जिस काम को हम करना चाहते हैं, उसका पूरा ज्ञान नहीं है तो कोई लाभ नहीं होगा। जब तक कार्य के प्रति श्रद्धा नहीं होगी, कार्य आगे नहीं बढ़ेगा। श्रद्धा और प्रीति को पैदा किए बिना आचरण की संभावना नहीं की जा सकती। पहले आचरण की बात मत करो, उसका ज्ञान करो। यह किसी अपेक्षा से कहा गया था—आचारः प्रथमा धर्मः—आचार प्रथम धर्म है किन्तु एक अपेक्षा यह है—पठम। नागं तओ दया। पहले ज्ञान और फिर आचार। ज्ञान का सार है आचार। जो आचार फलित होता है, उसके

लिए दृष्टिकोण का निर्माण करना चाहिए। दृष्टि का निर्माण नहीं होगा तो व्रत स्वीकार नहीं होगा। यदि होगा भी तो बहुत ढीला-ढाला होगा। यदि दृष्टिकोण स्पष्ट होगा तो उसके प्रति प्रीति और श्रद्धा उत्पन्न होगी, वह जीवन की आरथा बन जाएगी। वह व्रत टूटेगा नहीं, जीवन का अंग बन जाएगा।

33.8.3 समानता— यदि समाज है तो अहंकार है। समाज नहीं है तो अहंकार नहीं है। लोभ के बढ़ने का कारण भी समाज है। एक स्पर्धा होती है, व्यक्ति सोचता है—उसने इतना धन कमा लिया, मैंने कम कमाया है। मैं इससे भी ज्यादा कमाऊंगा। अहम् के विस्तार में भी समाज निमित्त बनता है। जुगुप्सा, घृणा आदि की अभिव्यक्ति भी समाज सापेक्ष है। समाज न हो तो शायद घृणा का प्रसंग ही न आए। घृणा और अहम्—इन दो तत्वों ने समाज में विषमताएं पैदा की हैं। कहीं जाति को लेकर असमानता है। एक समय था ऋषभ का। उस समय मानव जाति एक थी। न जाति भेद था, न ऊँच-नीच और छुआछूत का प्रश्न था। वर्तमान में जातिगत भेद और घृणा जीवन शैली का अंग बने हुए हैं। अणुव्रत इस सच्चाई को प्रतिष्ठापित करना चाहता है। समाज में समानता आए, जातिगत भेदभाव न रहे।

जब तक आदमी में अहम् और घृणा का भाव है, तब तक असमानता की समस्या का समाधान नहीं हो सकता। अणुव्रत जीवन शैली में हमें यह समझना होगा कि—हम एक दूसरे का सहारा लिए बिना आगे नहीं बढ़ सकते, विकास नहीं कर सकते। प्रत्येक मनुष्य समान है, विकास में सबका योग है यह सूत्र पकड़ पाए तो सभ्यता की और गति होगी। इसके लिए आवश्यकता है अणुव्रत आंदोलन की जो जनता में समानता की चेतना जगा सके, अहम् और घृणा का चेतना को परिष्कार कर सके, घृणा के स्थान पर प्रेम का तत्व विकसित हो हमारे जीवन में।

33.8.4 सापेक्ष व्यवहार और चिन्तन— सामाजिक संबंध की भूमिका में एक महत्वपूर्ण तत्व है सापेक्ष चिन्तन और सापेक्ष व्यवहार। सापेक्ष चिन्तन है—मैंने रोटी खाई है और मेरा पड़ोसी भूखा है तो इसका परिणाम मेरे लिए अच्छा नहीं होगा। सापेक्ष व्यवहार का स्वरूप है—इनके बिना मैं नहीं रह सकता। प्रति यदि पत्नी के साथ निरपेक्ष व्यवहार करता है तो पारिवारिक जीवन अस्वस्थ बन जाता है। पड़ोसी—पड़ोसी से निरपेक्ष व्यवहार करता है तो कदुता बढ़ती है, शत्रुता पनपती है। अणुव्रत सापेक्ष व्यवहार तथा चिन्तन का पक्षधर है।

33.8.5 श्रम— प्रमुख तत्व—मानव ने जिन सच्चाइयों का पता लगाया है, जितने रहस्यों का अनावरण हुआ है, वह मानवीय श्रम और पुरुषार्थ के द्वारा ही हुआ है। आराम और निराशा से किसी भी सच्चाई को अनावृत नहीं किया जा सकता। आवश्यकता है श्रमनिष्ठा और श्रम का अनुशीलन। किन्तु हमारे शरीर की न जाने कैसी रचना है कि मनुष्य श्रम कम करना चाहता है, आराम ज्यादा चाहता है। श्रम निष्ठा का सिद्धान्त अणुव्रत जीवन शैली का मुख्य अंग होना चाहिए। जिसने पुरुषार्थवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, जो नियतिवाद को एकान्ततः स्वीकार नहीं करता, उसकी जीवन शैली स्वावलंबन और श्रम प्रधान होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के दिमाग में श्रम और स्वावलंबन की छवि अंकित होनी चाहिए। जिसे अपने कर्तव्य और पुरुषार्थ पर विश्वास है, वह श्रम और स्वावलंबन की उपेक्षा नहीं कर सकता। जो दिमाग श्रम निष्ठा का नहीं होता है, वह परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए बहुत कल्याणकारी नहीं होता। लोकतन्त्र का आधार है—व्यक्ति। उसके मन में यदि श्रम के प्रति निष्ठा नहीं है, स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण कैसे संभव होगा? प्रत्येक व्यक्ति का जीवन शैली का प्रमुख तत्व है स्वावलंबन। स्वावलंबन का तात्पर्य है दूसरे के श्रम का शोषण न करना।

33.8.6 जहां शोषण : वहां समस्या— जीवन शैली का एक सूत्र है—शोषण मत करो—शोषण मुक्त होना धर्म का बड़ा आचार है। जिसका जितना श्रम है, उसे अस्वीकार न करे, उसका शोषण न करे। यदि दूसरे से काम लें तो उसका शोषण न करें। यह मानव की वृत्ति रही है कि वह काम ज्यादा कराना चाहता है, वेतन कम देना चाहता है। इसकी प्रतिक्रिया में यह वृत्ति बन गई—काम करने वाला काम कम करना चाहता है, पारिश्रमिक अधिक लेना चाहता है। जितना काम उतना दाम—यह व्यवस्था होती तो समस्या कभी उलझती नहीं, जहां शोषण होता है वहां समस्या उमरे बिना नहीं रह सकती।

आज शोषण मुक्त समाज की बात बहुत प्रिय लग रही है। जहाँ दूसरे का शोषण नहीं होता, दूसरे के लिए कुछ करने की बात होती है, वह समाज अपने आप में अनूठा समाज होता है, विकास के शिखर को छूने वाला समाज होता है।

धार्मिक दृष्टि यह है—दूसरे के श्रम का शोषण करना हिंसा है, अहिंसा का अतिसार है। दूसरे की वृत्ति का छेद न करना, अहिंसा व्रत का एक नियम है। जिसने अहिंसा का व्रत स्वीकार किया है, यदि वह यह अणुव्रत संकल्प स्वीकार करता है—मैं किसी प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा। यदि व्यक्ति दूसरे का शोषण करता है तो इस व्रत को बाधा पहुंचाता है। शोषण एक प्रकार से दूसरे के प्रति घात हो जाती है। एक व्यक्ति पूरा श्रम करता है और उसे पांच सौ रुपये प्रतिमाह मिलते हैं। क्या यह संकल्पपूर्वक घात नहीं है? पूरा काम लेना और आजीविका का शोषण करना, अहिंसा व्रत का दोष है।

33.8.7 करुणा का विकास— करुणा समाज व्यवस्था का प्रमुख तत्व है। जिस व्यक्ति में करुणा की चेतना जाग जाती है, उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। करुणा विकसित नहीं, इसीलिए एक व्यक्ति दूसरे का सहयोग नहीं कर सकता। श्रीमद् राजचन्द्र ने देखा—मैंने जिससे सौदा किया है, वह घाटे में जा रहा है। उन्होंने यह कह कर रुक्का फाड़ डाला—राजचन्द्र दूध पी सकता है, किसी का खून नहीं पी सकता। यह है करुणा। अणुव्रत जीवन शैली में करुणा का अति महत्वपूर्ण स्थान है।

33.8.8 अनर्थ हिंसा—अणुव्रत जीवन शैली के संदर्भ में युग पुरुष महावीर का यह दृष्टिकोण बहुत महत्वपूर्ण है—अनर्थ हिंसा से बचें। यह माना कि हिंसा जीवन की अनिवार्यता है, किंतु हम विवेक से काम लें तो अनर्थ हिंसा से बचा जा सकता है। अनर्थ हिंसा के साथ पर्यावरण प्रदूषण की बात भी आ जाती है। यह पर्यावरण की समस्या अनर्थ हिंसा से उपजी समस्या है। अणुव्रत जीवन शैली का एक महत्वपूर्ण अंग होना चाहिए। क्रूरतापूर्ण ढंग से तैयार की गई प्रसाधन सामग्री का प्रयोग न हो। यह भी अनर्थ हिंसा को

प्रोत्साहित देती है।

33.8.9 वासना का दास न बनें— अणुव्रत का सूत्र है— बुद्धि के द्वारा वासना पर नियंत्रण करना सीखें। व्यक्ति वासना का दास न बने, वासना के पीछे बुद्धि को न चलाए। किन्तु बुद्धि के द्वारा वासना पर नियंत्रण करें। सबसे कठिन है अपनी आत्मा को जीतना, अपनी वासना को जीतना। अपनी वासना पर नियंत्रण करो, सुख मिलेगा और वह परलोक में नहीं, इसी जीवन में मिलेगा। अणुव्रत जीवन शैली में व्यक्ति वासना का दास न बने, यह प्रमुख शर्त है।

33.8.10 संयम ही जीवन है— अणुव्रत का प्रमुख घोष है— संयम ही जीवन है। संयम के बिना आत्मानुशासन नहीं आता और आत्मानुशासन के बिना जीवन सफल नहीं हो सकता अतः संयम के बिना जीवन सफल नहीं कहा जा सकता। अणुव्रत आत्मानुशासन की आचार संहिता है। उससे प्रस्फुटित होता है, जीवन दर्शन। अनावश्यक हिंसा का वर्जन, मानवीय एकता, जातिवाद का अस्वीकार। साम्प्रदायिक—वैचारिक सहिष्णुता का दृष्टिकोण बनता है, तो लोकतन्त्र की पृष्ठभूमि सुस्थिर और सुदृढ़ बन जाती है। अणुव्रत के प्रशिक्षण का अर्थ है लोकतन्त्र का प्रशिक्षण। स्वस्थ पक्ष और स्वस्थ प्रतिपक्ष हो, तभी स्वस्थ लोकतन्त्र की परिकल्पना की जा सकती है। इस स्वास्थ्य का रहस्य है समन्वय। अपने विचार और अपनी नीति का आग्रह सबमें होता है, किन्तु वह इस सीमा तक न हो कि मानव दूसरे के विचार में सत्य न देख सके, दूसरे की नीति के यथार्थ को न समझ सके। समन्वय अणुव्रत की जीवन शैली का एक महत्वपूर्ण अंग है।

एक सामाजिक प्राणी के लिए हम अहिंसा की बात पूर्णतया नहीं सोच सकते। यह केवल हिंसा के सहारे चले, यह वांछनीय नहीं है। मध्यम मार्ग है—हिंसा से अहिंसा की ओर प्रस्थान, अनावश्यक हिंसा का परित्याग। अणुव्रत की जीवन शैली एक मध्यम मार्ग है। उसमें हिंसा और अहिंसा दोनों की अति नहीं है।

सामाजिक प्राणी के लिए अपरिग्रह की बात नहीं सोच सकते। वह केवल संग्रह और परिग्रह में आशक्त रहे, यह वांछनीय नहीं है। वह व्यक्तिगत स्वामित्व या व्यक्तिगत संग्रह की सीमा करें। व्यक्तिगत भोग की सीमा करें। अणुव्रत की जीवन शैली में इस सीमाकरण का बहुत मूल्य है। इससे पदार्थ के प्रति होने वाली सघन मूर्च्छा का जाल टूटता है।

33.8.11 अनेकान्तः मूल आधार— अणुव्रत दर्शन में समाज व्यवस्था का मूल आधार है—अनेकान्तवाद। अनेकान्त अर्थात् एकान्तिक दृष्टिकोण का त्याग। हम इस सच्चाई को समझें। व्यक्तियों से समाज बना या जंगल से समाज बना। अरण्य से नगर बना है। अरण्य में समाज नहीं था। अरण्यवास छूटा और समाज बना, तब कहा गया—जंगल में सभी स्वतन्त्र थे। समाज बन रहा है पर हमारी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहनी चाहिए। यह थी समाज व्यवस्था की पहली शर्त। अनेकान्त का पहला सूत्र बन गया—स्वतन्त्रता और नियंत्रण। समाज व्यवस्था के मौलिक अधिकार हैं—स्वतन्त्रता और नियंत्रण, समानता, सहयोग और असहयोग, सहानुभूति, सहिष्णुता। अणुव्रत जीवन शैली के संदर्भ में इनकी मीमांसा आवश्यक है। यदि इन तत्वों के प्रति हमारी धारणा या आस्था नहीं बनती है तो समाज व्यवस्था का मूल आधार ही लड़खड़ा जाता है। आज समाज की जो नैतिकता है, वह समाज व्यवस्था के मूल आधारों पर ही कुताराघात कर रही है। अनेकान्त दर्शन पर आधारित अणुव्रत जीवन शैली अभिनिवेश और आग्रह से मुक्त होने का प्रयोग है।

33.9 अणुव्रत एवं वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था— भारत की वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था दिशाहीन, मूल्यहीन एवं नैतिकताहीन बनती जा रही है। हम लोकतन्त्र, मुक्त समाज, अधिकार सम्पन्न तथा आदर्श व्यवस्था की बात करते हैं लेकिन ये सब कुछ केवल दिखावा बनकर रह गई हैं। आज संसद, विधानमण्डलों एवं अन्य जन प्रतिनिधित्व की संस्थाओं में ऐसे लोगों का प्रवेश हो गया है जो ऐसी स्थिति को बढ़ावा दे रहे हैं। उनका उद्देश्य जनकल्याण करना नहीं है अपितु कुर्सी के साथ चिपके रहना है और इसके लिए वे किसी भी हद को पार कर सकते हैं। चाहें उन्हें विचारधारा, नैतिकता और मूल्यों के साथ समझौता भी क्यों ना करना पड़े। राजनीतिक व्यवस्था का जो पतन हो रहा है उससे अणुव्रत आन्दोलन बहुत चिन्तित है। यह एक ऐसी व्यवस्था का सपना संजोये हुए है। जो राजनीति को नई दिशा प्रदान करने का अभियान है। राजनीति का अपराधीकरण, राजनीति का व्यवसायीकरण, भ्रष्टाचार, चुनावों में धन-बल का बढ़ता दुरुपयोग, नैतिकता शून्य, भाई-भतीजावाद, जातिवाद एवं साम्प्रदायिकता का बढ़ता जहर, को मूल से पखाड़ फेंकने का अभियान अणुव्रत ने चलाया है। जो राजनेताओं को सही रास्ते पर चलने की प्रेरणा तो देता है साथ में आम नागरिकों को अपने दायित्व पर चलने की प्रेरणा देता है। अणुव्रत राजनीति के संबंध में लोगों से ऐसी अपेक्षा करता है कि वे संकुचित दृष्टिकोण को त्याग कर व्यापक एवं मानवतावादी सोच रखें। मताधिकार का प्रयोग उम्मीदवाद की योग्यता के आधार पर करें। ऐसे तत्वों को कुचले जो लोकतन्त्र की दिन-दहाड़े हत्या के प्रयास जैसे—फर्जी मतदान, मतदान केन्द्रों पर कब्जा, चुनावी धांधलियां, राजनीतिक हिंसा आदि करते हैं। इस तरह अणुव्रत राजनीतिक व्यवस्था के लिए आदर्श पेश करता है। जिसे अपनाकर हम हमारी व्यवस्था को सुदृढ़ आधार प्रदान कर सकते हैं। जिसकी आज सख्त जरूरत है। चुनाव के संदर्भ में अणुव्रत आन्दोलन के अन्तर्गत प्रत्याशी एवं मतदाताओं के लिए वर्गीय अणुव्रत का विधान है। राजनीतिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए अणुव्रत संसदीय मंच की व्यवस्था है।

33.10 सारांश

इस प्रकार अणुव्रत आन्दोलन अणुव्रत समाज के निर्माण में पूर्णनिष्ठा से लगा हुआ है। जटिल परिस्थितियों में भी अणुव्रत आन्दोलन अपने अस्तित्व की जीवन्तता के साथ स्वस्थ एवं नैतिक समाज के स्वप्न को साकार करने की दृष्टि से तत्पर है। आचार्य श्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित यह आन्दोलन वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ के नेतृत्व में अणुव्रत विचार मंच, अहिंसा, समन्वय एवं अहिंसा यात्रा के कार्यक्रमों द्वारा गतिशील है और स्वस्थ समाज संरचना के लक्ष्य की दिशा में अग्रसर है। सारांश में, अणुव्रत आन्दोलन विश्व

की एक महान् नैतिक तथा सुधारात्मक आन्दोलन है, जो विगत पांच दशकों से देश-विदेश में रचनात्मक कार्य कर रहा है।

33.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

- 1 अणुव्रत के प्रमुख लक्ष्यों पर प्रकाश डालिए।
- 2 अणुव्रत समाज की रूपरेखा का विस्तृत चित्रण प्रस्तुत कीजिए।
- 3 "अणुव्रत जीवन शैली है।" इस संबंध में आचार्य महाप्रज्ञ जी के विचारों का उल्लेख कीजिए।
- 4 अणुव्रत के दर्शन को स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

- 1 अणुव्रत के निदेशक तत्व क्या हैं ?
- 2 चरित्र निर्माण में अणुव्रत का योगदान क्या है ?
- 3 वर्तमान राजनीति को सुधारने में अणुव्रत के प्रयास कितने सार्थक हैं ?
- 4 "अणुव्रत का संबंध जीवन के हर पहलू से है।" स्पष्ट कीजिए।

33.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य श्री तुलसी, "अणुव्रत गति-प्रगति" आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु
2. आचार्य श्री तुलसी, "अणुव्रत के आलोक में" आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु
3. आचार्य श्री तुलसी, "अणुव्रत स्वस्थ समाज रचना की आचार संहिता" अणुव्रत महासमिति, नई दिल्ली
4. आचार्य श्री तुलसी, "अणुव्रत के सन्दर्भ में" आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु
5. आचार्य श्री तुलसी, "अनैतिकता की धूप: अणुव्रत की छतरी" आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु
6. आचार्य महाप्रज्ञ, "अणुव्रत की दार्शनिक पृष्ठ भूमि, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु

इकाई-34 : राजनीतिक विकास

संरचना

- 34.1 उद्देश्य
- 34.2 प्रस्तावना
- 34.3 राजनीतिक विकास की परिभाषाएँ
- 34.4 राजनीतिक विकास के बारे में आमण्ड तथा पावेल के विचार
 - 34.4.1 राज्य के द्वारा निर्माण कार्य
 - 34.4.2 राष्ट्र-निर्माण कार्य
 - 34.4.3 राजनीतिक भागीदारी
 - 34.4.4 निर्माण तथा कल्याण
- 34.5 लूसियन पार्स के अनुसार राजनीतिक विकास की शर्तें
 - 34.5.1 आर्थिक विकास
 - 34.5.2 औद्योगिक समाजों के लिए विशिष्ट राजनीति के रूपों में राजनीतिक विकास
 - 34.5.3 लोकतन्त्र के निर्माण में राजनीतिक विकास
 - 34.5.4 गतिशीलता और शक्ति के रूप में राजनीतिक विकास
 - 34.5.5 स्थायित्व और शांतिपूर्वक परिवर्तन के रूप में राजनीतिक विकास
 - 34.5.6 राजनीतिक आधुनिकीकरण के रूप में राजनीतिक विकास
 - 34.5.7 राष्ट्रीय राज्य के व्यवहार के रूप में राजनीतिक विकास
 - 34.5.8 प्रशासकीय तथा वैधानिक रूप में विकास
- 34.6 राजनीतिक विकास के लक्षण अथवा विशेषताएँ
 - 34.6.1 समानता
 - 34.6.2 क्षमता
 - 34.6.3 विभिन्नीकरण
- 34.7 सारांश
- 34.8 अभ्यास प्रश्नावली
- 34.9 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

34.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको राजनीतिक विकास की अवधारणा से अवगत करवाना है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- राजनीतिक विकास क्या है?
- राजनीतिक विकास के संबंध में आमण्ड तथा पावेल के विचार,,
- लूसियन पार्स के अनुसार राजनीतिक विकास की शर्तें,
- राजनीतिक विकास की मुख्य विशेषताएँ।

34.2 प्रस्तावना

राजनीतिक विकास वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से किसी विकासशील देश का समाज विकसित समाज की विशेषताएँ अर्जित कर लेता है। इस तरह पश्चिमी जगत् की लोकतांत्रिक प्रणालियों को विकसित रूप माना जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकास की अवधारणा को नये स्वतंत्र देशों के मार्गदर्शन के लिए सामाजिक विज्ञानों के अन्तर्गत लाया गया। इन स्वतंत्र देशों को तीसरी दुनिया के देश कहा गया, जहां तक विकास की अवधारणा का प्रश्न है तो यह एकदम नयी अवधारणा नहीं है।

34.3 परिभाषाएँ

“राजनीतिक विकास का उद्देश्य राष्ट्रीय राजनीतिक एकता तथा राजनीतिक भागीदारी का आधार विस्तृत करना है।” रोस्टोव तथा पाई

विभिन्न आधुनिक लेखकों ने राजनीतिक विकास के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए हैं और अपनी-अपनी कल्पनाओं के अनुसार परिभाषाएँ भी दी हैं, जो निम्नलिखित हैं –

1. एस.एन.इजेनस्टेड का दृष्टिकोण – इसके अनुसार राजनीतिक विकास के अन्तर्गत राजनीतिक व्यवस्था के विविध तथा परिवर्तनशील राजनीतिक मार्गों तथा संगठनों को आत्मसात करने की योग्यता सम्मिलित है। इसके अन्तर्गत नवीन तथा परिवर्तनशील प्रकार की समस्याओं को सुलझाने की प्रवीणता भी शामिल है जिनको व्यवस्था जन्म देती है अथवा जो इसे बाहरी स्रोतों से आत्मसात करनी पड़ती है।”
2. एलफ्रेड डायमैंट के शब्दों में, “राजनीतिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया नहीं है जिसका लक्ष्य विशिष्ट राजनीतिक दशा, हो वरन् ऐसी विशेष प्रक्रिया है जो कि सदैव उठने वाली सामाजिक समस्याओं की शृंखला को सुलझाने के लिए संस्थात्मक ढांचे का निर्माण करती है।”
3. विलियम एन. चेम्बर्स के अनुसार, “राजनीतिक विकास को एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की ओर चलना समझा जा सकता है जिसमें उत्तम समस्याओं के संचालन का सामर्थ्य हो, जिनका उसे सामना करना पड़ता है और जिसमें संरचनाओं का विभेदन कार्यों की विशिष्टता और जो काफी केन्द्रित तथा स्वयं को बनाए रखने की योग्यता रखता हो।”
4. डब्ल्यू.जे.एम. मेकेंजी के अनुसार, राजनीतिक विकास की परिभाषा, “समाज के उच्चस्तरीय अनुकूलन के प्रति अनुकूलन की क्षमता है।”
5. रोस्टोव तथा पाई के अनुसार, “राजनीतिक विकास का उद्देश्य राष्ट्रीय, राजनीतिक एकता तथा राजनीतिक भागीदारी का आधार विस्तृत करना है।”
6. इस विषय में सबसे प्रसिद्ध लेखक जी.एम.आमण्ड हैं। वे राजनीतिक विकास की विशिष्ट भूमिका, बनावट तथा अन्तरित स्थिति ज्ञान में नई क्षमता की प्राप्ति मानते हैं, जो कि राजनीतिक व्यवस्था को नई समस्याओं का क्षेत्र प्रदान करता है।

34.4 राजनीतिक विकास के बारे में आमण्ड तथा पावेल के विचार

भिन्न-भिन्न लेखकों के राजनीतिक संस्थाओं के बारे अलग-अलग विचार हैं परन्तु राजनीतिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं का विकास सबके लिए केन्द्र-बिन्दु है। आमण्ड और पावेल के अनुसार, इसमें चार समस्याएँ निहित हैं : 1. राज्य के द्वारा निर्माण कार्य; 2. राष्ट्र का निर्माण; 3. राजनीतिक भागीदारी (साझेदारी); 4. कल्याण तथा वितरण;

अब हम इन विचारों को भली-भाँति विवेचन करते हैं –

34.4.1 राज्य के द्वारा निर्माण कार्य— आमण्ड के अनुसार, इसका यह अर्थ है कि राज्य नए ढाँचे खड़े करें तथा वर्तमान ढाँचों में वांछित परिवर्तन करें। इसका यह अर्थ है कि राज्य के पास सरकार का आधुनिक तन्त्र तथा एजेन्सियाँ होनी चाहिए। अविकसित देशों में राज्य अपना काम आधुनिक विकास-तन्त्रों के बिना ही चलाता है। राज्य के पास जो भी साधारण तन्त्र (मशीनरी) होता है, उसी से ही वह सारी सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के बारे में अपना काम चलाता है। उन राज्यों में संगठित तथा जनकल्याण के लिए प्रशिक्षित नौकरशाही, इकहरी न्याय-प्रणाली तथा कानून का शासन इत्यादि नहीं होते हैं। इसलिए अविकसित राज्यों को इन संस्थाओं का निर्माण-कार्य करना परमावश्यक है ताकि, जनकल्याण अधिक से अधिक हो सके।

34.4.2 राष्ट्र-निर्माण का कार्य— राष्ट्र-निर्माण राजनीतिक विकास के सांस्कृतिक पहलू (पक्ष) पर बल देता है। इसमें वह प्रक्रिया शामिल है जबकि लोग छोटे-छोटे कबीलों, ग्रामों, प्रदेशों, जातियों, सम्प्रदाय और राज्यों से अपनी वफादारी (भक्ति) को बड़ी राजनीतिक व्यवस्था की तरफ हस्तान्तरित कर देते हैं अर्थात् लोग इन छोटी इकाइयों की बजाए राष्ट्र की तरफ अपनी भक्ति प्रकट करने लगते हैं। भारत में भी काफी लोगों की भक्ति अभी तक अपने सम्प्रदायों, जातियों और प्रदेशों तक सीमित है, अतः राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया का कार्य अभी तक पूर्ण नहीं हुआ है। पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान में 1971 तक राष्ट्र-निर्माण कार्य नहीं हो सका, फलतः पूर्वी पाकिस्तान, पश्चिमी पाकिस्तान से अलग हो गया तथा बंगलादेश का उदय हुआ।

34.4.3 राजनीतिक भागीदारी— इसका यह अर्थ है कि जब समाज का राजनीतिक विकास अधिक हो जाता है, तो लोग राजनीतिक दलों, दबाव-समूहों, और अनेक गुटों के द्वारा संस्कार से यह माँग करते हैं कि राष्ट्र के कल्याण के लिए महत्वपूर्ण निर्णयों में उन्हें भागीदार बनाया जाये।

34.4.4 निर्माण तथा कल्याण— इसका यह अर्थ है कि राजनीतिक विकास की चौथी अवस्था में लोग सरकार से राष्ट्रीय आय के समान बँटवारे के लिए माँग करते हैं, ताकि धन थोड़े से पूँजीपतियों और उद्योगपतियों के हाथों में केन्द्रित न हो तथा अधिक जनकल्याण की ओर समाज का कदम बढ़े।

34.5 लूसियन पाई के अनुसार राजनीतिक विकास की शर्तें

लूसियन पाई को राजनीतिक विकास का अधिकृत विद्वान माना जाता है। उन्होंने राजनीतिक विकास को निम्नलिखित रूप से विश्लेषण किया है।

34.5.1 आर्थिक विकास— लूसियन पाई के अनुसार, राजनीतिक विकास आर्थिक विकास की पूर्व शर्त है। इसका यह अर्थ है कि यदि किसी देश का राजनीतिक विकास हो चुका है, तो उसके आर्थिक विकास में सुविधा रहेगी। परन्तु राजनीतिक विकास को आर्थिक घटनाओं के साथ जोड़ना ठीक नहीं है और न ही यह सैद्धान्तिक

विचार-विमर्श का कोई सामान्य आधार प्रस्तुत करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक देश का राजनीतिक विकास भिन्न-भिन्न होगा और उसकी आर्थिक समस्याएँ भी अलग-अलग होंगी। प्रायः यह देखा गया है कि राजनीतिक विकास की तुलना में आर्थिक विकास बहुत धीमा है।

34.5.2 औद्योगिक समाजों के लिए विशिष्ट राजनीति के रूप में राजनीतिक विकास- इसकी दूसरी व्याख्या यह है कि राजनीतिक विकास औद्योगिक समाजों के लिए विशिष्ट राजनीति है। यह विचार प्रायः प्रस्तुत किया जाता है कि औद्योगिक जीवन ऐसे राजनीतिक जीवन को प्रकट करता है, जिसे कोई भी समाज प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है, चाहे वह उद्योगीकृत हो या नहीं। इस मत के अनुसार औद्योगिक समाज विशेष मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं जो कि राजनीतिक विकास में सहायक होते हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रोस्टोव ने आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं और राजनीतिक संगठन के विभिन्न प्रकारों में तालमेल बैठाते हुए इस मत का अनुमोदन किया है।

34.5.3 लोकतन्त्र के निर्माण में राजनीतिक विकास- इसका यह अर्थ है कि राजनीतिक विकास के लिए लोकतन्त्रीय संस्थाओं की स्थापना की जाय और बाद में उनको सुदृढ़ किया जाय। यह स्मरण रहे कि लोकतन्त्र में राजनीतिक विकास के लिए जनता का जितना सहयोग प्राप्त हो सकता है, उतना किसी और पद्धति में नहीं। यह अलग बात है कि लोकतन्त्र का विरोध करने वाले तथा तानाशाही का समर्थन करने वाले कुछ लोग इस बात का विरोध करते हैं परन्तु यह तथ्य स्वयंसिद्ध है कि संसार ने आज तक जितनी शासन पद्धतियाँ देखी हैं, उसमें लोकतन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें ही जन-सहयोग अधिक से अधिक प्राप्त हो सकता है तथा इसमें ही अधिक से अधिक राजनीतिक विकास सम्भव है।

34.5.4 गतिशीलता और शक्ति के रूप में राजनीतिक विकास- इस विचार के अनुसार हम राजनीतिक व्यवस्थाओं का मूल्यांकन इस आधार पर कर सकते हैं कि वे अपनी पूर्ण शक्ति का प्रयोग किस स्तर अथवा मात्रा में करती हैं। शक्ति की वृद्धि अवश्य ही राजनीतिक विकास की सूचक है। जेम्स एस. कोलमेन के अनुसार, "यह दृष्टिकोण हमें इस अवधारणा की तरफ ले जाता है कि राजनीतिक विकास का मूल्यांकन निरपेक्ष शक्तियों के उस स्तर के रूप में कम या अधिक करना चाहिए जिसमें यह प्रणाली अपनी तरफ इकट्ठा कर सकती है।"

34.5.5 स्थायित्व और शान्तिपूर्वक परिवर्तन के रूप में राजनीतिक विकास- इस कल्पना के अनुसार राजनीतिक विकास किसी भी देश के स्थायित्व और शान्तिपूर्वक परिवर्तन पर निर्भर करती है। राजनीतिक अस्थिरता में किसी भी देश का आर्थिक विकास सम्भव नहीं है।

34.5.6 राजनीतिक आधुनिकीकरण के रूप में राजनीतिक विकास- यह विचारधारा राजनीतिक विकास को राजनीतिक आधुनिकीकरण की ओर ले जाती है। सी.एच. जोड ने इस आधार पर राजनीतिक विकास की परिभाषा देते हुए कहा है: "यह राजनीतिक संस्कृति की बढ़ी हुई धर्मनिरपेक्षता तथा राजनीतिक ढाँचे का विशिष्टीकरण है।" इस विचार के अनुसार "विकसित औद्योगिक राष्ट्र, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में नमूने के निर्माता होते हैं। जहाँ प्रजातन्त्र होता है, वहाँ जनता राजनीति में सक्रिय भाग लेती है। वहाँ प्रतिनिधि ऐसे नियमों का निर्माण करते हैं, जो समान रूप में सभी पर लागू हों।"

34.5.7 राष्ट्रीय राज्य के व्यवहार के रूप में राजनीतिक विकास- इस व्याख्या के अनुसार राष्ट्रीय राज्य की क्रियाशीलता ही राजनीतिक विकास है। राष्ट्रीयता की भावना ही राजनीतिक विकास का चिन्ह है। इसलिए राजनीतिक विकास को राष्ट्रवाद की राजनीति कहा जाता है। एडवर्ड शिल्स राजनीतिक विकास को इस रूप में व्याख्या करता है। इस दृष्टिकोण को मान लेने से राजनीतिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया बन जाता है, जिसके द्वारा वह समाज वास्तविक रूप से राष्ट्र समाज बन जाते हैं परन्तु इस दृष्टिकोण में भी यह कमी है कि राष्ट्रवाद राजनीतिक विकास के लिए आवश्यक है, परन्तु पर्याप्त नहीं है।

34.5.8 प्रशासकीय तथा वैधानिक रूप में विकास- इस व्याख्या के अनुसार राजनीतिक विकास प्रशासनिक तथा कानूनी विकास है। इस बात से कोई नहीं इंकार कर सकता कि नौकरशाही पर सरकार की सारी विकास-योजनाएँ निर्भर करती हैं। किसी भी राज्य को विकसित नहीं माना जा सकता है, जब तक वह सार्वजनिक मामलों का प्रभावशाली ढंग से प्रबन्धन करे।

34.6 राजनीतिक विकास के लक्षण अथवा विशेषताएँ

लूसियन पाई के अनुसार राजनीतिक विकास की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:-

34.6.1 समानता- इसका प्रयोग यहाँ राजनीतिक क्षेत्र में किया जाता है। इसका अर्थ है कि देश के अधिक से अधिक नागरिक राजनीति में भाग लें और राज्य के द्वारा जो कानून बनाए जायें, वे समानरूप से सभी व्यक्तियों पर लागू हों। समानता का यह अर्थ भी लिया जाता है कि राजनीतिक पदों पर की जाने वाली भर्ती में कार्यसम्पन्नता को मापदण्ड माना जाय।

34.6.2 क्षमता- क्षमता का अर्थ राजनीतिक व्यवस्था के उत्पादित परिमाण से है। क्षमता सरकारी कार्य-सम्पन्नता और उस पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियों से सम्बन्धित है। क्षमता का अर्थ सरकारी तन्त्र (मशीनरी) की कार्यकुशलता से भी है।

34.6.3 विभिन्नीकरण- राजनीतिक विकास की तीसरी विशेषता विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण है। संस्थाओं के विश्लेषण में यह विशेषता खास तौर पर रही है। अन्त में विभिन्नीकरण से उत्पन्न जटिल संरचनाओं और प्रक्रियाओं का एकीकरण राजनीतिक विकास में छुपा हुआ है। इसका यह अर्थ है कि विभिन्नीकरण के कारण राजनीतिक विकास के विभिन्न भागों की पृथक्ता एवं टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजन होना नहीं है, अपितु इसका आशय अन्त में एकीकरण तथा विशेषीकरण में समन्वय उत्पन्न करना है।

लूसियन पाई का यह मत है कि समानता की मांगों, क्षमता की आवश्यकताओं और अधिक विभिन्नताओं के बीच तनाव बना रहता है। अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते

हैं कि राजनीतिक विकास की समस्याएँ राजनीतिक संस्कृति, सत्ताधारी रूप रचना और सामान्य राजनीतिक प्रक्रियाओं के चारों ओर चक्कर लगाती हैं।

आमण्ड तथा पावेल का दृष्टिकोण – आमण्ड तथा पावेल का आधुनिक राजशास्त्रियों में प्रमुख स्थान है। उन्होंने अपनी पुस्तक '**Comparative Political and Development Approach**' में राजनीतिक विकास पर अपने विचार प्रकट किए हैं। उनका यह विचार है कि राज्यनिर्माण, भागीदारी तथा वितरण किसी भी देश को राजनीतिक विकास की तरफ अग्रसर करते हैं। पहली समस्या का सम्बन्ध एकीकरण और नियन्त्रण से है। दूसरी समस्या का सम्बन्ध राष्ट्र के प्रति भक्ति-भाव उत्पन्न करने से है। तीसरी बात का सम्बन्ध नागरिकों को अधिक से अधिक भाग देना है। चौथी बात का सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों, सेवाओं तथा वितरण से है। इन समस्याओं की विशेषता यह है कि कभी तो ये विकास में अत्यधिक सहायक होती हैं, जैसे इंग्लैंड का उदाहरण है और कभी ये बाधक भी सिद्ध होती हैं, जैसे-रूस और फ्रांस का उदाहरण है।

एफ.डब्ल्यू. रिग्न के विचार –उसके अनुसार, "राजनीतिक विकास के कुछ सिद्धान्त न होकर एक अवधारणा है जिसका मुख्य अभिप्राय: लोकतन्त्रीकरण की प्रक्रिया और सरकार पर लोकप्रिय नियंत्रण के विकास से लिया जाता है, परन्तु दूसरी धारणा के अनुसार राजनीतिक विकास राजनीतिक बनने की प्रक्रिया की ओर संकेत करता है अर्थात् राज्य के क्रिया-कलापों में नागरिक की शिरकत (हिस्सेदारी), सम्मिलन और शक्ति के परिकलन तथा उसके परिणामों में भाग लेने में वृद्धि। इस अर्थ में शासकों द्वारा नागरिकों का अनुशासनात्मक संगठन उतनी ही शिरकत है जितनी कि नागरिकों द्वारा शासकों से इसकी मांग। इस दृष्टिकोण में एक आधुनिक सर्वाधिकारवादी साम्राज्य उतना ही राजनीतिक है, जितना कि एक पूर्ण लोकतन्त्रीय राज्य। दोनों ही परम्परागत व्यवस्था से भिन्न हैं जिसमें राजनीतिक निर्णयों में जनता का सम्मिलन बहुत कम होता है और जो होता भी है उस पर शासक ध्यान नहीं देते। मिस्टर रिग्न श्री लूसियन पाई द्वारा दी गई तीन कसौटियों को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उसके क्रम को उलट देते हैं, विभिन्नता, क्षमता और समानता।

34.7 सारांश

राजनीतिक विकास की अवधारणा आधुनिक काल की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है परन्तु यह कुछ क्षेत्रों में अपर्याप्त सिद्ध हुई है, जैसे-इतिहास, विदेश नीति, संगठन और संरचना-शक्ति। इसका सबसे बड़ा दोष इसका यथास्थिति में विश्वास है। इतना होते हुए भी यह अवधारणा आजकल दिन प्रति दिन महत्वपूर्ण और लोकप्रिय बनती जा रही है।

34.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक अवधारणा से आपका क्या अभिप्राय है। राजनीति विकास के बारे में विभिन्न प्रचलित सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
2. लूसियन पाई और गेवरिल आमण्ड द्वारा राजनीतिक विकास की जो अवधारणाएँ दी गई हैं, उनका वर्णन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. लोकतन्त्र राजनीतिक विकास के लिए किस प्रकार सहायक है?
2. लूसियन पाई के अनुसार राजनीतिक विकास की शर्तें बताओ (कोई तीन)
3. राजनीतिक विकास के लक्षण बताओ।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक विकास का उद्देश्य क्या है?
2. राजनीतिक विकास के बारे में रोस्टोव व पाई के क्या विचार हैं?
3. आमण्ड व पावेल ने अपनी कौनसी कृति में राजनीतिक विकास की विवेचना की है?
4. "राजनीतिक विकास समाज के उच्च स्तरीय अनुकूलन के प्रति अनुकूल की क्षमता है।" यह विचार किसने दिये?

34.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ओ. पी. गाबा, "राजनीतिक शास्त्र के आधारभूत तत्त्व" मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर
2. आर. सी. अग्रवाल, "राजनीतिक शास्त्र के सिद्धान्त," एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली
3. वीरकेश्वर प्रसाद सिंह, "राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त,"
4. अनुप कपूर, चन्द कपूर "राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त," एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

इकाई—35 : राजनीतिक सामाजीकरण

संरचना

- 35.1 उद्देश्य
- 35.2 प्रस्तावना
- 35.3 राजनीतिक सामाजीकरण का विकास
- 35.4 राजनीतिक सामाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- 35.5 राजनीतिक सामाजीकरण की विशेषताएँ
 - 35.5.1 मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया
 - 35.5.2 सार्वभौमिक अवधारणा
 - 35.5.3 निरन्तर एवं गतिशील प्रक्रिया
 - 35.5.4 प्रशिक्षण की प्रक्रिया
 - 35.5.5 राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं की वैधता
 - 35.5.6 मूल्यों का अर्जन
 - 35.5.7 अदृश्य प्रक्रिया
 - 35.5.8 सामाजीकरण का अभिन्न अंग
 - 35.5.9 उद्देश्यपूर्ण एवं मूल्य आधारित
- 35.6 राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया
 - 35.6.1 प्रत्यक्ष या प्रकट सामाजीकरण
 - 35.6.2 अप्रत्यक्ष सामाजीकरण
- 35.7 राजनीतिक सामाजीकरण के प्रकार
 - 35.7.1 सजातीय सामाजीकरण
 - 35.7.2 विजातीय सामाजीकरण
- 35.8 राजनीतिक सामाजीकरण के साधन
 - 35.8.1 परिवार
 - 35.8.2 शिक्षण संस्थाएँ
 - 35.8.3 समकक्षी समूह
 - 35.8.4 धर्म
 - 35.8.5 गौण समूह
 - 35.8.6 जनसंचार के माध्यम
 - 35.8.7 राजनीतिक दल
 - 35.8.8 प्रतीक
- 35.9 राजनीतिक सामाजीकरण में बाधाएँ
 - 35.9.1 संकट के समय
 - 35.9.2 तीव्र शहरीकरण
 - 35.9.3 सामाजिक मूल्यों में आकस्मिक परिवर्तन
 - 35.9.4 हिंसात्मक परिवर्तन
- 35.10 राजनीतिक सामाजीकरण का महत्त्व
 - 35.10.1 राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन में सहायक
 - 35.10.2 राजनीतिक संस्कृति के अध्ययन में सहायक
 - 35.10.3 राजनीतिक आदर्शों का निर्धारण
 - 35.10.4 आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में महत्त्व

35.11 सारांश

35.12 अभ्यास प्रश्नावली

35.13 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

35.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य राजनीतिक सामाजीकरण के संबंध में जानकारी प्रदान करना है। इस अध्ययन से आप जान सकेंगे—

- यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो समाज एवं राज्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है,
- राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया किस प्रकार गुजरती है?
- राजनीतिक सामाजीकरण की विशेषताएँ,
- राजनीतिक सामाजीकरण को प्रोत्साहन देने वाले साधन,
- राजनीतिक सामाजीकरण का राज-व्यवस्था पर प्रभाव,
- वे परिस्थितियाँ जो इसके मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न करती हैं,
- वर्तमान समय में इसके बढ़ते महत्त्व को भी जान सकेंगे।

35.2 प्रस्तावना

एक सामाजिक समूह के उद्देश्य की परिभाषा एक सामाजिक संस्था द्वारा कर दी जाती है अर्थात् उस समूह के उद्देश्य इसकी सामाजिक संस्था के रूप में प्रकट हो जाते हैं, तो वे संस्थाएँ उस समूह के उद्देश्यों को विरस्थायी बनाती रहती हैं और जिस समूह ने पहले-पहल उन संस्थाओं को बनाया था, उसके मरने के बाद भी वे जारी रहती हैं क्योंकि बाद की पीढ़ियाँ उन संस्थाओं को बनाये रखने के लिए इच्छुक रहती हैं और उनको समाप्त नहीं होने देती हैं। इन सामाजिक संस्थाओं को बनाये रखने की इच्छा प्रत्येक व्यक्ति की निजी बुद्धि पर निर्भर नहीं करती है, बल्कि उराने रागाज गें जो आचरण सीखा है उसी के कारण उरामें यह प्रवृत्ति उत्पन्न होती है कि वह सामाजिक संस्थाओं को बनाये रखे। इस प्रकार की जो उपयोगी सामाजिक हित की प्रवृत्तियाँ मनुष्य समाज में सीखता है, उसी को सामाजीकरण कहा जाता है और जहाँ पर इन प्रवृत्तियों तथा आशाओं का सम्बन्ध राजनीति से होता है, उसे राजनीतिक सामाजीकरण कहा जाता है। यद्यपि मनुष्य समाज में (स्कूल, कॉलेज तथा अन्य संस्थाओं में) रहकर अनेक बातें सीखता है परन्तु उन सबको सामाजीकरण नहीं कहा जायेगा अपितु मनुष्य जो भी भूमिकाएँ समाज में निभाते हैं, उन्हीं का सम्बन्ध सामाजीकरण है।

एलमंड तथा पॉवले के अनुसार, 'राजनीतिक सामाजीकरण यह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा राजनीतिक संस्कृति कायम की जाती है और उसमें परिवर्तन लाया जाता है।' राजनीतिक संस्कृति एक सामाजिक संस्था है, जबकि राजनीतिक सामाजीकरण एक मनोवैज्ञानिक धारणा है।

राजनीतिक सामाजीकरण का सम्बन्ध मुख्य रूप से राजनीतिक लक्ष्यों की ओर व्यक्तियों को नई दिशा प्रदान करने से होता है। वे व्यक्ति राजनीतिक संस्कृति में भी परिवर्तन लाते हैं। यदि उनके दृष्टिकोण, स्थिति-ज्ञान अथवा दिशामान और गुणों में भी समय के साथ-साथ परिवर्तन आ जाय। सामाजीकरण का क्रम व्यक्ति के सारे जीवन में चलता रहता है, क्योंकि उसके राजनीतिक दृष्टिकोणों, स्थिति-ज्ञान अथवा दिशामान और गुण अथवा मूल्य पर लगातार अभाव पड़ता है, तो लोगों के मन में रातों-रात आमूलचूल परिवर्तन आ जाते हैं। जलियाँ वाले बाग में 13 अप्रैल 1919 को (बैशाखी के दिन) ब्रिटिश सरकार के एक सैनिक अधिकारी जनरल डायर ने हजारों व्यक्तियों का जो हत्याकाण्ड किया, उस क्रूरतापूर्ण घटना ने लाखों भारतीयों को तुरन्त राजनीतिक कार्यवाई करने के लिए उकसाया। वियतनाम के युद्ध में अमेरिका को 1960 के बाद जो असफलताएँ देखनी पड़ी और धन-जन की जो भारी हानि हुई उसके कारण वहाँ पर बड़ी जबर्दस्त हलचल मची और लाखों लोगों ने अपनी सरकार से यह माँग की कि वह इस युद्ध से अलग हो जाय। फलतः अमेरिका की सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा और उसने उस युद्ध से धीरे-धीरे अलग होने के लिए पेरिस में उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम की सरकार के प्रतिनिधियों से एक समझौता किया। अतः घटनाओं के दबाव के कारण समाज में बहुत से परिवर्तन आ जाते हैं—उस समय मित्र तथा शत्रु, राजभक्त और विद्रोही, आक्रमणकारी तथा सहयोगी अपने में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर लेते हैं।

35.3 राजनीतिक सामाजीकरण का विकास

राजनीतिक सामाजीकरण को नवीनतम अवधारणा माना जाता है, किन्तु वास्तव में प्राचीन अवधारणा है। प्लेटो ने अपने राजनीतिक चिन्तन में नागरिकों के प्रशिक्षण पर बल दिया है। वर्तमान युग में 1959 में हर्बर्ट एच. हाइमैन ने इस अवधारणा को व्यवस्थित रूप देते हुए उपयोग किया। इसके बाद आमण्ड एवं वर्बा ने राजनीतिक गतिविधियों पर राजनीतिक सामाजीकरण के प्रभाव का व्यवस्थित अध्ययन किया है।

35.4 राजनीतिक सामाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषाएँ

राजनीति के बारे में लोगों की प्रवृत्तियाँ विचारों और आस्थाओं के बनने की प्रक्रिया को राजनीतिक सामाजीकरण कहा जाता है। राजनीति से जुड़े विविध आयामों के प्रति लोगों के दृष्टिकोण निर्माण की प्रक्रिया को ही राजनीतिक सामाजीकरण कहते हैं।

हरबर्ट हाइमन के अनुसार—“राजनीतिक सामाजीकरण, जो सम्पूर्ण ज्ञान की प्रक्रिया का अंग है, उससे उस प्रक्रिया का बोध होता है, जिसके माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस ज्ञान के अन्तर्गत व्यक्तियों, घटनाओं, नीतियों और आवश्यकताओं से संबद्ध ज्ञान भी सम्मिलित है।”

आमण्ड एवं पॉवले के अनुसार “राजनीतिक सामाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा भारतीय संस्कृति का निर्माण, अनुरक्षण एवं उनमें परिवर्तन किया जाता है। इस कार्य के निष्पादन के माध्यम से लोग राजनीतिक संस्कृति में प्रविष्ट होते हैं और राजनीतिक विषयों की ओर उनकी प्रवृत्तियों का निर्माण होता है।

राबर्ट साइगेल का मत है कि “राजनीतिक सामाजीकरण का लक्ष्य व्यक्तियों को इस ढंग से प्रशिक्षित या विकसित करना है कि वे राजनीतिक समाज के सुकार्यशील सदस्य बन जाए।”

इस प्रकार राजनीतिक सामाजीकरण एक जीवन पर्यन्त चलनेवाली प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था से परिचित होता है।

35.5 राजनीतिक सामाजीकरण की विशेषताएँ

राजनीतिक सामाजीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

35.5.1 मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया— राजनीतिक सामाजीकरण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया मानव मस्तिष्क, उनके विचार और भावनाओं से जुड़ी हुई है। इसमें मनुष्य के विचार और भावनाओं को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है।

35.5.2 सार्वभौमिक अवधारणा— राजनीतिक सामाजीकरण परम्परागत एवं आधुनिक सभी प्रकारों के समाजों एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं में देखी जाती है। इस प्रक्रिया को लोकतांत्रिक, अधिनायकवादी, पूंजीवादी एवं साम्यवादी व्यवस्थाओं में अनुयायियों द्वारा समान रूप से अपनाई जाती है।

35.5.3 निरन्तर एवं गतिशील प्रक्रिया— राजनीतिक सामाजीकरण जीवन पर्यन्त गतिशील रहने वाली प्रक्रिया है।

35.5.4 प्रशिक्षण की प्रक्रिया— राजनीतिक सामाजीकरण राजनीतिक जीवन के प्रसंग में शिक्षण-प्रशिक्षण की एक प्रक्रिया है। इसके द्वारा लोगों को समाज का उपयोगी एवं योग्य सदस्य बनने का ज्ञान प्राप्त होता है।

35.5.5 राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं की वैद्यता— राजनीतिक सामाजीकरण के द्वारा राजनीतिक समुदाय के लोगों के मूल्यों, अभिवृद्धितयों एवं मान्यताओं का निर्माण होता है तथा लोगों के द्वारा राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं को वैद्यता प्राप्त होती है।

35.5.6 मूल्यों का अर्जन— राजनीतिक सामाजीकरण द्वारा ही राजनीतिक मूल्यों का अर्जन होता है तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरण होता है।

35.5.7 अदृश्य प्रक्रिया— राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया सामान्यतः अदृश्य और सहज ढंग से कार्य करती है।

35.5.8 सामाजीकरण का अभिन्न अंग— राजनीतिक सामाजीकरण, सामाजीकरण का अभिन्न अंग है। राजनीतिक सामाजीकरण राजनीतिक संस्कृति से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। राजनीतिक सामाजीकरण से ही राजनीतिक संस्कृति का निर्माण, संरक्षण एवं परिवर्तन होता है।

35.5.9 उद्देश्यपूर्ण एवं मूल्य आधारित— राजनीतिक सामाजीकरण उद्देश्यपूर्ण एवं मूल्यों पर आधारित अवधारणा एवं प्रक्रियाओं दोनों ही हैं। राजनीतिक सामाजीकरण का मूल उद्देश्य राजनीतिक संस्कृति का अनुरक्षण एवं विकास होता है। जैसे भारत में राजनीतिक सामाजीकरण नागरिकों को लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, आर्थिक एवं सामाजिक न्याय तथा राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की ओर प्रवृत्त करना है।

35.6 राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया— आमण्ड और पावेल ने राजनीतिक सामाजीकरण के दो रूप बताये हैं—

35.6.1 प्रत्यक्ष या प्रकट सामाजीकरण— जब राजनीतिक व्यवसायी संबंधी जानकारी और मूल्यों को स्पष्ट रूप से पूर्व नियोजित एवं योजनाबद्ध तरीके से निर्मित किया जाता है तो यह प्रकट राजनीतिक सामाजीकरण कहलाता है। इस प्रकार के प्रकट सामाजीकरण में शासक वर्ग जन-सामान्य के राजनीतिक मूल्यों और आदर्शों की शिक्षा को अपनी तरफ मोड़ने का प्रयास करता है।

35.6.2 अप्रत्यक्ष सामाजीकरण— अप्रत्यक्ष सामाजीकरण, अप्रत्यक्ष एवं अदृश्य रूप से सहज एवं स्वतः होने वाली प्रक्रिया है। इसमें राजनीति संबंधी मूल्य, मान्यताएँ, विचार, योजनाबद्ध रूप से बनाए और आरोपित नहीं किये जाते वरन् व्यक्ति के सामाजीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ स्वतः निर्माण होता है। इसका प्रभाव धीमा किन्तु दीर्घकालीन होता है। व्यक्तियों में राजनीतिक सामाजीकरण हेतु राज-व्यवस्था, प्रचारतंत्र एवं सरकारी साधनों का दुरुपयोग नहीं होता अपितु व्यक्तियों को राज-व्यवस्था की दृष्टि से वांछित दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित मात्र ही किया जाता है।

35.7 राजनीतिक सामाजीकरण के प्रकार

राजनीतिक सामाजीकरण मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है—

35.7.1 सजातीय राजनीतिक सामाजीकरण— इसके तहत राज्य के समस्त नागरिकों में पारस्परिक विश्वास की भावना रहती है। इसमें राज्य एवं समाज के प्रति लोगों में निष्ठा का भाव उत्पन्न होता है तथा आम जन व्यवस्था बनाये रखने में भरपूर मदद करता है। जर्मनी का एकीकरण इसी का प्रमाण है।

35.7.2 विजातीय राजनीतिक सामाजीकरण— इसमें नागरिक सन्देश एवं अविश्वास की भावना रखते हैं। जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, राजनीतिक विचार एवं आर्थिक हितों के अन्तर होने से सन्देश एवं अविश्वास, घृणा व संघर्ष में बदल जाता है। राज-व्यवस्था में स्थायित्व एवं अस्तित्व का संकट उत्पन्न हो जाता है। 1991 में सोवियत संघ का पतन विजातीय राजनीतिक सामाजीकरण के कारण ही हुआ।

35.8 राजनीतिक सामाजीकरण के साधन

राजनीतिक सामाजीकरण को प्रोत्साहन देने में निम्नलिखित साधनों का योगदान माना जाता है—

35.8.1 परिवार— परिवार राजनीतिक सामाजीकरण का प्रथम अभिकर्ता माना जाता है। परिवार एवं उसके वातावरण से बच्चा जो सीखता है, वह आगे चलकर उसके राजनीतिक सामाजीकरण में सहायक सिद्ध होता है। बी.ओ.की. ने ठीक ही कहा है अमरीका के बच्चे बाल्यकाल से ही रिपब्लिक अथवा डेमोक्रेटिक पार्टी से जुड़े होते हैं।

35.8.2 शिक्षण संस्थाएँ— शिक्षण संस्थाओं में जो बालक सीखता है, वही उसके राजनीतिक सामाजीकरण की दिशा निर्धारित करती है। यही कारण है जब सरकारें बदलती हैं वे अपनी विचारधारा के अनुरूप पाठ्यक्रम लागू करती हैं ताकि बच्चे एवं युवा पीढ़ी का राजनीतिक सामाजीकरण अपने हितों के अनुरूप किया जा सके।

35.8.3 समकक्षी समूह— समाज में व्यक्ति जैसे-जैसे बड़ा होता है और परिवार का नियंत्रण कम होता है, वैसे-वैसे वह अन्य समकक्षी समूह, जैसे मित्रमण्डली, क्लब, नवयुवक मण्डल इत्यादि समूह से इस उम्मीद के साथ जुड़ता है कि ये उसके हितों में अभिवृद्धि करने में मदद करेंगे। यह समूह व्यक्ति को बदलते राजनीतिक वातावरण का सामना करने वाला विशिष्ट राजनीतिक भूमिका के लिए तैयार करते हैं।

35.8.4 धर्म— धर्म भी राजनीतिक सामाजीकरण का प्रमुख साधन माना जाता है। धर्म के धार्मिक वातावरण का बाल्यकाल में ही प्रभाव पड़ने लगता है। धर्मगुरुओं के प्रवचन एवं धार्मिक आयोजन राजनीतिक विचारधारा को प्रभावित करते हैं। मध्यकाल में यूरोप में चर्च एवं राज्य के बीच लम्बे समय तक संघर्ष चला। भारत में भी आम चुनाव के समय धर्म के कार्ड का प्रयोग खुलमखुला किया जाता है तथा राजनीतिक दल किसी धर्मगुरु से अपने पक्ष में अपील करवाकर उस धर्म के मतदाताओं को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करते हैं।

35.8.5 गौण समूह— गौण समूह भी समाज में राजनीतिक भूमिका के लिए प्रशिक्षण प्रदान करने का कार्य करते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—

35.8.5.1 विशिष्ट राजनीतिक अभिप्रेरणाओं से सम्बद्ध गौण समूह, जैसे राजनीतिक दल, युवा संगठन इत्यादि। इनका मुख्य कार्य ही राजनीतिक विचारधारा का प्रशिक्षण, राजनीतिक प्रक्रियाओं को गति प्रदान करना और राजनीतिक भर्ती करना होता है।

35.8.5.2 गैर राजनीतिक उद्देश्य के लिए निर्मित समूह, जैसे श्रम संगठन।

35.8.5.3 वे गौण समूहों का न तो राजनीतिक उद्देश्य होता है और न ही राजनीतिक पहचान। अपने समूह की गतिविधियों में सहभागिता से ही राजनीतिक अभिमुखीकरण स्वतः हो जाता है, जैसे-क्लब, सांस्कृतिक संघ, खेल संघ इत्यादि।

35.8.6 जन-संचार के साधन— वर्तमान समय में जन-संचार के साधनों को राजनीतिक सामाजीकरण का प्रमुख साधन माना जाता है। शासन व्यवस्था चाहे किसी भी प्रकार की हो, उसका केवल एक ही उद्देश्य होता है कि लोकमत का झुकाव अधिक से अधिक उसकी तरफ रहे और उसकी नीतियाँ एवं कार्यक्रम जनता तक सही समय पर पहुंचते रहे। प्रचार माध्यमों के द्वारा किसी भी शासक की छवि को सुधारा या बिगाड़ा जा सकता है। शीतयुद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों ने अपनी-अपनी विचारधारा को सर्वश्रेष्ठ बनाने तथा एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए इन साधनों को भरपूर इस्तेमाल किया। भारत में आज जिस प्रकार से इलेक्ट्रॉनिक्स एवं प्रिंट मीडिया के द्वारा सक्रियता दिखाते हुए भ्रष्टाचार, घोटाले एवं अनेक कानूनों का पर्दाफाश किया है, उससे राजनीतिक सामाजीकरण की दिशा को ओर गति मिली है।

35.8.7 राजनीतिक दल— राजनीतिक दल न केवल चुनाव कार्यक्रमों के दौरान राजनीतिक सामाजीकरण का कार्य करते हैं, बल्कि वे समय-समय पर अपने वक्तव्य, रैलियों, प्रदर्शनों इत्यादि के माध्यम से जनता को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। यद्यपि उनका उद्देश्य सत्ता को प्राप्त करना होता है।

35.8.8 प्रतीक— प्रतीकों के माध्यम से राजनीतिक सामाजीकरण में पर्याप्त सहायता मिलती है। राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय गान, राष्ट्रीय प्रतीक, धार्मिक ध्वज, आस्था के केन्द्रों के माध्यम से राजनीतिक सामाजीकरण होता है। जैसे बाल गंगाधर तिलक ने राजनीतिक सामाजीकरण लाने के उद्देश्य से शिवाजी महोत्सव एवं गणेश महोत्सव शुरू किया।

35.9 राजनीतिक सामाजीकरण में बाधाएँ

राजनीतिक सामाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है, जो निरन्तर चलती है किन्तु अनेक कारणों से इसमें बाधाएँ उत्पन्न होती हैं, जो इस प्रकार हैं—

35.9.1 संकट के समय— संकट काल, जैसे युद्ध, विद्रोह अथवा दंगों की स्थिति में जनता का निष्क्रमण और स्थान परिवर्तन व्यापक रूप से होता है। इससे राजनीतिक सामाजीकरण बाधित होता है।

35.9.2 तीव्र शहरीकरण— तीव्र शहरीकरण ने भी राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया पर प्रतिकूल असर डाला है।

35.9.3 सामाजिक मूल्यों में आकस्मिक परिवर्तन— ऐसा होना सामाजीकरण के लिए नकारात्मक होता है। राजनीतिक समुदाय परम्परागत मूल्यों को छोड़कर नये मूल्यों के प्रति रुचि प्रदर्शित करता है। ऐसी परिस्थितियों में राजनीतिक सामाजीकरण कुछ समय के लिए प्रभावित होता है।

35.9.4 हिंसात्मक परिवर्तन— किसी भी राज-व्यवस्था में हिंसात्मक परिवर्तन होने से विद्यमान संरचनाओं और व्यवस्थाओं में परिवर्तन होता है। इतना ही नहीं लोगों की आस्थाओं और विश्वासों में परिवर्तन से राजनीतिक परिवर्तन बाधित होता है।

35.10 राजनीतिक सामाजीकरण का महत्त्व

35.10.1 राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन में सहायक— राजनीतिक सामाजीकरण के अध्ययन से राजनीतिक व्यवस्था में अध्ययन में सहायता प्राप्त होती है। राजनीतिक सामाजीकरण लोगों को राजनीति में दीक्षित करता है।

35.10.2 राजनीतिक संस्कृति के अध्ययन में सहायक— राजनीतिक सामाजीकरण के माध्यम से लोगों की अभिरूचियां पसन्द-नापसन्द क्या हैं? का पता लगाया जाता है। इसके अलावा संस्कृति के प्रतिमानों में परिवर्तन भी राजनीतिक सामाजीकरण द्वारा सहज रूप से सम्भव हो पाता है।

35.10.3 राजनीतिक आदर्शों का निर्धारण— राजनीतिक आदर्शों की प्राप्ति के लिए राजनीतिक व्यवस्था का इन आदर्शों के अनुरूप सामाजीकरण आवश्यक है, अन्यथा आदर्श प्राप्ति में कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। जैसे भारतीय संविधान धर्म निरपेक्ष के आदर्श की स्थापना करता है परन्तु इसके अनुरूप सामाजीकरण एवं राजनीतिकरण के अभाव में अनेक बार साम्प्रदायिक दंगे होते हैं।

35.10.4 आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में महत्त्व— आधुनिकीकरण आज के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन का महत्त्वपूर्ण आयाम है। प्रो. एस. पी. वर्मा के अनुसार राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में विशेष स्थान रखती है।

35.11 सारांश

उपरोक्त विवेचना के तत्पश्चात् यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक सामाजीकरण एक प्रमुख अवधारणा एवं प्रक्रिया है, जो समाज में निरन्तर चलती रहती है। इससे लोगों को राजव्यवस्था एवं उसमें होने वाले परिवर्तन की जानकारी मिलती है, जिसके अनुरूप वे अपनी सोच या विचारधारा का निर्माण करते हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ विद्वानों इस प्रक्रिया को संदिग्ध बताते हैं। जे.पी. नेटेल ने कहा है कि तीसरी दुनिया के देशों में बहुत सारी सेवाएँ पराश्रित नौकरशाही, सम्पत्ति का असमान वितरण, कम उत्पादकता और समुदायों के मध्य संघर्षों के कारण अमरीकी समाज वैज्ञानिकों द्वारा सृजित राजनीतिक सामाजीकरण की अवधारणा तीसरी दुनिया के देशों के अनुकूल नहीं है। परन्तु फिर भी इसका अपना विशेष महत्त्व है, जो व्यक्ति, समाज तथा राज्य को गति प्रदान करने में मदद करती है।

35.12 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक सामाजीकरण क्या है? इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. राजनीतिक सामाजीकरण को प्रोत्साहन देने वाले साधन बताओ।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक सामाजीकरण से आपका क्या तात्पर्य है?
2. आमण्ड एवं पावेल द्वारा उल्लेखित राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया बताओ।
3. संचार माध्यम राजनीतिक सामाजीकरण को किस रूप में प्रभावित कर रहे हैं?
4. राजनीतिक सामाजीकरण के मार्ग में आने वाली बाधाएँ बताओ।
5. राजनीतिक सामाजीकरण के प्रकार बताइए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक सामाजीकरण की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग किसने किया?
2. राजनीतिक सामाजीकरण से क्या तात्पर्य है?

35.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ओ. पी. जोषा, "आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त," मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर
2. आर. सी. अग्रवाल, "राजनीतिक शास्त्र के सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली
3. बी. आर. पुरोहित, "राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त" राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
4. वीरकेश्वर प्रसाद सिंह, "राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त"
5. अनुप कपूर, "राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त," एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

इकाई-36 : राजनीतिक आधुनिकीकरण

संरचना

- 36.1 उद्देश्य
- 36.2 प्रस्तावना
- 36.3 आधुनिकीकरण का अर्थ
- 36.4 आधुनिकीकरण की विशेषताएँ
 - 36.4.1 यन्त्रीकरण
 - 36.4.2 औद्योगीकरण
 - 36.4.3 नगरीकरण
 - 36.4.4 राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि
 - 36.4.5 साक्षरता में वृद्धि
 - 36.4.6 राजनीतिक भागीदारी
 - 36.4.7 जन माध्यमों की उन्नति
 - 36.4.8 सामाजिक गतिशीलता
 - 36.4.9 राष्ट्रवाद की उत्पत्ति
- 36.5 परम्परागत तथा आधुनिक मूल्यों में समन्वय
- 36.6 आधुनिकीकरण के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण
 - 36.6.1 राजनीतिक लोकतन्त्र
 - 36.6.2 अभिभावक लोकतन्त्र
 - 36.6.3 आधुनिकीकरण करने वाला अल्प जनतन्त्र
 - 36.6.4 सर्वाधिकारवादी अल्पतन्त्र
 - 36.6.5 परम्परागत अल्पतन्त्र
- 36.7 आधुनिकीकरण के मार्ग में विकासशील देशों में आने वाली समस्याएँ
 - 36.7.1 रुढ़िवादिता
 - 36.7.2 परिवर्तन लाने के तरीके
 - 36.7.3 असमानता में विश्वास
 - 36.7.4 लोकतंत्र का ह्रास
 - 36.7.5 दलीय पद्धति का टूटना
 - 36.7.6 आर्थिक विकास का परिणाम अन्त में अवश्य ही राजनीतिक विकास नहीं
 - 36.7.7 राजनीतिक विकास एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया नहीं
 - 36.7.8 लोगों के पारस्परिक झगड़ों के कारण राष्ट्रीय एकता को खतरा
 - 36.7.9 खाद्य उत्पादन तथा बहुत तेजी से बढ़ती हुई आबादी में विषमता
 - 36.7.10 नगरीकरण के कारण शहरों में गन्दी बस्तियाँ बहुत तेजी से बढ़ी हैं
- 36.8 सारांश
- 36.9 अभ्यास प्रश्नावली

36.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य राजनीतिक आधुनिकीकरण संबंध में व्यापक जानकारी प्रदान करना है। इसमें आप जान सकेंगे—

- राजनीतिक आधुनिकीकरण क्या है?
- राजनीतिक आधुनिकीकरण की विशेषताएँ,
- इस अवधारणा के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण,
- विकासशील देशों के सम्मुख आने वाली चुनौतियों के बारे में जान सकेंगे।

36.2 प्रस्तावना

राजनीतिक आधुनिकीकरण राजनीति विज्ञान की मुख्य विषय वस्तु रही है। इससे हमें आधुनिक काल में राजनीतिक क्षेत्र में जो परिवर्तन आते हैं और उनका क्या प्रभाव पड़ता है। इसकी विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। राजनीतिक आधुनिकीकरण को जानने से पूर्व हमें यह जानना होगा कि आधुनिकीकरण क्या है? किसी भी राष्ट्र के लोकतांत्रिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, भौतिक व सांस्कृतिक जीवन मूल्यों में सर्वांगीण विकासोन्मुख परिवर्तन आधुनिकीकरण कहलाता है। आधुनिकीकरण का महत्व हर समय एवं युग में रहा है, जो विद्यमान व्यवस्था से अपने आप को विकास एवं उन्नति की दिशा में आगे बढ़ाते हैं। अन्य क्षेत्रों की भाँति राजनीति विज्ञान में भी आधुनिकीकरण का वही महत्व है।

वर्तमान समय में राजनीतिक आधुनिकीकरण का संबंध द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् होने वाले परिवर्तनों से है। इससे पूर्व राजनीतिक आधुनिकीकरण की राह पर केवल यूरोप के देश ही अग्रसर हो रहे थे और एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के अधिकांश राष्ट्र इनके उपनिवेश बनकर रह गये थे। लेकिन द्वितीय महायुद्ध के बाद बदलती हुई स्थिति ने इन देशों को आधुनिकीकरण के पथ पर आगे बढ़ाया है। ये देश गुलामी से मुक्त हुए, परन्तु इनके सम्मुख गरीबी, भूखमरी, अज्ञानता, असुरक्षा एवं पिछड़ेपन की समस्याएँ थी, इनसे ऊपर उठना इनके लिए बहुत आवश्यक था, ताकि विकसित देशों से मुकाबला कर सकें और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी पृथक पहचान कायम कर सकें। अतः इस दिशा में इनके द्वारा सार्थक प्रयास किये जाते हैं और नवीन अनुसंधान को प्रोत्साहन देकर प्रत्येक क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनने का प्रयास करते हैं।

36.3 आधुनिकीकरण का अर्थ

द्वितीय विश्वयुद्ध (1939-1945 ई.) के पश्चात् बहुत से देश पश्चिमी देशों की गुलामी से स्वतन्त्र हुए। चूंकि वे कृषि, उद्योग, विज्ञान, औद्योगिकी, शिक्षा, सैनिक, विज्ञान इत्यादि क्षेत्रों में पिछड़े हुए थे, अतः उनमें स्वाभाविक रूप से यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे आधुनिक राष्ट्र बनें, ताकि वे विकसित देशों का मुकाबला कर सकें।

1. इन बातों को ध्यान में रखकर कोलमैन ने लिखा है—“एक आधुनिक समाज उसे कहा जाता है, जिसमें नगरीकरण, व्यापक साक्षरता, प्रति व्यक्ति अधिक आय, भौगोलिक तथा सामाजिक गतिशीलता, अर्थव्यवस्था में औद्योगीकरण तथा वाणिज्यीकरण की मात्रा में वृद्धि, संचार साधनों का विस्तार तथा आधुनिक सामाजिक व आर्थिक प्रक्रिया में नागरिकों द्वारा अधिक से अधिक भाग लेने के तत्त्व विद्यमान हों।”
2. सिरिल ब्लेक के विचारानुसार, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आधुनिकीकरण का मुख्य तत्त्व प्राकृतिक शक्तियों पर व्यक्तियों का तीव्रता से बढ़ता हुआ नियन्त्रण है—अथवा इस प्रकार कहा जा सकता है कि समाज का नियन्त्रण है क्योंकि यह कार्य एक व्यक्ति के द्वारा अकेले नहीं किया जा सकता, अपितु बहुत से व्यक्तियों के द्वारा एक जटिल श्रम विभाजन के माध्यम से किया जा सकता है।
3. बेन्जामिन शेवर्ज के अनुसार, “राजनीतिक आधुनिकीकरण का यह अर्थ है कि मानव के अर्न्तबल को भौतिक और सामाजिक वातावरण के यथोचित नियन्त्रण में मनुष्य के विविध उद्देश्यों के लिए क्रमिक, लगातार और शक्तिशाली ढंग से लगाया जाये।
4. हटिंग्टन के अनुसार, “आधुनिकीकरण एक बहुमुखी प्रक्रिया है जिनमें मनुष्य की विचारधारा और कार्यों के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन चाहिए।”

सारांश

इस तरह से आधुनिकीकरण सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, बौद्धिक, धार्मिक और मनोवैज्ञानिक इत्यादि क्षेत्रों में एक परिवर्तन है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि आधुनिकीकरण एक सामाजिक परिवर्तन है, जिसमें आर्थिक कारक सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जब कोई परम्परागत समाज जो बिखरे हुए ग्रामों में रहता है और ढीली कृषि अर्थव्यवस्था पर निर्भर रहता है, अन्धविश्वासों और भाग्यवादिता में विश्वास रखता है तथा नेताओं का अन्ध आधुनिक अनुसरण करता है। वह जब रहन-सहन और सोचने के पुराने ढंग को छोड़ देता है तथा नए जीवन के मार्ग को अपनाता है, तो हम इसे उस समाज का आधुनिकीकरण कहेंगे।

36.4 आधुनिकीकरण की विशेषताएँ

आधुनिकीकरण की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

36.4.1 यन्त्रीकरण— अपने कृषि, उद्योग उत्पादन बढ़ाने के लिए और विकसित देशों से प्रतियोगिता का मुकाबला करने के लिए यह आवश्यक है। ताकि देश पिछड़ा न रह सके।

36.4.2 औद्योगीकरण— किसी भी देश को प्रगति के मार्ग पर ले जाने के लिए यह परमावश्यक है कि वहाँ नए-नए उद्योगों का जाल बिछाया जाये और पुराने उद्योगों में नई मशीनें लगाई जायें, ताकि वे विश्व बाजार प्रतियोगिता में ठहर सकें।

36.4.3 नगरीकरण— जब नगरों में उद्योग स्थापित किये जाते हैं, तो ग्रामीण उनमें कार्य करने के लिए अपने ग्रामों से पहले तो प्रतिदिन आ जाते हैं, परन्तु यह बहुत असुविधाजनक रहता है और आने-जाने में बहुत धन खर्च हो जाता है। क्योंकि औद्योगिक केन्द्र गाँव से कोसों दूर होते हैं। दूसरे, कई बार समीपवर्ती तथा दूरवर्ती राज्यों से भी श्रमिक बड़ी संख्या में आ जाते हैं। उनके लिए दिन-प्रतिदिन आना-जाना भी सम्भव नहीं है। फलतः श्रमिक बड़ी संख्या में नगरों में ही बस जाते हैं। इस चरह से नगरों की जनसंख्या प्रतिदिन बढ़ती रहती है और ग्रामों की जनसंख्या घटती रहती है।

36.4.4 राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि— पुरानी कृषि व्यवस्था पर गाँवों के न कमाने वाले व्यक्ति भी निर्भर होते हैं। दूसरे कृषि से इतनी आमदनी नहीं होती है कि पूरे परिवार का बढ़ती हुई महंगाई में आसानी से गुजारा हो सके। इसलिए ग्रामीण परिवारों के बेकार सदस्य नगरों में आजीविका के लिए आते हैं और प्रायः कारखानों में काम करने लग पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा बनाया हुआ माल विदेशों में भी बिकता है। इस तरह से प्रति व्यक्ति आय और राष्ट्रीय आय में आशातीत वृद्धि होती है।

36.4.5 साक्षरता में वृद्धि— औद्योगीकरण के साथ-साथ साक्षरता में भी भारी वृद्धि होती है। क्योंकि नगरों में बच्चों के लिए स्कूल होते हैं। बड़े होकर बच्चे न केवल किताबी शिक्षा ग्रहण करते हैं, अपितु नई-नई प्रौद्योगिकी तथा आधुनिक उद्योगों में काम करने का प्रशिक्षण भी प्राप्त भी करते हैं। राष्ट्रीय सरकारें देश को प्रगति के मार्ग पर तेजी से अग्रसर करने के लिए ग्रामों में वयस्क शिक्षा का भी संचालन करती हैं। इस तरह से साक्षरता में तेजी से वृद्धि होती है ताकि देश का पिछड़ापन (भांग्यवादिता, अन्धविश्वास और कुरीतियों) दूर हो और देश की तेजी से प्रगति हो।

36.4.6 राजनीतिक भागीदारी— जब लोगों के पास गुजारे के लिए पर्याप्त साधन हो जाते हैं, तो वे न्यूनतम आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की बजाय राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने की सोचने लगते हैं। लोग राजनीतिक प्रणाली के निर्णय लेने वाली प्रक्रिया में भागीदार बनने की कोशिश करते हैं। यह राजनीतिक दलों, हित समूहों इत्यादि संगठनों के द्वारा सम्भव हो जाता है।

राजनीतिक भागीदारी का अर्थ अन्त में यह हो जाता है कि अवसर की समानता प्रदान की जाये। समानता का यह अर्थ है कि नौकरियों में भर्ती योग्यता के आधार पर हो। इसका यह भी अर्थ है कि जाति-पाँति, सम्प्रदाय, धर्म, रंग और लिंग के भेदभाव के बिना नौकरियों में भर्ती के अवसर सबको प्रदान किए जायें।

36.4.7 जन माध्यमों की उन्नति— राजनीतिक विकास के लिए यह भी परम वश्यक है कि समाचार-पत्रों, रेडियो, दूरदर्शन, डाक की सुविधाएं, सड़क, रेल तथा हवाई सेवाएं, बिजली, सिनेमाघरों इत्यादि जन माध्यमों की उन्नति की जाये। इससे लोगों को संसार भर के अद्यतन समाचार मिलते हैं।

36.4.8 सामाजिक गतिशीलता— सामाजिक गतिशीलता का यह अर्थ है कि लोग राजनीतिक विकास की नई आवश्यकताओं के अनुसार अपने व्यवसाय, रहन-सहन और सोचने के तरीके, भूमिकाएं स्मरण, आदतें तथा आवश्यकताएं बदल लेते हैं। ग्रामों में एक नेता में अन्धाधुन्य विश्वास कम होता रहता है। उसकी बजाए उस व्यक्ति में लोगों की आस्था जम जाती है, जो उनके लिए कुछ कर रहा है। नगरों में लोगों के विचारों का प्रतिनिधित्व करने के लिए राजनीतिक दल तथा मजदूर संगठन बन जाते हैं।

36.4.9 राष्ट्रवाद की उत्पत्ति— लोग धीरे-धीरे पुराने दकियानूसी (रुढ़िवादी) विचारों को तिलांजलि दे देते हैं। अब वे अपने कबीले, सम्प्रदाय, धर्म, जाति, प्रजाति इत्यादि की बजाए राष्ट्र की भलाई के बारे में सोचने लगते हैं। अब प्रादेशिकता, धर्म और भाषा उनके मार्ग में बाधा नहीं बनती है।

नोबुता आइक का विचार है कि आधुनिकीकरण के कारण विशिष्ट वर्ग का अन्त होता है और कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप से राजनीतिक पद योग्यता के अनुसार दिए जाते हैं। दूसरे, सभी नागरिकों को प्रशासनिक कार्यों में भाग लेने का समान अवसर प्राप्त होता है। फलतः साधारण जनता भी प्रशासन में रुचि लेने लग पड़ती है और सक्रिय नागरिक बन जाती है। चौराहे, इरारो अर्थव्यवस्था में भी परिवर्तन किया जाता है और कृषि को वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है तथा उत्पादन में अपार वृद्धि की जाती है। उद्योगों का आधुनिकीकरण किया जाता है तथा वाणिज्य और व्यापार को प्रोत्साहन दिया जाता है।

36.5 परम्परागत तथा आधुनिक मूल्यों में समन्वय

आधुनिकीकरण का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम अपनी पुरानी सभ्यता तथा संस्कृति की अच्छी बातें भूल जायें। प्रत्येक देश में आधुनिकता के साथ-साथ परम्परागत बातें भी चलती हैं। उदाहरणस्वरूप, इंग्लैण्ड में प्राचीनकालीन संस्थाएं जैसे, राजतन्त्र और हाऊस ऑफ लार्ड्स अभी तक विद्यमान हैं। परन्तु साथ में यह एक आधुनिक राष्ट्र भी है। इसी तरह हम भी अपने देश की अच्छी प्राचीन संस्थाओं को सुरक्षित रखते हुए आधुनिकता की ओर तेजी से कदम बढ़ा रहे हैं।

वार्ड तथा रस्टोव का यह विचार है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में ऊपर लिखी हुई ये विशेषताएं विशुद्ध रूप से नहीं पाई जाती हैं, अपितु प्रत्येक समाज में पुरानी परम्पराओं तथा आधुनिक तत्वों का सम्मिश्रण होता है परन्तु प्रत्येक समाज में दोनों तत्वों की मात्रा में भिन्नता होती है।

36.6 आधुनिकीकरण के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण

राजनीतिक आधुनिकीकरण को कई आधुनिक अथवा अमरीकन लेखकों ने राजनीतिक व्यवस्थाओं की कसौटी माना है। इस आधार पर एडवर्ड ए. शिल्स ने आधुनिकीकरण की तरफ अग्रसर होने वाले राष्ट्रों के पांच नमूने पेश किए हैं –

36.6.1 राजनीतिक लोकतन्त्र— एडवर्ड शिल्स ने इसे सबसे अच्छी राजनीति व्यवस्था माना है। इसके उदाहरण संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस, हॉलैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, इटली, स्वीडन, डेनमार्क, नार्वे, भारत और जापान में उपलब्ध हैं। इसमें प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएं और सार्वजनिक स्वतन्त्रताएं विद्यमान होती हैं। इसमें एक विधानमण्डल या संसद होती है। जो जनता की तरफ से कानून बनाती है तथा सरकार पर अपने नियन्त्रण का प्रयोग करती है। इसमें राजनीतिक दल होते हैं जो सत्तारुढ़ होने के लिए चुनाव लड़ते हैं। परन्तु सरकार उसी की बनती है जिसका बहुमत होता है और शेष दल विरोधी दल कहलाते हैं। इसमें लोगों को सरकार के विरुद्ध अपनी असहमति प्रकट करने की आज्ञा होती है। इसमें एक स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष न्यायपालिका होती है। इसमें लोगों को संवैधानिक तरीकों से आन्दोलन करने का अधिकार होता है।

36.6.2 अभिमावक लोकतन्त्र— इसमें सरकार की वास्तविक शक्तियाँ एक विशिष्ट वर्ग के हाथ में आ जाती हैं तथा विधानमण्डल अथवा संसद की शक्तियाँ सीमित कर दी जाती हैं। इसमें लोकतन्त्र नाममात्र का रहता है। ऐसी व्यवस्था नवीन राष्ट्रों में विशिष्ट वर्गों को काफी प्रभावित करती है, क्योंकि वे अन्य लोगों के मुकाबले में अधिक शिक्षित होते हैं तथा आदर-सम्मान व सुविधाओं के दावेदार होते हैं। शासन पर इस विशिष्ट वर्ग का नियन्त्रण हो जाता है। इस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि शासक वर्ग किस सीमा तक राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए उत्सुक है।

36.6.3 आधुनिकीकरण करने वाला अल्प लोकतन्त्र— यह पद्धति परम्परागत अल्प लोकतन्त्र से अधिक होती है। परन्तु राजनीतिक लोकतन्त्र से कम होती है। इस प्रकार की पद्धति में शासन या तो एक विशिष्ट वर्ग के हाथ में होता है जिसका सशस्त्र सेनाओं पर नियन्त्रण होता है अथवा कुछ प्रमुख सैनिक अधिकारियों के हाथ में रहता है। इसमें संसद प्रशासकों के निर्णयों का अनुसमर्थन करती है। इसमें राजनीतिक दलों और चुनाव पर पाबन्दी लगी हुई होती है तथा नौकरशाही की स्थिति सुदृढ़ होती है।

36.6.4 सर्वाधिकारवादी अल्पतन्त्र— इनमें एक शक्तिशाली अल्पतन्त्र का शासन रहता है चाहे वह दक्षिण पंथी प्रकार का हो, जैसे प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी और इटली में स्थापित हुआ अथवा वामपंथी प्रकार का हो जैसा कि चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों में दिखाई देता है। इसके मुख्यतः लक्षण इस प्रकार हैं। 1. प्रशासक गुट के हाथ में सरकार के सारे अधिकारों का केन्द्रीकरण हो जाता है। 2. सरकार का सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। इसमें कानून के द्वारा मान्यता प्राप्त कोई विरोधी दल नहीं होता है। विरोधी दलों पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। 3. इसमें स्वतन्त्र न्यायपालिका नहीं होती है; 4. इसमें कानून का शासन नहीं होता है; 5. इसमें दल के विशिष्ट वर्ग के पास ही राजशक्तियाँ निहित होती हैं।

36.6.5 परम्परागत अल्पतन्त्र— इस प्रकार का अल्पतन्त्र वंशानुगत उत्तराधिकार पर आधारित होता है। वहाँ धर्म पर आधारित एक शक्तिशाली राजवंश होता है। कभी-कभी राजा और उसके परामर्शदाताओं के द्वारा बनाया हुआ कोई संविधान भी होता है। राजा अपने परामर्शदाताओं को स्वयं ही चुनता है। उनमें अधिकतर परामर्शदाता राजवंश से ही सम्बन्धित होते हैं। इनके हाथ में ही राज्य की सारी राजसत्ता होती है। इसमें ऐसी कोई संसद नहीं होती है, जिसका कार्यपालिका पर कोई नियन्त्रण हो। दूसरे, इसमें जन कल्याण का जोर होता है। चौथे, इसमें कोई विरोधी दल नहीं होता है। पाँचवें सामन्तों के हाथ में भी काफी शक्तियाँ होती हैं, परन्तु वे सब अपने राजा की आज्ञा का पालन करते हैं।

36.7 विकासशील देशों में आधुनिकीकरण के मार्ग में आने वाली समस्याएँ

36.7.1 रुढ़िवादिता विकासशील देश काफी पिछड़े हुए हैं। यहाँ के लोग रुढ़िवादी हैं और परिवर्तनशील नहीं हैं। इसलिए विकासशील देशों को अपने लोगों को विज्ञान और औद्योगिकीकरण की तरफ मोड़ना है तथा जनता के अहम, अन्धविश्वासों और कुरीतियों को दूर करना है। इस रुढ़िवादिता को दूर किये बिना विकास संभव नहीं है।

36.7.2 परिवर्तन लाने के तरीके— यदि विकासशील देशों की जनता यह मान भी जाये कि समाज में परिवर्तन लाना परमावश्यक है, तो इस बात पर गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं कि परिवर्तन संसदीय ढंग से लाया जाये अथवा क्रान्तिकारी ढंग से।

36.7.3 असमानता में विश्वास— विकासशील देशों में पहले सामन्तवाद पनपता रहा है, इसलिए लोगों का भाग्यवादिता में दृढ़ विश्वास जम गया और वे समझने लगे कि असमानता परमात्मा की देन है जबकि यह पूर्ण रूप से झूठ है। इस असमानता को विकासशील देशों की प्रगति में सबसे बाधा माना जाता है।

36.7.4 लोकतन्त्र का ह्रास— 40 वर्ष पहले लोगों का यह आम विश्वास था कि लोकतन्त्र सबसे अच्छी सरकार है और धीरे-धीरे सभी राजनीतिक व्यवस्थाएं उधर ही चली जायेंगी। परन्तु गत 30 वर्षों में कई देशों में सैनिक क्रांतियाँ हो चुकी हैं और वहाँ लोकतन्त्र का नामोनिशान (चिन्ह मात्र) भी नहीं है। इसलिए कई देशों में लोकतन्त्र का ह्रास हो चुका है।

36.7.5 दलीय पद्धति का टूटना— विकासशील देशों में प्रायः यह प्रक्रिया देखने को मिलती है कि वहाँ की दलीय पद्धति और असैनिक सेवाएं टूट रही हैं क्योंकि नए-नए दल प्रतिदिन स्थापित हो रहे हैं और सत्तारुढ़ दल प्रायः असैनिक सेवाओं के काम में अनुचित हस्तक्षेप कर रहे हैं। जिन देशों में औपनिवेशिक काल में अच्छी नौकरशाही भी स्थापित हो गई थी, वहाँ भी दलीय पद्धति के दबाव के कारण नौकरशाही ठीक तरह कार्य नहीं कर पा रही है।

36.7.6 आर्थिक विकास का परिणाम अन्त में अवश्य ही राजनीतिक विकास नहीं होता है— यह आवश्यक नहीं कि आर्थिक विकास का परिणाम राजनीतिक

प्रगति ही दिखाई दे। यद्यपि भारत ने आर्थिक विकास में अभी तक अमरीका जैसी प्रगति प्राप्त नहीं की है तथापि उसका राजनीतिक विकास अर्जेंटीना से अधिक हो गया है।

36.7.7 राजनीतिक विकास एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया नहीं है—

प्रायः यह देखा जाता है कि विकास का क्रम भी विकासशील देशों में एक जैसा नहीं है। आईजन्सटाड ने लिखा है कि कई देशों में राजनीतिक विकास की प्रक्रिया लगातार नहीं है, अपितु यह अवरुद्ध हो जाती है। आईजन्सटाड ने लिखा है कि पाकिस्तान, बर्मा, इन्डोनेशिया और अर्जेंटीना में ऐसा ही हुआ है।

36.7.8 लोगों के पारस्परिक झगड़ों के कारण राष्ट्रीय एकता को खतरा— अफ्रीका में कबीलों के पारस्परिक झगड़े तथा एशिया के देशों में सम्प्रदाय, जाति-पाति, प्रदेश और भाषाओं के झगड़े तथा आर्थिक विषमता राष्ट्रीय एकता के लिए सबसे बड़ा खतरा है। इसके कारण कई बार देश के टूटने तक की नौबत आ जाती है। साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी विकासशील देशों को निर्बल बनाने के लिए खूब चिन्तित करती रहती हैं।

विकासशील देशों में अशिक्षा के कारण जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। यद्यपि यहां की सरकारों ने अपनी-अपनी जनसंख्या को शिक्षित करने के लिए जोरदार प्रयास किए, परन्तु जनसंख्या के बहुत तेजी से बढ़ने के कारण इन देशों में अशिक्षितों की संख्या में भी तेजी से वृद्धि होती गई। विकासशील देशों में यद्यपि सरकार ने बेरोजगारी को दूर करने के लिए बड़े प्रयत्न किये, फिर भी जनसंख्या के तेजी से बढ़ने के कारण बेरोजगारी निरन्तर बढ़ती जा रही है। इसलिए जब तक प्रत्येक विकासशील देश अपनी बहुत तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या पर रोक नहीं लगाता, वहाँ अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती रहेंगी।

36.7.9 खाद्य उत्पादन तथा बहुत तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या में विषमता— यद्यपि विकासशील देशों में खाद्य उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है। परन्तु बहुत तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण यह भी कम पड़ रही है। लैटिन अमरीका, अफ्रीका और एशिया के अनेक देशों को अमरीका अथवा कनाडा से खाद्य पदार्थ मंगवाने पड़ते हैं। भारत में श्री जवाहरलाल नेहरू के समय अकाल के दौरान अमरीका से खाद्य पदार्थों का आयात करना पड़ा। इसके अतिरिक्त विकासशील देशों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है।

36.7.10 नगरीकरण के कारण शहरों में गन्दी बस्तियाँ बहुत तेजी से बढ़ी हैं— 1900 और 1950 ई. के बीच एशिया के नगरों की जनसंख्या दुगुनी हो गई। उसके परिणामस्वरूप वहाँ जनसंख्या और भी तेजी से बढ़ रही है। 1900 ई. में संसार भर के नगरों में जितनी जनसंख्या थी, वह आज केवल एशिया के नगरों में दिखाई देती है। एशिया के नगरों में जनसंख्या 2.1 प्रतिशत से बढ़कर 7.2 प्रतिशत या कुछ अधिक हो गई है। इसके कारण नगरों में गन्दी बस्तियों में अच्छे पानी, बिजली, सफाई और चिकित्सा तथा शिक्षा की अत्यन्त अपर्याप्त सुविधाएँ हैं। इससे वहाँ बहुत बीमारियाँ फैलती हैं और लोगों की विपत्तियों में अपार वृद्धि होती है। सारांश में विकासशील राष्ट्रों की अपनी अनेक समस्याएँ हैं, जिनका निदान किये बिना विकास संभव नहीं है।

36.8 सारांश

उपरोक्त विवेचना के तत्पश्चात् यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण से राजनीतिक चेतना का विकास हुआ है, साथ ही साथ इस प्रकार की समस्याएँ उभरकर आ रही हैं, जो अत्यन्त विकराल रूप ले रही हैं।

36.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आधुनिकीकरण का क्या अर्थ है। इसकी बुनियादी विशेषताएँ क्या हैं?
2. आधुनिकीकरण के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण कीजिए।
3. आधुनिकीकरण के मार्ग में विकासशील देशों में आने वाली समस्याओं का वर्णन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आधुनिकीकरण से आपका क्या आशय है?
2. आधुनिकीकरण की कोई तीन विशेषताएँ बताओ।
3. आधुनिकीकरण में परम्परागत एवं आधुनिक मूल्यों में समन्वय कैसे होता है?
4. आधुनिकीकरण के मार्ग में आने वाली कोई तीन समस्या बताओ।

36.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर. सी. अग्रवाल, "राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली
2. अनूप चन्द कपूर, "राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

इकाई-37 : राजनीतिक संस्कृति

संरचना

- 37.1 उद्देश्य
- 37.2 प्रस्तावना
- 37.3 राजनीतिक संस्कृति: व्याख्या एवं विकास
- 37.4 राजनीतिक संस्कृति के प्रकार एवं प्रक्रिया
 - 37.4.1 आंग्ल – अमरीकी राज व्यवस्था
 - 37.4.2 महाद्वीपीय यूरोपीय राजव्यवस्था
 - 37.4.3 अपश्चिमी राजव्यवस्था
 - 37.4.4 सर्वाधिकार राजव्यवस्था
- 37.5 राजनीतिक संस्कृति तथा समाजीकरण के संबंध
- 37.6 सारांश
- 37.7 अभ्यास प्रश्नावली
- 37.8 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

37.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य राजनीतिक संस्कृति के संबंध में जानकारी प्रदान करना है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- राजनीतिक संस्कृति क्या है? तथा इसके विकास,
- यह कौन-सी प्रक्रिया से होकर गुजरती है,
- विभिन्न समाजों एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं में इसका प्रभाव एवं स्तर,
- राजनीतिक संस्कृति तथा सामाजीकरण के मध्य पाये जाने वाले संबंधों को भी जानने का अवसर प्राप्त होगा।

37.2 प्रस्तावना

संस्कृति का सम्बन्ध मानव के साथ अटूट रूप से होता है। इसलिए मानव सम्यता के विकास को संस्कृति के साथ जोड़कर देखा जाता है और संस्कृति की श्रेष्ठता सम्यता की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करती है। संस्कृति एवं मानवीय जीवन के बीच निकट का सम्बन्ध होता है। संस्कृति के अभाव में मानव में मूल्यों का विकास सम्भव नहीं है। संस्कृति के अनेक रूप पाये जाते हैं, उनमें से राजनीतिक संस्कृति प्रमुख है। राजनीतिक संस्कृति का आशय है, किसी समाज की संस्कृति के वे पक्ष, जो उसकी राजनीतिक को प्रभावित करते हैं। इसमें ऐसे मूल्य, मान्यताएं और मानक आ जाते हैं, जो शासक वर्ग, शासन प्रणाली और शासन प्रक्रिया को वैधता प्रदान करते हैं और व्यक्ति की स्थिति को निर्धारित करते हैं।

समकालीन तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के लिए जिन नवीन संकल्पनाओं का आविष्कार किया गया है, उनमें राजनीतिक संस्कृति का विशेष महत्व है। यह संकल्पना किसी समाज की राजनीति और संस्कृति के परस्पर सम्बन्ध को आधार बनाकर उस समाज के अध्ययन में सहायता देती है। यह बात महत्वपूर्ण है कि राजनीतिक संस्कृति का विचार आधुनिक राजनीतिक विज्ञान को देन है। किसी भी समाज की राजनीतिक संस्कृति प्रायः स्थिर रहती है। लेकिन आधुनिक युग में जो परिवर्तन आये, उससे संस्कृति व राजनीति दोनों ही प्रभावित हुई। राजनीति और संस्कृति की अवधारणा पुरानी है। लेकिन राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा अपेक्षाकृत नई है। राजनीतिक संस्कृति मूलतः संस्कृति के एक पक्ष का संकेत देती है, जिसका सम्बन्ध राजनीति से है। इसके अलावा किसी भी समुदाय की संस्कृति को जानकर उसकी राजनीति को समझना सरल हो जाता है।

37.3 राजनीतिक संस्कृति: व्याख्या एवं विकास

राजनीतिक संस्कृति के बारे में निम्नलिखित परिभाषाएं प्रमुख हैं—

1. लूसियन पाई के अनुसार, “राजनीति संस्कृति अभिवृत्तियों, दिश्वसों तथा मनोभावों का सेट है जो राजनीति प्रक्रियाओं को अर्थ एवं सुव्यवस्था प्रदान करता है तथा राज व्यवस्था में व्यवहार को नियन्त्रित करने वाली अन्तर्निहित पूर्वधारणाओं तथा नियमों को बताता है। उसमें राज व्यवस्था के राजनीतिक आदर्श तथा क्रियाशील मानक दोनों ही सम्मिलित रहते हैं।”

2. आमण्ड, म्यांमार बर्मा, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका, जर्मनी, इटली तथा मैक्सिको की राज संस्कृतियों का अध्ययन करने के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचे कि वह राज व्यवस्था तथा उसके अवयवों एवं व्यवस्था में व्यक्ति के व्यक्ति-कार्यों के प्रति विशिष्ट राजनीतिक अभिमुखीकरणों तथा अभिवृत्तियों का संयुक्त रूप है।

3. रोवे ने उसे अच्छे-बुरे की धारणा का आधार या 'क्या होना चाहिए' तथा विश्वासों एवं मनोभावों का रूप माना है। वह व्यक्तिगत मूल्यों, विश्वासों तथा संवेगात्मक अभिवृत्तियों का प्रतिमान है। उसी के द्वारा शक्ति और सत्ता के स्वरूप, प्रयोग, प्रकार, औचित्य, केन्द्रीयकरण या विकेन्द्रीकरण आदि निर्धारित किए जाते हैं।

4. हॉज यूलाउ के अनुसार, "राजनीतिक संस्कृति उन रूपों की ओर संकेत करती है, जिनका पूर्वानुमान समूहों के राजनीतिक व्यवहार से तथा एक समूह के सदस्यों के सामान्य विश्वासों, नियामक सिद्धान्तों, उद्देश्यों एवं मूल्यों में लगाया जा सकता है। चाहे समूह का आकार कुछ भी क्यों न हो।"

5 डॉक्टर योगेश अटल के अनुसार, संस्कृति को किसी भी समाज की जीवन विधि के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस व्यापक अर्थ में संस्कृति मानव और मानव प्रकृति, तथा मानव और अतिप्राकृतिक के बीच स्थापित सम्बन्धों और विश्वासों का ही दूसरा नाम है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक तीनों ही पक्ष संस्कृति के कलेवर की रचना करते हैं। सामाजिक पक्ष में राजनीतिक भी सम्मिलित है। किसी भी समाज की यह जीवन विधि अर्थात् संस्कृति उसके इतिहास की देन होती है और ये निहित परम्पराएं जो युक्ति संगत, आयुक्त या निर्युक्त होकर भी मानव व्यवहार को नियमित करती हैं।"

6. प्रसिद्ध मानव वैज्ञानिक एडवर्ड थायलर के अनुसार, संस्कृति "वह जटिलपूर्णता है जिसमें ज्ञान-विश्वास, कला, आचार-विचार, विधि (कानून), रीति-रिवाज और मानव द्वारा समाज के सदस्य रूप में अर्जित क्षमताएं समाहित होती हैं।" संस्कृति में शुभ और अशुभ, वांछनीय और अवांछनीय दोनों ही का अध्ययन शामिल है। राजनीतिक क्षेत्र की अपनी अलग संस्कृति होती है और आचरण के अलग नियम होते हैं। उदाहरण स्वरूप उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में स्वतन्त्रता, समानता, कानून का शासन, संविधानवाद, स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष चुनाव, सम्प्रभुता राष्ट्रवाद और विरोधी दल राजनीतिक संस्कृति के अंग बन चुके हैं।

प्राचीन काल में हीरोडोटस, प्लेटो, अरस्तू आदि ने तथा आधुनिक काल में डी टाकविले, ब्राइस, एमरसन, बेनेडिक्ट, मीड, फ्रोम आदि ने राजनीतिक संस्कृति का अपने-अपने ढंग से अध्ययन किया तथा प्रतिपादन किया।

37.4 राजनीतिक संस्कृति के प्रकार एवं प्रक्रिया

संख्या और शक्ति के आधार पर दो प्रकार की संस्कृतियाँ होती हैं - अभिजनात्मक तथा जन। अभिजनात्मक संस्कृति के मूल्य राज व्यवस्था में जुड़े हुए होते हैं और इसी पर उसकी कार्यकुशलता निर्भर होती है। जन संस्कृतियाँ सदैव अनेक तथा असमरस होती हैं। प्रायः इन दोनों संस्कृतियों के मूल्य एक-दूसरे के पूरक होते हैं। राज संस्कृति ही इस बात का निर्णय करती है कि सामान्य जनों से अभिजनों में भर्ती, पद ग्रहण आदि कैसे होगा। समाजीकरण प्रक्रियाएं एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। जब इन उप संस्कृतियों में अन्तर काफी गहरा और विस्तृत होता है या राज संस्कृति का प्रभाव दुर्बल पड़ जाता है, तो उस अवस्था में द्वन्द्व, विघटन, संघर्ष आदि व्यवस्थाव्याधियों के फैलने का भय रहता है। अभिजनात्मक तथा जन संस्कृतियों के बीच में मध्यम वर्ग का एक तीसरा स्तर होता है और वह दोनों संस्कृतियों के बीच में सन्तुलन बनाए रखता है। इसलिए इन दोनों उप-संस्कृतियों के संघर्ष की भावना कम हो जाती है। अरस्तू ने अपने ग्रन्थ पॉलिटिक्स में इस विषय पर विस्तृत चर्चा की है। निरन्तरता की दृष्टि से संस्कृति-परम्परागत और आधुनिक हो सकती हैं। आमण्ड-कोलमैन के अनुसार सभी संस्कृतियों में इसका मिश्रित रूप पाया जाता है। रिंग्स ने इनको तिकासशील या संक्रांतिकालीन समाज भी कहा है। गतिशीलता या परिवर्तन की दृष्टि से भी कई लेखकों ने संस्कृतियों का वर्गीकरण किया है और लिखा है कि संस्कृतियां मन्द परिवर्तनवादी या स्थिरतावादी तथा क्रांतिकारी या प्रगतिशील हो सकती हैं। परन्तु कई बार यह निर्धारित करना अत्यन्त कठिन होता है कि कौनसी संस्कृति स्थिरतावादी है अथवा कौनसी संस्कृति परिवर्तनशील है? राजनीतिक संस्कृति को कुछ लेखकों ने लोकतन्त्रात्मक, साम्यवादी, समाजवादी और एकतन्त्रवादी संस्कृतियों में बांटा है। सर्वांगसमता की दृष्टि से वाइसमैन ने राज संस्कृतियों को तीन विशुद्ध तथा तीन मिश्रित रूपों में बांटा है -

राज संस्कृति के प्रकार

1. संकुचित
2. प्रजा भावी
3. सहभागी

मिश्रित संस्कृति

- 1 + 2
- 1 + 2
- 3 + 1

वाइसमैन के अनुसार सर्वांगसमता के तीन मानक, निष्ठा, उदासीनता तथा अलगाव हैं। एस. ई. फाइनर ने चार संवर्गों में विभिन्न संस्कृतियों को रखा है - 1. प्रौढ़ 2. विकसित, 3. निम्न तथा 4. पूर्व फ्रांसीसी क्रांति सम न्यूनतम स्तरीय। आमण्ड के अनुसार राज संस्कृति राज व्यवस्था से जुड़ी हुई होती है। उसने चार भागों में संस्कृतियों का बंटवारा किया है, यथा-

37.4.1 ऑग्ल-अमरीकी राजव्यवस्था- आमण्ड ने इस संस्कृति को अच्छा बताया है, क्योंकि इसमें राजनीतिक साध्य एवं साधनों का बंटवारा पाया जाता है और इसमें परम्परागत तथा आधुनिक तथा धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोणों का तालमेल पाया जाता है। आमण्ड के अनुसार यह संस्कृति बहुमूल्ययुक्त, मुक्त, विवेकसम्मत एवं प्रयोगात्मक है।

37.4.2 महाद्वीपीय यूरोपीय राजव्यवस्था- इसमें आमण्ड के अनुसार ऑग्ल-अमरीकी संस्कृति की अपेक्षा कुछ कम गुण पाये जाते हैं क्योंकि कहीं कुछ तत्व परम्परागत हैं, कहीं विवेकी हैं और राजनीतिक संस्कृति का घुवीकरण पाया जाता है। इस संस्कृति में असन्तुलित विकास के कारण अनेक उप-संस्कृतियाँ पनप गयी हैं, जिनमें उग्रता पायी जाती है और कई बार लौकिकीकरण की प्रक्रिया असफल हो जाती है। आमण्ड के अनुसार इस संस्कृति में राजनीतिक नेताओं की श्रद्धा, ससंद और चुनाव में कम रहती है और वे जनता के सामने अपने प्रति सम्मान जागृत करने, अपने कार्यक्रमों में जनता की आस्था बनाए रखने, उपदेश और चेतावनी देने के लिए आते हैं।

37.4.3 अपरिचयनी राजव्यवस्था— यहाँ नगरों में आधुनिक संस्कृति पायी जाती है और ग्रामों में आधुनिक संस्कृति लाने का प्रयास किया जाता है। अतः यहाँ मिश्रित राजनीतिक संस्कृति की व्यवस्था पायी जाती है। यहाँ पर राजनीतिक भूमिका की संरचना मिश्रित पायी जाती है और संसद, कानूनों मूल्यों तथा नियमों पर आधारित होती है। कई बार स्वार्थी नेता अपने-अपने राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए राजनीतिक क्षेत्रों में हिंसा फैला देते हैं।

37.4.4 सर्वाधिकारवादी राजव्यवस्था— आमण्ड के अनुसार सर्वाधिकारवादी संस्कृतियाँ—फासीवादी इटली, नाजी जर्मनी और स्टालिनवादी रूस में पायी जाती थी। वहाँ पर राजनीतिक संस्कृतियों की एकता दिखायी देती थी परन्तु वहाँ पर ऐच्छिक संस्थाओं की कमी थी और संचार साधनों पर केन्द्र का नियन्त्रण था। वहाँ पर सत्ता एक सर्वशक्तिशाली नेता के हाथ में रहती थी और यदि उसके कुछ मतभेद भी अन्य नेताओं के साथ होते थे, तो वे सार्वजनिक मंच से जनता तक नहीं पहुँचते थे।

आमण्ड के इस रचनात्मक वर्गीकरण से बहुत से अन्य विद्वान सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार राजनीतिक संस्कृति पूर्णरूप से राजव्यवस्था पर निर्भर नहीं है, वह उससे स्वतन्त्र है परन्तु उसको प्रभावित अवश्य करती है। वास्तव में देखा जाय तो हमें यह प्रतीत होगा कि राजनीतिक संस्कृति एक अत्यन्त प्रभावशाली प्रक्रिया है जो व्यक्ति के सारे जीवन में चलती रहती है, इसे समाजीकरण की प्रक्रिया कहा जाता है।

37.5 राजनीतिक संस्कृति तथा राजनीतिक सामाजीकरण का सम्बन्ध

आमण्ड तथा वरबा के अनुसार, 'राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा राजनीतिक संस्कृति कायम की जाती है और उसमें परिवर्तन लाया जाता है।' राजनीतिक संस्कृति एक समाजशास्त्रीय धारणा है, जबकि राजनीतिक समाजीकरण एक मनोवैज्ञानिक धारणा है। राजनीतिक समाजीकरण का सम्बन्ध मुख्य रूप से राजनीतिक लक्ष्यों को और व्यक्तियों को नई दिशा प्रदान करने से होता है। वे व्यक्ति राजनीतिक संस्कृति में भी परिवर्तन लाते हैं, यदि उनके दृष्टिकोण, स्थिति—ज्ञान अथवा दिशामान और गुणों में भी समय के साथ—साथ परिवर्तन आ जाय। सामाजीकरण का क्रम व्यक्ति जीवन में आजीवन चलता रहता है क्योंकि उसके राजनीतिक दृष्टिकोणों, स्थिति—ज्ञान अथवा दिशामान और गुण अथवा मूल्य पर लगातार प्रभाव पड़ता रहता है। उदाहरणस्वरूप जब किसी देश को भ्रष्ट तथा अकुशल राजनीतिक नेतृत्व, युद्ध, राजनीतिक अस्थिरता अथवा मुद्रा—स्फीति का सामना करना पड़ता है, तो लोगों के मन में रातों—रात आमूल चूल परिवर्तन आ जाते हैं। उदाहरणस्वरूप जलियाँवाला बाग, अमृतसर (पंजाब) में 13 अप्रैल 1919 को वैसाखी के दिन ब्रिटिश सरकार के एक सैनिक अधिकारी जनरल डायर ने हजारों व्यक्तियों का जो हत्याकाण्ड किया, उस झूठापूर्ण घटना ने लाखों भारतीयों को तुरन्त राजनीतिक कार्यवाही करने के लिए उकसाया। वियतनाम के युद्ध में अमरीका को 1960 के बाद जो असफलताएँ देखनी पड़ी और धन—जन की जो भारी हानि हुई, उसके कारण वहाँ पर बड़ी जबर्दस्त हलचल मची और लोगों ने अपनी सरकार से यह माँग की कि वह इस युद्ध से अलग हो जाय। फलतः अमेरिका की सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा और उसने इस युद्ध में धीरे—धीरे अलग होने के लिए पेरिस में उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम की सरकार के प्रतिनिधियों से एक समझौता किया। अतः घटनाओं के दबाव के कारण समाज में बहुत से परिवर्तन आ जाते हैं— उस समय मित्र तथा शत्रु, राजभक्त तथा विद्रोही, आक्रमणकारी तथा सहयोगी अपने व्यवहार में आवश्यकतानुसार परिवर्तन लाते हैं।

37.6 सारांश

जैसा कि पहले बताया गया है कि राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया या क्रम है, जिसके द्वारा राजनीतिक संस्कृति के गुणों, विश्वासों तथा मनोवेगों को आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाया जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राजनीतिक संस्कृति उन प्रक्रियाओं, विश्वासों तथा मनोभावों का एक समूह है जो कि राजनीतिक प्रक्रिया को एक व्यवस्था तथा अर्थ प्रदान करते हैं और भीतरी धारणाएँ तथा नियम प्रदान करते हैं जो कि राजनीतिक प्रणाली में व्यवहार का संचालन करते हैं। यह राजनीतिक आदर्शों तथा राजनीतिक क्रियात्मक मानों को घेरे रखता है। अतः राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक मनोवैज्ञानिक तथा आत्मिक मापों की पूर्णरूप में अभिव्यक्ति है। अन्त में हम कह सकते हैं कि राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक प्रणाली के लिए वह कुछ है, जो कि संस्कृति सामाजिक प्रणाली के लिए होती है।

37.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक संस्कृति का क्या अर्थ है? इसके व प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालिए।
2. राजनीतिक संस्कृति तथा राजनीतिक समाजीकरण के संबंधों को स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. डॉ. योगेश अटल ने राजनीतिक संस्कृति की व्याख्या किस रूप में की है?
2. राजनीतिक संस्कृति के प्रकार बताओ।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक संस्कृति का क्या आशय है? 2. राजनीतिक संस्कृति को राजव्यवस्था में साथ जोड़ कर कौन देखता है? 3. राजनीतिक संस्कृति कितने प्रकार की होती है?

37.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर. सी. अग्रवाल, "राजनीतिक शास्त्र के सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली
2. डॉ. ओ.पी. गाबा, "राजनीतिक विज्ञान के आधार तत्त्व" मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर
3. डॉ. बी.आर. पुरोहित, "राजनीतिक शास्त्र के मूल सिद्धान्त," राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

इकाई-38 : शक्ति

संरचना

- 38.1 उद्देश्य
- 38.2 प्रस्तावना
- 38.3 शक्ति की परिभाषा
- 38.4 शक्ति की व्याख्या
- 38.5 शक्ति और बल
- 38.6 राजनीतिक शक्ति व सैनिक शक्ति में अन्तर
- 38.7 शक्ति का व्यवहारिक प्रयोग
- 38.8 शक्ति के स्रोत
 - 38.8.1 ज्ञान
 - 38.8.2 संगठन
 - 38.8.3 सत्ता
 - 38.8.4 बल प्रयोग
 - 38.8.5 आर्थिक साधन
 - 38.8.6 शस्त्रास्त्रों पर नियन्त्रण
 - 38.8.7 प्रेम और प्रभाव
 - 38.8.8 व्यक्तिगत आकर्षण
- 38.9 शक्ति के प्रकार
 - 38.9.1 व्यवहार परिवर्तन
 - 38.9.2 शक्ति का वर्गीकरण तथा औचित्य
 - 38.9.3 बायर्सटेटेड द्वारा शक्ति का विभाजन
 - 38.9.4 शक्ति प्रवाह के आधार पर
 - 38.9.5 केन्द्रीयकरण के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण
 - 38.9.6 क्षेत्रीयता के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण
 - 38.9.7 प्रयोग एवं परिणाम के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण
- 38.10 राजनीति विज्ञान में शक्ति का दृष्टिकोण
- 38.11 शक्ति को प्रयोग में करने के तरीके
 - 38.11.1 अनुमय
 - 38.11.2 पुरस्कार
 - 38.11.3 दण्ड
 - 38.11.4 बल का प्रयोग
- 38.12 शक्ति को कैसे तोलना है ?
- 38.13 शक्ति का माप
- 38.14 सत्ता
- 38.15 सत्ता की अवधारणा: अर्थ एवं व्याख्या
- 38.16 सत्ता के स्रोत या सत्ता के प्रकार

- 38.16.1 परम्परागत
- 38.16.2 बौद्धिक कानूनी या वैधानिक नौकरशाही सत्ता
- 38.16.3 करिश्मात्मक सत्ता
- 38.17 सत्ता पालन के आधार
 - 38.17.1 विश्वास
 - 38.17.2 एकरूपता
 - 38.17.3 दबाव
 - 38.17.4 वैधानिकता
- 38.18 सत्ता की सीमाएं
 - 38.18.1 प्राकृतिक सीमा
 - 38.18.2 नैतिक धार्मिक विश्वास
 - 38.18.3 संस्कृति
 - 38.18.4 संविधान, नियम और उपनियम
 - 38.18.5 आर्थिक सीमाएं
 - 38.18.6 अधीनस्थों की क्षमताएं और अधीनस्थों द्वारा निर्मित संघ
 - 38.18.7 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय कानून
- 38.19 सारांश
- 38.20 अभ्यास प्रश्नावली
- 38.21 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

38.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

- शक्ति एवं सत्ता के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करना,
- शक्ति एवं सत्ता के विभिन्न रूपों के बारे में जानना,
- शक्ति का प्रयोग किस स्तर पर किया जाता है?
- ये किस रूप में राजव्यवस्था को प्रभावित करती हैं?

38.2 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान में शक्ति की अवधारणा का अत्यधिक महत्व है। यद्यपि शक्ति का अध्ययन अनेक समाजशास्त्रों के द्वारा किया जाता है परन्तु राजनीति विज्ञान के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु है। यूनानी विचारक सुक्रात, प्लेटो अरस्तू ने शक्ति के महत्व को अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है। हमारे देश में आचार्य कौटिल्य ने अपने महान ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में दण्ड शक्ति का वर्णन करते हुए लिखा है, "समस्त सांसारिक जीवन का मूल आधार दण्ड शक्ति ही है।" आधुनिक काल में मैकियावेली, हाब्स, ट्रिट्स्के और नीत्शे इत्यादि ने शक्ति के महत्व पर प्रकाश डाला है। वर्तमान काल में कैटलिन, चार्ल्स मैरियम, हेरल्ड लासवेल, मारगेन्थाऊ इत्यादि विद्वानों ने शक्ति को मौलिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। कैटलिन ने लिखा है कि राजनीति शास्त्र शक्ति का विज्ञान है। मैकाइवर का कहना है कि समस्त गति, सभी सम्बन्ध, सभी प्रक्रियाएं व्यवस्था और प्रकृति में घटने वाली प्रत्येक घटना शक्ति की अभिव्यक्ति हैं। विलियम ए रोब्सन भी राजनीति विज्ञान को समाज में शक्ति, उसकी प्रकृति, आधार, प्रक्रियाएं, विषय विस्तार तथा निष्कर्षों से सम्बन्धित मानता है।

यद्यपि वर्तमान काल में मैक्स वेबर, बैडलिन, रसल आदि विद्वानों ने शक्ति का विशुद्ध अध्ययन किया है, परन्तु राजनीति के केन्द्रीय तन्त्र के रूप में इसका विकास शिकागो विश्वविद्यालय के विद्वानों ने ही किया, जिनमें प्रमुख विद्वान चार्ल्स मैरियम, लासवेल, मारगेन्थाऊ आदि थे। लासवेल और काप्लान ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "पावर एण्ड सोसाइटी" में शक्ति सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन करते हुए और यह मत प्रतिपादित किया है कि शक्ति का सिद्धान्त राजनीति विज्ञान का सबसे मौलिक सिद्धान्त है और यह राजनीतिक प्रक्रियाओं के निर्माण तथा शक्तियों के प्रयोग एवं वितरण में विशिष्ट तत्व के रूप में काम करता है। एयजे मारगेन्थाऊ ने अपनी पुस्तक "पावर ऐज ए पॉलिटिकल कान्सेप्ट" में अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में शक्ति के महत्व को भली-भांति दर्शाया और कहा है, "शक्ति की राजनीति मानव की सत्तालिप्सा में निहित है।" उन्होंने यह कहा है कि वर्तमान समय में राजनीति शास्त्र का अध्ययन शक्ति के चारों तरफ घूमता है। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व जर्मन दार्शनिक एरिक कॉफ़सां ने लिखा था, "राज्य शक्ति के विकास वृद्धि एवं प्रदर्शन का प्रतीक है।"

38.3 शक्ति की परिभाषा

1. कार्ल बेकर के अनुसार "असली तथ्य यह है कि राजनीति को शक्ति से अलग नहीं किया जा सकता है। राज्य और सरकारें शक्ति का प्रयोग करने के लिए विद्यमान हैं। प्रत्येक देश और विश्व में या तो अधिकांश शक्तियों का स्थायी सन्तुलन है या अस्थायी सन्तुलन है या कोई सन्तुलन नहीं है। परन्तु सदैव शक्ति रहती है।" राजनीति शक्ति संसार में विद्यमान हैं और इसका उनके द्वारा प्रयोग किया जायेगा, जिनके पास यह शक्ति है।"
2. हरबर्ट लोल्डहेमर तथा एडवर्ड शिल्स के अनुसार, "शक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूसरों को प्रभावित करने की योग्यता है।"
3. शोरजनबर्ग ने शक्ति की परिभाषा इस तरह की है: शक्ति दूसरों पर अपनी इच्छा लादने और आज्ञा का पालन न करने पर उनके विरुद्ध प्रभावशाली कार्यवाही करने की क्षमता है।
4. आर.एच. टावनी ने इसकी परिभाषा इस तरह की "यह एक व्यक्ति या समूह की क्षमता है जिस तरह से वह इच्छा करता है।"
5. प्रो. मॉरगेन्थाऊ ने जो कि यथार्थवादी विचारधारा के मुख्य व्याख्याता हैं, ने लेखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति के लिए एक संघर्ष है। उनके अनुसार "शक्ति से अभिप्राय: एक मनुष्य की दूसरे व्यक्तियों के कार्यों तथा मनो पर शक्ति है। यह एक प्रकार से उन दोनों के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध हैं, जिनके हाथ में सत्ता होती है और जिन पर सत्ता का प्रयोग किया जा सकता है।"
6. राबर्ट बायर्सटेट के अनुसार, "शक्ति बलप्रयोग की योग्यता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग।"
7. मैकाइवर ने कहा है, "शक्ति होने से हमारा अर्थ व्यक्तियों या व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करने, विनियमित करने या निर्देशित करने की क्षमता से है।"
8. एम.जी. रिमथ के अनुसार शक्ति, व्यक्तियों, समूहों, नियमों या भौतिक दशाओं के प्रतिरोध के होते हुए भी स्वायत्ततापूर्ण कदम उठाने की क्षमता का नाम है।"

38.4 शक्ति की व्याख्या

शक्ति सम्बन्धी उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति का अध्ययन राजनीतिक शास्त्र के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। कार्लो इवेस्टिन नामक विद्वान ने अपनी पुस्तक '**Political Power and Government Process**' में शक्ति के सम्बन्ध में कहा है कि समाज, एक ध्रुव की हैसियत से विभिन्न शक्ति सम्बन्धों, जैसे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक इत्यादि की प्रणाली है। कैंटलिन ने जहाँ शक्ति की अवधारणा को विज्ञान कहकर पुकारा है, वहाँ मैकाइवर ने बतलाया है कि समस्त गति, सभी सम्बन्ध, सभी प्रक्रियाएँ विषय विस्तार, व्यवस्था और प्रकृति में घटने वाली प्रत्येक घटना शक्ति की अभिव्यक्ति है।

राब्सन के अनुसार, राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध समाज में शक्ति, उसकी प्रकृति, आधार, प्रक्रियाओं, विषय-विस्तार तथा निष्कर्षों से है। हॉब्स के अनुसार, "शक्ति भविष्य में कुछ निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने का एक वर्तमान साधन है।" सी जे फ्रेडरिक ने हॉब्स की इस परिभाषा पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि यह बहुत अधिक संकीर्ण है। उसके अनुसार, "शक्ति प्रमुखतया एक विचार नहीं है। यह केवल अधिकार ही नहीं, बल्कि एक सम्बन्ध भी है। लासवेल, केपलन और हरबर्ट साइमन ने शक्ति को 'प्रभाव क्रिया' के रूप में परिभाषित किया है। इनके अनुसार शक्ति को जो व्यक्ति प्रयोग करता है, वह दूसरों की नीतियों को प्रभावित करता है। उन्होंने शक्ति के अन्तर्गत नियंत्रण के तत्त्व को स्वीकार किया है, क्योंकि शक्ति में सर्वदा अनुशासित की भावना रहती है जिसे हम बल प्रयोग का तत्त्व कह सकते हैं। इस प्रकार लासवेल, काप्लान और फ्रेडरिक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि प्रभाव भी शक्ति का एक प्रकार है। दूसरी ओर सर्ट ए. डेल के अनुसार, "शक्ति लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक ऐसी विशेष स्थिति का नाम है, जिसके अन्तर्गत एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को प्रभावित कर उससे कुछ ऐसे कार्य कराए जा सकते हैं जो उसके द्वारा अन्यथा न किए जाते।" मैकाइवर ने शक्ति का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि इसका अर्थ व्यक्तियों को नियंत्रित करने की क्षमता से है। लासवेल और केपलन की उपर्युक्त परिभाषाओं के अन्तर्गत शक्ति को प्रभाव का पर्यायवाची माना है जो कि कुछ परिस्थितियों में ठीक हो सकता है, परन्तु सारी परिस्थितियों में नहीं, जैसे चंगेज खाँ, हलाकू, नेपोलियन और हिटलर शक्ति के प्रतीक थे, परन्तु अब्राहम लिंकन, दुइरो विल्सन, रूजवेल्ट, लायड जार्ज और चर्चिल शक्ति और प्रभाव दोनों के प्रतीक थे। इसमें संदेह नहीं कि सत्ताधारी नेता शक्ति और प्रभाव दोनों द्वारा किसी भी व्यक्ति को प्रभावित कर सकते हैं परन्तु यह तो प्रभावित व्यक्ति ही सही बतला सकता है कि वह शक्ति के द्वारा प्रभावित हुआ अथवा सत्ताधारी नेता के प्रभाव से प्रभावित हुआ। अनेक बार ये दोनों (शक्ति और प्रभाव) एक-दूसरे के पूरक ही होते हैं।

मैकाइवर के अनुसार, शक्ति मानव जीवन का एक सरल तत्त्व न होकर एक जटिल तत्त्व है और यह एक बहुपक्षीय तत्त्व है। उदाहरणार्थ, जब हम यह कहते हैं कि प्रधानमन्त्री की शक्तियाँ मन्त्रिमण्डल के ऊपर बहुत अधिक हैं, तो यह पता लगाना पड़ेगा कि प्रधानमन्त्री की शक्ति के क्या स्रोत हैं, वह किस प्रकार और किन अवस्थाओं में कितनी शक्ति का प्रयोग करता है और कौन से कार्य केवल उसके प्रभाव से ही निकल जाते हैं।

38.5 शक्ति और बल

सामान्यतया शक्ति और बल को एक ही अर्थ में लिया जाता है। परन्तु ऐसा नहीं है। शक्ति छिपा हुआ बल है और बल प्रकट या प्रत्यक्ष शक्ति है। अतः शक्ति एक अप्रकट तत्त्व है। जबकि बल एक प्रकट तत्त्व है। किसी भी जिलाधीश की अनेक प्रकार की शक्तियाँ हो सकती हैं परन्तु जब वह कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए उपद्रवियों पर पुलिस को गोली चलाने का आदेश देता है, तो यह साक्षात् बल-प्रयोग का उदाहरण है। बल शक्ति का एक रूप है।

38.6 राजनीतिक शक्ति एवं सैनिक शक्ति में अन्तर

राजनीतिक शक्ति और सैनिक शक्ति में महान् अन्तर है। राजनीतिक शक्ति का आधार मनोवैज्ञानिक प्रभाव, नेतृत्व तथा स्वेच्छा जैसे तत्व होते हैं। राजनीतिक शक्ति में धन, शस्त्र, सामग्री, नागरिक सत्ता और मतों पर प्रभाव डालने की शक्ति भी शामिल हैं। लोकतन्त्रीय देशों में राजनीतिक शक्ति चुनाव जीत कर प्राप्त की जाती है जिसमें धन का खुलकर प्रयोग होता है और विभिन्न तरीकों से मत प्रभावित किए जाते हैं। सेनानायक सैनिक शक्ति बल प्रयोग अथवा सैनिक क्रांति के द्वारा प्राप्त करता है। राजनीतिक शक्ति में सैनिक तत्व गौण रहता है, क्योंकि सेना को राजनीतिक नेताओं (राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री इत्यादि) के आदेश का पालन करना पड़ता है। मॉरगेन्थाऊ ने राजनीतिक शक्ति को मनोवैज्ञानिक शक्ति माना है, जिसके अनुसार एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की क्रियाओं तथा मस्तिष्कों पर नियंत्रण रखता है। सैनिक शक्ति, दमन या हिंसा का साक्षात् प्रयोग है। यदि एक देश दूसरे देश पर आक्रमण करता है अथवा एक देश के सत्ताधारी, विद्रोह का दमन करने के लिए सेना का प्रयोग करते हैं, तो यह सैनिक शक्ति का ही प्रयोग या बल का प्रयोग है। इसमें हिंसा प्रत्यक्ष रूप से छिपी हुई होती है। जब राजनीतिक शक्ति सैनिक शक्ति का प्रयोग करती है तो इसका व्यवहार में यह अर्थ लिया जाता है कि सैनिक या अर्द्ध सैनिक शक्ति के पक्ष में राजनीतिक शक्ति ने अधित्याग कर दिया है किन्तु डायक सैनिक शक्ति को भी राजनीतिक शक्ति के अन्तर्गत रखने के पक्ष में है। उसके अनुसार संघर्ष राजनीति का मूल आधार है, अतः चाहें यह शब्दों द्वारा किया जाय अथवा हिंसा द्वारा, यह बात सारहीन है। उसने सैनिक शक्ति को भी राजनीतिक शक्ति का ही एक उपविभाग माना है। संक्षेप में व्यापक अर्थ में हम कह सकते हैं कि शक्ति का अभिप्राय एक राष्ट्र की उस क्षमता अथवा योग्यता से है, जिसके द्वारा ऐसा दूसरे राष्ट्र को वह कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है जो वह चाहता है अथवा दूसरे राष्ट्र को वह काम करने से रोक सकता है जिसको वह अवांछनीय समझता है। इसी बात को हम कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं।

38.7 शक्ति का व्यवहारिक प्रयोग

प्रथम महायुद्ध (1914-18) में जर्मनी की हार हो गई थी और उसका एक भाग चैकोस्लोवाकिया को दे दिया गया था। 1933 ई. में जर्मनी में हिटलर प्रधानमंत्री (चान्सलर) बन गया और बाद में वह बहुत शक्तिशाली हो गया। उसने 1938 ई. में चैकोस्लोवाकिया से जर्मनी के भाग लौटाने के लिए कहा। चैकोस्लोवाकिया ने उन्हें लौटाने से इन्कार कर दिया। हिटलर ने चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करके वे सारे भाग दुबारा जीत लिए। इस तरह हिटलर ने चैकोस्लोवाकिया पर अपनी शक्ति का प्रयोग किया। उसके पश्चात् हिटलर ने पोलैण्ड से जर्मनी के उन भागों को वापस लौटाने के लिए कहा जो कि प्रथम महायुद्ध (1914-18 ईसवी) में जर्मनी की हार के फलस्वरूप उसने प्राप्त किए थे। पोलैण्ड ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। फलतः हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण करके अपनी शक्ति का प्रयोग किया। दूसरे विश्वयुद्ध (1939-45 ईसवी) में जर्मनी, जापान और ईटली की हार हो गई। जर्मनी, जापान तथा ईटली पर विजेता शक्तियाँ (अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस) ने अपनी शक्ति का प्रयोग किया। जर्मनी को विभाजित किया गया, एक भाग (पश्चिमी जर्मनी) पर ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का कब्जा हो गया और दूसरे पर पूर्व सोवियत संघ को आधिपत्य स्थापित हो गया, तथा उसने वहाँ साम्यवादी सरकार की स्थापना तथा साम्यवादी संस्थाओं को लाने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग किया। जापान पर अमेरिका ने अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया और वहाँ पर अमेरिका के राष्ट्रपति के प्रतिनिधि की हस्तक्षेप से जनरल मैकार्थर ने सैनिक अड़्डे प्राप्त कर लिए तथा सैन्यवाद को समाप्त कर लोकतन्त्र की स्थापना की। ईटली में भी द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विजेता शक्तियों ने सैन्यवाद को समाप्त कर लोकतन्त्र की स्थापना की। इस तरह से विभिन्न इन देशों पर अपनी शक्ति का प्रयोग किया।

38.8 शक्ति के स्रोत

शक्ति के निम्नलिखित स्रोत हैं -

38.8.1 ज्ञान- मानवीय क्षेत्र में शक्ति का प्रथम स्रोत ज्ञान है। साधारण अर्थ में ज्ञान, व्यक्ति को अपने लक्ष्यों को समन्वित करने तथा प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करता है। ज्ञान के द्वारा व्यक्ति अपने गुणों को इस तरह से केन्द्रित करता है कि वे अमुक कार्य के सम्पादन में शक्ति का साधन बन सकें। व्यक्ति का नेतृत्व, प्रबन्ध शक्ति, इच्छा शक्ति, सहन शक्ति और अपने आपको अभिव्यक्त करने की शक्ति, तर्क शक्ति आदि तत्त्व शक्ति के महत्वपूर्ण पहलू हैं। इनके अभाव में व्यक्ति को हानि हो सकती है।

38.8.2 संगठन- एक पुरानी कहावत प्रसिद्ध है कि "संगठन ही शक्ति है।" जब एक व्यवसाय के सदस्य एक संगठन बना लेते हैं, तो वह बहुत शक्तिशाली बन जाते हैं, जैसे अखिल भारतीय मजदूर संघ, ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस, मिल ओनर्स एसोसियेशन, अखिल भारतीय उद्योग तथा व्यापार संघ इत्यादि। जब अनेक छोटे-बड़े राज्य एक संघ बना लेते हैं, तो वह राज्य अत्यन्त शक्तिशाली हो जाता है, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका तथा भारत हैं।

38.8.3 सत्ता- जब किसी व्यक्ति के हाथ में सत्ता आ जाती है, अर्थात् वह प्रधानमंत्री, केन्द्रीय मन्त्री, मुख्यमन्त्री अथवा राज्य में मन्त्री इत्यादि बन जाता है, तो वह शक्तिशाली हो जाता है, क्योंकि सरकारी तन्त्र (मशीनरी) उसके हाथ में आ जाता है। ये सब राज्य की शक्ति का उपभोग करने की स्थिति में आ जाते हैं।

38.8.4 बल प्रयोग- जिस देश के पास जितने अधिक आधुनिकतम शस्त्रास्त्र तथा प्रशिक्षित सेनाएं होंगी, वह उतना ही अधिक शक्तिशाली होगा। आवश्यकता पड़ने पर वह राष्ट्र अपने शत्रु के विरुद्ध बल प्रयोग करके किसी भी उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है। उदाहरणस्वरूप, अर्जेन्टीना ने फाकलैण्ड द्वीप समूह पर कब्जा कर लिया था। ग्रेट ब्रिटेन ने शक्ति का प्रयोग करके उस पर पुनः कब्जा कर लिया और अर्जेन्टीना को वहाँ से निकाल दिया। कारगिल में भारत ने बल प्रयोग करके पाकिस्तानी घुसपैठियों को खदेड़ दिया था।

38.8.5 आर्थिक साधन— जिस व्यक्ति के पास बहुत अधिक आर्थिक साधन होते हैं, वह चुनाव जीत लेता है और शक्ति प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार जिस राष्ट्र के पास अधिक आर्थिक साधन होते हैं, तो वह राष्ट्र दूसरों को आर्थिक सहायता देकर प्रभावित का प्रयत्न करता है अर्थात्, वह उसकी विदेश नीति और आर्थिक नीति को प्रभावित करता है। उदाहरणस्वरूप अमरीका के पास बहुत अधिक आर्थिक साधन हैं, इसलिए उसने अनेक राष्ट्रों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया है।

38.8.6 शस्त्रास्त्रों पर नियन्त्रण— जिस व्यक्ति के पास शस्त्रास्त्र होते हैं, वह दूसरे निहत्थे लोगों पर बहुत शीघ्र अपना प्रभाव स्थापित कर लेता है। यही हाल राष्ट्रों का है। अमरीका और रूस के पास शस्त्रास्त्रों का असीमित भण्डार है। अतः वे अरबों रूपयों के शस्त्रास्त्र प्रतिवर्ष बेचते हैं और दूसरे देशों की नीतियों को प्रभावित करते हैं। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए ही सेना को आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित करना परम आवश्यक माना जाता है।

38.8.7 प्रेम और प्रभाव— प्रेम और प्रभाव भी शक्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। महात्मा गांधी का सत्याग्रह प्रेम पर आधारित था। उन्होंने अपने प्रेम और प्रभाव से देशवासियों को संगठित कर दे उनमें और एक अद्भुत शक्ति उत्पन्न की, जिसके द्वारा उन्होंने ब्रिटिश शासकों को झुका दिया तथा भारत को स्वतंत्रता दिलाई।

38.8.8 व्यक्तिगत आकर्षण— कई नेताओं का इतना जबर्दस्त त्याग और व्यक्तिगत आकर्षण होता है कि उनके सामने लाखों लोग झुक जाते हैं और उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। इस प्रकार का महान् आकर्षण लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस, पण्डित जवाहर लाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल श्रीमती इन्दिरा गांधी, और जयप्रकाश नारायण में था। श्री जय प्रकाश नारायण ने विभिन्न दलों को इकट्ठा करके मार्च, 1977 के चुनाव में एक अद्भुत शक्ति का निर्माण किया और कांग्रेस को पराजित करके जनता पार्टी के शासन की स्थापना की। इसे व्यक्तित्व में 'करिश्मा' की संज्ञा दी जाती है। वर्तमान में प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी का 'करिश्मा' ही राजग सरकार की सफलता का मुख्य आधार है।

38.9 शक्ति के प्रकार

शक्ति के अनेक प्रकार तथा रूप होते हैं। शक्ति कितनी प्रकार की होती है इनके सम्बन्ध में भी विद्वानों ने अलग-अलग मत प्रकट किए हैं। गोल्डहेमर एवं एडवर्ड शिल्स के अनुसार, "एक व्यक्ति की शक्ति उतनी कही जाती है, जितनी मात्रा में वह अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे के व्यवहार को परिवर्तित कर सके।"

38.9.1 व्यवहार परिवर्तन— व्यवहार परिवर्तन के आधार पर शक्ति तीन प्रकार की होती है—1. बल, 2. प्रभुत्व 3. चातुर्य। जब एक उच्चाधिकारी किसी व्यक्ति को आदेश देता है और वह उसको नहीं मानता है तो वह बल प्रयोग के द्वारा उसको मनवा सकता है। दूसरे जब एक शक्तिशाली व्यक्ति अपनी इच्छा को प्रकट करके दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करता है, तो वह प्रभुत्व कहलायेगा। तीसरे, जब कोई व्यक्ति अपने मन की बात नहीं बताता है। अपितु तर्कों या चालों के द्वारा दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करता है, तो वह उसका चातुर्य कहलाता है।

38.9.2 शक्ति का वर्गीकरण औचित्य के आधार पर प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्सवेबर— केवल औचित्यपूर्ण शक्ति का अध्ययन करता है जिसे वह सत्ता कहता है। जिसे अधीनस्थों द्वारा स्वीकार किया जाता है, या अधिकारपूर्वक माना जाता है। उसे औचित्यपूर्ण सत्ता कहते हैं। जो शक्ति औचित्यपूर्ण नहीं है, उसे वेबर दमन कहते हैं। वेबर ने औचित्यपूर्ण शक्ति के तीन प्रमुख रूप बताए हैं—1. कानूनी या वैधानिक 2. परम्परागत 3. करिश्मावादी।

जब अधीनस्थ लोग शक्तिशाली राजनेताओं अथवा सरकारी अधिकारियों द्वारा बनाए हुए कानूनों, निर्देशों एवं आज्ञापत्रियों की वैधानिकता में विश्वास करते हैं, तो यह औचित्यपूर्ण शक्ति वैधानिक कहलाती है। दूसरे, जब शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा बनाए हुए कानूनों और आदेशों का पालन केवल परम्परा के आधार पर ही होता है अथवा परम्परागत आधार पर ही उच्च अधिकारी अपने आदेशों का पालन कराता है, तो इसे औचित्यपूर्ण शक्ति का परम्परागत रूप कहा जायेगा। तीसरे, जब शक्तिशाली नेताओं अथवा अधिकारियों के बनाए गए आदेशों और आज्ञापत्रियों का पालन अधीनस्थों द्वारा केवल उन नेताओं अथवा अधिकारियों में असीम श्रद्धा के कारण किया जाता है, तो उसे करिश्मावादी औचित्यपूर्ण शक्ति कहा जाता है। 1971-72 में श्रीमती इन्दिरा गांधी को इसी प्रकार की करिश्मावादी शक्ति ने पाकिस्तान को युद्ध में परास्त करके बंगलादेश की स्थापना में सहायता दी थी।

38.9.3 बायर्सटेट द्वारा शक्ति का विभाजन— बायर्सटेट द्वारा निम्नलिखित आधार पर शक्ति का विभाजन किया गया है—1. दृश्यता के आधार पर शक्ति प्रच्छन्न या प्रकट हो सकती है। शक्ति के अदृश्य रूप को प्रच्छन्न शक्ति कहा जाता है, जैसे सत्ता, बल आदि। 2. दमन की दृष्टि से शक्ति दमनात्मक तथा अदमनात्मक हो सकती है। दमनात्मक शक्ति बल के रूप में अदमनात्मक प्रभाव के रूप में प्रकट होती है। 3. शक्ति औपचारिक तथा अनौपचारिक भी हो सकती है। औपचारिक शक्ति को शासक लोग कानून या संविधान द्वारा प्राप्त करते हैं जबकि अनौपचारिक शक्ति बिना कानूनी मान्यता के वास्तव में प्राप्त कर ली जाती है। उदाहरण स्वरूप, श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 1980 में चुनाव के द्वारा शक्ति प्राप्त कर ली और जिया-उल-हक ने सैनिक शक्ति द्वारा भुट्टों (तत्कालीन प्रधानमन्त्री) को 5 जुलाई, 1975 को हटाकर सत्ता प्राप्त कर ली और उसने किसी औपचारिकता की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। 4. शक्ति प्रयोग की दृष्टि से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही हो सकती है। यदि प्रधानमन्त्री या कोई अन्य शक्ति सम्पन्न व्यक्ति, शक्ति का प्रयोग स्वयं करता है, तो वह शक्ति का प्रत्यक्ष प्रयोग कहलायेगा और यदि वह अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है, तो वह अप्रत्यक्ष कहलायेगा।

38.9.4 शक्ति प्रवाह के आधार पर— शक्ति प्रवाह के आधार पर भी शक्ति का वर्गीकरण किया गया है। इस तरह से शक्ति के तीन रूप होते हैं—1. एकपक्षीय 2. द्विपक्षीय 3. बहुपक्षीय

38.9.5 केन्द्रीकरण के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण— केन्द्रीकरण के आधार पर शक्ति के दो रूप होते हैं। (क) सकेन्द्रित शक्ति और (ख) विकेन्द्रित शक्ति।

38.9.6 क्षेत्रीयता के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण— क्षेत्रीयता के आधार पर शक्ति के तीन रूप होते हैं जो निम्नलिखित हैं – (क) अन्तर्राष्ट्रीय; (ख) राष्ट्रीय; (ग) मूलखण्ड विशेष से सम्बन्धित

38.9.7 प्रयोग एवं परिणाम के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण— प्रयोग एवं परिणाम के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण किया गया है। यह दो प्रकार की हो सकती है – (क) ऐच्छिक और (ख) अनैच्छिक

38.10 राजनीति विज्ञान में शक्ति का दृष्टिकोण

राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय यह भी है कि शक्ति किसके हाथ में है और उसका प्रयोग किस प्रकार किया जा रहा है? इसी कारण से वर्तमान समय में राजनीतिक विचारक शक्ति की अवधारणा को व्यक्त करने में अत्यधिक रुचि प्रदर्शित करते हैं। फलतः शक्ति, राजनीतिक शोध का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय बन गया है, क्योंकि इसके द्वारा दूसरों को प्रभावित करने की प्रक्रिया को सरलता से समझा जा सकता है। शक्ति के बारे में यह केवल आधुनिक कल्पना ही है, अन्यथा प्राचीन और मध्यकाल में शक्ति का अभिप्रायः राजाओं की निरंकुश शक्तियों से लिया जाता था, फलतः इसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था।

वर्तमान समय में जार्ज कैटलिन और हेरल्ड डी. लासवेल ने शक्ति की धारणा पर अपनी नवीन संकल्पनाओं का प्रतिपादन किया है, इसलिए शक्ति की अवधारणा को राजनीति विज्ञान में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है। इस विषय में यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि लासवेल वर्तमान युग का सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली शोधकर्ता है।

जार्ज कैटलिन के विचार – जार्ज कैटलिन ने शक्ति को राजनीतिक जीवन में केन्द्रीय स्थान प्रदान किया है। वह कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं को पूरा करने का प्रयास करता है, अतः उसे दूसरों की इच्छाओं को नियन्त्रित करना पड़ता है। जब व्यक्ति इस दिशा में प्रयत्न करता है, तो शक्ति या संघर्ष के तत्व का उदय हो जाता है। शक्ति की अवधारणा इस बात को स्पष्ट नहीं करती है कि सरकार अपनी मनोकामनाओं तथा उद्देश्यों को जनता से मन्वाने के लिए किस प्रकार कार्य करती है परन्तु इसके द्वारा केवल इस समस्या पर व्यापक रूप से विचार किया जाता है कि एक व्यक्ति या समूह दूसरों की इच्छाओं को किस प्रकार प्रभावित करता है।

लासवेल के विचार – लासवेल का विचार है कि राजनीति विज्ञान मूल रूप से एक शक्ति-प्रक्रिया नहीं है, अपितु यह समाज के मूल्यों की स्थिति एवं बनावट में परिवर्तन का अध्ययन है, अतः राजनीति विज्ञान में शक्ति एवं मूल्य दोनों का ही अध्ययन किया जाना चाहिए और इन दोनों की पारस्परिक निर्भरता को स्पष्ट किया जाना चाहिए। लासवेल ने अपनी पुस्तक – “कौन, कब, क्या, कैसे प्राप्त करता है” इसमें उन्होंने स्पष्ट किया है कि उच्च वर्ग कैसे शक्ति प्राप्त करता है, कैसे उसे बनाए रखता है, किस तरह अपनी स्थिति सुदृढ़ करता है और किस प्रकार अपनी आय को बढ़ाता है। यदि हम वर्तमान काल में राजनीति विज्ञान को बदलते हुए मूल्यों का अध्ययन मान लें, तो लासवेल की धारणा सम्पूर्ण प्रक्रिया का एक छोटा-सा भाग मात्र समझी जायेगी। अतः कई विचारकों ने लासवेल की इस धारणा को संकीर्ण विचारधारा माना है। इसके पश्चात् लासवेल की एक और पुस्तक ‘शक्ति और समाज’ प्रकाशित हुई और इस पुस्तक में उन्होंने मूल्यों के वितरण को भी राजनीति विज्ञान के अध्ययन में शामिल कर दिया।

38.11 शक्ति को प्रयोग करने के तरीके

शक्ति की परिभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के बाद यह बताना भी बहुत आवश्यक है कि शक्ति का प्रयोग किस तरह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किया जाता है। इसके लिए चार तरीके अपनाए गये हैं – (1) अनुनय (2) पुरस्कार (3) दण्ड (4) बल प्रयोग। अब इन चारों तरीकों का बारी-बारी वर्णन करते हैं।

38.11.1 अनुनय— अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस पद्धति का प्रयोग शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा सबसे अधिक होता है। उदाहरणस्वरूप एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से कुछ काम निकलवाना चाहता है अथवा उसको उस कार्य से शिकना चाहता है जो उसके हित में नहीं है, तो सबसे अच्छा तरीका यह है कि वह राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के सम्मुख सारी स्थिति अपने ढंग से प्रस्तुत करे और तर्कों द्वारा उस राष्ट्र को आश्वस्त कर दे कि अमुक कार्य उसके हित में नहीं है। दूसरा राष्ट्र कई बार आश्वस्त होकर अपने विचार बदल लेता है और पहले राष्ट्र की बात को मान लेता है।

38.11.2 पुरस्कार— अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रयोग का दूसरा ढंग पुरस्कार है। उदाहरणस्वरूप, ‘क’ नामक राष्ट्र ‘ख’ नामक राष्ट्र से अपनी कुछ बात मनवाना चाहता है, तो उसकी सन्तुष्टि, बदले में किसी पुरस्कार के लालच से कर सकता है। यह पुरस्कार कई रूपों में हो सकता है, मनोवैज्ञानिक, भौतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक। मनोवैज्ञानिक पुरस्कार इस रूप में भी हो सकता है कि ‘क’ राष्ट्र अपनी नीतियों का विवेचन इतने अच्छे ढंग से करे कि ‘ख’ नामक राष्ट्र की मनोवैज्ञानिक ढंग से सन्तुष्टि हो जाये और वह राष्ट्र समझने लगे कि ‘क’ राष्ट्र की नीतियाँ विश्व हित में हैं। इसमें ‘ख’ नामक राष्ट्र की यह तसल्ली होती है कि उसकी उचित नीतियों की भी ‘क’ राष्ट्र सराहना करेगा। दूसरे, पुरस्कार भौतिक रूप में हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप, यदि ‘क’ नामक राष्ट्र ‘ख’ नामक राष्ट्र की नीतियों को अपने हित में प्रभावित करना चाहता है, तो यह ‘ख’ राष्ट्र को कुछ नया प्रदेश प्राप्त करने में सहायता दे सकता है या उसको हथियारों की या सैनिक सहायता दे सकता है या उसके स्टाफ को सैनिक अथवा प्राविधिक प्रशिक्षण की सुविधा प्रदान कर सकता है। चीन और अमरीका ने भारत के विरुद्ध पाकिस्तान की नीतियों को प्रभावित करने के लिए इस ढंग को अपनाया है।

तीसरे, यदि ‘क’ राष्ट्र ‘ख’ की नीतियों को प्रभावित करना चाहता है, तो उनको भारी मात्रा में आर्थिक सहायता भी दे सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका तथा रूस दोनों ने इस तरीके को अपनाया है। वे अनेक देशों को आर्थिक सहायता दे रहे हैं। चौथे, राजनीतिक पुरस्कार एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को इस तरह दे सकता है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और संगठनों में उसके दृष्टिकोण का पूरे जोर से समर्थन करे या प्रचार करे।

38.11.3 दण्ड— शक्ति के प्रयोग का तीसरा ढंग दण्ड देना है। वास्तव में पुरस्कार और दण्ड का गहरा सम्बन्ध है। एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र को दण्ड देने का सबसे प्रभावशाली तरीका यह है कि वह राष्ट्र उस राष्ट्र को वे पुरस्कार देना बन्द कर दें, जो वह दूसरे राष्ट्र को देने वाला था, यदि दूसरा राष्ट्र पहले राष्ट्र की इच्छाओं के प्रतिकूल कार्य करे। कई बार शक्तिशाली राष्ट्र ऐसा करते हैं कि जिन निर्बल राष्ट्रों से वे अपनी कुछ बात मनवाना चाहते हैं, वे उनको पहले ही दण्ड की धमकी देते हैं, यदि वे देखें कि निर्बल राष्ट्र उनकी बात को मानने में कुछ हिचकिचाहट दिखा रहे हैं। यह धमकी ही कई बार काफी होती है और उससे ही शक्तिशाली राष्ट्रों का काम निकल जाता है और वास्तव में दण्ड देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यदि दण्ड देने की आवश्यकता पड़ जाये तो भी इस तरह से दण्ड दिया जाता है कि उस राष्ट्र का काम निकल जाये।

38.11.4 बल का प्रयोग— शक्ति के प्रयोग का अन्तिम तरीका यह है कि यदि कोई शक्तिशाली राष्ट्र किसी निर्बल राष्ट्र से अपनी कोई बात मनवाना चाहता है और वह राष्ट्र नहीं माने, तो उसके विरुद्ध बल प्रयोग किया जा सकता है। बल प्रयोग का अर्थ है कि उस राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाये। रूस ने अक्टूबर 1956 में हंगरी के मामलों में सैनिक हस्तक्षेप किया, क्योंकि हंगरी में हुए लोकतन्त्रीय सुधारों को वह पसन्द नहीं करता था। 20 अगस्त 1968 को रूस ने चेकोस्लोवाकिया में सशस्त्र हस्तक्षेप किया क्योंकि उसके विचार में वहाँ किए गए सुधार समाजवाद के विरुद्ध थे। वैसे अनेक उदाहरण हैं।

38.12 शक्ति को कैसे तोलना है— प्रोफेसर ऐबर्ट ए डहल ने शक्ति का पता लगाने और उसको तोलने के लिए निम्नलिखित चार तरीके बताए हैं—

पहला तरीका यह है कि हम इस धारणा को लेकर चलें कि पात्र की शक्ति उसके पद से सम्बन्धित है। इसलिए शक्ति का पता लगाने के लिए यह देखना है कि राजनीतिक व्यवस्था में पात्र के पास क्या पद है? किसके पास बड़ा पद है, किसके पास छोटा पद है, किसके पास कोई भी पद नहीं है? किनको कम प्रतिनिधित्व प्राप्त है? इस पद्धति में यह लाभ है कि यह सरल तरीका है क्योंकि सरकारी पदाधिकारी श्रेणियों अथवा विभिन्न ग्रेडों में विभक्त होते हैं और उनकी शक्तियों का पता लगाने में आसानी हो जाती है। इस पद्धति में दोष यह है कि कई बार किसी व्यक्ति के पद की औपचारिक स्थिति से उसकी शक्ति का मली-मांति आभास नहीं होता है। इस तरीके में यह भी दोष है कि पदाधिकारी के पीछे जो वास्तविक शक्तियाँ होती हैं, जैसे पद निर्माता, राजनीतिक अधिकारी या न्यायी, विश्वास पात्र परामर्शदाता का पता नहीं चलता है, न उस वर्ग का पता चलता है जो दूसरों की औपचारिक शक्ति निर्धारित करके अप्रत्यक्ष रूप से शक्ति को अपने पास रखता है अथवा शासन करता है।

पहली पद्धति के इन दोषों को दूर करने के लिए तुम्हें दूसरे तरीके की तरफ आना चाहिए। जिसके मापकितनी शक्ति है, इस हेतु कुछ निर्णायकों अथवा पर्यवेक्षकों के निर्णय या न्यायाधीशों के निर्णय पर निर्भर किया जा सकता है। इस पद्धति में यह दोष है कि यह हमको न्यायाधीशों की दया पर छोड़ देती है और यह पता लगाना कठिन है कि कौन अच्छे न्यायाधीश हैं? न्यायाधीश भी पता लगाने में गलती कर सकते हैं। वे किसी व्यक्ति की पद की प्रसिद्धि तथा उसकी औपचारिक स्थिति का अनुमान लगाकर कह सकते हैं कि उसके पास बहुत शक्ति है जबकि वास्तव में उसके पास न हो।

दूसरे तरीके के दोषों को दूर करने के लिए तीसरा तरीका अपनाया गया है। इस तरीके में व्यक्ति के पद की प्रसिद्धि या उसकी औपचारिक स्थिति से उसकी शक्ति आँकी जा सकती है। इस तरीके में यह पता लगाया जाता है कि किसी बड़े निर्णय करने में किन-किन व्यक्तियों ने भाग लिया है, कौन-कौन से व्यक्ति विशेषज्ञ हैं, कौन से व्यक्ति निर्णय करने में कभी-कभी भाग लेते हैं? और कौन से व्यक्ति निर्णय को प्रभावित करते हैं, तो उन सबकी शक्ति बराबर नहीं हो जाती है। उदाहरणस्वरूप, यदि अमरीका में राष्ट्रपति तथा सचिव दोनों एक बैठक में भाग लेते हैं, तो दोनों की शक्ति बराबर नहीं हो जाती है। क्योंकि किसी बात पर निर्णय करने में भाग लेने का यह अर्थ नहीं है कि उनकी शक्ति बराबर हो गई है।

इस पद्धति के दोष को दूर करने के लिए चौथा तरीका यह है कि महत्वपूर्ण निर्णय करने में भाग लेने वाले व्यक्तियों की शक्ति का इस तरह पता लगाया जा सकता है कि किन-किन व्यक्तियों ने वहाँ विभिन्न प्रस्तावों का समर्थन किया और किन-किन ने विरोध किया और किन-किन की बात कहाँ तक मानी गई और किन-किन की कहाँ तक नहीं मानी गई? जिन व्यक्तियों की बात सबसे अधिक अन्त में मानी गई हो, उससे उतना ही उनके प्रभाव और शक्ति का आभास होता है। इस पद्धति में भी एक त्रुटि है कि विस्तार के प्रत्येक निर्णय की जानकारी प्राप्त करने में बहुत कठिनाई उत्पन्न होती है। उदाहरणस्वरूप, एक व्यक्ति किसी बैठक में कुछ ऐसे एक दो प्रस्ताव रखता है जो सर्वसम्मति से पास हो जाते हैं, दूसरा व्यक्ति बैठक में उपस्थित अन्य व्यक्तियों को आपत्ति के बावजूद 3 या 4 प्रस्ताव मनवाने में सफल हो जाता है और तीसरा व्यक्ति बैठक में 21 प्रस्ताव रखता है और उनमें से एक तिहाई मनवाने में सफल हो जाता है तो यह समस्या उत्पन्न होती है कि किस व्यक्ति के पास शक्ति कितनी है?

अन्त में प्रोफेसर रौबर्ट डहल कहते हैं कि किस व्यक्ति के पास कितनी शक्ति है, इसका पता लगाने के लिए ऊपर दिए गए चार तरीकों में से कोई भी यद्यपि पूर्ण नहीं है परन्तु यदि सबको मिलाकर समझदारी से इनका प्रयोग किया जाये तो किस व्यक्ति के पास कितनी शक्ति है, इसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

38.13 शक्ति का माप

शक्ति के बारे में हमें सिद्धान्त तथा व्यवहार का अध्ययन तब तक ज्ञात नहीं होगा जब तक कि हम यह न जान लें कि एक राष्ट्र की शक्ति को कैसे मापा जा सकता है? इस प्रश्न का सही उत्तर देना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि किसी राष्ट्र की शक्ति को मापने में अनेक अप्रत्यक्ष बातें छुपी रहती हैं। उदाहरणस्वरूप, स्विट्जरलैण्ड तथा स्वीडन का यूरोप में शान्तिकालीन अवस्था में काफी प्रभाव रहा है परन्तु ये दोनों राष्ट्र कोई महान् सैनिक शक्तियाँ नहीं हैं। इसलिए युद्ध के समय इनका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है। युद्ध के समय कोई भी राष्ट्र अकेला लड़ने का प्रयत्न नहीं करता है अपितु अपने साथ अनेक अन्य राष्ट्रों को मिला लेता है। दूसरे विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन, रूस, फ्रांस और अमरीका तथा कई अन्य देशों ने मिलकर जर्मनी, इटली तथा जापान को पराजित किया। इसीलिए ऐसी स्थिति में यह पता लगाना कठिन है कि किस देश के पास वास्तव

में कितनी शक्ति थी और किस देश ने वास्तव में कितनी शक्ति का प्रयोग किया। कई बार शक्ति के अनुमान लगाने में यह भी गलती हो जाती है कि कोई राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में या तो अपनी शक्ति का गलत अनुमान लगा लेता है या दूसरे राष्ट्र की शक्ति का गलत अनुमान लगा लेता है। उदाहरणस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व इटली को एक बड़ी सैनिक शक्ति माना जाता था और अनेक राष्ट्र उससे झगड़ा मोल लेते हुए डरते थे परन्तु दूसरे विश्वयुद्ध ने सिद्ध कर दिया कि अनेक राष्ट्रों ने इटली की शक्ति का गलत अनुमान लगाया।

यद्यपि किसी भी राष्ट्र की शक्ति का सही अनुमान लगाना काफी कठिन है तो भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सर्वसम्मति से आज भी दो बड़े राष्ट्र संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ माने जाते हैं। इसका कारण यह है कि उनमें से प्रत्येक के पास काफी सैनिक शक्ति है, काफी देश उनके गुटों में से हैं और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काफी हद तक इन दोनों राष्ट्रों के गुटों में से किसी-न-किसी की बात मानी जाती है परन्तु भविष्य के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि किस राष्ट्र की शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कितनी बढ़ जाए या घट जाए।

38.14 सत्ता (प्राधिकार)

“सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, वह स्वयं शक्ति नहीं है।” — बायर्सटेट

राजनीति में सत्ता की भूमिका— सत्ता को राज व्यवस्था रूपी ‘शरीर की आत्मा’ कहा जा सकता है। यह शक्ति, प्रभाव और नेतृत्व का मूल उपकरण है और नीति निर्माण, समन्वय, अनुशासन और प्रत्यायोज आदि राजनीतिक प्रक्रियाएँ सत्ता के आधार पर ही सम्भव होती हैं। औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही प्रकार के संगठनों में सत्ता की महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त होती है और राजनीतिक जीवन में भी सत्ता की अवहेलना नहीं की जा सकती है। कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह बिना औपचारिक सत्ता के होते हुए भी एक विशेष परिस्थिति में सत्ता धारण किये रह सकता है। लोकतन्त्र में सत्ता का अधीनस्थों अर्थात् जनता के द्वारा स्वीकृत किया जाना महत्वपूर्ण होता है। राज व्यवस्थाओं एवं राजनीति में सत्ता की मात्रा को बढ़ाना आवश्यक तथा महत्वपूर्ण होता है, राजनीतिक लक्ष्यों की सिद्ध इसी से सम्बन्धित होती है और बहुत अधिक सीमा तक इसी पर निर्भर करती है।

38.15 सत्ता की अवधारणा : अर्थ एवं व्याख्या— समाज विज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान कोश के अनुसार सत्ता को कई प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। सत्ता की अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं, किन्तु अपने सभी रूपों में सत्ता शक्ति, प्रभाव एवं नेतृत्व से जुड़ी हुई है। सत्ता की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :

बायर्सटेट ‘सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थागत अधिकार है, वह स्वयं शक्ति नहीं है।’

बीच के अनुसार, “दूसरों के कार्य निष्पादन को प्रभावित या निर्देशित करने का औचित्यपूर्ण अधिकार सत्ता है।”

हेनरी फेयोल के अनुसार, “सत्ता आदेश देने का अधिकार और आदेश का पालन करवाने की शक्ति है।”

ऐलन के अनुसार, “सौंपे गये कार्यों के निष्पादन को सम्भव बनाने हेतु प्रदान की गई शक्तियाँ एवं अधिकार सत्ता कहलाते हैं।”

थियो हैमन ने सत्ता की परिभाषा कुछ अधिक स्पष्टता के साथ है। उनके अनुसार, “सत्ता वह वैधानिक शक्ति है जिसके आधार पर अधीनस्थों को काम करने के लिए कहा जाता है तथा उन्हें बाध्य किया जाता है और आदेश के उल्लंघन पर आवश्यकतानुसार प्रबन्ध उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकता है। यहां तक कि उनके कार्य से भी पृथक् कर सकता है।”

उपर्युक्त सभी विद्वानों ने सत्ता को निर्णय लेने आदेश देने और आदेश का पालन कराने वाली उच्च स्तरीय शक्ति के रूप में परिभाषित किया है। इन सभी परिभाषाओं में सत्ता के औपचारिक पक्ष को या मात्र कानूनी पक्ष को ही दृष्टि में रखा गया है तथा इस प्रकार ये परिभाषाएँ सत्ता के केवल इस स्थिति के कारण ही सत्ताधारी के आदेशों का पालन नहीं होता है। आदेशों के पालन का आधार अधीनस्थ अथवा जिन्हें निर्देश दिए जाते हैं, उनकी सहमति होता है। अधीनस्थ जब इस बात को स्वीकार करते हैं कि आदेशों को स्वीकार ही उचित है, तब ही आदेश देने वाला अधिकारी को ‘प्राधिकारी’ (सत्ताधारी) कहा जाता है। सत्ता शक्ति के समान ‘शक्तियों’ के आधार पर नहीं अपितु उचित होने के कारण दूसरों के व्यवहार को अपने अनुकूल बनाकर प्रभावित करने का साधन है। यूनेस्को की एक रिपोर्ट के अनुसार, “सत्ता वह शक्ति है जो कि स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञान एवं औचित्यपूर्ण हो।”

सत्ता की प्रकृति— सत्ता की प्रकृति के सम्बन्ध में विचार भेद है और इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। ये दोनों ही सिद्धान्त प्रो. बीच द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं जो निम्नलिखित हैं:

औपचारिक सत्ता सिद्धान्त— इस सिद्धान्त के अनुसार सत्ता को आदेश देने का अधिकार माना जाता है और सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर चलता है। यह अधिकार व्यवस्थाओं एवं संगठनों में विशिष्ट एवं वरिष्ठ अधिकारियों को दिया जाता है और इससे आदेश या सत्ता का एक पदक्रम बन जाता है।

सत्ता के पीछे व्यवस्था या संगठन की औचित्यपूर्ण शक्ति होती है। इस शक्ति के कारण उसे स्वीकार किया जाता है। सत्ता आवश्यक रूप से सत्ताधारी की व्यक्तिगत श्रेष्ठता को नहीं बतलाती। सत्ताधारी तो व्यवस्था या संगठन में अन्तर्निहित शक्ति का कार्यशील प्रतीक मात्र होता है। मैकाइवर ने इसे ‘शासन का जादू’ कहा है कि एक व्यक्ति जो आदेश देता है, वह भेल ही अपने अधीनस्थों से अधिक बुद्धिमान न हो, अधिक योग्य न हो और किसी भी दृष्टि से अपने सामान्य साथियों से श्रेष्ठ न हो, कभी-कभी तो उसके

आदेशों का पालन किया जाता है।

स्वीकृति सिद्धान्त :- व्यवहारवादी या मानव सम्बन्धवादी औपचारिक सत्ता सिद्धान्त में विश्वास न रखते हुए 'स्वीकृति सिद्धान्त' का प्रतिपादन करते हैं। इस यथार्थवादी अध्ययनकर्ताओं के अनुसार, सत्ता कानूनी रूप से तो केवल औपचारिक होती है, किन्तु वास्तव में सत्ता या आदेश के अधिकार की सफलता अधीनस्थों की स्वीकृति पर निर्भर करती है। जब अधीनस्थ अपनी समझ और योग्यता के दायरे में आदेशों को स्वीकार कर लेते हैं तो यह स्थिति 'सत्ता स्थिति' बन जाती है। बर्नाडे अपनी रचना 'दा फंक्शन ऑफ द एग्ज्युटिव' में लिखते हैं कि अधीनस्थ आदेशों को स्वीकार करें, इसके लिए चार शर्तें पूरी होनी आवश्यक है 1. अधीनस्थ अधिकारी आदेश अथवा सूचना को समझता या समझ सकता हो, 2. अपने निश्चय करने के समय उसका यह विश्वास हो कि आदेश संगठन के उद्देश्यों के साथ असंगत नहीं है, 3. निर्णय लेने के समय में वह यह सोचता हो कि एक समग्रता के रूप में सम्बन्धित आदेश उसके व्यक्तिगत हितों के अनुकूल है तथा 4. वह मानसिक और शारीरिक दृष्टि से उस आदेश के अनुपालन की क्षमता रखता हो।

वस्तुतः सत्ता की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रतिपादित इन दोनों ही सिद्धान्तों की अपनी दुर्बलताएँ और इन्हें अतिवादी कहा जा सकता है। इन दोनों सिद्धान्तों की सत्यताओं को ग्रहण करते हुए एक सन्तुलित दृष्टिकोण का विकास हुआ है, जिसके अन्तर्गत सत्ता की अकारणता में संस्थाकृत औचित्यपूर्ण शक्ति और अधीनस्थों की स्वीकृति दोनों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। यही उचित दृष्टिकोण है और राजनीति विज्ञान में सामान्यतया इसी को अपनाया गया है।

38.16 सत्ता के स्रोत या सत्ता के प्रकार

सत्ता की अकारणता की विवेचना सुकरात, प्लेटो, ऑगस्टाइन आदि के समय से होती रही है, किन्तु इसकी विस्तृत विवेचना बीसवीं सदी में राजनीतिक और समाजशास्त्रीय विश्लेषक मैक्स वेबर द्वारा प्रस्तुत की गयी है। सत्ता एवं औचित्यपूर्णता का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और मैक्स वेबर ने इस सम्बन्ध की दृष्टि में रखते हुए औचित्यपूर्णता के आधार पर सत्ता के स्रोतों एवं प्रकारों का वर्णन किया है। उसके अनुसार अपने स्रोत के आधार पर सत्ता तीन प्रकार की होती है—

38.16.1 परम्परागत— जब प्रजा या अधीनस्थ वरिष्ठ अधिकारियों के आदेशों को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि ऐसा सदैव से होता आया है, तो सत्ता का यह प्रकार परम्परागत कहा जायेगा। इस प्रकार परम्परागत सत्ता का अभिप्राय शासन के उस अधिकार से है जो राजनीतिक शक्ति के अनवरत प्रयोग से उभरता है। इस प्रकार की सत्ता में 'प्रत्यायोजन' मात्र अस्थायी रूप से किया जाता और पूर्ण रूप से सर्वोच्च सत्ताधारी की इच्छा पर निर्भर करता है। अधीनस्थ सेवक समझे जाते हैं और वे आज्ञापालन परम्पराओं के प्रतीक विशेष व्यक्ति के कारण करते हैं, जैसे, राजतन्त्र में राजा।

38.16.2 बौद्धिक कानूनी या वैधानिक नौकरशाही सत्ता— जब अधीनस्थ किसी नियम को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि वह नियम उन उच्चस्तरीय अमूर्त नियमों के साथ सम्मत है जिसे वे औचित्यपूर्ण समझते हैं, तब इस स्थिति में सत्ता को बौद्धिक—कानूनी माना जाता है। यह सत्ता संवैधानिक नियमों के अन्तर्गत धारण किये गये पद से प्राप्त होती है। अमरीका में जब राष्ट्रपति पद का कोई उम्मीदवार निर्वाचक मण्डल का बहुमत प्राप्त कर लेता है अथवा जब भारत में लोकसभा के बहुमत सदस्य किसी को अपना नेता निर्वाचित कर उसे प्रधानमंत्री पद प प्रतिष्ठित कर देते हैं, तब यह सत्ता का बौद्धिक—तार्किक आधार ही होता है। इसमें सत्ता का प्रत्यायोजन बौद्धिक आधार पर किया जाता है और कर्मचारीगण वैधानिक रूप से स्थापित रूप से स्थापित निवैयक्तिक आदेशों के आधार पर आज्ञापालन करते हैं। सत्ता का यह रूप आधुनिक नौकरशाही को अपने विशुद्ध रूप में प्रकट करता है।

38.16.3 करिश्मात्मक सत्ता— जब अधीनस्थ वरिष्ठ सत्ताधारी के आदेशों को इस आधार पर न्यायसंगत मानते हैं कि उन पर सत्ताधारी का व्यक्तिगत प्रभाव है, तब इसे करिश्मात्मक सत्ता कहते हैं। इस सत्ता स्थिति में प्रायः कोई प्रत्यायोजन नहीं होता और अधीनस्थ कर्मचारी सत्ताधारी के व्यक्तिगत सेवक के रूप में आचरण करते हैं। अधीनस्थ अनुयायी होते हैं और अपने प्रिय नेता के करिश्माती एवं आदर्शवादी व्यक्तित्व के कारण उसके आदेशों का पालन करते हैं। स्पष्टतया मैक्स वेबर केवल औचित्यपूर्ण सत्ता का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। मैक्स वेबर बतलाता है कि बौद्धिक—कानूनी सत्ता कमजोर एवं भंजनशील होती है, अतः उसे सबलता प्रदान करने के लिए उसमें परम्परागत एवं करिश्माती तत्वों को शामिल किया जाना चाहिए।

संगठनात्मक सत्ता के विभिन्न प्रतिमान

संस्थात्मक शक्ति की दृष्टि से सत्ता का विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है और इस सत्ता के आधार पर व्यापक सन्दर्भ में सत्ता के और भी प्रकार हो सकते हैं : 1. क्षेत्रीयता की दृष्टि से राष्ट्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय, 2. अपेक्षाकृत व्यापक सन्दर्भ की दृष्टि से राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय, 3. संवैधानिक दृष्टि से संविधान से प्राप्त अथवा संविधान कानूनों से प्राप्त, 4. सरकार के परम्परागत अंगों के आधार पर कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका सम्बन्धी, 5. राजनीतिक दृष्टि से राजनीतिक तथा प्रशासनिक, 6. संख्यात्मक दृष्टि से एकल, बहुल, निगमनात्मक, आयोगात्मक अथवा मण्डलात्मक, तथा 7. विभिन्न विषयों की दृष्टि से सत्ता आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, तकनीकी, आदि हो सकती है।

सत्ता के ये विभिन्न रूप सत्ता-प्रयोग की दृष्टि से ही बतलाये जा सकते हैं और सत्ता के इन तथाकथित रूपों में परस्पर कोई मूल अन्तर नहीं है।

38.17 सत्ता पालन के आधार

सत्ता के प्रसंग में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि व्यक्ति सत्ता का पालन क्यों करते हैं। सत्ता की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से प्रतिपादित दो सिद्धान्तों औपचारिक

सत्ता सिद्धान्त और स्वीकृति सिद्धान्त, में इस प्रश्न की व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त मैक्स वेबर, मेरी पार्कर फॉलेट और चेस्टर बर्नाडे के द्वारा भी इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त किए गये हैं, लेकिन इस सम्बन्ध में साइमन के विचार अधिक महत्वपूर्ण हैं। साइमन ने सत्ता पालन के प्रमुख रूप से चार आधार बतलाए हैं, जो इस प्रकार हैं :

38.17.1 विश्वास— विश्वास, सत्ता के पालन का सबसे प्रमुख आधार है। अधीनस्थ व्यक्ति, सत्ताधारी के प्रति विश्वास के कारण उसके आदेशों का पालन करते हैं। इसी कारण सत्ताधारी के प्रति अधीनस्थों का विश्वास जितना गहरा होता है सत्ताधारी के आदेशों का पालन उतना ही सरल और स्वाभाविक हो जाता है, लेकिन जब विश्वास की स्थिति को आघात पहुंचता है तो सत्ताधारी के लिए आदेशों का पालन करवाना उतना ही कठिन हो जाता है और आदेशों का पालन करवाने के लिए दबाव की शक्ति का सहारा लेना होता है।

38.17.2 एकरूपता— यह मानव स्वभाव है कि वह उन लोगों के परामर्श, सुझाव और आदेशों को अधिक महत्व देता है जो उसके साथ विचारों और आदेशों की एकरूपता रखते हैं। सत्ता पालन के प्रसंग में एकरूपता के महत्व को स्वीकार करते हुए ही राज व्यवस्थाएं उदारवाद, साम्यवाद या फासीवाद में से अपने अनुकूल किसी विचारधारा का प्रतिपादन करती हैं तथा राजनीतिक नेतृत्व अधीनस्थों एवं सामान्य नागरिकों को अनुकूल ढालने का प्रयत्न करता है।

38.17.3 दबाव— अनेक बार दबाव और बाध्यकारी शक्ति सत्ता पालन के आधार के रूप में कार्य करते हैं। प्रत्येक संगठन और प्रत्येक राज व्यवस्था में अल्प संख्या में ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन पर विश्वास या एकरूपता का प्रभाव कम पड़ता है और जो दमन और दबाव की भाषा ही समझते हैं। सत्ताधारी का प्रयत्न यह होना चाहिए कि सत्ता पालन के प्रमुख आधार के रूप में दबाव को अपनाने की आवश्यकता न पड़े। इस दृष्टि से आवश्यक है कि सत्ताधारी के आदेशों का औचित्य स्वतः स्पष्ट हो।

38.17.4 वैधानिकता— प्रत्येक संगठन में एक पद सौपानात्मक व्यवस्था है और इस पद सौपान में सत्ताधारी को उच्च स्थिति प्राप्त होने के कारण सत्ता और सत्ताधारी के आदेशों को वैधता प्राप्त हो जाती है। साइमन के मत में, "सत्ता को इस मान्यता के कारण स्वीकार किया जाता है कि उच्च प्राधिकारी के आदेशों का पालन किया जाना चाहिए।" वैधानिकता का महत्व इस बात से स्पष्ट है कि जब कभी सत्ता के प्रसंग में "वैधता का संकट" खड़ा हो जाता है, तब सत्ता की प्रभावशीलता को गहरा आघात पहुंचता है।

वस्तुतः ये सभी तत्व सत्ता पालन के मिले-जुले आधार के रूप में कार्य करते हैं। कभी विश्वास प्रमुख आधार बन जाता है और कभी दबाव। व्यवस्था की श्रेष्ठता का प्रतीक और प्रमाण यह होता है कि विश्वास सत्ता पालन का प्रमुख आधार हो और दबाव इस प्रसंग में गौण तत्व बना रहे।

38.18 सत्ता की सीमाएँ

सत्ता के बिना व्यवस्थित समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, लेकिन सम्य और सुसंस्कृत समाज सत्ता की कुछ सीमाएं निर्धारित करता है, जिनका पालन किया जाना नितान्त आवश्यक माना जाता है। सत्ता की सीमाओं का आशय है, सत्ता के प्रयोग और परिचालन पर प्रतिबन्ध, जिससे सत्ता का मनमाना प्रयोग न किया जा सके। सत्ता को संवैधानिक कानूनों एवं राजनीतिक परिस्थितियों में रहकर कार्य करना होता है तथा वह संस्कृति, मूल्यों, परम्पराओं और नैतिक अवधारणाओं का उल्लंघन नहीं कर सकती। सत्ता की ये सीमाएं प्राकृतिक, नैतिक, उद्देश्यगत, आन्तरिक बाहरी या प्रक्रिया सम्बन्धी भी हो सकती हैं। सत्ता की सीमाओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :

38.18.1 प्राकृतिक सीमा— संविधान में मूल अधिकारों का उल्लेख हो अथवा न हो; किसी भी राज व्यवस्था को यह अधिकार नहीं हो सकता कि वह नागरिकों को उनके जीवन, सामान्य स्वतन्त्रताओं और सीमित सम्पत्ति से भी वंचित कर दे। यह सत्ता की प्रथम प्राकृतिक और अनिवार्य सीमा है, और इस सीमा का उल्लंघन करने वाली सत्ता का पतन निश्चित है।

38.18.2 नैतिक-धार्मिक विश्वास— नैतिकता और धार्मिक विश्वास भी सत्ता की अनिवार्य सीमा हैं जब कोई सत्ता नैतिकता और धार्मिक विश्वासों के प्रतिकूल आदेश देती है, तब उसका पालन करवाना बहुत अधिक कठिन हो जाता है।

38.18.3 संस्कृति— संस्कृति लोगों के उस जीवन ढंग का नाम है जो अपने आपको कला, साहित्य, धर्म, फैशन, संगीत और आचार-विचार के रूप में प्रकट करती है। सत्ता को संस्कृति या समाज के सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं हो सकता और न ही संस्कृति के क्षेत्र में उसके द्वारा कुछ किया जा सकता है।

38.18.4 संविधान, नियम और उपनियम— संविधान राजसत्ता का अन्तिम स्रोत होता है, अतः सर्वोच्च सत्ता के लिए भी संविधान के प्रावधानों का पालन आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यवस्था कुशल कार्य-संचालन के लिए नियम-उपनियम बना लेती है। ये नियम-उपनियम भी सत्ता की सीमाएं निर्धारित कर देते हैं।

38.18.5 आर्थिक सीमाएं— प्रत्येक राज-व्यवस्था के आर्थिक साधन और आर्थिक क्षमताएं सीमित होती हैं। अतः ये आर्थिक साधन और क्षमताएं सत्ता को सीमित करने की प्रवृत्ति रखते हैं।

38.18.6 अधीनस्थों की क्षमताएं और अधीनस्थों द्वारा निर्मित संघ— कोई भी सत्ता अपने निर्णयों को लागू करने और आदेश मनवाने का कार्य अधीनस्थों के माध्यम से करती है। अतः अधीनस्थों की क्षमता की सीमाएं सत्ता की निर्धारित कर देती हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यवस्थाओं में प्रायः उनमें कार्य करने वाले कर्मचारी अपने निजी हितों की वृद्धि के लिए संघ, आदि बनाकर सामूहिक सौदेबाजी करते हैं, यह स्थिति भी सत्ता पर अवरोध लगा देती है।

38.18.7 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय कानून— वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अस्तित्व और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों

की आंशिक मान्यता ने भी सत्ता पर सीमाएं लगा दी हैं। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को बध्यकारी शक्ति प्राप्त नहीं है, लेकिन साथ ही यह सत्य है कि राजसत्ता द्वारा मनमाने तौर पर इनकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

इन सबके अतिरिक्त भी सत्ता की कुछ सीमाएं हैं। प्रत्येक राज-व्यवस्था के कुछ निर्धारित और उद्घोषित लक्ष्य होते हैं तथा सत्ता इन लक्ष्यों एवं आदर्शों का उल्लंघन नहीं कर सकती। सत्ता की कुछ मनोवैज्ञानिक सीमाएं भी होती हैं।

राजनीतिक चिन्तन की सार्थकता सत्ता को सामर्थ्य प्रदान करने तथा साथ ही साथ उस पर सीमाएं लगाने में ही है, जिससे सत्ता की जनहितकारिणी स्थिति बनी रहे।

38.19 सारांश

उपरोक्त विवेचना के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि शक्ति एवं सत्ता प्रमुख अवधारणा हैं, जो राजव्यवस्था को संचालित करने का आधार तैयार करती हैं।

38.20 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. शक्ति का अर्थ एवं परिभाषाओं को स्पष्ट करते हुए, शक्ति के स्रोतों का उल्लेख कीजिए।
2. शक्ति के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।
3. शक्ति प्रयोग के तरीकों पर एक लेख लिखिए।
4. सत्ता का अर्थ एवं परिभाषाओं को स्पष्ट करते हुए, सत्ता पालन के आधारों पर प्रकाश डालिए।
5. सत्ता की प्रकृति बताते हुए, सत्ता को नियन्त्रित करने वाली सीमाएं बताओं।
6. सत्ता के कौन-कौन से स्रोत होते हैं और उसका पालन क्यों किया जाता है?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. शक्ति और बल में अन्तर बताओं।
2. राजनीतिक शक्ति एवं सैनिक शक्ति में अन्तर बताओं।
3. मैक्स वेबर द्वारा प्रस्तुत शक्ति वर्गीकरण का उल्लेख कीजिए।
4. शक्ति को कैसे तोला जाता है?
5. औपचारिक सत्ता सिद्धान्त पर टिप्पणी लिखिए।
6. सत्ता पालन क्यों किया जाता है?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. मैक्स वेबर ने औचित्यपूर्ण शक्ति के कितने प्रकार बताए हैं?
2. क्षेत्रीयता के आधार पर शक्ति के कितने रूप होते हैं?
3. शक्ति प्रयोग के तरीके बताओं।
4. "सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, यह स्वयं शक्ति नहीं है।" यह कथन किस विचारक का है?
5. मैक्स वेबर सत्ता के कितने प्रकार बताए हैं?
6. परम्परागत सत्ता का क्या अर्थ है?
7. साइमन ने सत्ता पालन के कितने आधार बताए हैं?

38.21 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर.बी. अग्रवाल, "राजनीतिक शास्त्र के सिद्धान्त" एस. चन्द एण्ड कम्पनी नई दिल्ली
2. ओ.पी. गाबा, "राजनीति शास्त्र के आधार मूल तत्व," मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर
3. हेराल्ड जे. लास्की, "ए. ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स"

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ-341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



स्नातक (प्रथम वर्ष)

विषय : राजनीति शास्त्र

प्रथम पत्र :

राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त

संवर्ग

संवर्ग-1	:	राजनीति शास्त्र, क्षेत्र, स्वरूप एवं पद्धतियाँ
संवर्ग-2	:	राज्य के मूल तत्त्व
संवर्ग-3	:	राजनीतिक आदर्श
संवर्ग-4	:	राजनीतिक विचारधाराएँ
संवर्ग-5	:	आधुनिक राजनीतिक अवधारणाएँ

विशेषज्ञ समिति

- | | |
|--|--|
| 1. प्रो. पी.सी. भाटी
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर | 2. प्रो. रमेश दाधीच
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर |
| 3. प्रो. बेला भणोत
बीकानेर | 4. डॉ. धर्मचंद जैन
भोलवाड़ा |
| 5. डॉ. जुगल दाधीच
लाडनूँ | |

लेखक

डॉ. राधेश्याम कौशिक एवं डॉ. मुख्त्यार अली

संपादक

प्रो. धर्मचन्द जैन

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 2500

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ-341 306 (राजस्थान)

Printed at

M/s Nalanda Offsets, Jaipur

स्नातक (बी.ए.) प्रथम वर्ष
विषय- राजनीति शास्त्र
प्रथम पत्र – राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त

पाठ्यक्रम

- संवर्ग-1** राजनीति शास्त्र: अर्थ, क्षेत्र, राजनीति शास्त्र की अध्ययन पद्धतियाँ, अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध, व्यवहारवाद, उत्तर-व्यवहारवाद।
- संवर्ग-2** राज्य : राज्य के मूल तत्व;
राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त: दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, सामाजिक संविदा का सिद्धान्त- हॉब्स-लॉक तथा रूसो द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त
सम्प्रभुता का सिद्धान्त : सम्प्रभुता का स्वरूप, सम्प्रभुता के मूल तत्व, सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचना।
राज्य के कार्य एवं राज्य का औचित्य
- संवर्ग-3** राजनीतिक आदर्श:
अधिकार, मानवाधिकार, स्वतन्त्रता एवं समानता।
सरकार एवं उसके अंग : व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका- इनका संगठन एवं कार्य
शासन के प्रकार-राजतन्त्र, अल्पतन्त्र, लोकतन्त्र, तानाशाही, एकात्मक एवं संघात्मक
संसदीय एवं अध्यक्षीय, संविधान
राजनीतिक दल एवं दबाव समूह
- संवर्ग-4** राजनीतिक विचारधाराएँ: उपयोगितावाद, आदर्शवाद, समाजवाद एवं उसके प्रकार, मार्क्सवाद, लोक कल्याणकारी राज्य, गाँधीवाद एवं सर्वोदय, अणुव्रती समाज की रूपरेखा
- संवर्ग-5** आधुनिक राजनीतिक अवधारणाएँ : राजनीतिक विकास, राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक संस्कृति, शक्ति एवं सत्ता।

प्रस्तावित पुस्तकें :

1. डॉ. इकबाल नारायण- राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त
2. डॉ. बी. आर. पुरोहित- राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त (राज., हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर)
3. डॉ. ए.डी. आशीर्वादम- पॉलिटिकल थ्योरी
4. डॉ. बीरकेश्वर प्रसाद सिंह- राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त
5. डॉ. बी.एम. शर्मा एवं चन्द्रा हीरावत- राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त
6. हेराल्ड जे. लास्की- ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स (हिन्दी अनुवाद)
7. अप्पादोराय- Substance of politics (हिन्दी अनुवाद)

विषय सूची

संवर्ग	इकाई	पाठ का नाम	पृष्ठ संख्या
संवर्ग-1	1.	राजनीतिशास्त्र : अर्थ, क्षेत्र, राजनीतिशास्त्र की अध्ययन पद्धतियाँ	01-08
	2.	राजनीति विज्ञान का क्षेत्र-आधुनिक दृष्टिकोण	09-15
	3.	राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध	16-27
	4.	व्यवहारवाद (Behaviourialism)	28-33
	5.	उत्तर व्यवहारवाद (Post Behaviourialism)	34-40
संवर्ग-2	6.	राज्य के मूल तत्व	41-45
	7.	राज्य उत्पत्ति के सिद्धान्त-दैवी सिद्धान्त	46-49
	8.	राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त	50-55
	9.	सामाजिक संविदा का सिद्धान्त-हॉब्स, लॉक तथा रूसो द्वारा प्रतिपादित	56-62
	10.	राज्य उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त	63-65
संवर्ग-3	11.	सम्प्रभुता का सिद्धान्त : सम्प्रभुता का स्वरूप, सम्प्रभुता के मूल तत्व, सम्प्रभुता...	66-72
	12.	राज्य के कार्य एवं राज्य का औचित्य	73-76
	13.	अधिकार	77-80
	14.	मानवाधिकार	81-89
	15.	स्वतन्त्रता एवं समानता	90-96
संवर्ग-4	16.	व्यवस्थापिका	97-102
	17.	कार्यपालिका	103-107
	18.	न्यायपालिका : संगठन एवं कार्य	108-113
	19.	राजतन्त्र	114-117
	20.	अल्पतन्त्र (कुलीन तन्त्र)	118-120
संवर्ग-5	21.	लोकतन्त्र	121-129
	22.	तानाशाही	130-135
	23.	एकात्मक एवं संघात्मक	136-142
	24.	संसदीय एवं अध्यक्षीय	143-151
	25.	संविधान	152-155
संवर्ग-6	26.	राजनीतिक दल एवं दबाव समूह	156-164
	27.	उपयोगितावाद	165-169
	28.	आदर्शवाद	170-176
	29.	समाजवाद	177-182
	30.	साम्यवाद (मार्क्सवाद)	183-189
संवर्ग-7	31.	लोककल्याणकारी राज्य	190-194
	32.	गौधीवाद एवं सर्वोदय	195-205
	33.	राजनीतिक विचारधाराएं अणुव्रत समाज की रूपरेखा	206-214
	34.	राजनीतिक विकास	215-218
	35.	राजनीतिक समाजीकरण	219-223
संवर्ग-8	36.	राजनीतिक आधुनिकीकरण	224-228
	37.	राजनीतिक संस्कृति	229-231